उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGSY-01/CSSSY-01

समाजशास्त्र ऐच्छिक पाठ्यक्रम - 1

समाज का अध्ययन

खंड

1

समाजशास्त्र को समझना

इकाई 1

समाजशास्त्र की प्रकृति और उसका क्षेत्र 5

इकाई 2

समाजशास्त्र की मूल संकल्पनाएँ 17

इकाई 3

सरल समाज 25

इकाई 4

जटिल समाज 36

संदर्भ ग्रंथ सूची 44

विशेषज्ञ समिति

प्रो॰ त्रिलोकी नाथ मदन
इस्टीट्यूट ऑफ इकनॉमिक ग्रोथ, दिल्ली

प्रो॰ आन्द्रे बेते
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,

प्रो॰ डी॰ एन॰ धनागरे
पूणे विश्वविद्यालय, पुणे

प्रो॰ विक्टर एस॰ डिसूजा
माउंट कारमल रोड, मुंबई

प्रो॰ योगेंद्र सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो॰ ए॰ प्रभाकर बर्नबास (सलाहकार)
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ लेखक

डॉ॰ एस॰ डी॰ बडगइयाँ
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो॰ ए॰ प्रभाकर बर्नबास
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ॰ त्रिभुवन कपूर
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

समाज शास्त्र: संकाय सदस्य, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

डॉ॰ शोभिता जैन
डॉ॰ त्रिभुवन कपूर

संपादक

प्रो॰ विक्टर एस॰ डिसूजा
मांउट कारमल रोड, मुंबई

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो॰ बी॰ एन॰ कौल

प्रो॰ जी॰ एस॰ राव

प्रो॰ पी॰ आर॰ रामानुजम
श्री॰ के मुरूगन

अनुवाद

श्रीमती मधु भंडारी, नई दिल्ली
श्री अरविंद आशधीर, नई दिल्ली
डॉ॰ भारतभूषण अग्रवाल, नई दिल्ली

अनुवाद संकाय सदस्य

प्रो॰ बी॰ रा॰ जगन्नाथन्
डॉ॰ परमानंद पांचाल
श्री राकेश वत्स

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1998 (पुनः मुद्रित)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989

ISBN-81-7091-244-X

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से डॉ. अरूण कुमार गुप्ता, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित 2019
मुद्रक चन्द्रकला युनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड इलाहाबाद 211002

UGSY-01/2
[FIFA-211]

पाठ्यक्रम परिचय: समाज का अध्ययन

हाल के पिछले वर्षों में समाज शास्त्र सामाजिक विज्ञानों में एक बहुत ही महत्वपूर्ण शास्त्र के रूप में उभरकर आया है। समाजशास्त्रियों ने जो अध्ययन किए हैं उनके अंतर्गत उपद्रवों से लेकर विशाल प्रति-सांस्कृतिक तुलनाओं जैसे बहुक्षेत्रीय विषय आते हैं। इसके द्वारा दिए गए योगदानों को दूसरे सामाजिक विज्ञानों ने व्यापक रूप से स्वीकार किया है और उन्होंने उनसे लाभ भी उठाये हैं।

समाजशास्त्र अपने विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के सामाजिक व्यवहार के सामान्य और विशेष, दोनों ही पक्षों का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, यह सामाजिक जीवन के सामान्य और विशेष क्षेत्र—दोनों का ही अध्ययन करता है। दूसरी बात यह है कि परंपरागत सामाजिक विज्ञानों में मानव संबंध के कुछ क्षेत्रों को बिल्कुल ही छोड़ दिया जाता है, जिनका अध्ययन केवल समाजशास्त्र के अंतर्गत ही होता है। उदाहरण के लिए, मानव समाज में परिवार, विवाह और रिश्ते-नातों की सामाजिक संस्थाएँ समाजशास्त्रीय अध्ययन के मुख्य विषय हैं।

ऐच्छिक समाजशास्त्र का पहला पाठ्यक्रम—'समाज का अध्ययन' आपका समाज में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं से परिचय कराएगा। इस पाठ्यक्रम में 8 खंड हैं। पहले खंड में समाजशास्त्र की प्रकृति और उसके क्षेत्र के विषय में बताया गया है। खंड 2, 4, 5 और 6 का संबंध परिवार, विवाह, अर्थव्यवस्था और राज्य व्यवस्था जैसी सामाजिक संस्थाओं से है। खंड 3 और 8 में सामाजिक प्रक्रियाओं पर विचार किया गया है तथा सामाजिक भूमिका और सामाजिक संरचना की संकल्पनाओं का अध्ययन खंड 7 में किया गया है।

खंड का परिचय

पाठ्यक्रम के पहले खंड "समाजशास्त्र को समझना" के आधार पर ही आपको अगले खंडों की जानकारी प्राप्त होगी। इसलिए यह खंड बहुत महत्वपूर्ण है। इस खंड की प्रत्येक इकाई का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है।

इकाई 1 आपको समाजशास्त्र के विभिन्न बुनियादी पहलुओं का परिचय कराती है। इसमें सामाजिक समूहों के विवरण दिए गये हैं, जो समाजशास्त्र के मूल तत्व हैं। इसमें संस्कृति की संकल्पना पर भी विचार किया गया है और विज्ञान के साथ समाजशास्त्र के संबंध की भी व्याख्या की गई है। समाजशास्त्र के 'संस्थापकों' के सिद्धांतों की एक रूपरेखा भी इस इकाई में दी गई है। अंत में समाजशास्त्र और दूसरे सामाजिक विज्ञानों के साथ इसके संबंधों पर विचार किया गया है। इस इकाई के अंत में मूल और अनुप्रयुक्त (applied) समाजशास्त्र के बीच के अंतर का भी विवेचन किया गया है।

इकाई 2 में कुछ महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय संकल्पनाओं का परिचय दिया गया है। इनमें समाज तथा सामाजिक समूह की संकल्पनाएँ शामिल हैं। इस इकाई में सामाजिक-स्तर और उसकी भूमिका की संकल्पनाओं पर भी विचार किया गया है। प्रत्येक मामले को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए उसके उदाहरण दिये गये हैं। इस इकाई में सामाजिक संस्थाओं पर भी विचार किया गया है और संस्कृति की संकल्पना को स्पष्ट किया गया है। साथ ही लोक-रीतियों और प्रतिमानों जैसे संस्कृति के महत्वपूर्ण पहलुओं को भी समझाया गया है। अंत में, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक नियंत्रण के मुद्दों पर विचार किया गया है।

इकाई 3 में आपको सरल समाजों के विभिन्न महत्वपूर्ण पहलुओं से परिचित कराया गया है। सर्वप्रथम, जनजातीय अर्थव्यवस्थाओं पर विचार किया गया है, जिनके आधार पर सरल समाज चार प्रकार के समूहों में विभाजित हैं। इसमें उनके अंदर प्रचलित कृषि तथा विनिमय की प्रथाओं पर विचार किया गया है। इसके बाद इस इकाई में आपको उनके सामाजिक संगठनों, विवाह, धर्म और राजनीतिक संगठनों की स्पष्ट जानकारी दी गई है। अंत में, इस इकाई में इस बात पर विचार किया गया है कि औपनिवेशिक ताकतों ने इन सरल समाजों पर क्या प्रभाव डाला।

इकाई 4 में आधुनिक समाज का जटिल समाज के रूप में अध्ययन किया है। इसमें जटिल समाज की परिभाषा दी गई है। इस इकाई में आधुनिक समाजों में सामुदायिक जीवन, शहरीकरण और उनके कार्यों के बारे में प्रकाश डाला गया है। इसमें काम के स्वरूप, औद्योगिक संघर्ष और महिलाओं के रोजगार पर भी विचार किया गया है। अंत में, औद्योगिकीकरणोत्तर समाज की प्रवृत्तियों पर भी विचार किया गया है।

इकाई 1 समाजशास्त्र की प्रकृति और उसका क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 समाजशास्त्र के विभिन्न पहलू
  1.2.1 सामाजिक समूह
  1.2.2 सामाजिक समूहों के प्रकार
1.3 समाजशास्त्र के मुख्य विषय
  1.3.1 संस्कृति की संकल्पना
  1.3.2 समाजशास्त्र और विज्ञान
1.4 समाजशास्त्र के संस्थापकः कुछ का परिचय
  1.4.1 अगॅस्ट कॉम्ट
  1.4.2 इमाइल दर्खाइम
  1.4.3 मैक्स वेबर
  1.4.4 कार्ल मार्क्स
  1.4.5 हरबर्ट स्पेंसर
1.5 समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान
  1.5.1 सामाजिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र
  1.5.2 समाजशास्त्र और नृविज्ञान
  1.5.3 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र
  1.5.4 मूल तथा अनुप्रयुक्त समाजशास्त्र
1.6 सारांश
उपयोगी पुस्तकें
शब्दावली
बोध प्रश्नों अभ्यासों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्यन करने के बाद आप के द्वारा संभव होगाः

- समाजशास्त्र की परिभाषा देना;
- सामाजिक समूहों और उनके वर्गीकरण को बताना;
- समाजशास्त्र के मुख्य विषयों को स्पष्ट कर पाना;
- समाजशास्त्र और विज्ञान के बीच संबंध को समझाना;
- संक्षिप्त में कॉम्ट, दुर्खाइम, वेबर, मार्क्स और स्पेंसर के विचारों को समझना, तथा
- समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच संबंधों को स्पष्ट कर सकना।

1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञान के अन्य विषयों, जैसे अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान की अपेक्षा, एक नया विषय है। हम कह सकते हैं कि यह विषय लगभग डेढ़ सौ वर्ष पुराना है, किन्तु इस विषय का तेजी से विकास पिछले पचास-साठ वर्षों में ही हुआ है। इसका एक कारण, खासतौर से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की सामाजिक स्थितियों में लोगों के व्यवहार को समझना रहा है। सामाजिक विज्ञान के सभी विषयों का संबंध लोगों के व्यवहार से है, परन्तु इनमें से प्रत्येक विषय अलग-अलग पहलू का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र का संबंध सामान्य रूप से सामाजिक संबंधों, सामाजिक समूहों और संस्थाओं के साथ रहता है।

1.2 समाजशास्त्र के विभिन्न पहलू

समाजशास्त्र की परिभाषा सामाजिक जीवन, विभिन्न समूहों के परस्पर संबंधों और सामाजिक व्यवहार के अध्ययन के रूप में की जा सकती है। समाजशास्त्री सामाजिक व्यवहार के सामान्य अध्ययन में रुचि रखता है, क्योंकि सामाजिक व्यवहार सभी

प्रकार के समूहों—छोटे और बड़े सभी में होता है। वह समकालीन किस्म के सामाजिक जीवन को समझने पर विशेष बल देता है। यहाँ "सामान्य" शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि दूसरे सामाजिक विज्ञानों के विषय विशेष क्षेत्रों से संबंधित होते हैं। उदाहरण के तौर पर एक राजनीतिज्ञ सरकारी कार्यों और कार्यकलापों का अध्ययन करता है और एक अर्थशास्त्री माल के उत्पादन और वितरण का अध्ययन करता है। फिर भी, इन विषयों के अंतर के बीच कोई सही रेखा खींचना बहुत ही कठिन है। सामाजिक मनोविज्ञान, सामाजिक नृविज्ञान, राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र—इन सबका एक सामान्य विषय एक प्रकार से "मनुष्य का सामाजिक जीवन" ही है।

चूंकि समाजशास्त्र एक नया विषय है, इसलिए कभी-कभी लोग इसे भ्रमवश 'सामाजिक-कार्य' समझ लेते हैं। यद्यपि समाजशास्त्र का प्रयोग सामाजिक समस्याओं को समझने और उनका विश्लेषण करने के लिए सामाजिक-कार्य के क्षेत्र में किया जाता है। समाजशास्त्र तथा सामाजिक-कार्य मे अंतर है। सामाजिक-कार्य का संबंध सामाजिक सुविधाओं से वंचित तथा शारीरिक रूप से विकलांग लोगों आदि के उत्थान से है। समाजशास्त्र का संबंध समाज में सुधार लाने से नहीं है और न ही इसका सीधा संबंध सामाजिक योजना बनाने अथवा कोई अपेक्षित परिवर्तन लाने से है। समाजशास्त्रीय ज्ञान और अनुसंधान के द्वारा बेहतर तरीके से योजना बनाने तथा अच्छी प्रथाओं को स्वीकार करने का रास्ता निकालने तथा विकास नीतियों और कार्यक्रमों को तैयार करने में सहायता मिल सकती है। आम तौर से यह माना गया है कि समाजशास्त्री सामाजिक प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करते। उन्हें सामाजिक मूल्यों के मामले में तटस्थ माना जाता है, अर्थात् उनके संबंध में यह समझा जाता है कि वे सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण में कोई पक्षपात नहीं करते। फिर भी, आज कुछ लोग इस संबंध में प्रश्न उठाते हैं और यह महसूस करते हैं कि समाजशास्त्रियों को विकास प्रक्रियाओं में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए।

हमने समाजशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी है—समाजशास्त्र सामाजिक जीवन और समूहों के परस्पर संबंधों तथा सामाजिक व्यवहार का अध्ययन है। हम कह सकते हैं कि सामाजिक जीवन को समझने के लिए समाजशास्त्र समूहों, समुदायों और संस्थाओं का अध्ययन करता है।

1.2.1 सामाजिक समूह

सामाजिक जीवन हर जगह छोटे अथवा बड़े समूहों में बँटा होता है। 'समूह' शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता है। एक समूह ऐसा हो सकता है जो खेल देख रहा है और एक समूह ऐसे भी लोगों का हो सकता है जो सड़क पार कर रहे हैं। समाजशास्त्र में समूह को अन्य रूप में देखा जाता है। पहले बताया गया है कि समाजशास्त्र का मूल संबंध मनुष्य के सामाजिक व्यवहार से है और इसलिए आवश्यक है कि देखा जाए कि लोग एक-दूसरे से कैसे व्यवहार करते हैं। पारस्परिक व्यवहार समूहों में ही संभव है अतः "समूह" का अध्ययन जरूरी है। सामाजिक समूह में निम्न बातें शामिल होती हैं:

i) व्यक्तियों (दो या अधिक) का समूह;
ii) एक ही नमूने के परस्पर संबंध (अर्थात् समान विश्वासों, मूल्यों और आदर्शों पर आधारित सामाजिक संबंधों में नियमितता होनी चाहिए) और
iii) परस्पर संबंध लगातार बने रहें।

समूहों का निर्माण कुछ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। मूल आवश्यकता जीवित रहने की है। समूह का एक उदाहरण परिवार है, जिससे हमें इस आवश्यकता को पूरा करने में मदद मिलती है। अलग-अलग व्यक्ति के रूप में हमारे लिए सभी आवश्यकताओं को पूरा करना संभव नहीं है। समूहों के द्वारा ही हमारी अधिकांश जरूरतें पूरी होती हैं। हमें समूहों से अनेक प्रकार की संतुष्टि प्राप्त होती है। अतः हमारे लिए किसी समूह का अंग होना महत्वपूर्ण हो जाता है।

किसी समूह की मजबूती इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें आपसी संपर्क और मिलना-जुलना कितनी बार होता है तथा उनमें भावनात्मक लगाव कैसा है।

1.2.2 सामाजिक समूहों के प्रकार

सामाजिक समूहों का दो मुख्य प्रकार के समूहों अर्थात् (I) प्राथमिक; और (II) गौण समूह में वर्गीकरण इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति का लगाव किसी समूह के साथ कितना है।

i **प्राथमिक समूहः** यह एक ऐसा समूह है जिसमें इसके सदस्यों के संबंध बहुत ही निकट अथवा घनिष्ठ होते हैं और उनमें भावनात्मक लगाव होता है। इसे प्राथमिक समूह इसलिए कहते हैं, क्योंकि यही वह समूह हैं जो मुख्य रूप से व्यक्ति के सामाजिक विचारों का पोषण करता है। इसे और अधिक स्पष्ट रूप से देखा जाए तो प्राथमिक समूह एक ऐसा समूह होता है जिसमें एक-दूसरे के प्रति उनकी भावनाएँ ज्यादा तथा सहयोगी होती हैं, विरोधी नहीं।

प्राथमिक समूह में कोई विशेष ऐसी भूमिका नहीं होती जो उसमें सम्मिलित व्यक्तियों को निभानी ही चाहिए। बल्कि वे अनेक भूमिकाएँ निभाते हैं, जैसे पति, पिता और रोजी कमाने वाला आदि। प्राथमिक समूह का सबसे अच्छा उदाहरण परिवार है। परिवार के सदस्यों के विचारों, विश्वासों और आदर्शों को ढालने में प्राथमिक समूह की महत्पूर्ण भूमिका स्पष्ट हो जाती है जब हम परिवार में अपने व्यवहार का विश्लेषण करते हैं और परिवार द्वारा हर सदस्य के लिए किए गए कामों को देखते हैं। सामाजिक समूह (परिवार, खिलाड़ी-दल, समुदाय आदि) व्यक्ति और समाज के बीच कड़ी का काम भी करता है।

ii **गौण समूहः** प्राथमिक समूह के विपरीत गौण समूह होते हैं। गौण समूह में सदस्यों का आपस में बहुत ही विशिष्ट

प्रकार के कार्यों के लिए सम्पर्क होता है। गौण समूह से संबंध निरंतर न होकर अधिकतर कभी-कभी होता है, जो व्यक्तिगत न होकर, विशेष उद्देश्यों के लिए होता है। किसी कारखाने में काम कर रहे व्यक्ति गौण समूह का एक उदाहरण हैं, क्योंकि उनका आपस में संबंध कामगर के रूप में होता है। आप ध्यान दीजिए कि एक परिवार के बीच संबंध और एक कारखाने के बीच के लोगों के संबंध में कितना अंतर होता है। इससे आपको प्राथमिक और गौण समूहों के बीच का अंतर भली-भांति समझ में आ जाएगा। समूहों की प्रकृति और उनके कार्यों को जानना, सामाजिक व्यवहार को समझने के लिए जरूरी है। चूंकि समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए सामाजिक समूहों की संकल्पना महत्वपूर्ण है, इसलिए इसके लिए यहाँ पर्याप्त रूप से इसकी बात की गई है।

बोध प्रश्न 1

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गए स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 समाजशास्त्र की परिभाषा तीन पंक्तियों में दीजिए?

.....

.....

.....

2 सामाजिक समूह क्या है? इसका उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.3 समाजशास्त्र के मुख्य विषय

समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है और एक ही भाँति के सामाजिक संबंधों की दृष्टि से समाज का विश्लेषण करता है। एक समाजशास्त्री का कहना है कि समाज शास्त्र इन तीन मूल प्रश्नों पर विचार करता है:

i) समाज क्यों और कैसे बनते हैं?
ii) समाज क्यों और कैसे अस्तित्व में रहते हैं? और
iii) समाज क्यों और कैसे बदलते हैं?

समाजशास्त्र का संबंध समाज के विकास से किया गया है। इसने उन कारकों और ताकतों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है जो समाज के ऐतिहासिक परिवर्तनों के लिए जिम्मेदार हैं।

समाजशास्त्र का संबंध सामाजिक जीवन की इकाइयों से भी रहा है और इस बात का अध्ययन करने के प्रयास किए जाते रहे हैं कि इन इकाइयों में सामाजिक संबंध किस प्रकार के हैं। इस तरह समाजशास्त्र का संबंध सामाजिक संस्थाओं के महत्वपूर्ण क्षेत्र से है। संस्थाएँ सामाजिक संरचना के रूप में अपना कार्य करती हैं, जिससे समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। प्रत्येक समाज में पाँच मूल सामाजिक संस्थाएँ होती हैं—परिवार, राजनीतिक संस्थाएँ, आर्थिक संस्थाएँ, धार्मिक संस्थाएँ और शिक्षा संस्थाएँ। किन्तु अधिक जटिल समाजों में अधिकारी-तंत्र, सैनिक संगठन, कल्याण और मनोरंजन संबंधी संगठन आदि जैसी अनेक संस्थाएँ भी होती हैं। जाति भी एक संस्था है, जो मूलतः केवल भारत में ही पाई जाती है।

समाजशास्त्र के अध्ययन और विश्लेषण का एक अन्य क्षेत्र है— सामाजिक प्रक्रियाएँ। सामाजिक संस्थाएँ एक प्रकार से स्थायित्व और व्यवस्था प्रदान करती हैं किन्तु सामाजिक प्रक्रियाएँ, सामाजिक संबंधों के गतिशील पहलू हैं। आगामी इकाइयों में जिन विभिन्न प्रक्रियाओं का विवेचन किया जाएगा उनमें से मुख्य हैं—सामाजिकीकरण, सामाजिक नियंत्रण, संघर्ष, सामाजिक विचलन और सामाजिक परिवर्तन।

1.3.1 संस्कृति की संकल्पना

"संस्कृति" एक अन्य महत्वपूर्ण संकल्पना है। चूंकि हम जन्म से ही संस्कृति में घुल-मिल जाते हैं, इसलिए हम संस्कृति को ग्रहण कर लेते हैं। यह कल्पना करना बड़ा कठिन है कि अगर संस्कृति न होती तो हमारा जीवन क्या होता? संस्कृति द्वारा हमें पुराने अनुभवों को प्राप्त करने का मौका मिलता है, जो वर्तमान काल के जीवन का आवश्यक आधार हैं। संस्कृति समूह के सदस्यों द्वारा सीखी और ग्रहण की जाती है। संस्कृति को हम एक प्रकार से संसार में जीवित रहने और परिस्थितियों के अनुकूलित होने का मुख्य साधन कह सकते हैं।

चूंकि समाज गतिशील है और इसमें निरतर परिवर्तन हो रहा है, इसलिए समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी विस्तार होता ह आज हमें समाजशास्त्र के विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान, विज्ञान और कला तथा स्वास्थ्य और विकास आदि से संबंधित समाजशास्त्र के दर्शन होते हैं। इससे पता चलता है कि समाजशास्त्र के स्वरूप में कितना अधिक विस्तार होता जा रहा है।

1.3.2 समाजशास्त्र और विज्ञान

समय-समय पर, समाजशास्त्र की परिभाषा समाज के विज्ञान के रूप में दी जाती रही है। अतः प्रश्न उठता है कि विज्ञान क्या है? कुछ ने विज्ञान को एक पद्धति (approach) के रूप में माना है, जबकि दूसरों ने इसे विषय-सामग्री के रूप में लिया है। पहले विचार को दृष्टि में रखते हुए हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक उपागम में कोई विशेष धारणा निहित होती है अर्थात् जिन घटनाओं का अध्ययन किया गया है उनमें नियमितता पायी जाती है व उनमें एक ढांचा होता है। वैज्ञानिक पद्धति में घटनाओं के निरीक्षण तथा सत्यापन पर बल दिया जाता है। समाजशास्त्र में भी सामाजिक घटनाओं के निरीक्षण तथा सत्यापन पर बल दिया जाता है। इसमें क्रमबद्ध रूप से घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। इस क्रमबद्ध तरीके में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं:

i) अध्ययन के लिए चुनी हुई समस्या की परिभाषा देना:
ii) परिभाषित समस्या के संबंध में आँकड़े इकट्ठा करना;
iii) आंकड़ों का विश्लेषण करके उन्हें सुव्यस्थित करना, जिससे प्राक्कल्पना के निर्माण में सरलता हो;
iv) प्राक्कल्पना की आगे जांच करना और इसके आधार पर नये संकल्पनाओं और सिद्धांतों का विकास करना।

समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिए क्रमबद्ध उपायों का प्रयोग करता रहा है। क्रमबद्ध उपायों के जरिए इकट्ठे किए गए ज्ञान के आधार पर इसने विश्वसनीय ज्ञान अर्जित करने का प्रयत्न किया है। इस ज्ञान के द्वारा समाज शास्त्र ने संबंधों की बनावट को समझने का प्रयास किया। अगर हम समाजशास्त्र पर समाज के अध्ययन की पद्धति की दृष्टि से विचार करें तो समाजशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है।

बोध प्रश्न 2

अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गए स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

i) समाजशास्त्र की मूल संकल्पनाओं पर एक टिप्पणी लिखिए, जो लगभग पांच पंक्तियों की हो।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) लगभग पांच पंक्तियों में समाजशास्त्र और विज्ञान के बीच के संबंधों को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

1.4 समाजशास्त्र के संस्थापक: कुछ का परिचय

आगे चलकर, इस पाठ्यक्रम की विभिन्न इकाइयों में आपके सामने पुराने समय के कुछ समाजशास्त्रियों के नाम आएंगे। उनमें से ऐसे प्राचीन समाजशास्त्रियों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिनका समाज शास्त्र में स्थायी योगदान है। इन सबने मानव व्यवहार की प्रकृति के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। एक प्रकार से उन्होंने समाज में हो रहे भावी परिवर्तनों को समझने का प्रयास किया है।

1.4.1 अगॅस्ट कॉम्ट (1798-1857 ई०):

अगॅस्ट कॉम्ट

कॉम्ट को आधुनिक समाजशास्त्र का संस्थापक माना जाता है। वह पहला व्यक्ति था जिसने 'समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया। उसने समाज में एक ऐसे नये विज्ञान का निर्माण करने का प्रयत्न किया, जो न केवल मानवता के भूतकाल की व्याख्या कर सकता है, बल्कि उसके भावी स्वरूप की भी भविष्यवाणी कर सकता है। उसका विचार था कि समाज निश्चित और नियत अवस्थाओं में से गुजरता है तथा सतत रूप से पूर्णता की ओर अग्रसर रहता है। उसके अनुसार समाज जिन तीन अवस्थाओं से गुजरता है, वे हैः

i) धर्मशास्त्रीय अथवा धार्मिक से;
ii) तत्वमीमांसीय अथवा दार्शनिक की ओर, और इससे
iii) निश्चयात्मक अथवा वैज्ञानिक अवस्था की ओर।

पहली अवस्था में, लोगों का विचार था कि सभी प्राकृतिक घटनाओं का कारण अलौकिक ताकतें हैं। दूसरी अवस्था में, धार्मिक अथवा धर्म-निरपेक्ष स्वरूप की अदृश्य शक्तियों को ज्ञान का स्रोत समझा गया आखिर इसमें, यह माना गया कि वैज्ञानिक कानून, प्राकृतिक जगत और सामाजिक जगत, दोनों का निर्धारण करते हैं।

कॉम्ट ने दो मुख्य क्षेत्रों का भी ज़िक्र किया, जिनमें से एक है 'सामाजिक सांख्यिकी', जिसका संबंध सामाजिक जीवन और व्यवहार के स्वरूपों (परिवार, व्यावसायिक संगठन, राजनीतिक संगठन आदि) से है। दूसरा क्षेत्र, जिसे 'सामाजिक-गतिकी' कहा जाता है, वह सामाजिक प्रणाली में परिवर्तनों के अध्ययन पर बल देता है। कॉम्ट के अनुसार समाज शास्त्र सभी विज्ञानों की रानी है।

1.4.2 इमाइल दुर्खाइम (1858-1917):

इमाइल दुर्खाइम

दुर्खाइम भी समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय के रूप में स्वीकार करता है। उसने 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' (रूल्स ऑफ सोशियोलोजिकल मैथड) नाम से एक पुस्तक लिखी। दुर्खाइम के अनुसार सामाजिक एकात्मता मानव जीवन का एक मुख्य सिद्धांत है। उसने दो प्रकार की एकात्मताओं अर्थात् "यांत्रिक एकात्मता" और "जैविक एकात्मता" के बीच अंतर बताया है। यांत्रिक एकात्मता परंपरागत समाजों में व्याप्त समान धारणाओं, विश्वासों और भावनाओं पर आधारित है। जैविक एकात्मता औद्योगिक समाज में श्रम विभाजन और उनके परस्पर संबंधित हितों पर आधारित है। जब एकात्मता भंग हो जाएगी तो सामाजिक विघटन और अव्यवस्था फैल जाएंगे।

उसने समाजशास्त्र को व्यापक विषयों से संबंधित बताया, जिनमें धर्म, कानून, शिक्षा तथा अपराध का समाजशास्त्र और आर्थिक समाजशास्त्र एवं कला तथा सौंदर्यशास्त्र का समाजशास्त्र शामिल हैं।
दुर्खाइम की एक महत्वपूर्ण संकल्पना थी - सामाजिक तथ्य। उसने कहा था कि सामाजिक तथ्य व्यक्ति के लिए यद्यपि बाहरी तथ्य हैं, किन्तु व्यक्ति के व्यवहार पर उनका प्रभाव पड़ता है। रीति-रिवाज, परंपराएँ, लोक-रीतियाँ और लोकाचार सामाजिक तथ्य के उदाहरण हैं।

उसका विचार था कि समाज शास्त्र को समाज सुधार के कार्य से संबंधित होना चाहिए।

1.4.3 मैक्स वेबर (1864-1920):

मैक्स वेबर

मैक्स वेबर ने सामाजिक संबंधों की अपेक्षा सामाजिक कार्रवाई की धारण पर बल दिया। उसके अनुसार मनुष्य अपने व्यावहारिक स्वरूप को जो अर्थ देता है उसे समझना ही सामाजिक कार्रवाई का व्यापक अध्ययन है। सामाजिक व्यवहार प्रतिमानों (norms) का केवल यांत्रिक ज्ञान ही नहीं है, बल्कि वह यह है कि लोगों ने सामाजिक मूल्यों की व्याख्या कैसे की। समाजशास्त्र सभी प्रकार की सामाजिक कार्रवाई का अध्ययन निरपेक्ष रूप से करता है।

वेबर समाज के अंगों के आपसी संबंधों को समझना और विभिन्न समाजों के तुलनात्मक अध्ययन पर बल देता है। इन दोनों तरीकों से उसने सामान्य वैधता की प्रस्थापनाओं (propositions) को विकसित करने का प्रयत्न किया। उदाहरण के तौर पर उसने प्राधिकार (authority) को तीन प्रकारों में विभाजित किया - चमत्कारी प्राधिकार, परंपरागत प्राधिकार और विचारशील प्राधिकार। इन संकल्पनाओं का आज भी नेतृत्व, प्राधिकार और सत्ता के अध्ययन में प्रयोग किया जाता है।

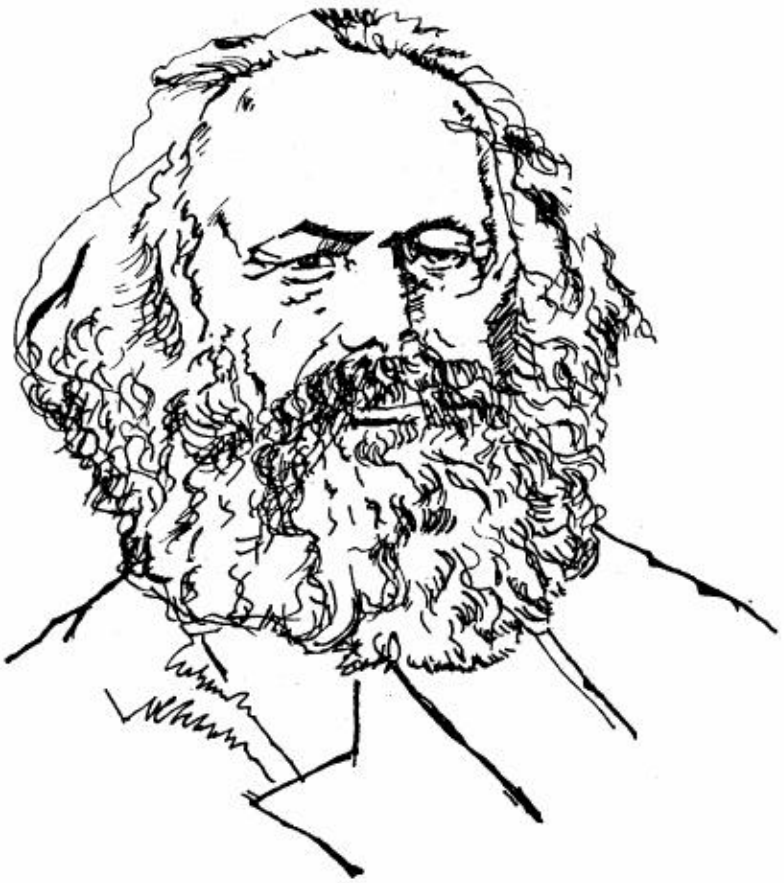

कार्ल मार्क्स

हालांकि कार्ल मार्क्स ने अपने आपको समाजशास्त्री नहीं माना था, किन्तु उसके विचारों से समाज की प्रकृति, खास तौर से इस बात से कि संघर्ष किस प्रकार पैदा होता है, को समझने में सहायता मिलती है। मार्क्स के अनुसार, साम्यवाद से पूर्व समाजों का समस्त इतिहास वर्गों का और वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। समाज अत्याचारियों और अत्याचार-ग्रस्त लोगों, स्वामियों और दासों में भूस्वामियों और खिदमतगारों में बंटा होता है। आज के युग में हम इन्हें पूंजीवादी और कामगारों में बंटना कह सकते है। समाज के गठन का विश्लेषण करने के लिए उत्पादन (पूंजी, श्रम, संगठन) की शक्तियों और उत्पादन के संबंधों को समझना जरूरी है। उत्पादन की शक्तियों और उनके बीच विरोधाभास के कारण वर्ग-संघर्ष उत्पन्न होता है। उसके अनुसार, प्रत्येक समाज कालांतर में आंतरिक संघर्ष और विरोधाभास के कारणों से समाप्त हो जाता है और उसका स्थान एक उन्नत समाज ले लेता है। इस तरह, आगे चलकर पूंजीवाद की समाप्ति होगी और एक वर्गविहीन समाज का उदय होगा, जिसमें संघर्ष, शोषण और विरक्ति (alienation) का कोई स्थान नहीं होगा।

हरबर्ट स्पेंसर

स्पेंसर ने भी समाज के समग्र दृष्टिकोण पर बल दिया है। उसके अनुसार, समाजशास्त्र के अंतर्गत परिवार, राजनीति, धर्म और सामाजिक नियंत्रण, श्रम-विभाजन तथा सामाजिक स्तरीकरण के क्षेत्र आते हैं। उसने समाज के अंगों के अध्ययन की अपेक्षा समग्र समाज के अध्ययन पर बल दिया। अलग-अलग संस्थाओं के विभिन्न महत्वूर्ण संबंध होते हैं। इन आपसी संबंधों के अध्ययन द्वारा ही हम समाज को समझ सकते हैं। उसने बताया कि विभिन्न अंगों की परस्पर निर्भरता प्रकार्यात्मक है, अर्थात प्रत्येक अंग अलग-अलग कार्य करता है जो समाज के समग्र कल्याण के लिए आवश्यक है। बड़ी संख्या में समाजशास्त्री, जो 'प्रकार्यवादी' हैं, स्पेंसर के प्रकार्यात्मक अंतरनिर्भरता के विचार को समाज के अध्ययन के लिए आधारभूत मानते हैं।

समाजशास्त्र के संस्थापकों के योगदान के बारे में उपर्युक्त वर्णन पूर्ण नहीं है। मुख्य उद्देश्य उनके नामों तथा समाजशास्त्र में उनके योगदान का कुछ विचार प्रस्तुत करना है। तीसरे पाठ्यक्रम की इकाइयों में हम विस्तार के साथ उनके विचारों, सिद्धांतों और योगदान का अध्ययन करेंगे।

1.5 समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान

जैसा कि पहले कहा गया है, समाजशास्त्र का दायरा बहुत विस्तृत है। इसका संबंध सामाजिक जीवन के उन सभी पहलुओं से है जो सब रूपों में चतुर्दिक पाए जाते हैं। इसके अंतर्गत सभी सामाजिक संस्थाएँ आ जाती हैं। अधिकतर संबंधित सामाजिक विज्ञानों में विशेषज्ञताओं के कारण विषय का क्षेत्र अति-सीमित हो जाता है। परन्तु मानव व्यवहार को विभिन्न कक्षों में विभक्त नहीं किया जा सकता और प्रत्येक को एक विशेष सामाजिक विज्ञान तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। इसलिए सामाजिक विज्ञानों के बीच की किसी सीमा की मान्यता नहीं होती और प्रायः इनके कुछ विषय समान प्रकार के ही होते हैं। लगभग सभी सामाजिक विज्ञान बहुधा अपने क्षेत्र से बाहर निकलकर एक-दूसरे के क्षेत्रों में आ जाते हैं।

1.5.1 सामाजिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र

सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति पर पड़ने वाले सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों का अध्ययन है। इसमें एकल व्यक्ति के व्यवहार पर ध्यान दिया जाता है, इसलिए यह समाजशास्त्र से भिन्न है, क्योंकि समाजशास्त्र का संबंध समूहों के बीच के संबंधों से अधिक है।

किन्तु कुछ क्षेत्र समान रूप से संबंधित हैं। जैसे सामाजिकीकरण, प्रतिमान और मूल्य। इसके अतिरिक्त व्यक्ति पर समूह का प्रभाव और समूह पर व्यक्ति का प्रभाव मनोविज्ञान और समाजशास्त्र दोनों के लिए समान महत्व रखता है।

1.5.2 समाजशास्त्र और नृविज्ञान

नृविज्ञान के कई क्षेत्र हैं, जैसे पुरातत्व, भाषा-शास्त्र, भौतिक नृविज्ञान और सामाजिक नृविज्ञान। हालांकि नृविज्ञान को प्रारंभिक (आदिम) संस्कृतियों का अध्ययन माना जाता है और समाजशास्त्र को अधिकतर समकालीन समाज का अध्ययन करने वाला शास्त्र कहा जाता है। किन्तु यह अंतर अधिक वैध नहीं रह गया है। सामाजिक नृवैज्ञानिकों द्वारा भारत में आदिम जातियों के अध्ययन के साथ-साथ ग्राम-अध्ययन के अनेक कार्य किये गये हैं। समाजशास्त्र और नृविज्ञान, खास तौर से सामाजिक नृविज्ञान, इन दोनों के कुछ अध्ययन क्षेत्र प्रायः समान ही हो गये हैं। संस्कृति और सामाजिक संगठन ये ऐसी संकल्पनाएँ हैं जिनका अध्ययन इन दोनों विषयों में किया जाता है।

1.5.3 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र, दोनों ही उद्योग का अध्ययन करते हैं, किन्तु अलग-अलग ढंग से। अर्थशास्त्र उद्योग, उत्पादकता, श्रम, औद्योगिक नीति, विपणन आदि के आर्थिक कारकों का अध्ययन करता है, जबकि एक समाजशास्त्री समाज पर औद्योगिकीकरण के प्रभाव का प्रमुख अध्ययन करता है। अर्थशास्त्री कारखानों, बैंकों, व्यापार और परिवहन जैसी आर्थिक संस्थाओं का अध्ययन करता है, किन्तु उसे धर्म, परिवार अथवा न्यायालयों से कोई सरोकार नहीं होता। समाजशास्त्र में आर्थिक संस्थाओं के गहन अध्ययन के स्थान पर आर्थिक संस्थाओं और समाज की दूसरी संस्थाओं (जैसे—राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं) के बीच परस्पर संबंधों के अध्ययन पर ज़ोर दिया जाता है।

आज के युग मे सामाजिक जीवन बहुत जटिल हो गया है और कोई भी अकेला विषय गहराई से इसका समग्र अध्ययन नहीं कर सकता है। प्रत्येक सामाजिक विषय समाज के एक विशेष पहलू पर ही ध्यान देता है, इसलिए सामाजिक संस्थाओं के परस्पर संबंधों पर ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। यहाँ कुछ सामाजिक विज्ञानों पर ही विचार किया गया है ताकि सामाजिक विज्ञानों के बीच के संबंधों को महसूस किया जा सके। इसी प्रकार से समाजशास्त्र का राजनीति विज्ञान, इतिहास, लोक-प्रशासन आदि के साथ संबंधों का भी विश्लेषण किया जा सकता है।

1.5.4 मूल (basic) तथा अनुप्रयुक्त (applied) समाजशास्त्र

समाजशास्त्री सामाजिक जीवन के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य करने और मनुष्य के सामाजिक व्यवहार से संबंधित सिद्धांतों का विकास करने का प्रयास करते हैं। उद्देश्य यह है कि एक ऐसा विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त किया जाए जिसके द्वारा सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझा जा सके। यह तो महत्वपूर्ण बात है ही परंतु यह भी जरूरी है कि इस ज्ञान का प्रयोग मनुष्य के विभिन्न प्रकार के कार्यों में किया जाए। सामाजिक संबंधों पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है, जिनमें प्रौद्योगिकी का बढ़ता हुआ प्रभाव भी एक कारक है। समाजशास्त्री इस बात का यथा संभव उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमान लगाता है कि नयी तकनीक और परिवर्तनों के संबंध में लोगों की क्या प्रतिक्रिया होगी और सामाजिक जीवन पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा। इस आधार पर विकास के अनेक कार्यक्रम चलाए जाते हैं। समाजशास्त्र यह भी बताता है कि नए परिवर्तन लाने के लिए किस प्रकार की सावधानी बरती जानी चाहिए, जिससे कि लोगों की जीवन पद्धति पर उसका कोई विपरीत प्रभाव न पड़े और नये कार्यक्रमों को लोगों द्वारा स्वीकार कर लिया जाए। नयी तकनीकों को स्वीकार करने, न करने अथवा उनका प्रतिरोध करने के प्रति जनता की क्या प्रतिक्रिया है, इसका पता सामाजिक मूल्यों और सामाजिक व्यवहार का गहराई से अध्ययन करने पर लगाया जा सकता है।

जिस सामाजिक व्यवस्था में हम रहते है और जो ताकतें इस पर अपना प्रभाव डालकर इसे प्रभावित करती हैं, उसके बारे समाजशास्त्र हमें जानकारी देता है। यह हमें इस बात का भी सुझाव देता है कि हम क्या कदम उठाएँ जिससे कि नये सामाजिक स्वरूप का निर्माण हो सके। समाजशास्त्र का अध्ययन हमें मनुष्य की स्थिति को समझने में भी सहायता करता है। इससे हमें समाज की वर्तमान समस्याओं और उलझनों का हल निकालने में मदद मिलती है।

बोध प्रश्न 3

अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 मूल और अनुप्रयुक्त समाजशास्त्र में क्या अंतर है? उत्तर लगभग दस पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.6 सारांश

इस इकाई में हमने आपको समाजशास्त्र की परिभाषा समझायी है। हमने सामाजिक समूह के विचार की भी व्याख्या की है। हमने समाजशास्त्र के मूल क्षेत्रों को स्पष्ट किया है और संस्कृति की संकल्पना का ज्ञान कराया है। इसमें विज्ञान के साथ समाजशास्त्र के संबंधों पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस इकाई में समाजशास्त्र के पांच संस्थापकों के लघुचित्र भी दिए गये हैं। इन चिंतकों के सिद्धांतों का आज के समाजशास्त्र पर भी लगातार प्रभाव है। अंत में, हमने मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान आदि जैसे विषयों के साथ समाजशास्त्र के संबंधों पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार हमने समाजशास्त्र के क्षेत्र और स्वरूप के संबंध में आपको उपयोगी जानकारी दी है।

शब्दावली

वर्गीकरण: सामाजिक आंकड़ों व सामग्री को विभिन्न वर्गों और समूहों में बांटने की पद्धति
संस्कृति: इसके अंतर्गत मानवीय समूहों के रीति-रिवाज, चाल-चलन और विश्वास शामिल होते हैं।
समूह: इसमें ऐसे दो या अधिक लोग शामिल होते हैं, जिनमें परस्पर उद्देश्यपूर्ण संबंध होते हैं और जिनका लक्ष्य भी समान होता है।
प्राथमिक समूह: एक ऐसा छोटा समूह, जिसके आपसी संबंध और व्यवहार बहुत ही घनिष्ठ होते हैं। जैसे — परिवार।
गौण समूह: एक बड़ा समूह, जिसके आपसी संबंध अधिक निकट नहीं होते, किंतु उनका ध्येय समान होता है। जैसे — किसी कार्यालय के कर्मचारी।
उपागम (approach): किसी उद्देश्य तक पहुंचने का तरीका अथवा उपाय।
अनुप्रयुक्त (applied): किसी भी शास्त्र के व्यवहारिक उपयोग के लिए प्रयुक्त शब्द।
नृविज्ञान (anthropology): मनुष्य के संबंध में ज्ञान का विषय।

उपयोगी पुस्तकें

मैक कील, जेम्स बी. 1981. सोशोलॉजी: दी स्टडी ऑफ सोसाइटी. हाल्ट, रिनहार्ट और विन्स्टनः न्यूयॉर्क व ले,
पीटर, 1987 संस्करण. **दी न्यू इंट्रोडयूजिंग सोशोलॉजी.** पेनगुइंग बुक्स लिमिटेडः मिडिलसैक्स

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 मोटे तौर पर, सामाजिक जीवन, समूहों के परस्पर संबंध और सामाजिक व्यवहार का अध्ययन ही समाजशास्त्र है। दूसरे सामाजिक विज्ञान सामाजिक व्यवहार के विशिष्ट क्षेत्रों का ही अध्ययन करते हैं, जबकि समाजशास्त्र का संबंध सामाजिक जीवन के समग्र रूप से है।

2 सामाजिक समूह व्यक्तियों (दो या अधिक) का एक ऐसा समूह होता है जिनमें नियमित रूप से परस्पर सामाजिक संबंध रहता है, जो समान विश्वासों, मूल्यों और आदर्शों पर आधारित होता है। एक-दूसरे से संबंधित व्यक्ति अपने आपको समूह का सदस्य मानते हैं। समूह के कुछ उदाहरण हैं: केन्द्रक परिवार, फुटबाल टीम आदि।

बोध प्रश्न 2

1 मूल रूप से समाजशास्त्र में सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन होता है। पारस्परिक संबंध घनिष्ठ और प्रगाढ़ हो जाने पर संस्थागत रूप धारण कर लेते हैं। समाजशास्त्र इन्हीं संस्थाओं, यथा परिवार, अर्थव्यवस्था और राज्य व्यवस्था आदि, का तुलनात्मक अध्ययन करता है। साथ में सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन भी होता है, जिनमें सामाजिक संबंधों के गतिशील पहलुओं की झलक मिलती है।

2 समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन होने के नाते विज्ञान को सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का साधन मानता है। विज्ञान में प्राकृतिक घटनाओं के स्वरूपों का पता हमें निरीक्षण और सत्यापन (verification) से चलता है। समाजशास्त्र में सामाजिक घटनाओं का निरीक्षण प्राक्कल्पनाओं के निर्माण और परीक्षण हेतु किया जाता है।

बोध प्रश्न 3

1 समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को स्पष्ट करने का कार्य करता है। मानवीय कार्यकलापों के इस ज्ञान का प्रयोग करने के लिए समाजशास्त्रीय निष्कर्षों का उपयोग योजना-बद्ध विकास कार्यक्रमों के लिए किया जा सकता है और किया भी जा रहा है। समाजशास्त्र के इस प्रकार के उपयोग को अनुप्रयुक्त समाजशास्त्र कहा जाता है। स्पष्ट है कि मूल समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का अनुसंधान करता है। अनुप्रयुक्त समाजशास्त्र, मूल समाजशास्त्र से इन अर्थों में भिन्न है कि यह विकास के लिए कार्यमूलक कार्यक्रमों की योजना बनाने और उन्हें लागू करने में समाजशास्त्र के निष्कर्षों का केवल उपयोग करता है।

इकाई 2 समाजशास्त्र की मूल संकल्पनाएँ

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 मूल समाजशास्त्रीय संकल्पनाएँ
  2.2.1 समाज की संकल्पना
  2.2.2 समाज के प्रकार
2.3 सामाजिक समूह
  2.3.1 प्राथमिक समूह
  2.3.2 गौण समूह
2.4 प्रस्थिति एवं भूमिका
  2.4.1 प्रस्थिति के प्रकार
  2.4.2 बहुविध परिस्थितियाँ
  2.4.3 भूमिका की संकल्पना
2.5 सामाजिक संस्था
2.6 संस्कृति
  2.6.1 संस्कृति एवं मानव व्यवहार
  2.6.2 लोकरीतियाँ
  2.6.3 लोकाचार
  2.6.4 मूल्य
  2.6.5 उप-संस्कृतियाँ
2.7 सामाजिक परिवर्तन
  2.7.1 परिवर्तन के कारक तथा दर
2.8 सामाजिक नियंत्रण
2.9 समाजशास्त्रीय पद्धतियाँ
2.10 सारांश
  उपयोगी पुस्तकें
  शब्दावली
  बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा:

- समाज की संकल्पना की व्याख्या
- सामाजिक समूहों की प्रकृति की व्याख्या
- प्रस्थिति एवं कार्य की संकल्पनाओं पर चर्चा
- सामाजिक संस्थाओं की परिभाषा
- संस्कृति एवं मानव व्यवहार के अंतःसंबंध को स्पष्ट करना
- सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक नियंत्रण की व्याख्या करना तथा
- समाजशास्त्रीत पद्धतियों पर चर्चा

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप को समाजशास्त्र की मूल संकल्पनाओं का परिचय दिया जायेगा। इन संकल्पनाओं में "समाज" की संकल्पना स्वतः ही शामिल हो जाती है। इसमें सामाजिक समूह पर चर्चा की गई है जो समाज का मूल आधार है। इसके बाद हमने प्रस्थिति एवं भूमिका की चर्चा की है जो निर्णायक संकल्पनाएँ हैं। इस इकाई में सामाजिक संस्था तथा समाजशास्त्रीय पद्धति के बारे में बताया गया है। इसके बाद हमने संस्कृति के विभिन्न पहलुओं की लोक रीतियों एवं लोकाचारों सहित व्याख्या की है। यह इकाई सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक नियंत्रण के विवेचन के साथ समाप्त होती है। समाजशास्त्र की कुछ आधारभूत संकल्पनाओं को जानने समझने के लिए यह एक महत्वपूर्ण इकाई है।

2.2 मूल समाजशास्त्रीय संकल्पनाएँ

हमें सबसे पहले यह देखना है कि सकल्पनाओं से तात्पर्य क्या है। संकल्पना वह शब्द या वाक्यांश है जिसे वास्तविक अनुभव से निकाल कर सूक्ष्म बनाया गया है तथा जिसका कमोबेश रूप से आशय उसी वस्तु से है जिसे सभी जानते हैं। इस तरह संकल्पना गोचर जगत के एक रूप का प्रतिनिधित्व करती है। जैसे, कार एक संकल्पना है जो एक विशिष्ट प्रकार के वाहन को बताती है। एक बार कार की संकल्पना से परिचित हो जाने के बाद, हमें इस बात की जरूरत नहीं रहती कि हम यह जानने के लिए कि कार क्या है, इसे भौतिक रूप से बार-बार देखें। इसी प्रकार एक घर या एक टेबल लैम्प भी संकल्पनाएँ हैं।

प्रत्येक विज्ञान में संकल्पनाओं की आवश्यकता होती है क्योंकि इनके द्वारा सही अर्थों तक पहुँचा जाता है। प्रत्येक वैज्ञानिक शब्दावली संकल्पनाओं को परिष्कृत करती रहती है। उस नियमावली से अवगत व्यक्ति हर समय उस वस्तु का वही आशय समझेगा जो शब्दावली के अनुसार है। समाजशास्त्र की भी बहुत संकल्पनाएँ हैं जिन्हें सभी समाजशास्त्री एक ही रूप में समझते हैं। यहाँ पर हम आपको कुछ महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय संकल्पनाओं का परिचय देंगे। इनमें से कई ऐसी संकल्पनाएँ शब्दों या वाक्यांशों में बताई गई हैं जिनका रोजमर्रा इस्तेमाल होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि इन्हें समाजशास्त्रीय रूप में इस्तेमाल करते समय सावधानी बरती जाए क्योंकि समाजशास्त्र में इन शब्दों का इस्तेमाल कुछ विशेष भावार्थ में किया जाता है।

2.2.1 "समाज" की संकल्पना

समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज सामाजिक संबंधों की कड़ी होती है। संबंध सामाजिक होता है, जब यह आपसी जानकारी द्वारा निर्धारित किया जाता है अर्थात एक व्यक्ति का व्यवहार दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए एक अध्यापक जब कक्षा में प्रवेश करता है तो विद्यार्थी शोर मचाना बंद कर देते हैं और अपने अध्यापक को आदर देने के लिए खड़े हो जाते हैं। उनका यह व्यवहार अध्यापक एवं विद्यार्थी के बीच सामाजिक संबंध को दर्शाता है। अतः सामाजिक संबंध तभी बनते हैं जब प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को स्वीकारते हुए आपस में व्यवहार करते हैं। इसीलिए "समाज" को संबंधमूलक संकल्पना कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में "समाज" एक तात्विक संकल्पना नहीं है। इससे किसी ठोस यथार्थता का पता नहीं चलता अपितु इससे सामाजिक संबंधों का ज्ञान होता है। जब लोग आपस में सुसंगठित एवं सुपरिचित ढंग से संबद्ध हैं तो ये सामाजिक संबंध संस्थागत बन जाते हैं। इस तरह अनेक सामाजिक संस्थाओं, जैसे परिवार, विवाह, नातेदारी इत्यादि का अध्ययन समाजशास्त्र का मुख्य ध्येय बन जाता है।

2.2.2 समाज के प्रकार

प्रमुख प्रकार के सामाजिक संबंधों के आधार पर मानव समाज को विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है। अधिकांश समाजशास्त्री उस औद्योगिक समाज को, जिसमें वे रहते है, अन्य प्रकार के समाजों से अलगाते हैं। कुछ समाजशास्त्री जैसे स्पेंसर तथा दर्खाइम समाजों का वर्गीकरण उनके आकार या माप, अन्य तथ्यों जैसे श्रम के विभाजन की श्रेणी तथा मात्रा, राजनीतिक संगठन एवं सामाजिक स्तरीकरण के आधार पर करते हैं। कुछ विद्वान जैसे कार्ल मार्क्स समाज का वर्गीकरण आर्थिक संस्थाओं के आधार पर करते हैं। इस प्रकार समाज को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। समाज के बारे में बताते हुए जटिल तर्कों में उलझने के बजाय यह अनुभव करना आवश्यक है कि समाज के विभिन्न प्रकारों का न कोई आदर्श वर्गीकरण मिलता है तथा न ही समाज के विभिन्न प्रकारों के विशुद्ध उदाहरण।

विस्तृत अर्थ में, समाजशास्त्र के व्यापक क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए हम समाज को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं: सरल एवं जटिल। सभी प्राचीन या जनजातीय सामाजिक संगठनों को सरल समाज में शामिल किया जाता है। सामाजिक संबंधों के अति व्याप्त रूपों सहित औद्योगिक समाजों को जटिल समाज कहा जाता है।

2.3 सामाजिक समूह

समूह की संकल्पना समाजशास्त्र का केन्द्र बिन्दु है। आम तौर पर दो या अधिक व्यक्तियों के इकट्ठे होने पर उन्हें समूह कह दिया जाता है किंतु समाजशास्त्रीय दृष्टि से एक समूह के सभी व्यक्तियों में कुछ समान बोध में विश्वास करने की चेतना होनी चाहिए। साथ ही वे कतिपय अधिकारों एवं दायित्वों के प्रति जागरूक भी हों। इस रूप में एक परिवार या एक कक्षा या एक दल (पार्टी) को एक समूह कहा जा सकता है।

प्रत्येक समाज में कई प्रकार के समूह होते हैं किंतु समाजशास्त्रियों ने जो सर्वाधिक आधारभूत विभाजन किया है, वह है प्राथमिक एवं गौण समूह।

2.3.1 प्राथमिक समूह

यद्यपि सभी छोटे समूह प्राथमिक नहीं होते, इसके सदस्यों का आम तौर पर एक दूसरे से आमने-सामने संपर्क होता रहता है। फलतः उनका आपस में घनिष्ट एव सहभागिता का संबंध होता है, साथ ही वे एक दूसरे के प्रति बहुत वफादार होते हैं।

सदस्यों के बीच में संबंध अपने आप में लक्ष्य बन जाते हैं, अर्थात सदस्य एक दूसरे से मिलने पर सुख तथा आनंद महसूस करते हैं। उनकी दृष्टि में कोई अन्य ध्येय नहीं होता। जब एक या अधिक सदस्य चले जाते हैं तो प्राथमिक समूह समाप्त हो जाते हैं उनका स्थान कोई दूसरे लोग नहीं ले सकते। प्राथमिक समूह के उदाहरण परिवार या मित्रता या समकक्ष समूह हैं।

2.3.2 गौण समूह

गौण समूह कई दृष्टियों से प्राथमिक समूह के विपरीत होते हैं। हमेशा तो नहीं लेकिन आम तौर पर ये बड़े आकार के समूह होते हैं। गौण समूह के सदस्य एक दूसरे से अपेक्षाकृत सीमित, औपचारिक तथा ऊपरी संबंध रखते हैं।

प्राथमिक समूह के विपरीत गौण समूह विशिष्ट या विशेषीकृत रुचि वाले समूह होते हैं। आम तौर पर श्रम का सुपरिभाषित विभाजन इन समूहों की विशेषता होती है। इस समूह के सदस्यों को एक दूसरे की जगह या बाहर के किसी व्यक्ति के साथ बदला जा सकता है। अतः इस समूह के मूल सदस्यों के सदस्य रहने या न रहने के बावजूद भी गौण समूह बना रहता है। क्रिकेट की टीम, म्यूज़िक क्लब, फौज या कारखाना आदि गौण समूह के उदाहरण हैं।

यह सम्भव है कि गौण समूह के कुछ सदस्य एक दूसरे के बहुत निकट आ जाएँ तथा आपस में प्राथमिक संबंध बना लें तथा समकक्ष समूह तैयार कर लें। अनेकों समाजशास्त्रीय अध्ययनों से पता चला है कि फौज, कारखानों एवँ अन्य गौण समूहों में प्राथमिक समूह के गुण आने से हौसला बढ़ा है तथा कार्य अधिक सुचारू रूप से हुआ है।

2.4 प्रस्थिति एवँ भूमिका

स्पष्टतः किसी भी समाज में सामाजिक संबंध अनंत प्रकार के होते हैं। मातृ-पितृत्वता, वैवाहिकता, मित्रता, पड़ौसीपन और इसी तरह के अनेक संबंध सामाजिक संबंधों के व्यापक रूप को दर्शाते हैं। इन्ही संबंधों का समाजशास्त्री अध्ययन करते हैं तथा इस अध्ययन के आधार पर वे समाज के स्वरूप को समझने का प्रयास करते हैं। विवेचना तथा विश्लेषण के लिए हर सामाजिक संबंध दो आयामों में देखा जाता है। एक है प्रस्थिति तथा दूसरा है भूमिका।

समाज में होने वाले पारस्परिक संबंधों के संगठन में हर व्यक्ति की एक निश्चित जगह होती है, उसे ही प्रस्थिति कहा जाता है। हर पारस्परिक संबंध में यह हो ही नहीं सकता कि हर व्यक्ति की सुपरिभाषित जगह न हो। कोई भी व्यक्ति एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकता यदि दी गई परिस्थिति में उसकी प्रस्थिति के साथ-साथ दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की प्रस्थिति मालूम न हो।

इस प्रकार परिवार में पारस्परिक संबंधों में कोई परेशानी नहीं होती क्योंकि प्रत्येक सदस्य को अपनी एवं दूसरों की प्रस्थिति की जानकारी होती है। इस जानकारी से पारस्परिक संबंध निरंतर बना रहता है और उसका पूर्वानुमान भी रहता है। परन्तु जब हम किसी अजनबी से मिलते हैं तो हम सबसे पहले उसकी प्रस्थिति जानना चाहते हैं। जब तक हमें उसकी प्रस्थिति का पता नहीं चलता तब तक हमें यह स्पष्ट नहीं होता कि हम उसके साथ कैसा व्यवहार करें। अतः प्रस्थिति एवँ उसकी जानकारी से ही पारस्परिक संबंधों का ढांचा तैयार होता है।

2.4.1 प्रस्थिति के प्रकार

समाजशास्त्री प्रदत्त प्रस्थिति एवँ उपार्जित प्रस्थिति में भेद करते हैं। जो स्थिति व्यक्ति जन्म से या बिना कोई प्रयास किए प्राप्त करता है उसे प्रदत्त प्रस्थिति कहा जाता है। अधिकांशतः इसी श्रेणी में नातेदारी वाली प्रस्थिति आती है। इसके विपरीत उपार्जित प्रस्थिति वह होती है जिसे व्यक्ति प्रयास द्वारा प्राप्त करता है। आम तौर पर इस श्रेणी में व्यक्ति की व्यावसायिक स्थितियाँ आती हैं। केवल कुछ मामलों में यह संभव होता है कि एक ही प्रस्थिति में प्रदत्त एवँ उपार्जित दोनों पक्ष हों। उदाहरण के लिए भारतीय गांव का वंशागत पुजारी यदि अपेक्षित धर्मग्रंथों को याद नहीं कर सकता तो उसे बहिष्कृत किया जा सकता है, अतः उसे प्रदत्त के साथ-साथ प्रयास से भी अपनी प्रस्थिति को सँभालना पड़ता है।

2.4.2 बहुविध प्रस्थितियाँ

यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रस्थिति बहुविध होती है। यहाँ तक कि नवजात शिशु भी एक साथ पुत्र, पौत्र, भाई, भतीजा आदि होता है। जैसे-जैसे हम बड़े होते हैं हमारी प्रस्थितियों में भी बढ़ोतरी होती है। लोक प्रसिद्ध व्यक्ति एवँ अन्य महत्वपूर्ण लोग एक ही समय अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त कर लेते हैं। फिर भी हर एक की प्रमुख प्रस्थिति केवल एक ही होती है जिसके आधार पर उसे पहचाना जाता है तथा उसकी परख होती है आधुनिक समाजों में हर व्यक्ति का व्यवसाय उसकी प्रमुख प्रस्थिति होता है।

2.4.3 भूमिका की संकल्पना

अब हम भूमिका की संकल्पना पर विचार करते हैं। भूमिका वास्तव में प्रस्थिति का व्यवहारात्मक पहलू है। किसी व्यक्ति को तब तक कोई प्रस्थिति नहीं हो सकती जब तक कि उसके साथ कोई भूमिका न जुड़ी हो। अतः भूमिका की अदाकारी प्रस्थिति

का सक्रिय पहलू है। हर भूमिका के साथ अधिकार एवं कर्तव्य जुड़े होते हैं। जैसे माता/पिता की प्रस्थिति प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अपने बच्चों पर अधिकार होने के साथ-साथ उनके प्रति कुछ जिम्मेदारियाँ भी होती हैं। इस प्रकार प्रस्थिति एवं भूमिका एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

भूमिका का संबंध प्रस्थिति विशेष को धारण करने वाले व्यक्ति के वास्तविक व्यवहार से होता है। साथ में भूमिका की संकल्पना व्यवहार से संबंधित उन अपेक्षाओं को भी बताती है जो लोग एक दूसरे से करते हैं। अतः अध्यापक विद्यार्थी संबंधों के संदर्भ में विद्यार्थी से एक विशेष प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करेगा। इसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी की भी अपनी अपेक्षाएँ होंगी। यदि इनमें से कोई भी एक दूसरे की अपेक्षाओं के अनुसार कार्य न कर सकें तो उनके संबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। कुल मिलाकर यदि व्यक्ति भूमिका संबंधी अपेक्षाओं को पूरा करते हैं तो समाज में व्यवहार की एकरूपता बनी रहती है।

इस चर्चा से भूमिका की संकल्पना के महत्व का आभास होता है। वस्तुतः यह मानव समाज के सामाजिक ढाँचे के विश्लेषण की मूल इकाइयों में से एक है। खंड सात में इस संकल्पना के बारे में व्यापक चर्चा की जाएगी।

2.5 सामाजिक संस्था

सामाजिक संस्था को "व्यापक लक्ष्यप्रवण व्यवहार जिसे दृढ़ता से सुस्थापित किया गया हो" के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। व्यवहार की इस सुस्थापित प्रणाली के कारण व्यक्ति के व्यवहार को समझना एवं उसका पूर्वानुमान लगाना सम्भव हो जाता है। अतः सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन में सामाजिक जीवन के क्षेत्र विशेष में समूह, भूमिका, प्रतिमान, विश्वास एवं आचार शामिल होते हैं।

बोध प्रश्न 1

नीचे का स्थान उत्तर देने के लिए इस्तेमाल करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 प्रस्थिति एवं कार्य में भेद करें। लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

2 समाज की संकल्पना की पाँच पंक्तियों में परिभाषा दें।

.....

.....

.....

.....

.....

3 प्राथमिक तथा गौण समूहों के बीच में पाए जाने वाले अंतर को चार पंक्तियों में दिखाएँ।

.....

.....

.....

.....

2.6 संस्कृति

समाज, भूमिका, प्रस्थिति एवं संस्था के अतिरिक्त संस्कृति एक और ऐसा महत्वपूर्ण विषय है जिसने समाजशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया है। आम तौर पर वे लोग भी जो समाजशास्त्र से परिचित नहीं है "संस्कृति" शब्द से बखूबी परिचित हैं। अपने दैनिक जीवन में हम कुछ व्यक्तियों को सुसंस्कृत कह सकते हैं। हम यह स्तर उन्हें तभी देते हैं यदि सम्बद्ध व्यक्ति अपने व्यवहार एवं आचरण में सुरुचिपूर्ण तथा परिष्कृत हों। परन्तु समाजशास्त्री "संस्कृति" शब्द का इस्तेमाल इस अर्थ में नही करते। उनकी शब्द की अपनी विशेष व्याख्या होती है।

समाजशास्त्रीय शब्दों में संस्कृति को सीखे जाने वाले सभी मानवीय क्रिया कलापों के कुल जोड़ के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। ये क्रियाकलाप समाज विशेष की सदस्यता के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी चलते रहते हैं। मानव समाज में सीखी जाने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं में अस्त्र-शस्त्र निर्माण प्रणालियाँ, संचार माध्यम एवं प्रतीक सम्मिलित होते हैं। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि संस्कृति की संकल्पना यांत्रिक उपकरणों, संचार माध्यमों एवं प्रतीकों से संबंधित है। लोगों को नये क्रियाकलापों को सीखने के लिए औजारों, भाषा एवं प्रतीकों की आवश्यकता होती है।

मानव समाजों में संस्कृतियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं तथा समय-समय पर स्वयं में बदलती भी रहती हैं। समाजशास्त्र के अध्ययन करने का एक लाभ यह है कि विभिन्न संस्कृतियों के बारे में जानकारी देने के साथ-साथ यह हर व्यक्ति की अपनी संस्कृति के अलावा अन्य संस्कृतियों के बारे में समझ पैदा करने में भी सहायता करता है।

2.6.1 संस्कृति एवं मानव व्यवहार

थोड़े से प्रयास से इस बात को जाना जा सकता है कि हर सामाजिक परिस्थिति में विभिन्न संस्कृतियों वाले व्यक्ति परिस्थिति का सामना अलग-अलग ढंग से करते हैं। उदाहरण के लिए घर या गली में रिश्तेदार या मित्र का स्वागत करने के लिए हमारे समाज के पुरुष एक दूसरे के साथ प्रायः हाथ मिलाते हैं परन्तु समाज के नियमानुसार महिलाओं से हाथ नहीं मिलाते। इसी तरह अत्यधिक भूख लगने पर भी शाकाहारी व्यक्ति मांसाहारी भोजन के लिए मना कर देगा। ऐसा इसीलिए होता है कि दी गई हर परिस्थिति में संस्कृति हमारे व्यवहार को प्रभावित करती है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में कहा जाय तो संस्कृति मानकीय होती है अर्थात यह उपयुक्त आचरण के मानक बताती है तथा यह भी बताती है कि क्या सही है और क्या गलत है। संक्षेप में ये प्रतिमान हमें सांस्कृतिक मानकों द्वारा उपलब्ध कराये जाते हैं। हालाँकि आजकल विश्वविद्यालय के कई विद्यार्थी सिगरेट पीते हैं फिर भी वे अपने बड़े-बूढ़ों या अध्यापकों के सामने सिगरेट नहीं पीते ! हमारी संस्कृति में यह कार्य गलत माना जाता है अर्थात् यह हमारे सांस्कृतिक मानक के विपरीत है। प्रत्येक समाज की आदि भौतिक (non-material) संस्कृति के मूल तत्वों में कई मानक होते हैं। ये प्रतिमान लोक रीतियों एवं लोकाचारों द्वारा समझे एवं लागू किए जाते हैं।

2.6.2 लोकरीतियाँ

व्यवहार संबंधी कुछ विधियाँ होती हैं जो हमारे दैनिक जीवन को नियंत्रित करती हैं तथा दूसरे व्यक्तियों से हमारा संपर्क रखती हैं। इस प्रकार अध्यापक के कक्षा में प्रवेश करने पर विद्यार्थियों का खड़े हो जाना, महिलाओं को पंक्ति में लगे बगैर टिकट लेने देना, नौकरी मिलने या पदोन्नति पर मिठाई बांटना आदि कुछ लोकरीतियों के उदाहरण हैं। बहुत सी लोकरीतियाँ केवल नम्रता के कारण होती हैं।

लोकरीतियों की उपेक्षा न की जाए इसलिए व्यक्ति को इसके अनुसार चलाने के लिए तारीफ, अनुमोदन एवं स्वीकृति की प्रक्रिया अपनायी जाती है। इसके विपरीत आलोचना करना, त्यौरी चढ़ाना या व्यंग्यपूर्ण उक्ति या हंसी उड़ाना आदि ढंग से गलत व्यवहार को अस्वीकार किया जाता है। चूंकि अधिकांश व्यक्ति चाहते हैं कि उनका मज़ाक न उड़ाया जाए या उनका समुदाय उन्हें अशिष्ट तथा असभ्य न समझे, वे वही कार्य करना चाहते हैं जो उनका समुदाय चाहता है। इसलिए अधिकांश लोग लोकरीतियों का अनुपालन करते रहते हैं यह बिना जाने हुए कि वे उनका अनुपालन कर रहे हैं और व्यवहार के अन्य ढंग भी हैं।

2.6.3 लोकाचार

लोकाचार वे प्रतिमान होते हैं जो समुदाय द्वारा अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं एवं सामुदायिक कल्याण के लिए अत्यावश्यक होते हैं। लोकाचारों के उल्लंघन से भावात्मक प्रतिक्रिया होती है और केवल त्यौरी चढ़ाने या मजाक करने के बजाए एक प्रबल सामूहिक कार्रवाई शुरू हो जाती है। इस प्रकार गोमांस, मादक पेयों के इस्तेमाल की मनाही क्रमशः हिन्दू एवं मुस्लिम समाज के लोकाचार का एक भाग है। इन लोकाचारों के उल्लंघन को बरदाश्त नहीं किया जाता।

अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि लोकाचारों के प्रतिमान लोकरीतियों की अपेक्षा उच्च श्रेणी के होते हैं। लोकाचारों को मानने की बाध्यता या अनिवार्यता होती है तथा ये संस्कृति के प्रमुख मूल्यों से सम्बद्ध होते हैं। लोकाचार स्पष्ट एवं निश्चित रूप से नैतिक और अनैतिक की संकल्पना को प्रतिबिम्बित करते हैं। यह देखा गया है कि लोकाचार प्रायः "अनिवार्य व्यवहार" के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। सभी विवाहित पुरुषों एवं महिलाओं को अपनी पत्नी एवं पति के प्रति वफादार रहना तथा यौन निष्ठा का पालन करना चाहिए या इसके विपरीत अनावश्यक व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसे महिलाओं को अपना शरीर नहीं दिखाना चाहिए इत्यादि लोकाचार के उदाहरण हैं।

समाजशास्त्री यह मानने में कठिनाई अनुभव करते हैं कि लोकाचारों को तार्किक आधार पर सचेत रूप से या सोच समझ कर बनाया गया है। सम्भवतः इनके निर्माण में कुछ अटकलपच्चू प्रयोग शामिल होंगे। परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक समाज के व्यक्ति अपने क्रियाकलापों के उचित एवं अनुचित होने पर विश्वास करते हैं। वस्तुतः लोकाचार जिन बातों पर प्रतिबंध लगाते हैं वे सचमुच ही हानिप्रद हैं, या नहीं: मालुम नहीं होता। इस प्रकार लोकाचार कार्यों के उचित या अनुचित होने के विश्वास मात्र होते हैं। पूर्ववर्ती समाजशास्त्रियों में से एक ने कहा था कि लोकाचार किसी भी वस्तु को उचित या अनुचित बना सकते हैं।

2.6.4 मूल्य

संस्कृतियों का अंतिम सार और चेतना वे मूल्य होते हैं जो सिद्धांत एवं विचारों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं और जिनके आधार पर व्यक्ति एवं समाज अपना ध्येय चुनते हैं। मूल्य भी कसौटी ही होते हैं जिनके आधार पर समाज एवं व्यक्ति के साधन व साध्यों पर निर्णय लिया जाता है तथा उनका मूल्यांकन किया जाता है। ध्येयों के अलावा सभी आचरण, चाहे वे इन ध्येयों को प्राप्त करने के लिए हों या इसके विपरीत हों, मान्य मूल्यों की कसौटी पर निर्णीत एवं मूल्यांकित किये जाते हैं। ऐसा कोई भी कार्य जो समुदाय या समाज द्वारा मान्य मूल्यों के विपरीत हो तो उसकी भर्त्सना की जाती है एवं दंड दिया जाता है। उदाहरण के लिए भारतीय समाज में अपने से बड़े व्यक्तियों के प्रति छोटे व्यक्तियों के व्यवहार करने में एक मूल्य निहित है। अतः समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार से हट कर किया गया व्यवहार आलोचना का बिंदु बन जाएगा।

प्रतिमान बहुत निश्चित होते हैं जबकि मूल्य सर्वमान्य आदर्श हो जाते हैं, जो वस्तुतः अमूर्त होते हैं। इसके बावजूद भी ये पूरे समाज की प्रतिबद्धता को आकर्षित करते हैं।

2.6.5 उप-संस्कृतियाँ

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान में रखने वाला यह है कि जटिल एवं विषमजातीय समाजों की स्थिति में (जैसे कि भारत, जिसमें धर्म, भाषा तथा अन्य दूसरी विविधताएँ होना उसकी विशेषता है) यह बहुत मामूली बात है कि एक बड़ी सम्पूर्ण संस्कृति में कई उप-संस्कृतियाँ हों। भारत में धार्मिक समुदाय जैसे मुस्लिम, ईसाई या सिक्ख या भाषायी समुदाय जैसे तमिल भाषी, महाराष्ट्रीय या पंजाबी आदि की अपनी उप-सांस्कृतिक विशेषताएँ हैं जो उन्हें अन्य समुदायों या समूहों से अलग करती हैं। किंतु इसके साथ ही विभिन्नताओं के रहते हुए भी हम कतिपय आधारभूत मूल्यों जैसे धर्मनिरपेक्षता, लोकतन्त्र तथा सभी नागरिकों में समानता आदि को भी अपनाते हैं तथा ये मूल्य हमारी आपसी एकता को मजबूत करते हैं। किंतु विषमजातीय समाजों को बराबर अपने सार्वभौमिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों पर जोर देते रहना और उनका पोषण करते रहना होता है ताकि उप-सांस्कृतिक मूल्यों के प्रभाव में वे बह न जाएँ।

2.7 सामाजिक परिवर्तन

समाजशास्त्र के उदय को तथा पूर्ववर्ती समाजशास्त्रियों के सरोकारों को रेखांकित करते हुए यह संकेत किया गया था कि औद्योगिक क्रान्ति द्वारा लाये गए परिवर्तनों ने आधुनिक समाजशास्त्र के उदय में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसी कारण समाजशास्त्र तथा समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन की कभी उपेक्षा नहीं की। समाजशास्त्र के लगभग 150 वर्षों के सम्पूर्ण इतिहास में सामाजिक परिवर्तन में रुचि इस अनुशासन का मुख्यसरोकार रहा है।

यद्यपि समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का काफी समय से अध्ययन कर रहे हैं फिर भी इसकी संक्षिप्त एवं सारबद्ध परिभाषा देना कठिन है। सामाजिक परिवर्तन उस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा समाज या सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आता है। सामाजिक परिवर्तन निरंतर होने वाली प्रक्रिया है।

सामाजिक परिवर्तन के कई कारण हो सकते हैं। जनसंख्या में वृद्धि से सामाजिक परिवर्तन हो सकता है। अभिनव परिवर्तन—अर्थात नये विचार या कोई एक लक्ष्य नये सामाजिक संबंधों का निर्माण कर सकता है। यह भी सम्भव है कि जब एक समाज किन्हीं दूसरे समाजों से अपने लिए विचार एवं लक्ष्य लेता है तब सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आ जाता है। आठवें खंड में सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना होगी। उन प्रमुख समाजशास्त्रियों, जिन के बारे में इकाई-एक में चर्चा की गई है, के सामाजिक परिवर्तन के बारे में भिन्न-भिन्न विचारों पर भी बाद में चर्चा की जाएगी।

2.7.1 परिवर्तन के कारक (agents) तथा दर

परिवर्तन के कारकों की पहचान एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कोई भी उप-इकाइयाँ या संस्थाएँ ऐसे साधन बनती हैं जिनके द्वारा सामाजिक परिवर्तन को प्रभावी बनाया जा सकता है। कुछ संस्थाएँ दूसरी अन्य संस्थाओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती हैं जैसे आर्थिक, राजनीतिक एवं शैक्षिक संस्थाएँ परिवर्तन को प्रभावी बनाने में केन्द्रीय भूमिका निभाती हैं। धर्म परिवर्तन के कारक के रूप में भी भूमिका निभा सकता है साथ ही, कभी-कभी, परिवर्तन के विरुद्ध भी सक्रिय हो सकता है।

यद्यपि समाज में हमेशा परिवर्तन होते रहते हैं, फिर भी यह उल्लेख करना आवश्यक है कि परिवर्तन होने पर आम तौर पर उसका विरोध किया जाता है, नये विचारों को तथा व्यवहार के नये तरीकों को आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता। यहाँ तक कि किसी नयी वस्तु के किसी भी समाज में स्वीकार एवं प्रसार में समय लगता है (इंग्लैंड में रेलों को शैतान की कारस्तानी माना जाता था)। जब परिवर्तन में पारम्परिक मूल्यों एवं धारणाओं पर प्रभाव पड़ता हो तो विरोध बहुत अधिक होता है।

दूसरा प्रश्न परिवर्तन की दर से संबंधित है। जो समाज औद्योगिकीकृत हैं तथा परिष्कृत प्रोद्योगिकी का इस्तेमाल करते हैं (जिसके कारण भी परिवर्तन हुआ है) वहाँ परिवर्तन की दर उद्योग पूर्व समाजों की अपेक्षा अधिक तीव्र है। एक और महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान रखने योग्य यह है कि आजकल अधिकांश परिवर्तन योजनाओं के कारण होते हैं। इसे मार्गदर्शक परिवर्तन माना जाता है जो कई विकासशील देशों में अपनाया जा रहा है। इस पर सामाजिक विकास की इकाई में पुनः चर्चा की जाएगी।

2.8 सामाजिक नियंत्रण

सामाजिक नियंत्रण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज में व्यवहार को नियमित किया जाता है। इसका भावार्थ यह है कि सामाजिक नियंत्रण व्यक्ति को संस्थापित मूल्यों एवं मानकों से अलग होने से हतोत्साहित करता है। सामाजिक नियंत्रण के कारण लोग उसी प्रकार रहते हैं जैसे उनसे अपेक्षा की जाती है। सामाजिक नियंत्रण सभी सामाजिक संस्थाओं का एक पक्ष होता है। इस प्रकार यह सामाजिक जीवन में समग्र रूप से व्याप्त होता है।

लोगों का व्यवहार सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के अनुमोदनों (Sanction) से नियंत्रित किया जाता है। दोनों प्रकार के अनुमोदनों का उद्देश्य लोगों को प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार करने को बढ़ावा देना होता है। सकारात्मक अनुमोदनों में तारीफ करना, उपहार देना तथा पदोन्नति शामिल होते हैं, जबकि नकारात्मक अनुमोदनों में दंड, पदावनति, उपहास करना या बहिष्कार करना शामिल होता है। सामाजिक नियंत्रण हमेशा ही सफल नहीं होता। सामाजिक नियंत्रण का अध्ययन करने के लिए विभिन्न दृष्टिकोण या पद्धतियाँ हैं जिन पर आठवें खंड में चर्चा की जाएगी।

2.9 समाजशास्त्रीय पद्धतियाँ

समाजशास्त्रियों ने समाज का अध्ययन करने के लिए कई पद्धतियाँ विकसित की हैं। पिछली इकाई में पहले ही वैज्ञानिक पद्धति एवं इसकी विशेषताओं पर चर्चा की गई है। यद्यपि समाजशास्त्रियों ने विभिन्न पद्धतियों का इस्तेमाल किया है तथापि इन सब में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनिवार्य रूप से पाया गया है।

ऐतिहासिक पद्धति में सामाजिक संस्थाओं का उदय, विकास एवं रूपांतरण शामिल होता है। इस पद्धति में समाजशास्त्री एक या अधिक समाजों से संबंधित ऐतिहासिक जानकारी का इस्तेमाल करता है। इसका प्रमुख उद्देश्य पिछले अनुभवों के आधार पर सामाजिक व्यवहार के संबंध में अंतर्दृष्टि पाना होता है।

तुलनात्मक पद्धति में विभिन्न देशों, विभिन्न क्षेत्रों या विभिन्न धर्मों से आंकड़े इकट्ठे किए जाते हैं। ऐसा प्रयास यह देखने के लिए किया जाता है कि क्या यहाँ पर कुछ ऐसे सामान्य तथ्य हैं जिससे व्यवहार के तरीकों का पता चल सके।

अनुभववादी पद्धति के माध्यम से अध्ययन क्षेत्र में जाकर आंकड़े इकट्ठे किये जाते हैं। इसमे सामाजिक जीवन के तथ्यों का उनके वास्तविक रूपों में अध्ययन एवं वर्णन किया जाता है। इस पद्धति में इस्तेमाल की जाने वाली तकनीक में प्रेषण, सर्वेक्षण, प्रयोगों तथा क्षेत्र विशेष का विशद अध्ययन आदि शामिल हैं।

ये पद्धतियाँ आवश्यक रूप से एकान्तिक नहीं होतीं। उनका सम्मिलित रूप भी प्रयुक्त होता हैं। इन सभी पद्धतियों का प्रयोजन इस प्रश्न का हल ढूँढना है कि व्यक्ति जिस रूप में व्यवहार करते हैं, वे ऐसा क्यों करते हैं। समाजशास्त्रियों के सिद्धांत एवं संकल्पनाएँ इन अध्ययनों के फलस्वरूप ही उभरी हैं।

बोध प्रश्न 2

नीचे का स्थान अपने उत्तर के लिए इस्तेमाल करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 सामाजिक परिवर्तन के मूल पक्षों का वर्णन करें। लगभग आठ पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 सामाजिक नियंत्रण क्या है? पाँच पंक्तियों में स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

2.10 सारांश

इस इकाई में समाजशास्त्र की कुछ महत्वपूर्ण संकल्पनाओं का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। ये वस्तुतः ऐसी संकल्पनाएँ हैं जो आगे आने वाली इकाइयों में निरंतर प्रयुक्त होती रहेंगी। हम आशा करते हैं कि आपने इन संकल्पनाओं को समझ लिया होगा जैसे "समाज", "सामाजिक समूह", "प्रस्थिति एवं कार्य", "सामाजिक संस्था", तथा "संस्कृति" आदि। ये समाजशास्त्रीय अध्ययन का मूल आधार हैं। इस पाठ के अंत में हमने सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक नियंत्रण की व्याख्या की है। यह अच्छा होगा यदि आप इस इकाई को अच्छी तरह समझ लें ताकि अगली इकाइयों को समझने में आपको कोई परेशानी न हो।

शब्दावली

संस्कृति: व्यवहार के तरीके, रीति-रिवाज, और नियम जिन्हे सीखा जाता है तथा जिन्हें सामाजिक रूप से अपनाया जाता है।

लोकरीतियाँ: व्यवहार के ऐसे तरीके जो दैनिक जीवन एवं परस्पर क्रिया को नियंत्रित करते हैं। उदाहरण के लिए एक दूसरे को संबोधित करने के ढंग।

लोकाचार: व्यवहार के ऐसे ढंग जो समाज के कल्याण के लिए निर्णायक होते हैं। जैसे अहिंसा, निष्ठा, चोरी न करना आदि।

भूमिका: सामाजिक जीवन में हरएक के उत्तरदायित्व होते हैं, उदाहरण के लिए पति, पिता, माता, पुत्र आदि के। ये दायित्व इन व्यक्तियों की भूमिकाएँ हैं।

प्रस्थिति: हर भूमिका को निभाने के लिए व्यक्ति का समाज में एक निश्चित स्थान होता है, उसे ही "प्रस्थिति" कहा जाता है।

उपयोगी पुस्तकें

रिजर, जी, केम्पिर के०सी०डब्ल्यू० एवं येटमेन एन.आर. (सम्पादित), 1979. **सोशियोलोजी: एक्सपीरिएंसिंग ए चेंजिग सोसाइटी** (समाजशास्त्रः एक परिवर्तनशील समाज को अनुभव करना). एलन एवं बेकन इंकः बोस्टन

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 समाज संबंधमूलक संकल्पना है। इससे ठोस यर्थाथता का पता नहीं चलता। इसे सामाजिक संबंधों की कड़ी के रूप में देखा जाता है। संबंध तभी बनते हैं जब प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को स्वीकारते हुए आपस में व्यवहार करते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि समाज की संकल्पना सामाजिक संबंधों की ओर संकेत करती है जो संस्थागत हो जाते हैं।

2 प्राथमिक समूह सदस्यों के बीच व्यक्तिगत संबंधों को बताता है। यह संबंध विशिष्ट रूप से छोटे होते हैं और सदस्यों के व्यवहार को गहरे रूप से प्रभावित करते हैं। दूसरी ओर द्वितीयक समूह अधिक बड़े एवं अधिक अवैयक्तिक होते हैं। ये समूह प्रायः किसी विशिष्ट उद्देश्य से बनाए जाते हैं।

3 लोगों के बीच सामाजिक संबंधों के वर्ग में स्थिति या हैसियत "प्रस्थिति" शब्द द्वारा बताई जाती है। प्रत्येक प्रस्थिति के साथ प्रायः अपेक्षित व्यवहार जुड़ा होता है। इस व्यवहार को भूमिका कहा जाता है। इस प्रकार भूमिका प्रस्थिति का सक्रिय पहलू होता है।

बोध प्रश्न 2

1 सामाजिक परिवर्तन निरंतर होने वाली प्रक्रिया है जो समाज या सामाजिक संबंधों में होने वाले परिवर्तनों को बताती है। विविध कारक जैसे जनसंख्या में वृद्धि, अभिनव परिवर्तन, प्राकृतिक संकट, राजनीतिक द्वंद्व आदि समाज में परिवर्तन के कारण हैं। समाज में उप-इकाइयाँ या संस्थाएँ ऐसे साधन होते हैं जिनके माध्यम से सामाजिक परिवर्तन प्रभावी बनता है। उद्योग पूर्व के समाजों में परिवर्तन दर, औद्योगिक समाजों की तुलना में कम होती है। औद्योगिक समाजों में परिवर्तन की गति बहुत तीव्र होती है।

2 सामाजिक नियंत्रण ऐसी नियामक प्रक्रिया के बारे में बताता है जो व्यक्ति को संस्थापित मूल्यों एवं मानकों के अनुरूप कार्य करने के लिए उत्साहित करती है। मानकों के अनुरूप कार्य न करना विसामान्य व्यवहार माना जाता है। सामाजिक नियंत्रण सकारात्मक एवं नकारात्मक अनुमोदनों के माध्यम से लागू किया जाता है।

इकाई 3 सरल समाज

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 सरल समाजों में अर्थव्यवस्था
  3.2.1 आखेट और संग्रहण (Hunting and Gathering)
  3.2.2 पशुचारण (Pastoral)
  3.2.3 झूम कृषि (Shifting Cultivation)
  3.2.4 स्थायी कृषि (Settled Cultivation)
3.3 सरल समाजों में विनिमय प्रणाली
  3.3.1 दो उदाहरण
  3.3.2 बाज़ार
3.4 सरल समाजों में सामाजिक संगठन
  3.4.1 नातेदारी (Kinship)
    3.4.1.1 वंशक्रम (Descent)
  3.4.2 विवाह
  3.4.3 धर्म
    3.4.3.1 धर्म और जादू
  3.4.4 राज्यतंत्र
    3.4.4.1 राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार—मुखिया वाली (Cephalous)
    3.4.4.2 मुखिया रहित (Acephalous)
3.5 सरल समाजों पर औपनिवेशिक प्रभाव
  3.5.1 पारंपरिक उत्पादनों की आपूर्ति (Traditional Products Supply)
  3.5.2 नई फसलों का प्रचलन
  3.5.3 औद्योगिक मजदूर
  3.5.4 उपनिवेशवाद की समस्याएँ
3.6 सारांश.
शब्दावली
उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए बताना संभव होगा:

- सरल समाज के मुख्य लक्षण,
- सरल समाज का सामाजिक संगठन,
- सरल समाज में प्रचलित धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप तथा
- सरल समाजों पर पड़े उपनिवेशवाद का प्रभाव।

3.1 प्रस्तावना

'सरल समाज' शब्द का प्रयोग उन लघु समाजों के लिए किया जाता है जिनकी प्रौद्योगिकी (technology) अपेक्षाकृत सरल होती है। ऐसे समाज केवल आकार में ही छोटे नहीं होते बल्कि उनका पर्यावरण पर अधिकार भी सीमित होता है। छोटे बाजारों के कारण श्रम-विभाजन में विशिष्टता प्राप्त करने के लिए उनका दायरा भी सीमित होता है।

पर्यावरण पर इनके सीमित प्रौद्योगिक नियंत्रण के कारण सभी जन-जातीय समाजों को सरल कहा जा सकता है। इनकी अर्थव्यवस्था प्रायः जीवन निर्वाह के लिए वस्तुओं के उत्पादन पर आधारित होती है। संसार में अधिकांश ऐसे समाजों में विनिमय की दिलचस्प प्रणालियाँ हैं जो भौतिक वस्तुओं के उत्पादन और उनकी खपत के बीच हस्तक्षेप करती हैं।

पूरे संसार की जनजातियों के विशिष्ट सामाजिक-राजनीतिक संगठनों से हमारे समाजों के संगठन बिल्कुल भिन्न हैं। आजकल, अधिकांश जनजातीय समूह प्रगतिशील प्रौद्योगिकी अपनाने की ओर अग्रसर हैं। अतः उन्हें संक्रांतिक (transitional) समाज का नाम दिया जा सकता है। अधिकांश संक्रांतिक समाजों ने यूरोपीय औपनिवेशिक शासन को झेला है।

इस इकाई में सबसे पहले आप सरल समाजों की अर्थव्यवस्था और विनिमय प्रणाली के मुख्य लक्षणों के विषय में पढ़ियेगा उसके बाद देखियेगा कि ये समाज किस प्रकार सामाजिक और राजनीतिक तौर पर संगठित होते हैं और किस प्रकार इनके धार्मिक विश्वास तंत्र (religious belief system) पर प्राकृतिक परिघटनाओं का प्रभुत्व होता है और अंत में आप सरल समाजों पर औपनिवेशिक शासन (colonial rule) के प्रभाव के विषय में जानकारी प्राप्त करियेगा।

चित्र: सरल प्रौद्योगिकी वाले जनजातीय परिवार का एक दृश्य

3.2 सरल समाजों में अर्थव्यवस्था

सरल समाज केवल एक या दो क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है वरन् इनकी उपस्थिति संपूर्ण प्राकृतिक पर्यावरण के परिसर में देखी जा सकती है। ये घने भूमध्यवर्तीय (dense equatorial) और उष्णकटिबंधीय (tropical) जंगलों में, गर्म और ठंडे रेगिस्तानों में तथा उर्वर कछार के मैदानों (alluvial plains) में भी पाए जाते हैं। इन्हें पहाड़ की तराइयों (foot hills), पर्वत श्रृंखलाओं, घास के मैदानों, समुद्रतटों और समुद्र के बाहर निकले हुए द्वीपों पर भी देखा जा सकता है। प्राकृतिक पर्यावरण की विविधता के परिणामस्वरूप ऐसे समाजों में प्रचलित अर्थव्यवस्थाओं में भी विविधता पायी जाती है। प्रौद्योगिकी सरल होने के कारण सभी सरल समाजों में प्राकृतिक पर्यावरण का असर काफी पाया गया है। परन्तु अपनी सरल प्रौद्योगिकी के बावजूद सरल समाजों ने कठोर प्रकृति का सामना करने की अदम्य शक्ति दिखाई है।

जीवन निर्वाह के लिए भौतिक वस्तुओं के उत्पादन की विधि के आधार पर सरल समाजों की अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित प्रकार के समूह में बांटा जा सकता है: क) आखेट और संग्रहण (hunting and gathering), ख) पशु चारण (pastoral), झूम कृषि (shifting cultivation), ग) स्थायी कृषि (settled cultivation)।

3.2.1 आखेट और संग्रहण (hunting and gathering)

आखेट और संग्रहण करने वाले समाज अपना निर्वाह छोटे और बड़े शिकार करके तथा विभिन्न प्रकार की जड़ों, कंदमूलों और फलों को इकट्ठा करके करते हैं। प्रकृति के साथ संबंधों की समानता के बावजूद आखेट और संग्रहण करने वाले समाजों में आपस में काफी हद तक भिन्नता होती है जो कि उनके निवास क्षेत्र तथा उनके द्वारा शिकार किए जानवरों के भेद पर निर्भर करती है।

आखेट और संग्रहण करने वाले इन सभी समाजों का प्रकृति के साथ करीबी संबंध होता है और बजाए इसके कि प्रकृति को अपने अनुकूल ढाला जाए, ये स्वयं को प्रकृति के अनुकूल ढालते हैं। इस सिद्धांत का अनुसरण करते हुए ये जानवरों, फलों, जड़ों और कंदमूलों की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं। प्रारंभिक नृविज्ञानिकों को सामान्य रूप से यह विश्वास था कि आखेट और संग्रहण समुदाय वाले गरीबी और अभाव के कगार पर रहते हैं। परंतु हाल के अनुसंधानों से पता चला है कि यह सच नहीं है और वे काफी संपन्न होते हैं।

3.2.2 पशु चारण (pastoral)

पशु चारण अवस्था का मुख्य लक्षण जानवरों को पालतु बनाना है। कुछ पशुचारण समुदायों की अर्थव्यवस्था में कृषि भी शामिल हो जाती है। अपने जानवरों के लिए पर्याप्त पानी और चरागाह प्राप्त करने के लिए पशुचारण समुदायों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता है। कुछ पशुचारी केवल मौसमी आवा-जाही (seasonal movements) करते हैं जबकि अन्य लगातार स्थान बदलते रहते हैं।

सदा स्थान बदलते रहने के कारण इनकी आबादी अपेक्षाकृत कम होती है। इन पशुचारियों में पशुधन हथियाना काफी आम है। इनमें सत्ता और केंद्रीकृत प्रशासन के प्रति कम आदर होता है। भारत में मुख्य पशुचारी समाजों में टोडा (नीलगिरि, तमिलनाडु के भैंस चराने वाले) तथा जम्मू और काश्मीर के बकरवाल (भेड़ और बकरी चराने वाले) शामिल हैं।

पशुचारी समुदायों का मुख्य आहार मांस, दूध और रक्त जैसे पशु उत्पाद हैं। टोडा जाति पशुओं के रक्त के साथ दूध को नहीं मिलाते जैसा कि कुछ अफ्रीकी पशुचारी करते हैं।

पशुचारियों द्वारा पाले गए पशुधनों का उनके धार्मिक और अन्य क्रियाकलापों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसे—भैंस पालन टोडा जाति में एक पवित्र काम माना जाता है।

3.2.3 झूम कृषि (shifting cultivation)

झूम कृषि में प्रत्येक कुछ सालों के बाद नई फसल उगाने के लिए कृषकों द्वारा नया मैदान साफ किया जाता है और पुराने मैदान को प्राकृतिक उर्वरता के लिए छोड़ दिया जाता है। पशुचारी समाज की जीवन पद्धति की तुलना में झूम कृषि अपनाने वाले लोग एक क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक लम्बे समय तक रहते हैं। ऐसे समाजों में जमीन का स्वामित्व प्रायः समुदाय का होता है।

कई जनजातियाँ जैसे कि भूमध्यवर्तीय (dense equatorial) अफ्रीका की बांतु जाति, मेघालय की गारो जाति, मध्य प्रदेश की बैगा और अबुझमार जाति तथा उड़ीसा की सावरा जनजाति में झूम कृषि का प्रचलन है। अरुणाचल प्रदेश की कई जनजातियों में भी झूमकृषि का प्रचलन है।

3.2.4 स्थायी कृषि (settled cultivation)

आनुपातिक दृष्टि से देखें तो सरल समाजों की एक बड़ी संख्या स्थायी कृषि में रत है, जो एक ही जमीन पर साल दर साल लगातार खेती करती है। स्थायी कृषि के कारण गांवों के स्थायी निवास आवश्यक हो जाते हैं। गांवों के आसपास कई देवी-देवताओं का उदय हो जाता है जो गांवों को धार्मिक महत्ता प्रदान करते हैं। और निजी संपत्ति की संस्था भी अधिक मजबूत हो जाती है।

प्रोद्योगिकी के आधार पर स्थायी कृषि के दो तरह से विभाजन किये जा सकते हैं, फावड़ा या कुदाली कृषि तथा हल कृषि। बहुत से द्वीप समुदाय जैसे प्रशांत महासागर के ट्रोब्रिएंड द्वीप निवासी कुदाली कृषक (hoe cultivators) हैं। भारत में मुंडा, संथाल और गोंड हल कृषक (हाली या plough cultivators) हैं। पहाड़ी ढालों (hill slopes) पर एक तीसरी तरह की स्थायी कृषि होती है। जहां खेती करने के लिए पहाड़ी ढालों को सीढ़ी के रूप में काटा जाता है। भारत की नागा जनजाति सीढ़ी कृषि करने वालों (terrace cultivators) के बढ़िया उदाहरण हैं।

बोध प्रश्न 1

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 आखेट और संग्रहण करने वाले समाजों के मुख्य लक्षणों को छः पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.3 सरल समाजों में विनिमय प्रणाली

आपस में वस्तुओं का लेन-देन हमारे दैनिक व्यवहार का एक आवश्यक अंग है, इसलिए यह अंतर्वैयक्तिक संबंधों (inter personal relations) का एक महत्वपूर्ण पक्ष बन जाता है। इस अर्थ में, विनिमय केवल अर्थशास्त्र का ही एक विषय नहीं रह जाता है। निस्संदेह वस्तुओं के कई विनिमय आर्थिक प्रकृति के होते हैं। हम जल्दी ही यह जान जाएंगे कि बहुत से सरल समाजों में वस्तुओं का विनिमय कुछ विशेष सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इससे देने वाले व लेने वाले दोनों व्यक्तियों को प्रतिष्ठा मिलती है। कुछ अन्य मामलों में, जैसे उपहार देने के अवसर, जो कि आनुष्ठानिक प्रकृति के होते हैं, लोगों में सुदृढ़ और संस्थागत (institutionalised) संबंधों का प्रदर्शन करते हैं। प्रायः वस्तुओं के विनिमय का उद्देश्य दो समूहों के बीच परस्पर संघर्ष की संभावनाओं को कम करना और उनके बीच सौहाद्पूर्ण संबंध बनाए रखना होता है। उदाहरण के लिए, भारत में विवाह के अवसर पर वर और वधू की ओर से उपहारों का आदान-प्रदान होता है। उपयोगिता के संदर्भ में इन उपहारों का आर्थिक मूल्य होता है, परन्तु वे प्रतिष्ठा के प्रतीक भी होते हैं और नये संबंधों के बीच एक प्रकार की पक्की मोहर लगा देते हैं। दूसरे, इस प्रकार के विनिमय केवल एक ही बार नहीं होते। प्रायः उपहार देने की एक शृंखला सी बन जाती है जिससे आपस में सद्भाव बनता है और दोनों पक्षों के बीच सुखी संबंधों का प्रदर्शन होता है। वस्तुओं के विनिमय का एक उद्देश्य परस्पर ऋणभार बनाए रखना भी है।

सरल समाजों में उपहारों के आदान-प्रदान से परस्पर सहायता के संबंधों को बार-बार मजबूत किया जाता है। कई विद्वानों, विशेषकर सामाजिक नृविज्ञानिकों, ने सरल समाजों का अध्ययन किया है। उन्होंने कुछ ऐसे प्रकार के विनिमयों पर प्रकाश डाला है जो कुछ मामलों में विशिष्ट हैं और जो भारतीय समाज में नहीं पाये जाते। हम ऐसे दो अनूठे उदाहरण (classical examples) प्रस्तुत कर रहे हैं जो सरल समाजों में उपहारों के आदान-प्रदान के आर्थिक महत्व से परे हैं।

3.3.1 दो उदाहरण

मैलिनोस्की (Malinowski) ने पश्चिमी प्रशांत क्षेत्र के कूला चक्र (kula ring) नामक आर्थिक क्रियाओं के अपने अध्ययन में बताया है कि ट्रोब्रिएंड द्वीप निवासियों में कूला चक्र के सदस्य आपस में आनुष्ठानिक और सामाजिक रूप से मूल्यवान वस्तुओं का लेन-देन करते हैं। इस प्रकार की विनिमय प्रणाली का नियमन दो दिशाओं में घूमने वाले चक्र से होता है। दक्षिणावर्त (clock wise) दिशा में लाल शंख की मालाएँ घूमती हैं और वामावर्त दिशा में कूलाचक्र के सदस्यों के बीच सफेद शंख के बाजूबंद घूमते हैं। इन वस्तुओं का कोई वाणिज्यिक मूल्य नहीं होता परन्तु देने और लेने वाले व्यक्ति के लिए ये अलग-अलग प्रतिष्ठा मूल्य रखते हैं। इन वस्तुओं की खोज में, जिनका कि कोई आर्थिक मूल्य नहीं होता, जनजातियाँ खतरनाक और लम्बी समुद्र यात्राएँ करती हैं। साधारणतः द्वीप निवासी अपनी रोजमर्रा की खरीद फरोख्त में बाकी चीजों के लिए तो काफी मोल-भाव करते हैं परन्तु कूलाचक्र में दिये और लिये जाने वाली वस्तुओं के लिए कोई मोल-तोल नहीं किया जाता।

हमारा दूसरा उदाहरण उत्तर पश्चिमी अमेरिका की क्वाकिउत्ल (Kwakiutl) जनजाति (तथा उस क्षेत्र की अन्य जनजातियों) का है जो कि बड़े पैमाने पर भोजों का आयोजन करते हैं। ऐसे अवसरों पर भारी मात्रा में खाना ही नहीं खाया जाता और मेहमानों को उपहार ही नहीं दिये जाते बल्कि बहुत सी वस्तुओं (जिन्हें वे मूल्यवान मानते हैं) को नष्ट भी किया जाता है। इन व्यक्तियों में भोजनों के आयोजन (जिसे पॉटलैच संस्था कहते हैं) से प्रदर्शित होता है कि किस प्रकार इतनी मात्रा में उपहारों को देना कि उन्हें नष्ट भी किया जाए, उनकी उच्च सामाजिक स्थिति को दर्शाता है। जितने ज्यादा भोजनों का आयोजन कोई समूह करता है उतनी ही प्रतिष्ठा उसे मिलती है। इसके अतिरिक्त, जितना अधिक एक समूह को ऐसे पॉटलैच (potlatch) में आमंत्रित किया जाता है और जितने अधिक उपहार उसे प्राप्त होते हैं, उतना ही वह समूह अन्य समूहों की आंखों में प्रतिष्ठावान माना जाता है। इन भोजों का आयोजन सदा पैतृक समूहों (agnatic group) द्वारा किया जाता है, भाई बांधवों का ऐसा ही एक समूह दूसरे इसी प्रकार के समूहों को आमंत्रित करता है और अधिक से अधिक भोजन देने, अधिक से अधिक उपहार घर ले जाने और अधिकाधिक मूल्यवान चीजों को नष्ट करने में एक दूसरे से होड़ लगती है।

3.3.2 बाज़ार

यद्यपि, सरल समाजों में अधिकांश वस्तुओं का विनिमय बाज़ारों में ही होता है। परन्तु कुछ समाज हैं जिनमें भिन्न-भिन्न चीजों के कई सौदे बिना बाज़ार के ही हो जाते हैं। ट्रोब्रिएंड द्वीप निवासी इसका अच्छा उदाहरण है।

पश्चिमी अफ्रीका के कुछ सरल समाजों में वस्तुओं के विनिमय के लिए बाजार को ही मान्यता प्राप्त स्थान है। ये बाज़ार इन समाजों की आर्थिक प्रणाली को गतिवान रखने के लिए अत्यावश्यक है। परन्तु इनके आर्थिक महत्व के साथ-साथ मिलने-जुलने के एक स्थान के रूप में भी इनका सामाजिक अर्थ है। नाइजीरिया की योरूबा (Yoruba) और तन्जानियां की अरुषा (Arusha) जनजातियाँ अपने बाजारों के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रायः बाज़ारों का प्रयोग प्रशासन और सूचना प्रसार के लिए भी किया जाता है। इसी तरह, उत्तर भारत में पुष्कर और सोनपुर के पारम्परिक बाज़ारों का भी निष्पादन कलाओं (performing arts) के लोक रूपों के विकास केंद्रों के रूप में उदाहरण दिया जा सकता है।

3.4 सरल समाजों में सामाजिक संगठन

सरल समाजों का सिंहावलोकन करने के लिए उनके सामाजिक संगठन का संक्षिप्त अध्ययन चार भागों में किया जा सकता है - यथा—नातेदारी, विवाह, धर्म और राजतंत्र। इन समाजों में नातेदारी की भूमिकाओं में धार्मिक और राजनीतिक क्रियाएँ शामिल होती हैं, इसलिए उनकी चर्चा इसी अनुच्छेद में करना उचित होगा।

सामाजिक नृवैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि सरल समाजों में नातेदारी, धर्म, अर्थव्यवस्था और राजतंत्र के विविध रूप कभी-कभी जटिल होते हैं। परन्तु फिर भी, आधुनिक जटिल समाजों की तुलना में सरल समाज अपेक्षाकृत सरल तरीके से अपने सामाजिक जीवन का संगठन करते हैं। इस निष्कर्ष को समझाने के लिए इस खंड के साथ आपको एक विडियो फिल्म भी दिखाई जाएगी जिसका शीर्षक है 'सरल समाज'।

3.4.1 नातेदारी (kinship)

अधिकांश सरल समाजों का अध्ययन जनजातीय सामाजिक तंत्रों के संदर्भ में किया गया है, अतः हम सरल समाजों के सामाजिक जीवन के चारों पहलुओं की चर्चा इसी दृष्टि से करेंगे। साधारणतः जनजाति समूह सरल समाज का एक अच्छा उदाहरण माना जाता है। हर जनजाति, प्रायः अपनी भाषा, राजनीतिक और धार्मिक संगठन सहित एक छोटे क्षेत्र में फैली होती है। प्रायः यह एक या दो भागों में बंटी रहती है। जब यह केवल दो ही भागों में बंटी हुई हो तब प्रत्येक भाग को मोइटी (moiety) कहते हैं। परन्तु यदि जनजाति दो से अधिक भागों में बंटी हो तो प्रत्येक भाग को फ्रैट्री (phratry) कहा जाता है। मोइटी और फ्रैट्री साधारणतः बहिर्विवाही समूह (exogonous group) होते हैं, अर्थात् उन्हें अपने जीवन संगी अपने समूह के बाहर से चुनने होते हैं, वे अपने ही समूह में विवाह नहीं कर सकते। केवल कुछ ही समाजों में मोइटी अंतर्विवाही होते हैं—अर्थात् मोइटी समाज के सदस्यों को मोइटी समाज के अंदर ही विवाह करना होता है। इस प्रकार के समूह का उदाहरण टोडा है।

मोइटी या फ्रैट्री, कुल और वंशपरंपरा के सदस्यों का यह एक सामाजिक दायित्व होता है कि वे एक दूसरे की सहायता करें। कई सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक और धार्मिक क्रियाओं के लिए वे साधारणतः एक समष्टि समूह (corporate group) के रूप में कार्य करते हैं। परन्तु आजकल संसार के अधिकाधिक भागों में फैल जाने के कारण जनजातियों का यह समष्टि लक्षण काफी कमजोर पड़ गया है।

3.4.1.1 वंशक्रम (descent)

सरल समाजों में वंशक्रम या मूल सामान्यतः उनकी वंशपरम्परा (lineage) और कुल (clan) से मालूम किया जाता है। वंशपरम्परा वे समूह होते हैं जिनके पूर्वजों के बारे में निश्चित रूप से मालूम होता है। कुल उन लोगों के समूह होते हैं जो अपने आपसी संबंध एक ही पूर्वज से मानते हैं। परंतु पूर्वज का निश्चित पता नहीं होता दूसरे शब्दों में कुल के काल्पनिक (मिथिकल) पूर्वज होते हैं। वंशपरम्परा अपेक्षाकृत छोटे समूह होते हैं और निश्चित रूप से मालूम पूर्वजों के वंशजों से बनते हैं। जबकि कुल का समूह बड़ा होता है और उनमें केवल अनुमान किया जाता है उनके पूर्वज एक ही हैं।

वंशक्रम प्रायः माता-पिता के माध्यम से जाना जाता है। माता के माध्यम से जाने गये वंशक्रम को मातृ वंशक्रम कहते हैं। मातृ वंशक्रम प्रणाली में व्यक्ति अपने पिता के कुल या वंश परम्परा को नहीं अपनाता। वह अपनी माता या माता के भाई के कुल या वंशपरम्परा को अपनाता है। दक्षिण भारत के नायर इसका उदाहरण हैं।

पितृ वंशक्रम में एक समूह के पुरुषों और स्त्रियों के संबंध को केवल पुरुषों के माध्यम से जाना जाता है। इस पाठ्यक्रम के ज्यादातर विद्यार्थी शायद इसी प्रकार की वंशक्रम प्रणाली से परिचित होंगे। कहीं-कहीं दोहरी वंशक्रम प्रणालियाँ भी होती है, अर्थात् पितृ और मातृ दोनों समूहों को मान्यता प्राप्त होती है, हालांकि यह मान्यता अलग-अलग ध्येयों से होती है। उदाहरण के लिए, याको (yako) जनजाति में अचल संपत्ति का उत्तराधिकार पितृ वंशक्रम से माना जाता है और चल संपत्ति का मातृ वंशक्रम से (फोर्ड 1950)।

3.4.2 विवाह

सभी समाजों की तरह सरल समाजों में भी, सदस्यों के बीच सहवास (mating) को विवाह की सामाजिक संस्था द्वारा सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। सरल समाजों में एकल विवाह प्रथा (monogamy) सबसे अधिक प्रचलित विवाह प्रथा है। कुछ जनजाति समूहों में बहुविवाह प्रथा का भी प्रचलन है जिसके दो रूप होते हैं। पहला रूप है — बहुपत्नी विवाह जिसमें एक समय में एक व्यक्ति की एक से अधिक पत्नियाँ होती है। दूसरा रूप बहुपति प्रथा (polyandry) बहुत कम पाया जाता है जिसमें एक नारी एक ही समय में कई पुरुषों की पत्नी होती है। उत्तर प्रदेश की खासा (Khasa) जाति और तमिलनाडु की टोडा जाति में बहुपति प्रथा का प्रचलन है। परन्तु इन दोनों में भी अंतर है। खासा जाति में बड़े भाई की शादी होती है और बाकी भाई अपने आप ही बड़े भाई की पत्नी के पति हो जाते हैं। इस प्रकार की बहुजाति प्रथा को भ्रातृक बहुपति प्रथा (adelphic or fraternal polyandry) कहते हैं।

टोडा (Toda) जनजाति में किसी औरत के पतियों का आपस में भाई होना जरूरी नहीं है। कई पतियों के होने से बच्चों की पैतृकता की समस्या होती है। टोडा जनजाति के सदस्य इस समस्या का हल "धनष और बाण" अनुष्ठान से

करते हैं। जब कोई औरत गर्भवती होती है तो जो पति "धनुष और बाण" अनुष्ठान करता है वही पैदा होने वाले बच्चे का पिता माना जाता है। इस अनुष्ठान के बाद उस औरत के जितने भी बच्चे होते हैं उनका पिता वही पति हो जाता है। इस पति के मरने के बाद भी जो बच्चे पैदा होते हैं उनका पिता भी वही माना जाता है बशर्ते कि किसी अन्य पति ने इस बीच "धनुष और बाण" का अनुष्ठान न किया हो। इस संस्था से यह ज्ञात होता है कि टोडा जनजाति जैविक पैतृकता की बजाय सामाजिक पैतृकता को अधिक महत्व देती है।

बोध प्रश्न 2

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

जनजाति समाजों में सामाजिक विभाजन पर सात पंक्तियों में एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.4.3 धर्म

सरल समाजों में सरल प्रौद्योगिकी होने के कारण प्राकृतिक पर्यावरण पर उनका बहुत कम नियंत्रण होता है। वे प्रकृति की क्रूरता से सदा ही आतंकित रहते हैं। जंगल की आग, बाढ़, बादलों की गड़गड़ाहट, मूसलाधार बारिश, भूचाल और जंगली जानवर इन सभी से वे डरे रहते हैं।

निर्वैयक्तिक अलौकिक शक्ति में विश्वास "माना" जैसे भाव के रूप में व्यक्त होता है। एक अलौकिक शक्ति को सामान्यतः राजाओं और सफल व्यक्तियों के साथ जुड़ा हुआ माना जाता है। कई भारतीय जनजातियाँ जैसे कि "मुंडा" तथा "हो" भी इसी शक्ति में विश्वास करती हैं और इसे वे 'बोंगा" (bonga) कहती हैं। इसी प्रकार एक और अवैयक्तिक अलौकिक शक्ति की अभिव्यक्ति वर्जना (टैबू) की अवधारणा से होती है। टैबू एक अलौकिक निषेधात्मक शक्ति (negative force) है, और जो इसको नहीं मानता, वह अपने को अलौकिक दण्ड का पात्र बना लेता है। वर्जना (टैबू) का प्रयोग सामाजिक क्रियाकलापों का नियमन करने के लिए होता है। कई जनजातियाँ खेतों और जंगलों में अपनी संपत्ति पर वर्जना (टैबू) का निशान लगा देती हैं जिससे कि वे चोरी न हो सकें। "माना" और "टैबू" पॉलीनेशियन शब्द हैं जिन्हें नृवैज्ञानिक सामाजिक शब्दावली में शामिल कर लिया गया है।

पर्यावरण पर अधिक वश न होने के कारण वे बहुत चिन्तित रहते हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ये सरल समाज अपने पर्यावरण की प्रकृति और उसके रहस्यों के बारे में अपने ही सिद्धांत बना लेते हैं। उन्होंने एक कारणत्व (causation) का सिद्धांत विकसित किया है जिसके अनुसार वे मानते हैं कि प्राकृतिक घटनाएँ अलौकिक शक्तियों के कारण घटती हैं। अलौकिक शक्तियाँ दो वर्गों की मानी गई हैं: वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक शक्तियाँ। धर्म का संबंध वैयक्तिक शक्तियों से है और जादू का संबंध निर्वैयक्तिक शक्तियों से। इस प्रकार जनजातियों के लिए धर्म और जादू परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं।

3.4.3.1 धर्म और जादू

धर्म मानता है कि कुछ आत्माएँ और देवता प्रकृति का संचालन करते हैं। इनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए इनको संतुष्ट करना चाहिए, इन्हें अपने अनुकूल बनाना चाहिए तथा इनकी पूजा करनी चाहिए। ये आत्माएँ आशीर्वाद भी दे सकती हैं और अभिशाप भी। इस कारण इन आत्माओं और देवताओं में स्वतंत्रता और इच्छा शक्ति का गुण माना जाता है। परन्तु दूसरी ओर जादू एक निर्वैयक्तिक शक्ति है जिसे विधिपूर्वक चला कर ही प्रयोग में लाया जा सकता है। निर्वैयक्तिक शक्ति के मामले में इच्छा शक्ति की कोई भूमिका नहीं होती। जादू सफल होना चाहिए। वह केवल तभी असफल होता है जब सही तरीके से न किया जाए या उस पर कोई और शक्तिशाली जादू की तोड़ न की जाए।

फ्रेजर (1920) का विश्वास था कि सभी जादू कारण और प्रभाव के बीच सहानुभूति के नियम पर आधारित होते हैं। फ्रेज़र ने जादू की क्रिया के दो सिद्धांतों के विषय में चर्चा की। पहला समानता का सिद्धांत और दूसरा स्पर्श का सिद्धांत। पहले सिद्धांत पर आधारित जादू को वह होमियोपैथिक या सदृश अनुकारक जादू कहते हैं और दूसरे सिद्धांत पर आधारित जादू को संसर्गी जादू कहते हैं। होमियोपैथिक जादू में शत्रु का नाश करने के लिए उसकी प्रतिकृति को नष्ट करते हैं। और संसर्गी जादू में शत्रु के शरीर से निकाले गए भाग जैसे नाखून या बालों पर जादू किया जाता है। परन्तु जादू सदा विनाशकारी नहीं होता। वास्तव में वह केवल एक प्रतीकात्मक क्रिया होती है जिसमें एक घटनाक्रम को पूरा किया जाता है। जादू का अर्थ प्रतीकात्मक रूप में इच्छाओं की अभिव्यक्ति करना होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्म सरल समाजों को कार्य-कारण संबंध (causation) का सिद्धांत प्रदान करता है। इससे प्रकृति पर विश्वास तथा नियंत्रण पैदा होते हैं और धर्म के माध्यम से खेतों, पशुओं, स्त्रियों तथा जमीन, पानी की उर्वरता को बढ़ाया जाता है। धर्म के कुछ राजनीतिक पहलू भी होते हैं जिनका उल्लेख हम अगले अनुच्छेद में करेंगे। यह तो पहले ही कहा गया था कि जनजाति के जीवन के कुछ क्षेत्रों में व्यवस्था कायम रखने के लिए वर्जना (taboo) की विशेष भूमिका है।

3.4.4 राज्यतंत्र

सभी समाजों में सभी राजनीतिक संगठनों का एक ही केंद्रीय उद्देश्य होता है— समय क्षेत्र की जरूरतों के अनुसार व्यवस्था बनाए रखना। परन्तु भिन्न-भिन्न समाज इस समस्या का समाधान अलग-अलग तरीकों से करते हैं। संरचनात्मक रूप से भिन्न आधुनिक राज्य समाज व्यवस्था बनाए रखने के लिए विभेदित राज्य तंत्र (differentiated state apparatus) का प्रयोग करते हैं।

सरल समाजों का विशेष लक्षण यह है कि उनके कानून और व्यवस्था बनाए रखने के तरीके समदर्शी (undifferentiated) हैं। व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व केवल राज्यतंत्र के हाथ में न होकर कई संस्थाओं और संरचनाओं में निहित होता है। नातेदारी और धर्म जैसी अराजनीतिक संस्थाएँ राजनीतिक क्रियाएँ करती हैं।

3.4.4.1 राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार—मुखियावाली (cephalous)

सरल समाजों की राजनीतिक व्यवस्था दो समूहों में विभाजित है: 1) मुखियावाली (cephalous) 2) मुखियारहित (acephalous)। मुखियावाली राजनीतिक व्यवस्था वह है जिसमें एक मान्यता प्राप्त मुखिया, प्रधान या राजा होता है। मुखियारहित (acephalous) राजनीतिक व्यवस्था वह है जिसमें कोई एक मुखिया नहीं होता और राज्य उपकरणों के बिना किसी अन्य ढंग से व्यवस्था कायम की जाती है। मुखियावाली और मुखियारहित दोनों ही राजनीतिक व्यवस्थाओं में कई उपप्रकार (subtype) होते हैं।

मुखियावाली राजनीतिक व्यवस्था में कम से कम चार उपप्रकार है। शिल्लुक, स्वाजी, इथियोपियन राज्य तथा उत्तरी नाइजीरिया के मुस्लिम इमिरेट्स इन चारों प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शिल्लुकों में मुखिया पद वास्तविक न हो कर आनुष्ठानिक (ritual) और प्रतीकात्मक अधिक होता है। समाज में व्यवस्था राज्य तंत्र (state apparatus) की बजाय वंशानुक्रम नियम से कायम की जाती है। स्वाज़ी और इथियोपियन राज्य एक ही व्यवस्था के दो भिन्न रूप हैं। दोनों ही व्यवस्थाओं में राजा का पद शक्तिशाली होता है और दोनों ही व्यवस्थाओं में राजा के पद को दैवी माना जाता है। राजा की अवज्ञा करना राजनीतिक दायित्वों को भंग करना ही नहीं है बल्कि धार्मिक दायित्वों को भी तोड़ना है। दोनों मामलों में प्राधिकार (authority) को राजा से उसके अधीनस्थ को सौंप दिया जाता है। स्वाज़ी व्यवस्था में प्राधिकार को राजा से लेकर उसके बंधुबांधवों को सौंप दिया जाता है। इस तरह, इस उपप्रकार में राजा और उसके बंधुबांधव राज्य करते हैं।

इथियोपियन राज्य में भी प्राधिकार राजा से उसके अधीनस्थों को सौंप दिया जाता है। परन्तु ये अधीनस्थ उसके बंधुबांधव न होकर उसके वफादार आश्रित लोग होते हैं। वास्तव में इस व्यवस्था में बंधुबांधवों को परे रखा जाता है और प्रायः राजा और उसके बंधुबांधवों में जबरदस्त प्रतिद्वंद रहता है। करीब के बंधुबांधवों को तो ज्यादातर जेल में बंद रखा जाता है जिससे कि वे शासन करने वाले राजा के लिए कोई गड़बड़ी न खड़ी करें। इस प्रकार इस तीसरी किस्म की मुखियावाली राजनीतिक व्यवस्था में भी बंधुबाधवों का कम महत्व नहीं है। हालांकि यह बात देखने की है कि यह महत्व बुरे रूप में है क्योंकि बंधुबांधव बाहर धूप सेंकने के बजाय जेल के अंधेरे में बंद होते हैं।

मुखियावाली व्यवस्था का चौथा उपप्रकार इन तीन उपप्रकारों से गुणात्मक रूप में अलग होता है। इन तीनों प्रकारों में राजा और प्रजा दोनों ही एक नृजाति समूह की जनजाति के होते हैं। इनकी सामाजिक और राजनीतिक अभिवृत्तियाँ (attitudes) एक ही होती हैं चाहे वर्ग और शक्ति अनुक्रम अलग हों। इस चौथे उपप्रकार में राजा दूसरी संस्कृति का होता है और वह जनजाति संस्कृति पर प्रभुत्व रखता है। यह राजनीतिक जीत का स्पष्ट मामला होता है। इस उपप्रकार का प्रतिनिधित्व करने वाला हमारा उदाहरण उत्तरी नाइजीरिया के मुस्लिम एमिरेट्स हैं।

3.4.4.2 मुखियारहित (acephalous)

मुखियारहित राजनीतिक व्यवस्था के भी चार उपप्रकार हैं। इन चारों उपप्रकारों का प्रतिनिधित्व 1) केन्द्रीय अफ्रीकी बुशमैन 2) नाइजीरिया के याको 3) पूर्वी अफ्रीका के मसाई तथा 4) सुडान के नुअर (Nuer) करते हैं। बुशमैन आखेट और संग्रहणकर्ता होते हैं। जो जड़ों, फलों, कंदमूलों या शिकार के जानवरों की खोज में सदा एक जगह से दूसरी जगह जाते रहते हैं। वे छोटे-छोटे दलों में बंटे रहते हैं। इन दलों में जो भी झगड़े होते हैं उनका समाधान दल के बुजुर्ग लोग करते हैं।

दूसरे उपप्रकार में स्वायत्तशाली (autonomous) गांव होते हैं, जिनकी अपनी-अपनी परिषदें होती हैं। याको समुदाय में व्यवस्था बनाने का काम परिषद का होता है। गांव की परिषद की सदस्यता का आधार वंशावली के अनुसार स्थित, आर्थिक सफलता और नेतागिरी के गुण होते हैं।

तीसरे उपप्रकार, जिसका उदाहरण मसाई चरवाहे हैं, पूर्वी अफ्रीका में फैले हुए हैं। सरल समाजों में बचपन से लेकर प्रौढ़ता तक का परिवर्ती काल कोई चुपके से आने वाला या बिना किसी घटना का नहीं होता। अधिकांश लोग इस परिघटना को अनुष्ठान द्वारा मान्यता देते हैं। मसाई समुदाय में इस परिवर्तन से गुजरने वाले बच्चों को सबसे कम आयुवर्ग (age-set) में दीक्षित करते हैं। समय के साथ-साथ सबसे छोटे आयुवर्ग के बच्चे सब से बड़े आयुवर्ग के हो जाते हैं और फिर उनको

व्यवस्था कायम रखने का दायित्व संभालना पड़ता है। इस प्रकार इस तीसरे उपप्रकार में इन आयुवर्गों (age-sets) का उत्तरदायित्व है व्यवस्था बनाए रखना।

चौथा उपप्रकार भी काफी व्यापक रूप से फैला हुआ है और सूडान के नुअर इसका उदाहरण हैं। इन समाजों में "संतुलित विपक्ष" (balanced opposition) द्वारा व्यवस्था बनाए रखी जाती है। नुअर जनजाति के समुदाय पैतृक (agnatic) वंशानुक्रमों (descent groups) और वंशपरम्पराओं (lineages) में विभाजित होते हैं। वंशपरम्परा (lineage) के सदस्यों का दायित्व है कि वे झगड़ों के समय एक दूसरे की सहायता करे। इस प्रकार दो भिन्न वंशपरम्पराओं के व्यक्तियों में झगड़ा होने पर वह शीघ्र ही दो वंशपरम्पराओं के झगड़े में बदल जाता है। प्रत्येक वंश परम्परा के लोग अपने सदस्यों की सहायता करने के लिए एक लड़ाकू दल का गठन करते हैं। परन्तु जब एक ही वंशपरम्परा के दो लोग आपस मे झगड़ते हैं तो वह झगड़ा उसी वंशपरम्परा तक सीमित रहता है और इस समूह से बाहर का कोई भी व्यक्ति इसके बीच में नहीं आता।

बोध प्रश्न 3

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 मुखियारहित राजनीतिक व्यवस्था क्या होती है? लगभग दस पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.5 सरल समाजों पर औपनिवेशिक प्रभाव

अठाहरवीं शताब्दी के बाद से कई सरल समाजों पर यूरोपीय उपनिवेशवाद का बोलबाला हुआ। उन्नीसवी शताब्दी और उसके बाद के दशक औपनिवेशिक शोषण के सबसे खराब समय का प्रतिनिधित्व करते हैं यद्यपि लेटिन अमरीका, अफ्रीका, एशिया और औशीएनिया के बहुत से सरल समाजों ने औपनिवेशिक शासन से छुटकारा पा लिया है परन्तु कई सरल समाज अभी भी इस गुलामी से छुटकारा पाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। वे समाज भी जो राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो चुके हैं, औपनिवेशिक शासन के दौरान स्थापित शोषण की प्रणालियों की नीतियों से अभी भी आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से मुक्त नहीं हुए हैं।

अठाहरवीं शताब्दी से जनजातीय जीवन के सभी पक्षों पर उपनिवेशवाद की छाप पड़ी। सरल समाजों के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों पर प्रत्यक्ष, अथवा अप्रत्यक्ष रूप से औपनिवेशिक शासन का प्रभाव पड़ा फिर भी यह ध्यान देने योग्य है कि औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत आने वाले सभी जनजातीय समाजों को अपनी सामाजिक व्यवस्था में एक समान व्यवस्था का अनुभव नहीं करना पड़ा। कुछ में विध्वंसकारी प्रभाव दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक था। आइये हम सरल समाजों के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों पर उपनिवेशवाद के प्रभाव की जांच करें।

औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ-साथ सरल समाजों की अर्थव्यवस्था को अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ मिलना पड़ा कुछ तो घनिष्ठ रूप से मिलीं और कुछ केवल ऊपरी तौर से। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का इनकी आर्थिक व्यवस्था के साथ मिलना तीन मुख्य तरीकों से हुआ—पहला, परम्परागत उत्पादनों को स्थानीय और प्रादेशिक माध्यमों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्यिक जाल (net work) में आपूर्ति (supply) करके दूसरा नई फ़सलों के प्रचलन से व तीसरा औपनिवेशिक पूंजीवादियों की जोरज़बरदस्ती से औद्योगिक मजदूरों में भर्ती होकर। आर्थिक एकीकरण का प्रभाव सबसे अधिक तीसरे कारण से हुआ और सबसे कम पहले कारण से।

3.5.1 पारम्परिक उत्पादनों की आपूर्ति (traditional products supply)

पहले वर्ग में आखेट और संग्रहण, पशुचारण और कृषक समुदाय आते हैं जो अपने परम्परागत उत्पादों को पूंजीवादी बाजारों के दलालों को बेचते थे। इससे एक नयी विनिमय व्यवस्था शुरू हुई जिसका प्रभाव उनकी परम्परागत विनिमय व्यवस्था पर पड़ा। परन्तु उनके सामाजिक जीवन के कुछ क्षेत्रों तक ही यह प्रभाव सीमित रहा। नकदी का प्रचलन अवश्य हो गया जिससे

वे उपभोग (consumption) की कुछ नयी चीजें खरीद सकते थे। परन्तु इससे इन सरल समाजों के आर्थिक संबंधों में बदलाव नहीं आया।

3.5.2 नई फसलों का प्रचलन

दूसरी प्रकार के एकीकरण (integration) से जो परिवर्तन लागू हुए वे पहली प्रकार से हुए परिवर्तनों से अधिक व्यापक थे। इसमें उत्पादन के घरेलू संगठन में निश्चित परिवर्तन लाने के लिए एक नया कृषि चक्र (agricultural cycle) अपनाया गया। इसका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम इन समुदायों द्वारा उगाई गई नकदी फसल (cash crop) की अंतर्राष्ट्रीय कीमत पर उतार चढ़ाव प्रभाव से होता था। तम्बाकू और गन्ना जैसी कुछ फसलें हैं जो जनजाति समाजों द्वारा विशेष रूप से विश्व बाजार के लिए अभी भी उगाई जाती हैं। बहुत से उदाहरणों में उन्हें खाद्य फसल के स्थान पर नकदी फसल उगानी पड़ी और अपने खाने के लिए खाद्य पदार्थ बाज़ार से खरीदने पड़े। इस प्रकार के एकीकरण द्वारा, पश्चिमी अफ्रीका की जनजातियों को जैसे योरुबा को, अंतर्राष्ट्रीय बाजार में घसीट लिया गया। हां, इस तरह के एकीकरण की वजह से जनजातियों का भौगौलिक विस्थापन (displacement) अवश्य नहीं हुआ। वे कम से कम अपनी मातृभूमि में बने रहे।

3.5.3 औद्योगिक मजदूर

तीसरे प्रकार के एकीकरण से सरल समाजों पर सबसे अधिक नाशकारी प्रभाव औद्योगिक मजदूर बाजार (industrial labour market) में प्रवेश का पड़ा। उपनिवेशवादियों ने उद्योगों का विकास किया, जिसके लिए उन्हें सस्ते मजदूरों की आवश्यकता पड़ी। लोगों को औद्योगिक रोजगार में आकर्षित करने के लिए सबसे पहले कई प्रलोभन देने की कोशिशें की गई। परन्तु इसमें जब असफलता मिली तो काफी दबाव डाल कर जनजाति के लोगों को तांबे की खानों में तथा सारे अफ्रीका के शहरों में शुरू किए गए कारखानों में काम करने के लिए दमनकारी तरीके अपनाए गए। लोगों को नकदी से कर (taxes) देने के लिए मजबूर किया जाता था जो कि केवल शहरी औद्योगिक मजदूरी से ही मिलता था। जब ये उपाय भी असफल हुए तो खानों और कारखानों में काम करने के लिए जनजाति के लोगों को जबरन पकड़ लिया जाता था।

ये दमनकारी तरीके केवल कारखानों तक ही सीमित नहीं थे बल्कि सम्पूर्ण औद्योगिक अनुशासन और काम करने के हालात भी बहुत दमनकारी और खराब थे (बडगइयाँ 1983)। भारत, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के बगानों (plantations) में जनजाति मजदूर लगाए गये जिन्हें कड़े व अत्याचारी अनुशासन में काम करना पड़ा। इस प्रकार के एकीकरण में भौगौलिक प्रवास (geographical migration) भी शामिल था। और मजदूरों को प्रायः अपनी पत्नी, बच्चे, बूढ़े माँ-बाप को गांव में छोड़ कर दूर देशों में जाना पड़ा। मजदूर को प्रवास के दोनों छोरों पर समस्याओं का सामना करना पड़ता था—गांव में भी और कारखाने पर भी।

उपनिवेशी शासन लागू होने पर जनजाति समुदायों की राजनीतिक व्यवस्था भंग हो गई। उनकी परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था की प्रभुसत्ता (sovereignty) और वैधता (legitimacy) समाप्त हो गई। पारम्परिक राजनीतिक मुखियाओं ने अचानक पाया कि उनके अधिकार सत्ता और शक्ति तो गायब हो गए और उन्हें औपनिवेशिक प्रतिनिधियों की तरह व्यवहार करना पड़ा। उन्हें अपनी ही जाति के लोगों के साथ ऐसा व्यवहार अपनाना पड़ा जैसा कि अतीत में उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था। नई औपनिवेशिक स्थिति में परम्परागत विधि, शास्त्र तथा संघर्षों के समाधान के परम्परागत उपाय आदि सभी असंगत हो गये।

पुलिस, मैजिस्ट्रेट तथा जैल जैसी नई राजनीतिक संस्थाए समस्त सरल समाजों में फैल गयीं। उन पर नया विधिशास्त्र थोप दिया गया जिसका तर्क उनकी समझ से बाहर था। इन नए पदों पर कई नए लोग लगा दिए गये। अफ्रीका में अंग्रेज़ों ने अप्रत्यक्ष शासन (indirect rule) को मानते हुए भी कई क्षेत्रों में पुराने मुखिया ही रखने की कोशिश की। पर यह सब जगह नहीं किया जा सका। अतः कई समुदायों में नए मुखिया नियुक्त किए गए।

3.5.4 उपनिवेशवाद की समस्याएँ

नयी राजनीतिक व्यवस्था की कई समस्याएँ थीं। नातेदारी और धर्म से उसका संबंध विच्छेद कर दिया गया था। जैसी कि हमने पिछले अनुच्छेद में चर्चा की है, परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था में नातेदारी और धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। मुखिया में अलौकिक शक्ति मानी जाती थी क्योंकि यह पद एक ही परिवार में सीमित होता था। नयी राजनीतिक व्यवस्था में अन्य परिवारों से बनने वाले मुखिया से उसके पद का धार्मिक लक्षण काफी हद तक नष्ट हो जाता था। नातेदारी के अभाव में केवल राजनीतिक व्यवस्था का ही विघटन नहीं हुआ बल्कि काफी हद तक नातेदारी प्रणाली भी टूट गई। यह इसलिए हुआ कि समाज में एकता और अखंडता बनाए रखने में नातेदारी की विशेष भूमिका होती थी।

सामाजिक अखंडता की संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं पर आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के गंभीर प्रभाव पड़े। वास्तव में नयी औद्योगिक संस्कृति के विचारात्मक तथा भावनात्मक तत्वों को अपनाने में जनजाति के लोगों को मुश्किल हुई। उन्होंने औद्योगीकरण तो प्राप्त कर लिया परन्तु औद्योगीकरण के मूल्यों को वे नहीं अपना पाए। इसका परिणाम यह हुआ कि कहीं तो भारी मात्रा में वे अनुपस्थित रहते थे और कहीं उनकी भर्ती व बहाली की दर में जल्दी-जल्दी बदलाव होता रहता था। फलतः जनजातियों का प्रवास गांव से शहरी औद्योगिक क्षेत्र में ही नही हुआ बल्कि एक कारखाने से दूसरे कारखाने में और एक उद्योग से दूसरे उद्योग में भी होने लगा।

उपनिवेशवाद के थोपे जाने के परिणामस्वरूप जनजाति संस्कृति भी खंडित होने लगी। नये प्रकार के बाजारों की मानसिकता

के उदय से और अर्थव्यवस्था में नकदी के प्रचलन ने जनजातियों को एक दूसरे से लेन-देन के मामलों में व्यापक या फैला हुआ होने की जगह नपा तुलापन आने लगा। कई उदाहरणों में तो लेन-देन नकारात्मक दिशा में होने लगा। अर्थात् परम्परागत लेन-देन के तौर-तरीके बंद ही हो गए।

नये शहरी औद्योगिक पर्यावरण में प्रवासी मजदूर जन्म, विवाह और मृत्यु से संबंधित अपने पारम्परिक अनुष्ठान ही नहीं कर पाते थे। इसके कारण जनजाति समूहों में मनोवैज्ञानिक कुंठाएँ एवं तनाव भी उत्पन्न हो गये। शहरी औद्योगिक पर्यावरण में रहने के कारण वह वार्षिक अनुष्ठानों तथा त्यौहारों को मना नहीं पाते थे। अक्सर, वे कई आनुष्ठाविक दायित्वों (जो कि उन्हें गांव में अपने घर पर पूर्ण करने होते थे) से भी दूर हो जाते थे। शहरी औद्योगिक केंद्र में रहने से उनमें संस्कृति की दृष्टि से खालीपन आ गया। न तो वे अपनी संस्कृति का आचरण कर सकते थे और न ही शहरी औद्योगिक केन्द्रों की सांस्कृतिक क्रियाओं में भाग ले पाते थे। वे केवल अपने गांव से ही पराये नहीं हुए बल्कि औद्योगिक संस्कृति से भी अछूते रहे। वास्तव में वे अपने आप से ही पराए हो गये।

जन-जातियों ने औपनिवेशिक शासन को विनम्रता से नहीं अपनाया। इन जातियों पर किये गये अनुसंधान और अध्ययन इन जातियों की लड़ने की शक्ति के गवाह हैं। 1913-14 में कीनिया की गिरिआमा (Giriamas) जनजाति उपनिवेशवाद के विरोध में खड़ी हुई थी। कीनिया में लुओ (Luo) और गुसी (Gusii) जनजाति को मम्बों (Mumbo) पंथ ने जकड़ लिया था। इसी प्रकार, कीनिया में औपनिवेशिक शासकों को निकाल फेंकने के लिए माओ-माओ (Mau-Mau) विद्रोहियों के दृढ़ निश्चय की भी चर्चा की जाती है। उपनिवेशवाद के प्रति जनजातियों के विरोध की एक और अभिव्यक्ति औशीएनिया (Oceania) के काग़ो पंथ में हुई। इसी प्रकार भारत में भी पूरी उन्नीसवीं सदी के दौरान अंग्रेज़ों और उनके समर्थकों के विरुद्ध जनजातियाँ प्रबलता से खड़ी हुई थीं। छोटा नागपुर की जनजातियाँ—"मुंडा", "हो" और "संथाल"—सभी जनजातियाँ उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों और ज़मींदारों के विरुद्ध खड़ी हुई थीं। वास्तव में छोटा नागपुर में उन्नीसवीं शताब्दी को आसानी से जनजाति विरोध की शताब्दी कहा जा सकता है।

जनजातियों के इन विरोधों से दो बातें स्पष्ट रूप से उभर कर आती हैं। पहली, उनमें से ज्यादातर लोग केवल उतनी सीमा तक ही उग्र होते हैं जहां तक उनके आदिम (primitive) अस्त्र-शस्त्र उनका साथ देते हैं। दूसरी, अपनी सफलता के लिए उन्हें धार्मिक समर्थन की आवश्यकता होती है। ये सारे आंदोलन किसी न किसी किस्म की आशा पर आधारित थे और उन सभी को अपनी सफलता पर अटूट विश्वास था। यह कहना अनावश्यक होगा कि औपनिवेशिक शक्तियों ने उनमें से अधिकांश विरोधों का निर्दयता से दमन कर दिया।

बोध प्रश्न 4

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

'उपनिवेशवाद के अंतर्गत मजदूरों का शोषण' विषय पर दस पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.6 सारांश

इस इकाई में हमने यह जाना कि सरल समाज के कई पक्ष हैं। सरल समाजों की कई अर्थव्यवस्थाओं में आखेट, संग्रहण और कृषि शामिल हैं। इस इकाई में सरल समाजों की विनिमय प्रणाली और उनके सामाजिक संगठन अर्थात् विवाह, धर्म और राजनीतिक संगठन पर चर्चा की गई है। सरल समाजों में मौजूद राजनीतिक व्यवस्था की भी व्याख्या की गई है। हमने इसका भी उल्लेख किया है कि उपनिवेशवाद के अंतर्गत किस प्रकार सरल समाज को कष्ट भुगतना पड़ा तथा इस समाज के मजदूरों को शोषण का शिकार होना पड़ा। इस प्रकार हमने सरल समाज का एक संपूर्ण सिंहावलोकन प्रस्तुत किया है।

शब्दावली

मुखियारहित (acephalous): वह समाज जिसका कोई मान्यता प्राप्त मुखिया नहीं होता या कोई एक राजनीतिक प्राधिकारी नहीं होता।

मुखियावाला (cephalous) वह समाज जिसका एक राजनीतिक मुखिया होता है—उदाहरणार्थ-राजा।

बहिर्विवाही (exogamous): अपने कुल या समूह से बाहर विवाह करने वाला।

मातृवंशक्रम (matrilineal) : वह समाज जिसमें स्त्री के पूर्वजों के द्वारा मातृ वंशक्रम निश्चित होता है।

पितृ वंशक्रम (patrilineal) : वह समाज जिसमें पुरुषों के पूर्वजों के द्वारा वंशक्रम निश्चित होता है।

मोइटी (moiety): जब एक जनजाति दो बराबर भागों में विभाजित होती है। तो प्रत्येक भाग को मोइटी कहते हैं।

फ्रेटरी (phratry): जब जनजाति दो से अधिक हिस्सों में विभाजित होती हैं, प्रत्येक हिस्सा फ्रेटरी कहलाता है।

बहु विवाह प्रथा (polygamy) जब एक स्त्री या पुरुष का एक ही समय एक से अधिक जीवन-साथी हो।

उपयोगी पुस्तकें

रैडक्लिफ ब्राउन, ए०आर०. 1964 स्ट्रक्चर एण्ड फन्कशन इन प्रिमिटिव सोसाइटी. कोएन एण्ड वेस्टः लंदन
बोस, एन०के०, 1962 **ट्राइबल लाइफ इन इंडिया.** नेशनल बुक ट्रस्टः दिल्ली
वाकर, ए०आर०, 1986 **द टोडा ऑफ साउथ इन्डिया: अ न्यू आउटलुक.** हिन्दुस्तान पब्लिशिंग कॉरपोरेशनः दिल्ली

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 आखेट और संग्रहण करने वाले समाजों में लोगों का जीवन निर्वाह बड़े और छोटे जानवरों का शिकार करके होता है। इसके साथ-साथ वे निर्वाह के लिए कई प्रकार की जड़ों, फलों और कन्दों को भी इकट्ठा करते हैं। प्रकृति के करीब रहते हुए ये लोग अपने को प्रकृति के अनुसार ढाल लेते हैं और खाने की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते हैं। कुछ मामलों में इस समाज के लोग अपनी जरूरत से ज्यादा खाना इकट्ठा करके सम्पन्नता भी भोगते हैं।

बोध प्रश्न 2

1 साधारणतः एक जनजाति दो या उससे अधिक भागों में विभाजित होती है। दो भागों वाली जनजाति में प्रत्येक भाग को मोइटी कहते हैं। दो से अधिक भागों वाली जनजाति में प्रत्येक हिस्से को फ्रेटरी कहते हैं। मोइटी और फ्रेटरी समाज़ अधिकतर बहिर्विवाही (exogamous) होते हैं, अर्थात् जीवन साथी को अपने सामाजिक समूह के बाहर से चुना जाता है। टोडा जैसे कुछ समाजों में मोइटी अंतर्विवाही (endogamous) होते हैं अर्थात् मोइटी (moiety) के लोग अपने समूह के अंदर ही विवाह करते हैं।

बोध प्रश्न 3

1 मुखिया रहित राजनीतिक व्यवस्था में कोई एक मुखिया नहीं होता और समाज में व्यवस्था राज्यतंत्र से अलग साधनों से कायम की जाती है। इस व्यवस्था के चार उपप्रकार होते हैं—उदाहरण के लिए चार समूह लिए गए हैं—केन्द्रीय अफ्रीकी बुशमैन, नाइजीरिया के याको, पूर्वी अफ्रीका के मसाई और सूडान के नुअर। पहले उपप्रकार में बुशमैन, आखेट और संग्रहण करने वाले समाज के सबसे बुजुर्ग व्यक्ति द्वारा व्यवस्था बनाए रखी जाती है। दूसरे उपप्रकार में गांव की परिषद द्वारा और तीसरे उपप्रकार में आयुवर्ग का उत्तरदायित्व होता है समाज में व्यवस्था बनाए रखने का। चौथे उपप्रकार में वंशपरंपरा के अंदर ही सगे-संबंधी समाज की व्यवस्था बनाए रखते हैं।

बोध प्रश्न 4

1 संसार के विभिन्न भागों में औपनिवेशिक शक्तियों ने उद्योगों का विकास किया और उसके लिए उन्हें मजदूरों की आवश्यकता हुई। उपनिवेशवादी मजदूर प्राप्त करना चाहते थे। क्योंकि उनके पास राजनीतिक शक्ति भी थी अतः वे इन लोगों पर दबाव डालकर अपने उद्योगों के लिए सस्ते मजदूर उपलब्ध करने में समर्थ हो गए। सरल समाज के लोगों को झूठे वायदे और लालच दिखाकर कारखानों में काम कराया जाता था। जब ये उपाय काम नहीं आए तो इन जनजातियों पर मजदूरी करने के लिए दबाज डाले जाने लगे। एशिया, अफ्रीका और अमरीका के बगानों के मजदूरों को अमानवीय हालातों का सामना करना पड़ा।

इकाई 4 जटिल समाज

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 जटिल समाज की परिभाषा
4.2.1 ग्रामीण और शहरी समुदायों में विभाजन
4.2.2 सामुदायिक जीवन के पहलू
4.2.4 शहरीकरण के प्रकार
4.3 आधुनिक समाज
4.3.1 जटिल समाज में काम-धंधा
4.3.2 काम-धंधों की संरचनाएँ
4.3.3 उद्योग में संघर्ष
4.3.4 महिलाएँ और रोजगार
4.4 उत्तर औद्योगिक(post-industrial) समाज
4.4.1 अन्य अभिलक्षण
4.4.2 कुछ प्रवृत्तियाँ
4.5 सारांश
उपयोगी पुस्तकें
शब्दावली
बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा:

- जटिल समाज के बारे में बताना;
- शहरीकरण के पहलुओं को सूचीबद्ध करना;
- आधुनिक रोजगार व्यवस्था का विवरण देना;
- उद्योग में संघर्ष पैदा करने वाले कारणों का उल्लेख करना;
- जटिल समाज में महिलाओं के रोजगार से संबंधित विशेषताओं को पहचानना, तथा
- उत्तर औद्योगिक समाज की खास-खास बातों के बारे में बताना।

4.1 प्रस्तावना

तीसरी इकाई में हमने सरल समाज (simple society) के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख किया है। जटिल समाज (complex society) का गठन जनजातीय या सरल समाज की व्यवस्था के समान नहीं है। कुछ हद तक प्रौद्योगिक (technological) उन्नति को आधुनिक समाज की जटिलता का कारण माना जा सकता है। हमारा समाज शहरी और देहाती दो भागों में बंटा हुआ है तथा सरल समाज का सामुदायिक जीवन उससे पूरी तरह अलग नहीं है। इस इकाई में हम जटिल समाज में औद्योगिक संघर्ष तथा रोजगार के विभिन्न पहलुओं और महिलाओं की स्थिति के बारे में विचार करेंगे। अंत में हम उत्तर औद्योगिक समाज, इसकी प्रमुख विशेषताओं और कुछ प्रवृत्तियों पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

4.2 जटिल समाज की परिभाषा

आदिम मानव के शिकार से पेट भरने की स्थिति से लेकर आदमी के चाँद पर उतरने तक प्रोद्योगिक प्रगति ने आधुनिक युग में जटिल समाज को जन्म दिया है। आज जटिल समाज कहलाने वाले आधुनिक राष्ट्रों को कई महत्वपूर्ण कारणों से सरल समाज के ठीक विपरीत समझा जाता है। ये कारण हैं:

i) विस्तृत क्षेत्र और उसकी विशाल जनसंख्या।

ii) अधिकाधिक व्यावसायिक विभेदीकरण (differentiation) तथा कार्य और सामाजिक समूहों का विशेषीकरण।

iii) उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन, मकानों और कार्य स्थानों आदि के निर्माण के लिए उच्च प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल।

iv) जटिल समाज की प्रबंध व्यवस्था में अधिकाधिक तालमेल।

v) उपभोक्ता वस्तुओं, शिक्षा के रूपों आदि के संबंध में परिवर्तन की तेज गति।

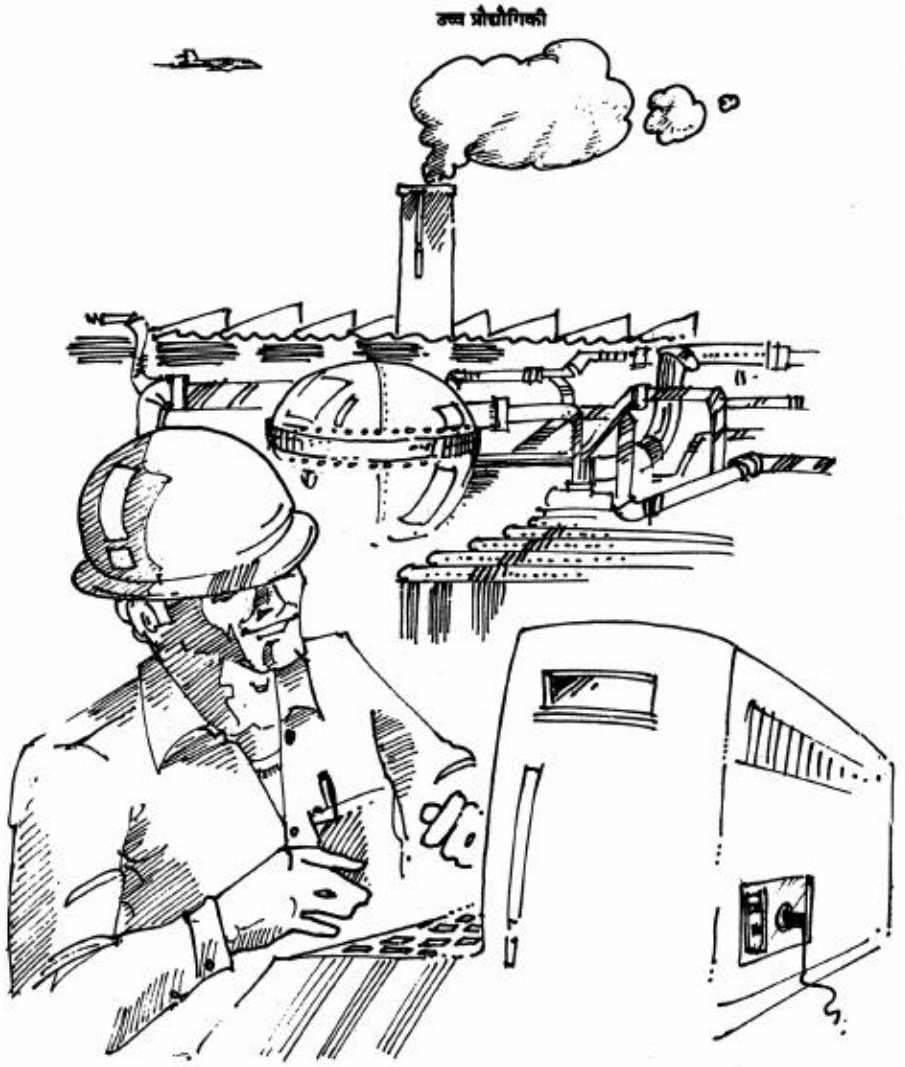

आरंभ में प्रौद्योगिक उन्नति के कारण परिवर्तन की शुरुआत् हुई। बड़े-बड़े बाज़ार बने। व्यावसायिक अवसरों और आबादी बढ़ने के राष्ट्र-राज्यों का निर्माण हुआ। ऐसे समाजों में सरल समाजों से कहीं अधिक संगठन की अपेक्षा हुई।

4.2.1 ग्रामीण और शहरी समुदायों में विभाजन

पहले समाजशास्त्रियों का यह विचार था कि शहरी और ग्रामीण समुदायों में स्पष्ट अंतर होता है, लेकिन धीरे-धीरे देहाती और शहरी समुदायों को इस प्रकार बांटने की संकल्पना (concept) में परिवर्तन हुआ। कुछ समाजशास्त्रियों ने यह अनुभव किया कि गांव वालों में भी शहरी लोगों की तरह काफी स्वार्थ, आपसी समझ का अभाव, डर और संदेह की भावना होती है। गांव के जीवन के बारे में प्रचलित इस धारणा को भी गहरा धक्का लगा कि "ग्रामीण जीवन शांतिपूर्ण होता है।"

इन अध्ययनों से यह संकेत मिला कि गांवों में सुखी सामुदायिक जीवन एक कल्पना मात्र है, सच्चाई नहीं। यह विलक्षण बात है कि 1950-60 के दशक में शहरों की सामुदायिक संकल्पना में भी अंतर आया है। यह देखा गया है कि नगरीय परिवार ने जीवन को अधिक घनिष्ठ, अनौपचारिक और सुरक्षित बनाया है। कहने का मतलब यह है कि शहरों में भी गांवों की विशेषताओं का अस्तित्व है।

जटिल समाज का यह पहलू पहेली जैसा है। इसके अलावा, ऐसे लोग भी हैं जो रहते तो गांवों में हैं लेकिन काम शहरों में करते हैं, इसलिए न तो गांव को और न ही शहर के जीवन को रूढ़िबद्ध (stereotype) संकल्पनाओं में बांधा जा सकता है। घनिष्ठ संबंध या घनिष्ठ संबंधों का अभाव किसी परिवेश विशेष पर आश्रित नहीं होता अपितु ये किसी भी सामाजिक परिवेश चाहे शहर हो, चाहे ग्राम, में पाए जा सकते हैं।

4.2.2 सामुदायिक जीवन के पहलू

ऊपर दिए तथ्यों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जटिल समाज में ग्रामीण और शहरी जीवन एक दूसरे के विरोधी नहीं है। यह कल्पना करना भी ठीक नहीं है कि मात्र परिवेश के कारण समाज की प्रकृति विशेष का निर्धारण होता है। लेकिन इसका यह भी मतलब नहीं कि ग्रामीण और शहरी आबादियों में कोई अंतर नहीं है।

बाद के अध्ययनों ने इस बात पर जोर दिया कि कोई शहर में रहे या गांव में इस बात का निर्धारण उसके

i) सामाजिक वर्ग; और

ii) परिवार क्रम (family cycle) की अवस्था से होता है।

इन अध्ययनों के अनुसार आवास के चुनाव, यानी कोई व्यक्ति कहां रहे, पर सामाजिक वर्ग का प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की परिवार विशेष में स्थिति से ही यह निर्धारित होता है कि वह कहां रहे, जैसे बूढ़े माता-पिता की अपेक्षा युवा माता-पिता द्वारा पूंजी निवेश की कम संभावना होती है। इस तरह, कोई व्यक्ति कहाँ रहे इस विषय में कई तरह के प्रतिबंध काम करते हैं। मकानों के बनाने में समान वर्ग वाले लोग आस-पास ही घर बनाते हैं। कम लागत लगा पाने वाले एक जगह बनाते हैं तो दूसरी जगह आलीशान मकान बना पाने वाले अपनी कॉलोनी बना लेते हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने इस बात की ओर संकेत किया है कि उक्त बातें पूरे समुदाय को प्रभावित नहीं करती अपितु केवल समूह विशेषों को ही प्रभावित करती हैं। उनका मत है कि इस तरह के मसले को समझने के लिए स्थानीय सामाजिक संगठन का अध्ययन करना ठीक होगा। उनके अनुसार यह अध्ययन निम्नलिखित तथ्यों के संदर्भ में करना चाहिए:

i) स्थानीय सामाजिक संगठन की स्थापना एवं उसका प्रतिपालन (maintenance)

ii) बदलती परिस्थितियाँ, तथा

iii) राष्ट्रीय संगठनों के साथ उसका अंतः संबंध (inter-relationship)

यह सुझाया गया है कि सामुदायिक गठबंधन और व्यवहार राष्ट्रीय व्यवहार से बहुत अधिक जुड़े होते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि धीरे-धीरे व्यक्तिगत आधार पर जुड़े बंधनों में काफी कमी आ रही है। इस कारण स्थानीय स्तर पर बनाए गये समानांतरीय बंधन समाप्त हो रहे हैं। उनका स्थान केंद्रीयस्तर पर निर्णय लेने वाले लोगों के साथ बनाये गए उदग्र (vertical) संबंधों ने ले लिया है। फलस्वरूप केंद्रीय और स्थानीय संगठन परस्पर जुड़ गये हैं। यों भी हर स्थानीय समुदाय पूरे राष्ट्र का प्रतिबिंब ही होता है। फिर, शहरी समाज के अध्ययन में आर्थिक घटकों का विश्लेषण बहुत महत्वपूर्ण है। यह भी अनुभव किया गया है कि गंदी बस्तियाँ और गरीबी जैसी शहरी समस्याएँ केवल शहरी समस्याएँ नहीं रह गयी हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि "सामुदायिक अध्ययन" (community study) सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करने में सहायक होता है। सामुदायिक अध्ययन के लिए क्षेत्र विशेष के अध्ययन से अधिक सही सामग्री मिल सकती है।

4.2.3 शहरीकरण के प्रकार

शहरीकरण की संकल्पना तीन प्रकार की है :

i) अति नगरीकरण (over-urbanization)
ii) न्यून नगरीकरण (under-urbanization)
iii) वि नगरीकरण (de-urbanization)

तीसरे विश्व यानि विकासशील देशों को अति नगरीकरण का सामना करना पड़ रहा है। इनमें शहरी क्षेत्र ऐसी बस्तियाँ हैं जो चारों और से गांवों से घिरी हुई हैं। शहरी इलाकों को समृद्ध क्षेत्र समझा जाता है, जहाँ से आर्थिक समृद्धि और इसके अन्य लाभ देहाती इलाकों तक पहुंचते हैं। अति नगरीकरण के बारे में एक मत यह भी है विकसित विश्व की मुख्य शक्तियों के द्वारा शहरों का शोषण किया जाता है क्योंकि विदेशी पूंजी से ही महानगरीय संस्कृति का विकास संभव है। ऐसे में विकासशील देशों की अपनी नगरीय संस्कृति का ह्रास होता है। ऐसे विदेशी पूंजी से बढ़े शहरी केंद्र अपने निकटवर्ती, ग्रामीण क्षेत्रों का शोषण करने लगते हैं। दूसरी ओर ये स्वयं अपनी आर्थिक और राजनीतिक प्रभुता के लिए औद्योगिक देशों पर निर्भर होते हैं। ऐसी स्थिति में निर्माता उद्योग (manufacturing industry) मजबूत नहीं हो पाते और सरकारी सेवा के क्षेत्र (service sector) का महत्व बढ़ जाता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि औद्योगीकरण के बिना ही शहरीकरण हो जाता है। इस प्रकार अधिक शहरीकरण का मतलब यह है कि तीसरे विश्व के शहरों का जनसंख्या के अनुपात में पर्याप्त औद्योगीकरण का न होना। इससे जो चित्र सामने आता है उससे पता चलता है कि सेवा क्षेत्र मूलतः कृषि पर आधारित हैं।

बोध प्रश्न 1

अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 जटिल समाज किसे कहते हैं? तीन पंक्तियों में बताएँ।

.....

.....

.....

2 नगरीकरण के तीन प्रकार कौन-कौन से हैं; लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

4.3 आधुनिक समाज

आधुनिक समाज मूल रूप से औद्योगिक समाज है। हम देखते हैं कि ऐसे समाजों में तकनीकी कुशलता का बहुत अधिक महत्व होता है और इसके मुकाबले अकुशल मजदूर का बहुत कम महत्व होता है। यह बात उन्हें मिल रही मजदूरी से स्पष्ट हो जाती है। प्रशासन और प्रबंध-व्यवस्था से जुड़ी हुई नौकरियों को बहुत प्रतिष्ठित माना जाता है। आधुनिक समाज के कई घटक हैं। इनमें शामिल हैं:—

i) बड़े पूंजीपतियों द्वारा अधिक मुनाफा कमाने की दृष्टि से उत्पादन

ii) प्रौद्योगिक उन्नति

iii) घनी शहरी आबादी

iv) नौकरशाही संगठन

v) शिक्षा का प्रसार

इस प्रकार आधुनिक समाजों में बड़े संगठनों का बहुत अधिक महत्व है लेकिन वे आपसी व्यवहार को व्यक्ति निरपेक्ष बना देते हैं। तीसरे विश्व में अति शहरीकरण के प्रतिकूल पूर्वी यूरोप में "न्यून शहरीकरण" हुआ है। एक दृष्टि से यह "अति शहरीकरण" के संदर्भ में उल्टी बात है। जबकि अति-नगरीकरण औद्योगीकरण और देहाती आबादी के लिए रोजगार के कम अवसरों के कारण होता है, न्यून-नगरीकरण अतिरिक्त या अधिक औद्योगीकरण तथा उस पर निर्भर करने वाली आवास आदि की व्यवस्था के अभाव से होता है। इस प्रकार जो लोग शहरी इलाकों में काम करते हैं उन्हें सरकार रहने के लिए मकान आदि मुहैया नहीं कराती। इसके अलावा ऐसी जगहों पर बाजार में चीजों के दाम औसत आदमी के बजट से बहुत बढ़े-चढ़े होते हैं। कामगारों को अपने काम पर जाने के लिए और काम से लौटने के लिए लंबा सफर तय करना पड़ता है। केवल समाज के ऊंचे वर्ग के लोग ही शहर में अपने खुद के मकानों में रह सकते हैं। इस तरह न्यून-शहरीकरण की प्रक्रिया में औद्योगीकरण का भार कम संपन्न या गरीब लोगों पर ही पड़ता है।

अब हम नगरीकरण के तीसरे पहलू की जांच करेंगे। इसे वि-नगरीकरण कहते हैं। ब्रिटेन में सातवें दशक के अंतिम भाग में वहाँ की जनसंख्या बड़े शहरों को छोड़कर छोटे शहरों और गांवों की ओर लौटने लगीं। इस प्रकार वहां शहरी औद्योगिक संबंधों का ग्रामीकरण होने लगा। इसका कारण सरकार की आर्थिक और औद्योगिक नीतियाँ थीं जिसने इस प्रक्रिया को और बढ़ावा दिया। यह ग्रामीकरण, विशेष रूप से, उच्च प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में दिखाई देता है।

सामान्यतः समुदाय (community) के अध्ययन का अपना एक महत्व है। यह समाज में होने वाले परिवर्तन को समझने में मदद करता है। आज भी समाज में अच्छे समुदाय की धारणा काफी दृढ़ है। लेकिन हमें स्थानी समुदाय और बृहत्तर समाज के बीच के संबंध को हमेशा ध्यान में रखना होगा।

आधुनिक समाज में परस्पर अपेक्षाओं और कर्त्तव्यों की दृष्टि से पारिवारिक संबंधों का विशेष महत्व हो जाता है। इसी तरह श्रम विभाजन में जटिलता आ जाती है। अब बड़े संगठनों के अंदर श्रम विभाजन (division of labour) की दृष्टि से तरह-तरह की विशेषताएँ (specialisation) पैदा हो गई हैं। आधुनिक समाज में भी अनेक प्रकार की उपसंस्कृतियाँ और विरोधी संस्कृतियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक जनता के वर्ग विशेषों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन संस्कृतियों का आधार संगीत, दर्शन या राजनीतिक विश्वास होते हैं। इसके अलावा हम देखते हैं कि आधुनिक समाज में धार्मिक विश्वास का दायरा अपेक्षातः सीमित हैं। दूसरी ओर स्थानीय "लोक समाज" (folk societies) बहुत छोटे हैं और उनमें सामाजिक संबंध प्रगाढ़ रूप से जुड़े होते हैं। ऐसे समाजों में औद्योगिकी का कोई विशेष उपयोग नहीं होता अपितु धार्मिक लोकाचार की पकड़ बहुत मजबूत होती है। इस से जो चित्र सामने आता है वह कुछ हद तक आधुनिक समाज के विपरीत लगता है।

आधुनिक समाज के कुछ और पहलू भी हैं। यह माना जाता है कि अब धीरे-धीरे एक जनसमूह का समाज (mass society) उभर रहा है। यह ऐसा समाज है जिसमें छोटे समूहों के लिए कोई अवसर या संभावनाएँ नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लोगों में दिखावा ज्यादा है और ऐसा लगता है कि उनमें किसी भी काम को करने के लिए आंतरिक प्रतिबद्धता (commitment) नहीं है। उनके आपसी संबंधों में सुरक्षा की भावना तो नहीं ही है साथ में प्रतिस्पर्धा की भावना भी है।

जहाँ तक राजनीति का संबंध है स्थानीय समूह मुख्यधारा से कटे हुए हैं। लोगों में अपने काम-धंधे के प्रति संतोष की भावना लगभग नहीं होती है और न ही उन्हें अपने काम के स्थान से ही कोई लगाव होता है। इस असंतोष की भावना से राजनीतिज्ञ

लोग फायदा उठाते हैं। कुछ समाजशास्त्री इन स्थितियों में केवल अनेकवाद या बहुत्ववाद (pluralism) पर ही ध्यान देते हैं। उन्हें लगता है कि आधुनिक समाज व्यक्तियों को कांम-धंधा चुनने के क्षेत्र में असीमित अवसर देता है।

4.3.1 जटिल समाज में काम-धंधा

जटिल समाज में काम-धंधे का मतलब ऐसे काम से है जिसके बदले में मजदूरी या वेतन मिलता हो। यह मजदूरी काम के बदले नकद या किसी वस्तु के रूप में भी हो सकती है। यह काम ऐसा भी हो सकता है जिसमें समय अधिक लगे और विशेष कुशलता की जरूरत हो लेकिन उसके बदले में पैसे अधिक न मिलते हों जैसे मकान की मरम्मत आदि। वास्तव में जटिल समाज में तो खेल को भी काम-धंधे की तरह माना जाता है क्योंकि अब खेल कमाई का साधन बन चुका है, जैसे — फुटबाल, क्रिकेट या टैनिस आदि के खेल। खिलाड़ी दर्शक का मनोरंजन करके पैसे कमाते हैं और दर्शक उनका खेल देखने के लिए पैसे खर्च करने को तैयार हैं। इस प्रकार, दूसरों द्वारा दिया गया रोजगार या स्व-नियोजन (self-employment) काम धंधे का मुख्य रूप होते हैं। फुरसत के समय किए जाने वाले काम भी इसी कोटि में आ जाते हैं।

4.3.2 काम-धंधों की संरचनाएँ

सरल समाज में आम तौर पर काम परिवार और धर्म की संस्थाओं से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। ब्रोनिस्ला मेलिनोवस्की ने बताया है कि ट्राब्रिएंड द्वीपों में बहुत-से रोजमर्रा के कामों की देखभाल एक जादूगर द्वारा की जाती थी। इसके अलावा खेती की जो पैदावार होती उसे नातेदारी के दायित्वों को ध्यान में रखते हुए बांटा जाता था। ऐसे समाज में काम को घरेलू क्रिया-कलापों से अलग नहीं माना जाता। यही बात औद्योगिक युग से पहले के फ्रांस पर भी लागू होती है। वहाँ भी खेत से संबंधित कामों में घर के सभी सदस्य मदद करते थे। इसके विपरीत जटिल समाज में हर तरह के कामों के लिए खास मजदूर या कामगार होते हैं। लोगों के काम-धंधे की जगह प्रायः घर से दूर होती है। काम के लिए बिजली और मशीनों का इस्तेमाल किया जाता है, जिनके पर्यवेक्षण या देखरेख की जरूरत होती है। काम में आजादी का तत्व लगभग नहीं के बराबर होता। कामगारों को किसी प्रकार की ढील दिए बिना नियत घंटो तक काम करना पड़ता है।

जटिल समाज में कामगारों का मुख्य आकर्षण वेतन या पगार है। काम के समय उन्हें प्रबंधक/पर्यवेक्षक (manager/supervisor) आदि उच्च अधिकारियों के आदेशों का पालन करना होता है। कामगार के काम की गति और सामर्थ्य को बतानें वाले तत्वों का विचार जटिल समाज में लगभग नहीं ही होता है। यहाँ पर काम के नियमित ढर्रे का पालन न करने का प्रश्न ही नहीं उठता। सरकारी व्यवस्था में आपातकालीन स्थिति के लिए कुछ प्रावधान (जैसे—आकस्मिक छुट्टी, बीमारी की छुट्टी आदि) किए जाते हैं। ढीले-ढाले ढंग से काम करना या किसी भी व्यक्ति को काम में ढील की अनुमति देना अब बीते दिनों की बात है। जटिल समाज में वाणिज्यिक संस्थाएँ समय पालन और समय निर्धारित समय में लगातार काम करने पर विशेष ध्यान देती हैं। समय पालन पूंजीवादी और आधुनिक कार्य-प्रणाली का अनिवार्य अंग है। धीरे-धीरे हालत यह हुई है कि अब यह नहीं माना जाता है कि ऊपर कही गयी बातों को कामगारों पर जबरदस्ती लागू किया जा रहा है। ये बातें उन्हें स्वयं ही सुविधाजनक लगने लगी हैं। वे खुद ही मेहनत से काम करने और काम के लिए बनाए गए सभी तरह के नियमों के पालन में दिलचस्पी लेने लगे हैं। मजदूरों को अपने काम के लिए समय पर पहुंचने और कड़ी मेहनत करने की जो कोशिश शुरू हुई वह आज भी जारी है। शुरू में इन परिवर्तनों का कुछ विरोध हुआ लेकिन जटिल समाज के लोग इस बात को भी समझते हैं कि इससे उनके रहन-सहन के स्तर में काफी सुधार हुआ है। दूसरी ओर, कई तरह का काम मानसिक रूप से और शारीरिक रूप से थकाने वाला भी होता है। जटिल समाज के सामाजिक जीवन में चित्तविभ्रमता (alienation) आज के युग की देन है। दूसरी तरफ यदि सरल समाज के जीवन की ओर देखें तो स्थिति एकदम भिन्न मिलती है। उदाहरण के लिये, दक्षिण अफ्रीका के कालाहारी बुशमैन को ही लें जिनकी नगण्य जरूरतों को आसानी से पूरा किया जा सकता था। उनमें अपनी जरूरतों को बढ़ाने की प्रवृत्ति ही नहीं थी और उनका सारा काम दिन के केवल चार-पांच घंटों में पूरा हो जाता। इस प्रकार, कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार, सरल समाज का जीवन अपेक्षाकृत रूप में बेहतर कहा जा सकता है। यह न तो उतना मशीनी है और न ही बहुत अधिक समय द्वारा नियंत्रित। इसमें आराम के लिए भी काफी समय मिल जाता है।

जटिल समाज में काम धंधा एक परमावश्यक तत्व बन चुका है। उसका एक मुख्य पहलू है मजदूरी देकर काम कराना। काम कराना भी एक काम हो गया है। कुछ समाजशास्त्रियों का मत है कि जब समाज में काम-धंधा इतना अधिक छा जाता है। और सारा जीवन काम ही काम से भर जाता है तो उस समाज में वाणिज्यता (commercialism) का प्रसार होने लगता है। वाणिज्यता की बहुतायत के कारण अर्थव्यवस्था में शामिल होने वाले वर्गों में आपस में संघर्ष भी पैदा हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, उद्योग में संघर्ष का विषय अगले अनुच्छेद में लिया जा रहा है।

4.3.3 उद्योग में संघर्ष

उद्योग में रोजगार देने वाला (नियोक्ता) अपने कर्मचारियों या कामगारों से कुछ नियत घंटों तक काम कराता है। नियोक्ता अपने नीचे काम करने वाले कामगारों का उपयोग अलग-अलग तरह के कामों के लिए करना चाहेगा। इसलिए वह उनके काम की शर्तों को प्रायः काफी व्यापक रखता है। काम को हमेशा वेतन से संबद्ध करके देखा जाता है। कामगार अधिक वेतन और ज्यादा सुविधाएँ चाहता है। लेकिन प्रबंधकों का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ उठाना होता है, इसलिए वे कम मजदूरी देकर ज्यादा से ज्यादा काम करवाना चाहते हैं। यही बात कुशल तकनीकी (technical) कर्मचारियों के वेतन के बारे में भी लागू होती है। वे वेतन या मजदूरी आपस में बातचीत द्वारा तय करते हैं। पद के अनुसार ही काम करने वालों की

जिम्मेदारी की मात्रा कम या अधिक होती है। ऊँचे पद पर जिम्मेदारी अधिक होती है और वेतन भी अधिक होता है। प्रायः यही प्रबंधकों तथा कर्मचारियों के बीच झगड़े का कारण बन जाता है।

इसके अलावा झगड़े के कुछ और भी कारण होते हैं जैसे — मशीनीकरण के कारण कामगारों की छंटनी। झगड़े की नौबत तब भी आ जाती है जब प्रबंधक लोग कर्मचारियों या मजदूरों के काम पर कड़ा नियंत्रण रखने की कोशिश करते हैं। कई तरह के काम-धंधे वास्तव में बड़े अमानवीय और चित्तविभ्रम (alienation) पैदा करने वाले होते हैं।

औद्योगिक क्षेत्र में टकराव अथवा संघर्ष का सबसे जाना-माना कारण श्रमिकों द्वारा वैध या अवैध हड़ताल करना होता है। कर्मचारियों द्वारा औद्योगिक संघर्ष में जिन दूसरे तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है उनमें कर्मचारियों में आपसी सहयोग की जरूरत होती है, जैसे

i) काम धीरे-धीरे करना
ii) काम से गैर हाजिर होना (अनुपस्थिति)
iii) जानबूझ कर तोड़-फोड़ करना

इन तरीकों का बाहरी तौर पर अधिक असर शायद न दिखाई दे लेकिन इनसे प्रबंधकों के काम का बहुत अधिक नुकसान होता है।

औद्योगिक संघर्ष तब सार्थक होता है जब प्रबंधक वर्ग इसे सही कदम के रूप में स्वीकार करें। आमतौर पर प्रबंधक मजदूर संघों को मान्यता नहीं देते। औद्योगिक संघर्ष का बहुत्ववादी (pluralistic) मत यह है कि किसी भी संगठन में काम करने वाले विभिन्न वर्गों की कुछ अपनी शिकायतें हो सकती हैं। जब काम करने के तरीकों में परिवर्तन किए जाते हैं तो उन वर्गों के प्रतिनिधियों को भी निर्णय करने की प्रक्रिया में शामिल होना पड़ता है।

श्रमिकों पर नियंत्रण भी एक विवादास्पद विषय है। यह नियंत्रण नौकरशाही व्यवस्था के नियमों और विनियमों के द्वारा स्थापित किया जाता है। अतः श्रमिकों की मांगों पर विचार होने की संभावना बहुत सीमित होती है। श्रमिकों में उनकी मांगों को दबाए जाने की भावना उग्र होती रहती है। औद्योगिक संघर्ष विश्वव्यापी समस्या है और इसमें श्रमिकों पर अन्याय होना जैसे निहित ही है। फिर भी इस समस्या का समाधान करना बहुत महत्वपूर्ण है। इसी तरह एक समस्या और है। वह है जटिल समाजों में महिलाओं के लिए काम-धंधा करने के अवसर।

4.3.4 महिलाएँ और रोजगार

जटिल समाजों ने महिलाओं को रोजगार देने में काफी प्रगति की है, यद्यपि काम के क्षेत्रों में महिलाएँ पुरुषों से अलग-अलग रहती हैं। महिलाओं के कार्य क्षेत्र भी अलग प्रकार के हैं। प्रायः महिलाएँ क्लर्क, खान-पान के प्रबंध, स्वागती (receptionist) आदि का काम करती हैं। इसके विपरीत बहुत कम महिलाएँ प्रबंध के क्षेत्र में ऊंचे पदों पर पहुंचती हैं। श्रम के क्षेत्र में बहुत कम महिलाएँ दक्ष श्रमिक (skilled labourer) के पद पर पहुँच पाती हैं। वर्तमान स्थिति में महिलाओं को रोजगार देने में, जो भेदभाव बरता जाता था, वह धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। अब यह धारणा भी समाप्त हो रही है कि औरतों को घर के क्षेत्र में ही सीमिति रहना चाहिए।

अब पति-पत्नी दोनों का समान रूप से कमाना आम बात हो गयी है क्योंकि इससे रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठता है। हां, बच्चों के पालन-पोषण की जिम्मेदारी आज भी महिलाओं की है। इसके साथ ही उन्हें घरेलू काम-काज भी देखना पड़ता है। इसलिए प्रायः सभी संगठनों में महिलाओं के लिए प्रसूति छुट्टी की व्यवस्था होती है। महिलाओं को प्रायः अपने बच्चों के साथ रहने के लिए भी समय निकालना होता है। इसका असर यह होता है कि प्रबंधक लोग काम की दृष्टि से महिलाओं को पुरुषों से कम महत्व देते हैं। वे उन्हें वर्कशाप के काम पर लगा देते हैं जिससे प्रबंधकों की कार्यकुशलता बढ़े। आम तौर पर यह भी माना जाता है कि महिलाओं की दिलचस्पी घरेलू कामों में अधिक होती है इसलिए उनकी अपने व्यावसायिक काम में रुचि कम हो जाती है। आवश्यक नहीं कि यह बात सही हो। मजदूर-संघों की बैठकों आदि से भी उन्हें काम-धंधे से संबंधित कार्यक्रमों में भाग लेने की प्रेरणा नहीं मिलती। सामान्यतः आज भी काम धंधे के क्षेत्र में महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों को अधिक सुविधा रहती है।

बोध प्रश्न 2

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 जटिल समाज में उद्योगों में संघर्ष के कारणों पर पांच पंक्तियों में टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

2 जटिल समाज में महिला और रोजगार का विवरण पाँच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

4.4 उत्तर औद्योगिक (post-industrial) समाज

उत्तर औद्योगिक समाज विभिन्न आयामों (dimensions) या अभिलक्षणों (features) का मिला-जुला रूप है। ये अभिलक्षण इसे आधुनिक समाज से अलग करते हैं। यहाँ हम इनमें से तीन अभिलक्षणों की परीक्षा करेंगे और अन्य दो अभिलक्षणों की जांच अगले अनुच्छेद में की जाएगी।

1 **सेवा पर आधारित:** उत्तर औद्योगिक समाज में खेती और निर्माण उद्योग में लगे बहुतसंख्यक कामगारों को रोजगार देने की सामर्थ्य नहीं है। अब व्यापार और सरकारी सेवा जैसे रोजगार ज्यादातर लोगों के पास हैं। आज केवल अमरीका में ही इस अवस्था का संकेत मिलता है। वहाँ पर 60 प्रतिशत से भी ज्यादा कार्यरत लोग "सेवा" के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। इस प्रतिशत के और अधिक बढ़ने की आशा है।

2 **व्यवसायी (professionals) और तकनीशियन:** औद्योगिक समाज में यूनीफॉर्म पहन कर काम करने वालों और अर्ध-कुशल मजदूरों का दबदबा है लेकिन, उत्तर-औद्योगिक समाज में व्यवसायियों और तकनीशियनों का प्रभुत्व बढ़ रहा है। अब एक नए वर्ग की संरचना उत्तर-औद्योगिक समाज की आधारशिला बन रही है।

3 **सैद्धांतिक जानकारी:** उत्तर-औद्योगिक समाज में सैद्धांतिक जानकारी का बहुत अधिक महत्व है। गणित पर आधारित समाजशास्त्र की वैज्ञानिक जानकारी का महत्व और अधिक बढ़ रहा है। वास्तव में अब वैज्ञानिक तरीके से प्रशिक्षित व्यवसायियों की कमी महसूस हो रही है। इस जरूरत को पूरा करने के लिए और इसके केंद्रीय महत्व के कारण विश्वविद्यालयों का दायित्व भी बढ़ रहा है।

4.4.1 अन्य अभिलक्षण

उत्तर औद्योगिक समाज में नीचे दिए अभिलक्षण भी हैं, जो स्वतः ही सामने आते हैं:—

i) प्रौद्योगिकी योजना
ii) बौद्धिक प्रौद्योगिकी

प्रौद्योगिकी योजना: आधुनिक समाज में प्रौद्योगिकी के कुछ ऐसे उपयोग हैं जो जन जीवन के लिए हानिकारक हैं, जैसे — डी.डी.टी. के उपयोग से फसल, पक्षियों और वन्य जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परमाणु-ऊर्जा पैदा करने वाले संयंत्रों (plants) से परमाणवीय कचरा निकलता है। इनसे चैर्नोबिल (रूस में) जैसी दुर्घटना होने का खतरा बना रहता है। उत्तर औद्योगिक समाज ने प्रौद्योगिकी के बुरे प्रभावों को रोकने के लिऐ ऐहतियाती कार्रवाई के रूप में प्रौद्योगिकी का मूल्यांकन किया है। इस प्रकार सरकार और जनता दोनों इस बात के लिए पहले से कहीं अधिक सजग हो गये हैं और समझते हैं कि प्रौद्योगिकी की उन्नति के कारण कुछ बुरे परिणाम (side effects) भी सामने आ सकते हैं जो हानिकारक हो सकते हैं।

बौद्धिक प्रौद्योगिकी (intellectual technology) उत्तर औद्योगिक समाज के लिए नई बौद्धिक प्रौद्योगिकी का विशेष महत्व है। यह आधुनिक युग की मशीनी प्रौद्योगिकी नहीं है। बौद्धिक प्रौद्योगिकी के अंतर्गत संगठन के लिए जरूरी प्रबंध व्यवस्था और दूसरी तकनीकें आती हैं। इसमें बड़े पैमाने पर कम्प्यूटरों का इस्तेमाल और नये गणित का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। दूसरी ओर, आज शक्ति राजनीतिज्ञों के हाथ में है, इस पर तकनीशियनों का कोई नियंत्रण नहीं है। अतः ऊंची प्रौद्योगिकी का उपयोग कैसे हो — इसका निर्णय तकनीशियनों के हाथ में न होकर राजनीतिज्ञों के हाथ में है। इस प्रकार की स्थिति में अर्थव्यवस्था कम विकसित लोगों की मजबूरियों का फायदा उठाने वाली भी हो सकती है। फलतः दलित लोगों की ओर से विद्रोह भी उठ सकता है जो उत्तर प्रौद्योगिकी को बहुत समय तक संभवतः चलने ही न दे।

4.4.2 कुछ प्रवृत्तियाँ:

"उत्तर" औद्योगिक समाज अपने उद्भव के लिए वर्तमान प्रवृत्तियों पर निर्भर है। अगर ऐसा न होता तो क्या होता? आइए, अब नीचे दिये कुछ पहलुओं पर विचार करें।

सरकार के काम: इसके अंतर्गत है — संपत्ति की बचत और उसका समान रूप से वितरण। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं क्योंकि वितरण का मतलब है पूंजी को खर्च करना न कि उसकी बचत करना। इस समस्या का समाधान ज्यादा "कर" लगाकर

नहीं किया जा सकता। यदि सामाजिक हित में शिक्षा, दवादारू और बीमा आदि की व्यवस्था करनी हो तो बहुत अधिक खर्च की जरूरत होती है। केवल बचत के भरोसे इनको पूरा करना संभव नहीं। इससे तो वित्तीय संकट ही पैदा हो जाएगा।

सांस्कृतिक परिवर्तन: उत्तर-औद्योगिक युग में केवल अर्थव्यवस्था में ही बदलाव नहीं वरन् सांस्कृतिक परिवर्तन आना भी अवश्यम्भावी है। इससे नये युवाओं को अपने परंपरागत व्यवसाय के अंदर तथा बाहर मानसिक संतोष मिलना संभव होगा।

विभिन्न विचारधाराएँ: उत्तर-औद्योगिकता बड़े निगमों को कठोरता से नियमित करती है। इसे एक तरह का सरकारी पूंजीवाद कह सकते हैं। अधिकांश देशों में राजकीय समाजवाद का चलन है। समाजवाद के द्वारा सामुदायिक समाज का निर्माण होना चाहिए जो अंततः सरकारी तंत्र को निरर्थक बना देता है, लेकिन यह आधुनिक समाजवादी साम्यवादी प्रवृत्तियों से पुष्ट नहीं होता। कुछ समाजशास्त्रियों की यह धारणा है कि नौकरशाही व्यवस्था का स्थान सामुदायिक व्यवस्था को ले लेना चाहिए।

इस प्रकार भविष्य की प्रवृत्तियों के बारे में काफी अटकलें लगाई जा रही हैं। हाल ही में यह सवाल भी पूछा जा रहा है कि क्या केवल प्रगति ही भविष्य का लक्ष्य है? क्या किसी विश्वव्यापी या क्षेत्रीय परमाणु अस्त्र के प्रयोग से सारे विश्व का संहार नहीं होने वाला? इस विचार से चिंतन में काफी गंभीरता पैदा हुई है और इसने भविष्य में किसी भी सहज रूप में मान्य आदर्शवादी चिंतन की संभावना को कठिन बना दिया है।

बोध प्रश्न 3

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें। अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से करें।

1 उत्तर औद्योगिक समाज के तीन अभिलक्षण कौन-कौन से हैं? पांच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 सारांश

इस इकाई में हमने जटिल समाज के विचार की परीक्षा की है। हमने जटिल समाज के स्वरूप की चर्चा से आरंभ किया। सामुदायिक जीवन के शहरी और ग्रामीण दोनों पहलुओं पर विचार किया। शहरीकरण के विभिन्न पहलुओं पर भी नजर डाली।

हमने आधुनिक समाज का जटिल समाज के एक प्रमुख प्रकार के रूप में अध्ययन किया है तथा ऐसे समाज के अंदर काम-धंधे की स्थिति और उसके बहुत-से पहलुओं की परीक्षा की है। यहाँ हमने औद्योगिक संघर्ष तथा महिलाओं और रोजगार जैसे महत्वपूर्ण विषयों की भी व्याख्या की है।

अंत में हमने औद्योगिकता के बाद के समाज और उसका निर्माण करने वाले घटकों का अध्ययन किया। इसके अंतर्गत जटिल समाज के अभिलक्षणों और भविष्य में होने वाली प्रवृत्तियों का अध्ययन शामिल है। इस प्रकार हमने इस इकाई में जटिल समाज के मुख्य तत्वों को प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

शब्दावली

औद्योगिक संघर्ष: उद्योगों में मालिक और मजदूरों के बीच या सरकार और मजदूर संघों में टकराव।

व्यावसायिक विभेदीकरण (professional differentiation): एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में भेद या अंतर करना।

अति नगरीकरण: इसे अधिक शहरीकरण भी कह सकते हैं इसमें शहरों का अधिकाधिक विकास हो जाता है जबकि उनके इर्द-गिर्द ग्रामीण क्षेत्रों का बोलबाला होता है।

न्यून नगरीकरण: इसे कम शहरीकरण कह सकते हैं। इसमें औद्योगिक विकास तो अधिक हो जाता है परंतु उद्योगों को चलाने वाले लोगों के लिए नगरीय सुविधाओं का अभाव होता है।

वि-नगरीकरण: बड़े शहरों की जनसंख्या का छोटे शहरों और फिर गांवों में लौटना। इसे ग्रामीकरण भी कह सकते हैं।

बौद्धिक प्रौद्योगिकी: व्यवसाय या किसी समाज के संगठन के लिए आवश्यक प्रबंध व्यवस्था और तकनीक।

बहुत्ववाद (pluralism): एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें अलग-अलग जातीय समूह अपने रीति-रिवाजों को परिरक्षित रखते हैं।

उपयोगी पुस्तकें

1 बेल, डेनियल 1973. **दि कमिंग ऑफ पोस्ट इंडस्ट्रियल सोसायटी**. बेसिक बुक्सः न्यूयार्क

2 वर्सले, पीटर (संपादित) 1987. **दी न्यू इंट्रोड्यूजिंग सोशोलाजी**. पैंगुइन बुक्सः मिडलसेक्स

बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 जिस समाज में उच्च प्रौद्योगिकी का विकास हो उसे जटिल समाज कहते हैं। इसका संगठन औपचारिक और जटिल है। नौकरशाही व्यवस्था इसका महत्वपूर्ण घटक है। तीन प्रकार के नगरीकरण हैं:

i) अति-नगरीकरण
ii) न्यून-नगरीकरण
iii) वि-नगरीकरण

बोध प्रश्न 2

1 आधुनिक समाजों में उद्योगों में झगड़े या विवाद नीचे दिये गये कारणों से पैदा होते है:

i) काम की शर्तों के कारण
ii) आवश्यक तकनीकी योग्यताओं के कारण
iii) वेतन से संबंधित जिम्मेदारी के कारण

2 जटिल समाज में बहुत अधिक संख्या में महिलाएँ रोजगार में संलग्न हैं। लेकिन उनमें से ज्यादातर क्लर्क या स्वागती जैसे कम वेतन वाले पदों पर है। बहुत कम महिलाएँ ऊंचे पदों पर पहुंचती हैं।

बोध प्रश्न 3

किसी औद्योगिक समाज के तीन अभिलक्षण हैं:

i) मूलतः सेवा पर आधारित अर्थव्यवस्था जैसे — व्यापार
ii) व्यवसायियों और तकनीशियनों का प्रभुत्व
iii) व्यापक वैज्ञानिक जानकारी

संदर्भ ग्रंथ सूची : खंड में चर्चित संदर्भ स्रोतों की सूची

(ये संदर्भ उन विद्यार्थियों के लिए दिये जा रहे हैं जो किन्हीं विशेष मुद्दों पर अधिक पढ़ना चाहते हैं।)

1 **ई.इवान्स-प्रिचर्ड,** 1966. **सामाजिक मानव विज्ञान.** अनुवादक शशीप्रभा त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशनः नई दिल्ली

2 **कूले, सी.एच.** 1964. **प्राइमरी ग्रुप्स** डन कोज़र, एल.ए. एण्ड रोज़ेनबर्ग, बी. (एडि.) **सोशियोलोजिकल थियरी.** (प्राथमिक समूह कोज़र, एल.ए. और रोज़ेवबर्ग, बी. की किताब — सामाजिक सिद्धान्त में) पृष्ठ 311-4, कोलियर-मैक्मिलैनः न्यूयॉर्क

3 **दर्खाइम ईमाइल,** 1982. **समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम (The Rules of Sociological Method)**

4 **पॉल हान्ते, फर्फे,** 1982. **समाजशास्त्र का क्षेत्र एवं पद्धति.** अनुवादकः हरिशचन्द्र उप्रेती, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ

5 **प्रसाद, डॉ॰ नर्मदेश्वर,** 1973. **मानव व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था.** बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना

6 **सिस्टम औफ किनशिप एण्ड मैरिज** (याको समाज में दोहरी वंशक्रम. रेडक्लिफ ब्राउन, ए.आर. और फोर्ड, डी. की किताब में, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसः लंदन

7 **फ्रेजर, जे.जी.,** 1920. **द गोल्डन बाउ** (लन्डनः सेन्ट मार्टिन एव एब्रिज्ड वर्शन हैज़ एपींड अन्डर द टाईटल मैजिक

8 **मेयर, लूसी,** 1986. **सामाजिक नृविज्ञान की भूमिका.** बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमीः पटना

9 **शर्मा, ब्रह्मदेव,** 1986. **आदिवासी विकास.** मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमीः भोपाल

खंड

2

समूह और संस्थाएं

इकाई 5

परिवार 5

इकाई 6

विवाह 15

इकाई 7

नातेदारी 27

संदर्भ ग्रंथ सूची 38

विशेषज्ञ समिति

प्रो. त्रिलोकी नाथ मदन
इंस्टीट्यूट ऑफ इकानॉमिक ग्रोथ
दिल्ली

प्रो. डी.एन. धनागरे
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे

प्रो. योगेंद्र सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. आन्द्रे बेते
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
माउंट कारमल रोड
मुंबई

प्रो. ए. प्रभाकर बर्नबास (सलाहकार)
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

पाठ लेखक

डॉ. पी. उबेराय
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
दिल्ली

डॉ. के. राधाकृष्ण मूर्ति
आँध्र प्रदेश विश्वविद्यालय
वाल्टेयर

डॉ. वी. वी. सैय्यद
जामिया मिलिया इस्लामिया
नई दिल्ली

समाजशास्त्र : संकाय सदस्य,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
डॉ. शोभिता जैन
डॉ. त्रिभुवन कपूर

संपादक

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
माउंट कारमल रोड
मुंबई

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. बी. एन. कौल
डॉ. एस. वी. एस. चौधरी

प्रो. वी. आर. रामानुजम
श्री के. मुरूगन

अनुवाद

श्री जगमोहन सिंह
डॉ. कंचन सक्सेना
डॉ. (श्रीमती) संतोष गोयल

अनुवाद संकाय सदस्य

प्रो. वी. रा. जगन्नाथन
डॉ. परमानंद पांचाल
श्री राकेश वत्स

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1998 (पुनः मुद्रित)

©इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989

ISBN-81-7091-278-4

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGSY-01/46

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी के लिए विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली-110068 से सम्पर्क करें।

खंड 2 समूह और संस्थाएं

खंड 1 पढ़ लेने के बाद समाजशास्त्र के पहले पाठ्यक्रम का दूसरा खंड आपके सामने प्रस्तुत है। यह खंड मानवीय समाज के मूलभूत समूहों और संस्थाओं के बारे में है। इसे तीन इकाइयों में बांटा गया है जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

इकाई 5 में मानवीय समाज के प्रमुख समूह परिवार के आधारभूत पक्षों का वर्णन किया गया है। परिवार में आवास व्यवस्था और परिवार के प्रकार्यों के बारे में चर्चा की गई है। आधुनिक समाज में परिवार की भूमिका व महत्ता भी बताई गई है।

इकाई 6 में विवाह की संस्था के विविध रूपों पर विचार किया गया है। इनमें एकल व बहुविवाहों इत्यादि को लिया गया है। जीवन-साथी के चुनाव, प्रेम विवाह एवं अधिमान्य (preferential) विवाह जैसे पक्षों पर जानकारी दी गई है। विवाह की संस्था में आने वाले परिवर्तनों पर भी चर्चा की गई है।

इकाई 7 में नातेदारी की संकल्पना (concept), का अध्ययन किया गया है। इसके अंतर्गत वंशक्रम (descent) के सिद्धांतों व प्रकारों को लिया गया है। वंशक्रम के विषय में पितृ एवं मातृ वंश परम्परा (lineage) की चर्चा की गई है। इस इकाई में भारत में पाई जाने वाली नातेदारी का वर्णन भी है।

इकाई 5 परिवार

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 परिवार की परिभाषा
5.2.1 परिवार के रूपों में भिन्नता
5.2.2 परिवार का लोकव्यापी स्वरूप
5.2.3 परिवार का जैविकीय आधार
5.2.4 सामूहिक आवास और नामावली
5.3 परिवार के प्रकार्य
5.4 औद्योगिक समाज में परिवार की भूमिका
5.4.1 परिवार का महत्व
5.4.2 औद्योगिक परिवार
5.5 सारांश
शब्दावली
उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- परिवार शब्द की परिभाषा बताना,
- सामाजिक संस्था के रूप में परिवार की संकल्पना की व्याख्या करना,
- परिवार के विभिन्न रूपों का वर्णन करना,
- परिवार का स्वरूप और विशेषताएं बताना,
- परिवार के प्रकार्यों को पहचानना, तथा
- समकालीन आधुनिक समाज में परिवार की भूमिका की व्याख्या कर सकना।

5.1 प्रस्तावना

खंड 1 की आरंभिक इकाइयों में हमने आपको कुछ मूल संकल्पनाओं का परिचय दिया था। साथ ही सरल एवं जटिल समाजों के बारे में भी पर्याप्त जानकारी दी थी। इस इकाई में आपको परिवार की परिभाषा और विभिन्न पारिवारिक रूपों की जानकारी दी जाएगी तथा परिवार के जैविकीय आधारों की भी व्याख्या की जाएगी। परिवार के प्रकार्यों और परिवार के महत्व जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर भी इस इकाई में चर्चा की गई है।

प्रत्येक समाज में सामाजिक संरचना की आधारभूत इकाई परिवार होती है। यह बात सरल समाज एवं आधुनिक जटिल समाज दोनों पर लागू होती है। तथापि इसके आंतरिक संगठन, स्वायत्तता (autonomy) की कोटि और उन स्वीकृतियों (sanctions) या निषेधों (taboo) में भिन्नता होती है जिनके द्वारा इसे संरक्षित और कायम रखा जाता है। चिरकाल से इसकी सार्वभौमिकता, कालांतर बहुत भिन्न संस्कृतियों के बीच इसका स्थायित्व और साथ में जैविक तथा सामाजिक कारणों से इसकी आवश्यकता ये तीनों तथ्य उन भविष्यवक्ताओं के लिए एक कारगर जवाब हैं, जिन्हें इस बात का भय है कि आज परिवार की महत्ता पहले की अपेक्षा कम रह गयी है। किसी भी सामाजिक ढांचे में पारिवारिक जीवन की विशिष्ट पद्धति "लोकाचारों" की देन होती है जो काल, स्थान और लोगों के साथ बदलती रहती है। इसीलिए परिवार को सार्वभौम सामाजिक संस्था के रूप में और मानव समाज के अपरिहार्य अंग के रूप में देखा जाता है।

यौन-व्यवहार को नियंत्रित करने और बच्चों को संरक्षण प्रदान करने की मानवीय आवश्यकताओं के लिए परिवार का सृजन हुआ। परिवार वह सामान्य इकाई है, जिसमें संसाधनों को उपभोग के लिए जुटाया एवं वितरित किया जाता है तथा जिसके इर्द-गिर्द आवास बनाया जाता है। और घरेलू काम किए जाते हैं। यह परिवार ही है जो हमें अपनी मुख्य अस्मिता (identity) और यहां तक कि नाम भी देता है जो उस विस्तृत समुदाय में अस्मिता का बिल्ला या चिह्न है जिसके हम एक भाग हैं।

इस इकाई में आपको परिवार के बारे में बताया जाएगा कि परिवार की सामाजिक संस्था के रूप में क्या महत्ता, विशेषता और व्याख्या है?

5.2 परिवार की परिभाषा

आरम्भिक और शास्त्रीय (classical) परिभाषाओं में इस बात पर बल दिया गया कि परिवार विवाह, सामूहिक निवास, भावनात्मक बंधनों और घरेलू काम-काज की शर्तों आदि पर आधारित एक समूह है। परिवार को एक ऐसे समूह के रूप में भी परिभाषित किया गया है जिसमें विवाह, माता-पिता के अधिकार और कर्त्तव्य, माता-पिता और बच्चों का एक ही निवास, माता-पिता और बच्चों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध आदि शामिल हैं। अन्य समाजशास्त्री यह अनुभव करते हैं कि परिवार एक सामाजिक समूह है जिसमें सामूहिक निवास, आर्थिक सहयोग और प्रजनन शामिल हैं।

आजकल परिवार की संकल्पना को एक निश्चित मानदण्ड के अनुसार देखा जाता है जो सभी समाजों पर लागू होता है। उदाहरण के लिए परिवार नातेदारी की ऐसी प्राथमिक इकाई है जो लैंगिक, प्रजनन, आर्थिक और शैक्षिक प्रकार्यों को पूरा करती है। इन परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए हम परिवार को सामान्यतः बच्चो सहित या बच्चों के बिना पति-पत्नी के स्थायी सम्बन्ध के रूप में या बच्चों के साथ एक आदमी या एक औरत के स्थायी सम्बन्ध के रूप में चित्रित करते हैं। परिवार में सदस्य एक साथ रहते हैं, अपने संसाधनों को जुटाते हैं और एक साथ काम-काज करते हैं तथा सन्तानोत्पत्ति करते हैं। परिवार को उस समूह के रूप में भी देखा जा सकता है जिसमें एक वयस्क पुरुष और स्त्री अपनी सन्तान के साथ समाज द्वारा मान्य विवाह जैसे अधिक या कम स्थायी सम्बन्ध में साथ-साथ रहते हैं।

ये परिभाषाए सामाजिक समूह के विशिष्ट प्रकार के रूप में परिवार की इन आधारभूत या न्यूनतम अनिवार्यताओं को प्रकट करती हैं :

1) इसमें परस्पर विरोधी लिंगों के बीच यौन-सम्बन्ध होता है।
2) इसमें वे साथ-साथ रहते हैं।
3) इसमें उनके बीच संबंध के स्थायित्व की अपेक्षा रहती है और
4) सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जो संबंध संस्कृति विशेष से परिभाषित होता है और जिसे सामाजिक स्वीकृति मिली है, वह विवाह है। विवाह और परिवार केवल संस्थाएँ मात्र नहीं हैं जिनमें लोग अपने आप शामिल हो जाते हों। उन्हें आपस में किन संबंधों में रहना है इसका निर्णय उनका समाज करता है। यह भली-भांति ज्ञात और मान्य सत्य है कि परिवार का आधार विवाह है। संबंधो के एक बिशिष्ट प्रकार के रूप में विवाह को मान्यता प्राप्त है। यही वह संबंध है जिससे परिवार का सृजन होता है और वह कायम रहता है। परिवार ही मानव समाज का मूलभूत आधार है।

5.2.1 परिवार के रूपों में भिन्नता

मानव इतिहास में, विश्व भर के समाजों में पारिवारिक रूपों की अद्भुत अनेकरूपता अधिकाधिक रुचि का विषय है। उदाहरण के लिए आवास की दृष्टि से कुछ समाज विवाह और पारिवारिक रीति-रिवाजों में मातृ केन्द्रित हैं जबकि अन्य समाज पितृ केन्द्रित हैं। पहले रूप में युवा विवाहित युगल वधू के माता-पिता के घर पर निवास करता है जबकि दूसरे उदाहरण में यह युगल वर के माता-पिता के घर पर रहता है। भारत के अधिकतर भागों में पितृ केन्द्रित आवास होता है। इस में विवाह के बाद निवास का स्थान चुनने का अधिकार पत्नी का नहीं बल्कि पति का होता है।

कौन किससे किस तरह से संबंधित होगा वंशक्रम का यह प्रश्न इतना सरल नहीं है जितना सरल यह दिखता है। जिन्हें किसी समाज विशेष द्वारा सामाजिक रूप से सम्बद्ध समझा जाता है, उन्हें नातेदार कहा जाता है। इसलिए वंश-परंपरा की दृष्टि से वंशक्रम निर्धारण करने (पता लगाने) की तीन प्रणालियाँ हैं। मातृ वंशपरंपरा मानने वाले समाज में वंश का निर्धारण महिला वंशपरंपरा के माध्यम से होता है और पितृ वंशपरंपरा वाले समाज में पुरुष वंशपरंपरा के माध्यम से। वंश का निर्धारण कहीं- कहीं पर मातृ तथा पितृ वंशपरंपराओं दोनों तरफ से भी किया जाता है। ऐसा साधारणतः पाश्चात्य समाजों में होता है।

परिवार में प्रभुत्व (authority) प्रधानता, गौणता व निर्णय लेने के विन्यास की दृष्टि से विभिन्न समाजों में दो संरचनाएं पाई जाती हैं। ये हैं—पितृ सत्तात्मक या पुरुष प्रधान और मातृ सत्तात्मक या स्त्री प्रधान। अधिकतर समाजों में पितृसत्तात्मक पद्धति है तथापि आज के आधुनिक समाज में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रवृत्ति निर्णय लेने की प्रक्रिया में अपेक्षाकृत अधिक बराबरी (equality) स्थापित करने की ओर जा रही है। इस समतावादी पद्धति में प्रभुत्व का बंटवारा दम्पति के बीच होता है।

दाम्पत्य से बने (conjugal) परिवार और दूसरी ओर सगोत्री (consanguine) परिवार के बीच एक और भेद किया जाता है जो परिवार की सदस्यता के रूप पर आधारित है। दांपत्य परिवार में माता-पिता और उनके बच्चे होते हैं। सगोत्री परिवार माता-पिता या दोनों में से एक सदस्य और परिवार के समरक्त नातेदारों (blood relatives) से बनता है।

केंद्रकीय परिवार

अंततः, परिवारों को उनके संगठन के आधारों पर केन्द्रकीय (nuclear) तथा विस्तारित (extended) प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है। केन्द्रकीय परिवार में एक दम्पति और उनके बच्चे होते हैं। विस्तारित परिवार में आम-तौर पर केन्द्रकीय परिवार और माँ पिता की तरफ के नातेदार साथ-साथ रहते हैं। यहां यह भी बता देना होगा कि एक सगोत्री परिवार "रक्त संबंध" को सूचित

करता है न कि किसी विशिष्ट किस्म को। एक केन्द्रीय परिवार में सगोत्री नातेदार होते हैं और उसी तरह विस्तारित परिवार में भी समरक्त वाले नातेदार रहते हैं।

विस्तारित परिवार

5.2.2 परिवार का लोकव्यापी स्वरूप

जैसा कि पहले कहा गया है, परिवार सभी सामाजिक संस्थाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और व्यापक है। पारिवारिक संस्था के बिना कोई भी मानव समाज नहीं होता। बड़े और छोटे, आदिम और सभ्य, पुरातन और आधुनिक सभी समाजों ने अपनी प्रजातियों के प्रजनन और बच्चों के पालन-पोषण की प्रक्रिया को संस्थाबद्ध किया है। यह एक स्थायी और सार्वभौम संस्था है और मानव जीवन की स्थायी संस्थाओं में से एक है। तथापि हमें यहां यह बताना जरूरी है कि एक ही प्रकार का परिवार हर जगह नहीं पाया जाता। परिवारों के कई प्रकार हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी देशों में केन्द्रकीय परिवार पाए जाते हैं। इसमें पति-पत्नी अपने बच्चों के साथ रहते हैं। भारतीय गांवों और छोटे कस्बों में विस्तारित और संयुक्त परिवार पाए जाते हैं। संयुक्त परिवारों में दो से तीन या अधिक पीढ़ियों के लोग एक ही छत के नीचे रहते हैं। भारत में संयुक्त परिवार के रूप पर, इस खंड के साथ आपको एक वीडियो कार्यक्रम भी भेजा जा रहा है, जिससे संयुक्त परिवार के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

5.2.3 परिवार का जैविकीय आधार

पारिवारिक संस्था को जैविकीय घटकों अर्थात् दो लिंगों की विद्यमानता और मानव जाति के प्रजनन में लैंगिक अभिलक्षणों से समझा जाता है। यह मानव शरीर-रचना के जीव-विज्ञान पर आधारित मानव यौन प्रवृत्तियों का स्वाभाविक समाधान है। परिवार विवाह के माध्यम से उन सभी जैविकीय क्रियाओं को वैधता प्रदान करता है।

परिवार का एक अभिलक्षण इसकी सीमितता है। अपनी इस अभिलाक्षणिक विशिष्टता के कारण परिवार को प्राथमिक समूह के रूप में पहचाना जाता है। इसमें माता-पिता और उनके अविवाहित बच्चे या माता-पिता और उनके अविवाहित बच्चों के साथ-साथ विवाहित बच्चे भी हो सकते हैं। जो बंधन इन सीमित सदस्यों को उनके स्थान पर सीमित लाभों के साथ एक कड़ी में बांधता है वह प्यार, आपसी

सौहार्द और तत्परता जैसे भावनात्मक कारकों का परिणाम है। परिवार का यही भावनात्मक आधार उसे प्रत्येक समाज में आदर्श रूप से एक उपयुक्त प्राथमिक सामाजिक समूह बनाता है।

5.2.4 सामूहिक आवास और नामावली

परिवार सभी सामाजिक संस्थाओं में सर्वाधिक स्थायी संस्था है। प्रत्येक परिवार का एक आवास, एक पता और एक नाम होता है। हम किसी भी परिवार को उसके नाम, जगह और पते के माध्यम से पहचानते हैं। यह हमारे अपने दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि परिवार हमें किस प्रकार का दिखे। उदाहरण के लिए–जिस परिवार में हम एक बच्चे हैं वह **जन्म का परिवार (फैमिली ऑफ आरिएन्टेशन)** है और जिस परिवार के हम अभिभावक हैं वह **प्रजनक परिवार (फैमिली ऑफ प्रोक्रिएशन)** है। जहां तक आवास का प्रश्न है चाहे वह जन्म का हो या प्रजनक प्रत्येक परिवार के सदस्यों का एक सामूहिक आवास होता है, क्योंकि निवास-स्थान के बिना बच्चों का संतोषजनक पालन-पोषण नहीं हो सकता।

बोध प्रश्न 1

अपने उत्तर नीचे दिए गए रिक्त स्थान में लिखे

1) लगभग पांच पंक्तियों में परिवार की परिभाषा दें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) परिवार का जैविकीय आधार क्या है? लगभग तीन पंक्तियों में बताएं।

.....

.....

.....

.....

5.3 परिवार के प्रकार्य

परिवार के स्थायित्व और सार्वभौमिकता का आधार बहुत हद तक उन कार्यों में निहित होता है जो इसके द्वारा व्यक्ति और समाज के लिए किए जाते हैं। परिवार जिन मुख्य कार्यों को करता है उनकी चर्चा नीचे की गई है।

1 सदस्यों का प्रतिस्थापन और उनकी शारीरिक देखभाल : अस्तित्व बनाए रखने के लिए प्रत्येक समाज मरने वाले सदस्यों का प्रतिस्थापन (replacement) करता है और जीवित सदस्यों की देखभाल करता है। खाना पकाने और खाने तथा रोगी की देखभाल करने की तरह ही परिवार में पुनर्जनन की व्यवस्था भी केंद्रीभूत होती है। बच्चों के पैदा होने के बाद उनका पोषण और संरक्षण परिवार में ही होता है। परिवार उन्हें रोटी, कपडा और मकान उपलब्ध कराता है।

2 यौन-व्यवहार नियन्त्रण : परिवार यौन-व्यवहार को भी नियंत्रित करता है। प्रत्येक सदस्य का यौन-व्यवहार कुछ हद तक परिवार में मिली आचरण की शिक्षा से प्रभावित होता है। परिवार में सीखे गए आचरण के और यौन अभिवृत्तियाँ सामाजिक प्रतिमानों (norms) को प्रतिबिम्बित करती हैं। और हमारे यौन आचरण को नियंत्रित करती हैं। यौन नियंत्रण से संबंधित समाजवैज्ञानिक विचारों का

अर्थ "निग्रह" (repression) से नहीं लिया जाना चाहिए। दूसरी ओर ये प्रतिमान इस बात का निर्धारण भी करते हैं कि किस दशा में और किस साथी के साथ यौन आवश्यकताओं की संतुष्टि की जा सकती है।

3 बच्चों को सामाजिक-व्यवहार की शिक्षा : परिवार प्रत्येक बच्चे को समाज में उठने-बैठने की शिक्षा देने की महत्वपूर्ण जिम्मेवारी निभाता है। बच्चों को समाज द्वारा मान्य आचरण के नियमों की शिक्षा अधिकांशतः उनके परिवारों द्वारा ही दी जाती है। यदि परिवार समाज में संस्कृति के आदान-प्रदान के लिए साधन के रूप में कार्य करता है तो व्यक्ति के समाजीकरण के लिए भी एक माध्यम के रूप में कार्य करता है। परिवार अपने बच्चों को व्यापक समाज में भागीदारी के लिए तैयार करता है और उन्हें व्यापक संस्कृति का बोध कराता है।

4 सामाजिक प्रतिष्ठा का हस्तांतरण : व्यक्ति की सामाजिक पहचान, प्रारम्भिक रूप से, उसकी पारिवारिक सदस्यता तथा जन्म से ही उसके माता-पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा और विशिष्टता से होती है। बच्चे अपने माता-पिता के सामाजिक आर्थिक वर्ग को और उस वर्ग की संस्कृति को भी ग्रहण करते हैं, जिसमें वे पैदा हुए हैं। इसके साथ ही वे इस वर्ग के मूल्य, आचार-व्यवहार की प्रणालियों यथार्थ की परिभाषाओं को भी ग्रहण करते हैं। पारिवारिक व्यवहार और विश्वासों को आत्मसात् करने के अतिरिक्त अन्य लोगों द्वारा बच्चों को उनके माता-पिता की सामाजिक अस्मिता के ही विस्तार के रूप में भी समझा एवं माना जाता है। संक्षेप में, परिवार पीढ़ी-दर-पीढ़ी संस्कृति के हस्तांतरण के वाहन के रूप में कार्य करता है।

5 आर्थिक कार्यकलाप : अभी तक परिवार उत्पादन और उपभोग दोनों प्रकार्यों की एक महत्वपूर्ण इकाई बना हुआ था। परिवार ने अपने उपभोग की अधिकाधिक वस्तुओं का उत्पादन किया और अपने अधिकाधिक उत्पादन का उपभोग किया। किन्तु आज आधुनिक परिवार मुख्य रूप से धनोपार्जन करता है। अतः आधुनिक परिवारों का प्रधान कार्य उन वस्तुओं एवं सेवाओं का उपभोग करना है जिन्हें वे आय के माध्यम से खरीदते हैं। परिवार के सदस्यों के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था करना आधुनिक परिवार का मुख्य प्रकार्य है।

6 सामाजिक भावनात्मक प्रोत्साहन : परिवार प्राथमिक समूह के रूप में स्नेह, प्रेम और परस्पर सामाजिक अन्तःक्रिया (interaction) का महत्वपूर्ण स्रोत है। परिवार के सदस्यों की देखभाल शैशवावस्था और बचपन के बाद भी की जाती है। ऐसा लगता है कि यह मानव की प्रकृति ही है कि वह सामाजिक अन्तःनिर्भरता को न केवल शारीरिक आवश्यकताओं के लिए वरन् मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी स्थापित करता है।

7 अन्तः संस्थात्मक कड़ी स्थापित करना : समाज के सामूहिक जीवन में प्रत्येक बच्चा एक सम्भावित या भावी भागीदार है। धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, मनोरंजक और अन्य प्रकार के संगठनों की पारिवारिक सदस्यता व्यक्तियों को उन कार्य कलापों में भागीदारी लेने का यह विशिष्ट अवसर प्रदान करती है जो अन्यथा उन्हें नहीं मिल सकता था। इस प्रकार परिवार व्यक्तियों को न सिर्फ उनकी सामाजिक भूमिका अदा करने और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए तैयार करता है वरन् संस्थात्मक कार्यकलापों के लिए अवसर भी प्रदान करता है। कुछ संस्थाओं अस्तित्व और निरंतरता परिवार द्वारा निभाए जाने वाले प्रकार्यों पर निर्भर हैं।

बोध प्रश्न 2

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का प्रयोग करें :

1 लगभग तीन पंक्तियों में परिवार के प्रकार्यों की चर्चा करें।

.....

.....

.....

5.4 औद्योगिक समाज में परिवार की भूमिका

बहुत से समाजशास्त्री यह मानते हैं कि आधुनिक औद्योगिक समाज में परिवार के बहुत से कार्य समाप्त हो चुके हैं। व्यवसाय राजनीतिक पार्टियां, विद्यालय, कल्याण एवं मनोरंजक संगठनों जैसी संस्थाएं

उन कार्यों को करने में विशेषज्ञ हो गई हैं जो पहले परिवार द्वारा किए जाते थे। इससे व्यक्ति की अपने परिवार और नातेदारों पर निर्भरता कम हो गई है। औद्योगिक समाज में भौगोलिक गतिशीलता के बढ़ने से परिवारों-नातेदारों के बीच के आपसी सम्पर्क और आत्मीयता (घनिष्ठता) में कमी आई है। सामाजिक गतिशीलता के अपेक्षाकृत उच्च स्तर और आधुनिक समाज में अर्जित प्रतिष्ठा (acquired status) के महत्व ने परिवार के महत्व को कमजोर किया है क्योंकि इस व्यवस्था में अपने सदस्यों को देने के लिए अब कुछ अधिक नहीं है।

5.4.1 परिवार का महत्व

फिर भी, इसका अर्थ यह नहीं है कि परिवार का महत्व कम हो रहा है। वस्तुतः परिवार का महत्व और विशेषीकृत हो गया है और इसकी भूमिका अभी भी महत्वपूर्ण है। युवकों के व्यक्तित्व को संवार कर और वयस्को के व्यक्तित्व को स्थायीत्व प्रदान करके परिवार अपने सदस्यों को उनकी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अभी भी मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण और आवश्यक सहायता प्रदान करता है। वस्तुतः, परिवार के कुछ निश्चित कार्यों के निरर्थक हो जाने ने ही उसके शेष कार्यों को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। युवावस्था में समाजीकरण का दायित्व अभी भी परिवार पर उतने ही महत्वपूर्ण ढंग से है। यद्यपि उत्पादन की इकाई के रूप में परिवार के अधिकांश कार्य समाप्त हो चुके हैं, तथापि उपभोग की इकाई के रूप में इसके आर्थिक प्रकार्य अभी भी महत्वपूर्ण हैं।

पुराने समय के अभिभावकों की तुलना में आज के अभिभावकों से अपने बच्चों की शैक्षिक और व्यावसायिक अभिरुचियों और जीवनवृत्ति के चयन में मार्गदर्शन करने, प्रोत्साहित करने और सहायता करने में हर तरह से अपेक्षा की जाती है। पुराने जमाने की तुलना में आज अभिभावक अपने बच्चों के स्वास्थ्य के प्रति अधिक चिन्तित रहते हैं। राज्य के स्वास्थ्य और कल्याण के प्रावधानों ने परिवार के लिए अतिरिक्त सहायता प्रदान की है और इसके सदस्यों को स्वास्थ्य और स्वास्थ्य विज्ञान के प्रति अधिक जागरूक किया है। संक्षेप में परिवार ने विकासशील औद्योगिक समाज का अनुकूलन किया है और अभी भी कर रहा है। परिवार अभी भी समाज में महत्वपूर्ण और आधारभूत संस्था के रूप में विद्यमान है।

5.4.2 औद्योगिक परिवार

इतिहास के कालचक्र में, परिवार के रूप और संगठन में बहुत परिवर्तन अवश्य आए हैं किंतु हर सामाजिक ढांचे में यह प्राथमिक समूह और सामाजिक संगठन की आधारभूत इकाई रहा है। अभी भी परिवार के माध्यम से व्यक्ति की प्रतिष्ठा होती है और बच्चों का पालन-पोषण तथा मार्ग-दर्शन किया जाता है तथा आने वाली पीढ़ी को सांस्कृतिक विरासत सौंपी जाती है। आज परिवारों को अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों में संगठित किया जाता है। यद्यपि परिवार मनुष्य की जैविकीय प्रकृति के मूल में ही निहित है तथापि मानवीय अनुभवों में यह हमेशा सांस्कृतिक प्रतिमानों के द्वारा एक सामाजिक संस्था के रूप में संचालित रहा है।

उद्योगों के विकास और शहरों के उदय के साथ पारिवारिक जीवन और परिवार के रूपों में परिवर्तन हुआ है। आर्थिक कार्य बड़े पैमाने पर बाह्य माध्यमों को हस्तांतरित हो गये हैं तथापि स्नेह, भाईचारा और भावनात्मक सुरक्षा जैसे मनोवैज्ञानिक मूल्यों पर आज अधिक बल दिया जा रहा है और ये परिवार के संदर्भ में ही मिलते हैं।

वर्तमान समय संक्रमण (transition) का युग है। परिवार सांस्कृतिक पद्धतियों में आते हुए परिवर्तनों का सामना करता है और हर नई परिस्थिति के अनुसार समझौता करने के तरीके ढूँढता है। भविष्य में चाहे कैसे भी परिवर्तन क्यों न होते रहें लेकिन परिवार नए तरीके ढूंढकर हमेशा कायम रहेगा।

बोध प्रश्न 3

अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

1 औद्योगिक समाज में परिवार की क्या भूमिका है? अपना उत्तर लगभग चार पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

2 औद्योगिक समाज में परिवार अभी भी महत्वपूर्ण क्यों है? अपना उत्तर लगभग चार पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

5.5 सारांश

इस इकाई में हमने परिवार के विविध पहलुओं का अध्ययन किया है। हमने परिवार की परिभाषा के साथ आरंभ करके परिवार के रूपों में भिन्नताओं का अध्ययन किया। इसमें परिवार के जैविकीय आधारों की व्याख्या शामिल है। परिवार के लोकव्यापी रूप, सामूहिक आवास और उसकी नामावली का भी विवेचन किया गया।

इसके बाद हमने परिवार के सामाजिक प्रकार्यों की व्याख्या की। तदुपरांत औद्योगिक समाज में परिवार की भूमिका को स्पष्ट किया गया। इस भाग में परिवार की महत्ता और औद्योगिक परिवार के पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया।

इस प्रकार यह इकाई समाज में परिवार के बारे में बेहतर जानकारी प्रदान करती है।

शब्दावली

दम्पत्ति परिवार : वह परिवार जिसके सदस्यों में पति-पत्नी और उनके बच्चे हों।

सगोत्रीय परिवार : जिस परिवार के सदस्यों का आपसी संबंध विवाह के बजाय वंश द्वारा हो।

विस्तारित परिवार : एक या अधिक दम्पति, उनकी संतानों और अन्य निकट संबंधियों का परिवार।

जन्म का परिवार : ऐसा परिवार जिसमें किसी का जन्म हुआ हो।

प्रजनक परिवार : ऐसा परिवार जिसमें व्यक्ति परिवार का जनक (माता-पिता) हो।

नाते-रिश्तेदार : वे व्यक्ति जो वंश या विवाह के माध्यम से संबंधित हो।

मातृ वंश परंपरा : जिस परिवार में वंशक्रम स्त्री (मातृ) वर्ग के माध्यम से हो।

मातृ केन्द्रित आवास : वह प्रथा (पद्धति) जिसके द्वारा विवाहित युगल पत्नी के घर में निवास करते हैं।

रीति-रिवाज : सही और गलत का बोध कराने वाली वे धारणाएं जिनके लिए कुछ निश्चित कार्यों के अलावा अन्य कार्यों को निषेध करना होता है।

केन्द्रकीय परिवार : जिस परिवार में केवल माता-पिता और उनके बच्चे हो।

पितृ वंश परंपरा : जिस परिवार में वंशक्रम पुरुष (पितृ) वर्ग के माध्यम से हो।

पितृ सत्ता : जिस परिवार में पिता का प्रभुत्व घर के मुखिया के रूप में हो।

मातृ सत्ता : जिस परिवार में माता का प्रभुत्व मुखिया के रूप में हो।

पितृ केन्द्रित आवास : जिस प्रथा (पद्धति) के अंतर्गत विवाहित युगल पति के घर मे निवास करता हो।

उपयोगी पुस्तकें

कपाड़िया, के.एम. 1966. *मैरिज एण्ड फेमिली इन इंडिया* (भारत में परिवार एवं विवाह) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : मुबई

सदरलैण्ड, आर.एल., वुडवर्ड, जे.एल., मैक्सवैल, एम.ए. 1961. *इंट्रोड्यूसिंग सोशियॉलाजी* (परिचयात्मक समाज विज्ञान) ऑक्सफोर्ड और आई बी. एच. पब्लिशिंग कंपनी: दिल्ली

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 परिवार को निम्नलिखित पर आधारित एक समूह कहा जा सकता है:
   क) वैवाहिक संबंध
   ख) जनकत्व (माता-पिता होना)
   ग) सामूहिक आवास
   घ) माता-पिता और बच्चों के बीच अन्योन्याश्रित संबंध

2 परिवार के जैविकीय आधारों को दो लिंगों की विद्यमानता और प्रजनन के कारणस्वरूप स्पष्ट किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह मानवीय यौन प्रवृत्ति का स्वाभाविक उत्तर (समाधान) है।

बोध प्रश्न 2

1 परिवार का एक महत्वपूर्ण कार्य है--माता-पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा को बच्चों में हस्तांतरित करना। इस तरह बच्चों का सामाजिक स्तर परिवार से जुड़ा होता है।

बोध प्रश्न 3

1 औद्योगिक समाज में परिवार की भूमिका काफी क्षीण हो गई है। स्कूलों, व्यापार घरों, राजनीतिक दलों, मनोरंजन के संयुक्तों आदि संस्थाओं ने परिवार की भूमिका को कम कर दिया है। उच्च स्तरीय गतिशीलता ने भी परिवार का महत्व कम किया है।

2 औद्योगिक समाज में परिवार की महत्ता को क्रम नहीं आंकना चाहिए। यह अभी तक भी समाजीकरण के कार्यों, मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण और अन्य बातों की व्यवस्था करता है। परिवार अभी भी उन आर्थिक कार्यों को पूरा करता है जिनसे बच्चों को जीवन में सफलता मिले।

इकाई 6 विवाह

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 विवाह संस्था
6.3 विवाह के रूप

6.3.1 एकल विवाह प्रथा
6.3.2 बहु विवाह प्रथा
6.3.3 सजातीय विवाह और गोत्र से बाहर विवाह के नियम

6.4 साथी का चयन
6.4.1 अधिमान्य विवाह
6.4.2 विवाह-व्यवस्था
6.4.3 जनजातियों में जीवन साथी का चयन

6.5 विवाह प्रथा में परिवर्तन
6.5.1 विवाह के रूपों में परिवर्तन
6.5.2 जीवन साथी के चयन में परिवर्तन
6.5.3 विवाह के समय आयु में परिवर्तन
6.5.4 विवाह के रीति-रिवाजों में परिवर्तन
6.5.5 विवाह के लक्ष्यों में परिवर्तन और वैवाहिक स्थिरता

6.6 सारांश
शब्दावली
उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिये यह बताना संभव होगा कि :

- विवाह के विभिन्न रूप कौन से हैं,
- साथी के चयन का क्या आशय है,
- विवाह संस्था में कौन-कौन से परिवर्तन हुए हैं, और
- विवाह के लक्ष्यों और विवाह की स्थिरता की क्या स्थिति है।

6.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम विवाह संस्था, इससे संबंधित विभिन्न पहलुओं तथा विवाह के रूपों की चर्चा करेंगे। विवाह के रूपों में एकल विवाह, बहु-विवाह, सजातीय विवाह और अंतरजातीय विवाह से संबंधित नियम भी शामिल हैं। विवाह के एक महत्वपूर्ण पहलु के रूप में साथी का चयन भी विचारणीय है। इससे संबंधित कुछ क्षेत्र हैं–प्रेम विवाह, अधिमान्य विवाह और जनजातियों में साथी का चयन जिन पर इस इकाई में विचार किया गया है। इसके अन्तिम भाग में विवाह में परिवर्तन, इसके रूप, साथी के चयन की प्रथा, विवाह के समय आयु आदि के संबंध में विचार किया गया है।

इस प्रकार यह इकाई विवाह संस्था से जुड़े हुए विभिन्न पक्षों का अध्ययन प्रस्तुत करती है।

6.2 विवाह संस्था

विवाह समाज की एक महत्वपूर्ण और लोकव्यापी सामाजिक संस्था है। एक सामाजिक संस्था के रूप में विवाह स्त्री-पुरुष संबंधों को तथा बच्चों के जन्म और पालन-पोषण के लिए एक मान्यता प्राप्त रूप और स्थायित्व प्रदान करता है। इस प्रकार यह मुख्य रूप से मानवीय पुनर्जनन (reproduction) को विनियमित करने का एक तरीका है। किन्तु इस पुनर्जनन का एक समाजशास्त्रीय आयाम भी है। स्त्री-पुरुषों के संबंधों का विकास जो कि सार्वभौम रूप से विवाह से जुड़ा हुआ है, विवाह से उत्पन्न बच्चों को वैधता प्रदान करता है। यह वैधता वंशक्रम और उत्तराधिकार के मामले में अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। इसके अतिरिक्त विवाह के माध्यम से परिवार का जन्म होता है जो अपेक्षाकृत एक ऐसा स्थिर सामाजिक समूह है जो बच्चों की देख-रेख और प्रशिक्षण के लिए उत्तरदायी होता है। इन पक्षों को ध्यान में रखते हुए देखें तो विवाह ने ऐतिहासिक रूप से समाज को सामाजिक समूह के प्रतिस्थापन (replacement) के लिए आवश्यक एक संस्थागत प्रणाली प्रदान की है। इस प्रकार इसके द्वारा मानव जाति और समाज के अस्तित्व की महत्वपूर्ण पूर्वापेक्षाएं (prerequisites) पूरी होती रही हैं। भले ही इन सामाजिक पूर्वापेक्षाओं में विवाह के सभी मूल्य और लक्ष्य समाहित नहीं है।

कुछ समाजों में, विशेष रूप से औद्योगिकृत समाज में, विवाह का मुख्य लक्ष्य केवल पुनर्जनन ही नहीं अपितु सहचारिता, भावात्मक तथा मनोवैज्ञानिक अवलम्ब भी हैं। विवाह में सहचारिता का विचार अभी हाल ही में विकसित हुआ है, जबकि मानव इतिहास में सभी समाजों में इस बात पर बल दिया गया है कि विवाह एक सामाजिक दायित्व है तथा इसके अनेक पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक दायित्व हैं।

ऐतिहासिक रूप से विभिन्न समाजों में विवाह के विविध रूप मिलते हैं, यह भी देखा गया है कि विवाह के विभिन्न कार्य हैं। वस्तुतः विवाह के साथी प्राप्त करने के तरीकों को देखें तो हमें पता चलता है कि इनके आश्चर्यजनक विविध तरीके और प्रथाएं हैं। विवाह से संबंधित लगभग हर प्रथा और परम्परा में एक अंतहीन विविधता है। इसके परिणामस्वरूप विवाह को अनेक ढंगों से परिभाषित किया गया है।

6.3 विवाह के रूप

जैसाकि ऊपर और इकाई 5 में उल्लेख किया गया है विवाह के बहुत से विविध रूप हैं। इन रूपों की पहचान साथियों की संख्या और कौन किससे विवाह कर सकता है, इस पर लागू होने वाले नियमों के आधार पर की जा सकती है।

कितने लोग वैध रूप से विवाह कर सकते हैं – इस आधार पर विवाह के दो रूप हैं :

1) एकल विवाह प्रथा और 2) बहु विवाह प्रथा।

6.3.1 एकल विवाह प्रथा

एकल विवाह प्रथा में व्यक्ति केवल एक पत्नी/पति तक ही सीमित रहता है अर्थात् इस प्रथा में कोई पुरुष केवल एक पत्नी रख सकता है और एक स्त्री केवल एक पति रख सकती है। एकल विवाह प्रथा सभी समाजों में प्रचलित है और यह प्रायः सभी आधुनिक औद्योगिक समुदायों में विवाह का एक सार्वभौम्कि रूप है। जहां बहु-विवाह प्रथा मान्य है वहां भी वास्तविक व्यवहार में एकल विवाह प्रथा अधिक व्यापक रूप से स्वीकृत है। आर्थिक संसाधनों की कठिनाइयों और जनसंख्या में पुरुषों और स्त्रियों की संख्या में लगभग समान संतुलन के कारण बहु-विवाह समुदायों में रहने वाले अधिकांश व्यक्ति एक घर में एक से अधिक पत्नी/पति नहीं रख पाते हैं।

अनेक समाजों में व्यक्तियों की पहली पत्नी/पति की मृत्यु हो जाने पर या तलाक के बाद पुनर्विवाह करने की प्रायः अनुमति होती है, किन्तु वे एक ही बार में एक से अधिक पत्नी/पति नहीं रख सकते ऐसे एक पत्नीक विवाह को क्रमिक एकल विवाह (serial monogamy) प्रथा के रूप में जाना जाता है। अधिकांश पाश्चात्य समाजों में यह विवाह प्रथा प्रचलित है। जिस समाज में पुनर्विवाह मान्य नहीं होता उसमें केवल **एकल विवाह** (straight monogamy) ही होता है। अधिकांश उच्चवर्गीय हिन्दु महिलाओं को विधवा पुनर्विवाह आयु अधिनियम 1856 लागू होने से पहले केवल

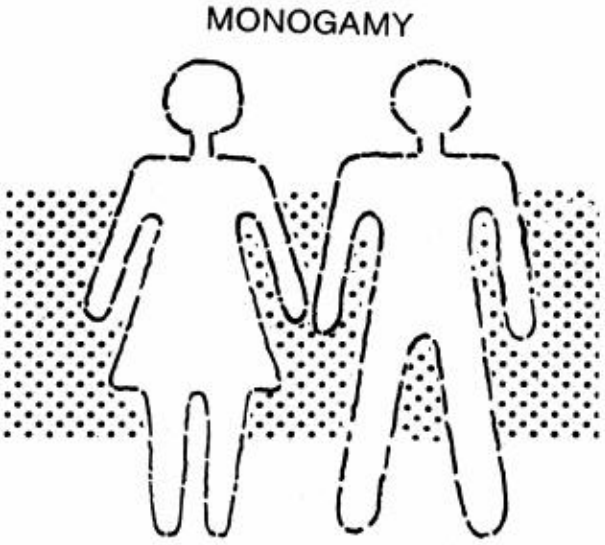

एकल विवाह

एकल विवाह प्रथा का प्रतिमान रखना पड़ता था क्योंकि तब तक विधवाओं को पुनर्विवाह करने की अनुमति नहीं दी गई थी। कुछ निम्न जातियों में विधवा पुनर्विवाह की अनुमति अवश्य थी। कहीं-कहीं ऐसे पुनर्विवाह में मृत पति के भाई को अधिमान्यता दी जाती थी।

6.3.2 बहु-विवाह प्रथा

बहु-विवाह से तात्पर्य एक समय में एक से अधिक व्यक्तियो से विवाह करने से है। इसके दो रूप हैं : **बहु-पत्नी** प्रथा अर्थात् एक पति की एक से अधिक पत्नियां तथा **बहु-पति** अर्थात् एक स्त्री के एक से अधिक पति।

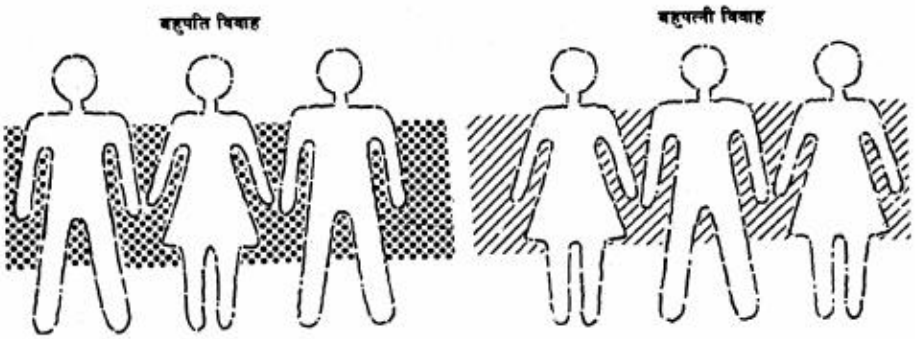

हालांकि सभी समाजों में एकल विवाह प्रथा ही प्रचलित है फिर भी बहुत से समाजों में जहाँ बहु-विवाह है वहां बहुपत्नी प्रथा रूप को प्राथमिकता दी जाती है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मर्डाक (Murdock) द्वारा 283 समाजों के विश्लेषण के आधार पर किये गये शोध से पता चलता है कि इनमें से 193 समाजों में बहु-विवाह का, 43 समाजों में एकल विवाह का और केवल एक समाज में बहु-पति प्रथा का प्रचलन था।

कुछ बहु-विवाह प्रथा वाले समाजों में पत्नी/पति के चयन के लिए अधिमान्य (preferential) नियमों का अनुपालन किया जाता है। कुछ समाजों में पुरुष, पत्नी की बहन से और स्त्रिया पति के भाईयों से विवाह करती हैं। ऐसे विवाहों को क्रमशः साली से विवाह और भ्रात्रीय विवाह के रूप में जाना जाता है।

जिन समाजों में बहु-पति प्रथा अपनाई जाती है वहां पति के भाई से विवाह करने की प्रथा ही अधिक प्रचलित है। इन समाजों में पति के सभी भाई चाहे सगे हों या चचेरे एक ही स्त्री के पति होते हैं। शोधकर्ताओं ने यह पता लगाया है कि इस प्रकार के बहु-पति वाले विवाह संसार के विभिन्न भागों में किए जाते हैं। अभी तक तिब्बत को सबसे बड़ा ऐसा समुदाय पाया गया है जहां बहु-पति प्रथा बड़ी सजधज के साथ अपनाई जाती है। दक्षिण भारत की कुछ जनजातियों में इस तरह की बहु-विवाह प्रथा प्रचलित है। टोडा लोगों में बहुपति प्रथा का प्रचलन एक शास्त्रीय उदाहरण है। उत्तरी भारत में जाटों के कुछ वर्ग ऐसे हैं जो बहु-पति प्रथा वाले विवाह में विश्वास रखते हैं।

आमतौर पर यह हो सकता है कि जिन समुदायों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो, उन समुदायों मे बहु-पति प्रथा विवाह अधिक किये जाते हों क्योंकि ऐसी स्थिति में एक अकेला पुरुष पत्नी और बच्चं को पर्याप्त रूप से आश्रय नहीं दे सकता। अत्यधिक गरीबी के कारण संभवतः एक समूह के लिए जनसंख्या सीमित रखना आवश्यक हो जाता है।

6.3.3 सजातीय विवाह और गोत्र से बाहर विवाह के नियम

सभी समाजों में इस संबंध में कुछ निर्धारित नियम और प्रतिबंध होते हैं कि कौन किससे विवाह करे या न करे। कुछ समाजों में ये प्रतिबंध केवल सांकेतिक होते हैं जबकि अन्य समाजों में कौन किससे विवाह करे या न करे, इस संबंध में अधिक स्पष्ट और विस्तृत नियम होते हैं। साथी की पात्रता/अपात्रता पर लागू होने वाले नियमों पर आधारित विवाह के रूपों को **सजातीय विवाह** (endogamy) और **गोत्र से बाहर** विवाह (exogamy) के नियमों के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है।

सजातीय विवाह के अंतर्गत व्यक्ति को उसी सांस्कृतिक समूह के अंदर विवाह करना होता है जिससे वह संबंधित है अर्थात् अपनी जाति में ही विवाह करना होता है। दूसरी ओर गोत्र के बाहर विवाह का अर्थ है कि सजातीय विवाह के विपरीत व्यक्ति अपने गोत्र से बाहर विवाह करे। सजातीय और गोत्र से बाहर विवाहों का महत्व नातेदारी की इकाइयों, वंश, जातीय, प्रजातीय या धार्मिक समूहों के संदर्भ में होता है। भारत में, उत्तर भारत के कुछ भागों के गांवों में, गोत्र से बाहर विवाह की ऐसी प्रथा भी है जिसमें एक गांव के लोग अपने गांव में विवाह नहीं कर सकते। अर्थात् पूरा गांव सगोत्रीय हो जाता है या माना जाता है।

धार्मिक समूह में विवाह सजातीय विवाह का सर्वाधिक प्रचलित रूप है। अधिकांश धार्मिक समूह अपने धर्म के लोगों को दूसरे धर्मों के लोगों से विवाह करने की अनुमति नहीं देते और न ही वे इसे पसंद करते हैं। इसके अतिरिक्त श्रेणीबद्ध (stratified) समाज के विभिन्न समूह जैसे जातियों और वर्गों के लोग भी अपने ही समूह में विवाह को मान्यता देते हैं। सजातीय विवाह भारतीय जाति प्रथा की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता है। हिंदुओं में 300 से अधिक जातियां/उपजातियां हैं और उनमें से प्रत्येक जाति के लोग सजातीय विवाह को ही अपनाते हैं। भारत के आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति के बावजूद, जिसके परिणामस्वरूप जाति संबंधी प्रतिबंध अनेक रूपों में काफी कम हो गए हैं, अंतर्जातीय विवाह बहुत कम होते हैं और अधिकांशतः शिक्षित शहरी व्यक्तियों तक ही सीमित रहते हैं। यद्यपि सजातीय विवाह अनादि काल से प्रचलित हैं किन्तु धार्मिक ग्रंथों में अनुलोम (hypergamy) तथा प्रतिलोम (hypogamy) विवाहों की अनुमति देकर एक सीमा तक अंतर्जातीय विवाहों को एक संस्था का रूप दे दिया है। अनुलोम विवाहों में एक नीची जाति की स्त्री और उच्च जाति के पुरुष के बीच विवाह संबंध की अनुमति है। प्रतिलोम विवाह उच्च जाति की स्त्री और नीची जाति के पुरुष के बीच एक विवाह संबंध है जिसे सामाजिक मान्यता नहीं मिलती है।

ii) हिंदुओं में **गोत्र से बाहर विवाह** के नियम अत्यन्त सुनिश्चित है। हिंदुओं को परंपरागत रूप से अपने गोत्र प्रवर सपिंड (गोत्र प्रवर और सपिंड से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो पैतृक या मातृक पूर्वज की वंश परंपरा से हो, या माना जाता हो और इन्हें प्रायः सगोत्र, सहोदर या वंश परंपरा के रूप में माना जाता है) में विवाह करने की मनाही है। हिंदू विवाह अधिनियम (1955) के अंतर्गत सपिंड के बीच विवाह का निषेध है, और इसमें यह भी निर्दिष्ट है कि पिता की ओर से पांच पीढ़ियों और माता की ओर से तीन पीढ़ियों में संबंधित दो व्यक्तियों के बीच विवाह तब तक अमान्य है जब तक कि स्थानीय रीति-रिवाज में उसकी अनुमति न हो।

गोत्र से बाहर विवाह के इस नियम का सभी समाजों द्वारा अनुसरण किया जाता है जिसके अनुसार सहोदरों (भाई-बहन) और माता/पिता-पुत्र/पुत्री के बीच विवाह की मनाही है। परिवार के निकट संबंधियों (दंपति से भिन्न) के बीच शारीरिक संबंधों को पारिवारिक व्यभिचार माना जाता है।

बोध प्रश्न 1

नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।

1) एकल विवाह प्रथा और बहु-विवाह प्रथा में भेद बताएं। लगभग तीन पंक्तियों में अपना उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

2) सजातीय विवाह और गोत्र से बाहर विवाह पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें। लगभग छः पंक्तियों में अपना उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.4 साथी का चयन

विवाह के लिए साथी चुनने की प्रक्रिया को जीवन साथी का चयन कहा जाता है। कुछ समाजों में व्यक्ति "विवाह योग्य पात्रों" में से अपनी इच्छा से साथी का चयन करने के लिए स्वतंत्र है जबकि कुछ अन्य समाजों में विवाह करने वाले व्यक्ति से इस संबंध में कोई राय ही नहीं ली जाती कि वे किससे विवाह करना चाहते हैं। यों तो पहले वाली स्थिति में भी विवाह योग्य व्यक्ति अपने साथी का चयन करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। उनकी पसंद पर भी साफ-साफ या अप्रत्यक्ष रूप से सांस्कृतिक या सामाजिक दबाव डाले जाते हैं।

सभी समाजों में विवाह के संबंध में यह धारणा तो है ही कि जोड़ी अच्छी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सजातीय विवाह में भी कुछ रिश्तों को अधिक अधिमान्यता दी जाती है। अतः साथी का स्वयं चयन करने में आम तौर से योग्य जीवन साथी के मिलने और अधिमान्यता के नियमों का असर पड़ता है।

भारत में यह परंपरा रही है कि साथी का चुनाव करते समय उसकी जाति, धर्म और पारिवारिक पृष्ठभूमि को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। इसके अतिरिक्त लड़की की शक्ल-सूरत और गृहिणी

के रूप में उसकी योग्यता पर भी विचार किया जाता है तथा वर की अर्जन क्षमता तथा शैक्षिक योग्यताओं को महत्व दिया जाता है। शहरी मध्यवर्गीय परिवारों में आजकल वधू का चयन करते समय लड़की की अर्जन क्षमता को भी महत्व दिया जाने लगा है।

6.4.1 अधिमान्य विवाह

यद्यपि कुछ समाजों में कुछ विशेष संबंधों के बीच (रिश्तेदारों में) विवाह करने की मनाही है, जबकि अन्य समाजों में आपसी रिश्तों में ही विवाह करने की अनुमति है या ऐसा करना जरूरी माना जाता है। अतः बहुत से समाजों में ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों (cross-cousins) (पिता की बहन या माता के भाई की संतान) के साथ किए गए विवाह स्वीकार किये जाते हैं या उनकी अनुमति दी जाती है। भारत में अरब तथा मुसलमानों में चचेरे-मौसेरे भाई-बहनों (parallel cousins) (पिता के भाई और माता की बहनों के बच्चे) में विवाह करना आम बात है। चचेरे मौसेरे भाई-बहनों के साथ विवाह की अनुमति देने या उसे प्राथमिकता देने के निम्नलिखित कारण हैं :

क) पारिवारिक संपत्ति अपने रिश्तेदारों के समूह में ही रहती है और घर से बाहर नहीं जाती और

ख) संबंध क्षीण नहीं होते क्योंकि रिश्तेदारों के परिवारों की संतान के बीच विवाह करने से यह संबंध दुबारा बनते रहते हैं।

6.4.2 विवाह व्यवस्था

कुछ समाजों में साथी के चयन से संबंधित निर्णय माता/पिता/संबंधियों द्वारा लिये जाते हैं। कुछ अन्य समाजों में व्यक्ति अपने साथी का चुनाव करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र होते हैं। अतः विवाह दो प्रकार से तय किये जाते हैं अर्थात् एक तो माता-पिता द्वारा (तय किये गए विवाह) और दूसरे अपनी पसंद से किये गए विवाह (प्रेम विवाह)।

(i) तय किये गए विवाह

भारत जैसे पारम्परिक समाज में जहां बड़े परिवारों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है विवाह तय करना माता-पिता का काम होता है। इसके अतिरिक्त "उपयुक्त" विवाह संबंधों के माध्यम से पारिवारिक प्रतिष्ठा में वृद्धि, आर्थिक रूप से सम्पन्नता और अधिकार (विशेषकर धनी परिवारों में) प्राप्त करने के प्रयास भी किए जाते हैं। परिणामस्वरूप विवाह को एक ऐसा गंभीर विषय माना जाता है जिसे केवल अपरिपक्व अवस्था के व्यक्तियों की "पसंद" पर ही नहीं छोड़ दिया जाता। इस प्रकार पारम्परिक समाजों में तय किए गए विवाह ही आदर्श माने गए हैं। ऐसे विवाह करने इसलिए भी अनिवार्य माने गये हैं क्योंकि इन समाजों में स्त्री-पुरुष को सैक्स के प्रति आकर्षित न होने देने का सख्ती से पालन किया जाता है। फलस्वरूप विवाह योग्य लड़के-लड़कियां एक दूसरे के निकट आकर एक दूसरे को समझ नहीं सकते। यहां तक कि आज भी विषमलिंगी संबंध स्थापित करने का व्यापक रूप में प्रचलन नहीं है, और युवा व्यक्ति विशेषकर लड़कियां स्वयं माता-पिता द्वारा किए गए विवाह को मान्यता देती हैं। इसकी वजह से वे कई ऐसे मानसिक तनावों से बची रहती हैं जिनसे आज की युवा पीढ़ी को गुज़रना पड रहा है। फिर भी यह बात ध्यान देने की है कि तय किए गए विवाह जबरदस्ती के विवाह नहीं होते। इसमें विवाह करने वाले युवक-युवतियों के विचारों की पूरी तरह से उपेक्षा नहीं की जाती।

(ii) प्रेम विवाह

जीवन साथी के चयन की पाश्चात्य शहरी औद्योगिक प्रणाली में व्यक्ति परस्पर प्रणय निवेदन करते है और एक दूसरे से मिलते रहते हैं। वे जीवन-साथी का चुनाव एक दूसरे के लिए प्रेम की भावना के आधार पर करते हैं। एशियाई और भारतीय लोगों में इसे प्रेम-विवाह कहा जाता है। क्योंकि ऐसे विवाहों में जीवन-साथी का चुनाव व्यक्ति स्वयं करता है और चुनावों का आधार पारस्परिक स्नेह और प्रेम रहता है न कि व्यक्ति की सामाजिक हैसियत, सम्पत्ति या अन्य कारण। ये प्रेम विवाह व्यक्ति के रोमानी तथा इन्द्रिय भावना से प्रेम करने और किए जाने के सर्वोपरि अधिकार पर बल देते हैं। ऐसे प्रेम-विवाह में प्रेम को खुशी का मूल तत्व माना जाता है।

(iii) प्रेम विवाह तथा तय किये गये विवाह में अंतर

प्रेम-विवाह और तय किए विवाह में एक महत्वपूर्ण अंतर है। माता-पिता द्वारा तय किए गए विवाह में

व्यक्तिगत स्तर पर उम्मीदें नहीं के बराबर होती है (या हद से हद बहुत कम अपेक्षाएं होती हैं)। वास्तव में शुरू में एक सामाजिक दायित्व को पूरा करने के लिए ही विवाह किया जाता है। अपनी पसंद से किये जाने वाले विवाह में एक दूसरे से खुशी और सहचर्य की बहुत अधिक आशा बनी रहती है किन्तु विवाह के बाद रोजमर्रा के जीवन में जब जीवन-यापन के लिए पति- पत्नी को वास्तविक समस्याओं का सामना करना पड़ता है तब यह खुशी हासिल कर पाना इतना आसान नहीं होता। परिपक्व व्यक्तित्व वाले व्यक्ति कल्पना और वास्तविकता के बीच के इस अन्तराल से समझौता कर लेते हैं जबकि अपरिपक्व व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों के लिए ऐसी स्थिति से जूझना कठिन हो जाता है। कभी-कभी कल्पनापूर्ण रोमानी प्रेम में और वास्तविक जीवन की आवश्यकताओं में इतना अधिक अंतर होता है कि इस तनाव को बर्दाश्त कर पाना असम्भव हो जाता है और विवाह टूट जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के विवाह के असफल होने का खतरा बना रहता है क्योंकि इस प्रकार का विवाह करने वाले साथी पारिवारिक और सामाजिक कारणों से विवाह नहीं करते हैं। इस कारण प्रेम-विवाह, माता-पिता द्वारा तय किए विवाह की अपेक्षा अधिक नाजुक होते हैं। प्रेम-विवाह गलत चुनाव की वजह से इतने अधिक अस्थिर नहीं होते जितने कि वे विवाह के बाद पहले से की गई उम्मीदें पूरी न हो पाने के कारण होते हैं।

6.4.3 जनजातियों में जीवन साथी का चयन

हालांकि जनजातियों में विवाह-पूर्व-संबंधों को बुरा नहीं माना जाता है किन्तु जितने भी नियमित विवाह होते हैं वह माता-पिता द्वारा तय किये जाते हैं। यहां तक कि कुछ जन-जातियों में 'बलपूर्वक विवाह' (marriage by capture) भी किए जाते हैं। ये विवाह माता-पिता के आग्रह पर या उनकी अपरोक्ष आज्ञा के कारण होते हैं। अनियमित विवाह प्रायः फरार होकर, घुसपैठ करके या जबरदस्ती मांग में सिंदूर भरकर किए जाते हैं। अंततः ये विवाह माता-पिता या परिवार द्वारा नियमित विवाह के रूप में स्वीकार कर लिये जाते हैं। जनजातियों में जीवन-साथी के चयन के कुछ अन्य तरीके भी प्रचलित हैं। इनमें से कुछ पर नीचे विचार किया जा रहा है।

i) खरीद तथा सेवा द्वारा जीवन-साथी का चयन

"खरीद कर" जीवन साथी का चयन करने का काफी प्रचलन है। इस प्रकार की प्रथा में लड़के वालों की तरफ से लड़की के अभिभावकों को उसकी कीमत (वधूशुल्क) अदा की जाती है। इस वधू-शुल्क की राशि नाममात्र की कीमत से (जैसा कि "रेगमा-नागारे" जनजाति में होता है) इतनी अधिक कीमत तक पहुंच जाती है (जैसी कि "हो" जनजाति में है) कि बहुत से युवा लडके और लड़कियों को अविवाहित ही रहना पड़ता है।

कुछ जनजातियों (गोंड) ने अधिक वधूशुल्क से बचने का तरीका खोज लिया है। होने वाला वर अपने होने वाले ससुर के घर में रहता है और नौकर की तरह काम करता है। वह विवाह के लिए लडकी का हाथ मांगने से पहले कुछ वर्षों तक वहां नौकरी करता है और इस तरह से वधू-शुल्क चुका देता है।

वधू-शुल्क की अदायगी से बचने का एक और तरीका है विवाह योग्य युवाओं वाले परिवारों के बीच आपस में ही एक दूसरे की लड़कियों/स्त्रियों से विवाह करके वधू-शुल्क का आदान-प्रदान सीमित परिवारों में हो जाता है।

ii) युवा आवासशालाएं (Youth Dormitories)

जिन जनजातियों में युवाओं के लिए आवासशालाओं की व्यवस्था है वहां युवक-युवतियों के लिए अपने जीवन साथी का स्वयं चयन करने की अधिक गुंजाइश है। अतः वहां पर आपसी सहमति के बाद माता-पिता की स्वीकृति लेकर विवाह करने का आम रिवाज है। यदि माता-पिता विवाह में आपत्ति करते हों तो भाग कर विवाह कर लेना भी एक हल है। अंततः माता-पिता विवाह के बाद उन लोगों के वापस आने पर उनका स्वागत करते हैं।

3 बलपूर्वक साथी का चुनाव करना

जीवन साथी का चयन करके बलपूर्वक उसे हासिल करना नांगा "हो", "भील" और "गोंड" जनजातियों में प्रचलित प्रथा है। नागाओं में महिला शिशु की हत्या करने का एक कारण यह भी था कि उन लोगों को इस बात का डर रहता था कि आगे चलकर उनके घर से लड़की को विवाह के लिए बलपूर्वक उठाकर ले जाने के लिए हमले होंगे। गोंड जनजाति में वधू को ज़बरदस्ती ले जाने की प्रथा कम थी। ऐसा कभी-कभी माता-पिता के आग्रह पर ही किया जाता था। "हो" जनजाति के लोग ऐसा पूर्व नियोजित तरीके से करते थे। इस तरह बलपूर्वक उठाकर ले जाने के अलावा गांव के अंदर होने वाले किसी समारोह के अवसर पर औपचारिक रूप से विवाह के लिए वधू को हासिल करने का रिवाज भी मध्य भारत की कुछ जनजातियों में था। ऐसी स्थिति में यह काम शांतिपूर्ण तरीके से किया जाता था।

4 परख के बाद चयन

कुछ जनजातियों में जीवन साथी का चयन अच्छी तरह से जांच-परख किए जाने के बाद ही किया जाता है। एक युवा भील युवक को किसी युवती से विवाह करने से पहले अपने साहस, शौर्य का प्रमाण देना होता है। ऐसा आमतौर से नृत्य के खेल द्वारा किया जाता है। होली के त्योहार पर युवा महिला नर्तकियां किसी पेड़ या खम्भे के चारों ओर एक घेरा सा बना लेती हैं। उस पेड़ पर एक नारियल और गुड़ बांध दिया जाता है। पुरुष नर्तक बाहर की ओर गोला बना लेते हैं। एक युवा पुरुष अन्दर के घेरे को तोड़कर उस पेड़ या खम्भे तक पहुंचने की कोशिश करता है, तब उसकी ताकत की परख होती है। स्त्रियां अपनी पूरी ताकत से उसे अन्दर आने से रोकने की कोशिश करती हैं और यदि वह व्यक्ति उस पेड़ तक पहुंचकर गुड़ खा लेता है और नारियल फोड़ देता है, तो वह अन्दर वाले घेरे में से किसी भी लड़की को अपनी पत्नी के रूप में चुन सकता है।

कुछ जनजातियों में ऐसा भी देखने में आया है जहां लड़की किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह करने की इच्छुक होती है जो उससे विवाह नहीं करना चाहता। वह अपने आपको ज़बरदस्ती उस पर थोपती है। सभी प्रकार से अपमानित होती रहती है और तिरस्कार तथा रूखा व्यवहार बर्दाश्त करती है जब तक वह व्यक्ति उसे स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार के विवाह को हस्तक्षेप करके (marriage by intrusion) विवाह करना कहा जाता है।

साथी का चयन करने के उपरलिखित तरीकों के अतिरिक्त कूकी जनजाति के लोगों में परख अवधि विवाह का भी प्रचलन है, जिसमें युवा लड़के-लड़कियों को लड़की के घर पर कुछ सप्ताह तक एक साथ रहने की अनुमति दी जाती है और उसके बाद वे यह फैसला करते हैं कि उन्हें विवाह करना चाहिए या नहीं। यदि वे अलग होना चाहें तो लड़के को लड़की के माता-पिता को क्षतिपूर्ति (compensation) के रूप में नकद राशि देनी पड़ती है।

बोध प्रश्न 2

नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें

1) अधिमान्य विवाह से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट करें। अपना उत्तर केवल पांच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) जनजातियों में जीवन साथी का चुनाव कैसे किया जाता है? उदाहरण सहित स्पष्ट करें। अपना उत्तर सात पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.5 विवाह प्रथा में परिवर्तन

औद्योगीकरण और नगरीकरण के परिणामस्वरूप ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिनका पूरे विश्व में विवाह संस्था पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। यद्यपि विभिन्न समाजों तथा प्रत्येक समाज के अंतर्गत विभिन्न समूहों ने औद्योगीकरण और नगरीकरण के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया व्यक्त की है किन्तु विवाह को प्रभावित करने वाली कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं।

6.5.1 विवाह के रूपों में परिवर्तन

बहु-विवाह की परंपरा वाले समाज भी एकल विवाह प्रथा अपना रहे हैं। स्त्री की स्थिति में सामान्य सुधार और पुरुष के प्रभुत्व के पंजों से धीरे-धीरे उसकी मुक्ति के परिणामस्वरूप उन समाजों में भी जिनमें बहु-विवाह प्रथा प्रचलित है,– बहु-पत्नी विवाह या एक से अधिक पत्नियां रखने की घटनाओं में कमी आई है। भारत में हिन्दू विवाह अधिनियम में बहुपत्नी और बहुपति विवाहों दोनों पर रोक लगा दी है। पाकिस्तान जैसे मुस्लिम देश में भी एक ऐसा कानून लागू किया गया था जिसमें काज़ी के लिए यह अनिवार्य था कि वह बहु-विवाह तभी कराए जब पहली पत्नी ने अपनी लिखित सहमति दे दी हो। एकल विवाह की प्रवृत्ति को रोमानी और प्रेम विवाह के आदर्श से बढ़ावा मिला है, जिसमें एक व्यक्ति विशेष को आदर्श साथी समझा जाता है।

तथापि यह मानना शायद गलत हो कि एक विवाह की यह प्रवृत्ति अटूट एकल विवाह (Straight Monogamy) की है। आधुनिक समाज की परिस्थितियों ने विवाह को अस्थिर बना दिया है और विवाह बंधन को तोड़ा जा सकता है और आज व्यक्ति खुशी पाने के लिए एक से अधिक विवाह करने का खतरा मोल लेने को तैयार है। माता-पिता और मित्रगण की भी इसमें सहानुभूति होती है, अतः नये युग में अनेक समाज अटूट एकल विवाह को बनाए रखने की अपेक्षा क्रमिक एकल विवाह (Serial Monogamy) की प्रवृत्ति अपना रहे हैं। इसमें एक विवाह के टूटने के बाद दूसरा विवाह संभव होता है।

6.5.2 जीवन साथी के चयन में परिवर्तन

भारत जैसे परम्परागत देशों में जहां जीवन साथी के चुनाव का अधिकार पूर्ण रूप से माता-पिता और अग्रज का ही होता है वहां भी परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। युवक और युवतियों की राय को भी जीवन साथी के चुनाव में काफी अधिक महत्व दिया जाने लगा है। ऐसी स्थिति से, जिसमें उनसे इस विषय में कोई राय नहीं ली जाती थी कि उनका किससे विवाह होने वाला है; अब यह स्थिति आ गई है जिसमें लड़की/लड़के से राय ली जाती है और उनकी सहमति प्राप्त की जाती है। शहरी मध्यम वर्ग के परिवारों में पुत्र और पुत्रियों को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वे दूसरों द्वारा लाए गए विवाह प्रस्तावों से इंकार कर दें। अधिक उन्नत और जागरूक शहरी परिवारों में माता-पिता अपने बच्चों को संभावित साथी से परिचित होने के अवसर भी देने लगे हैं।

भारत के शहरी वर्गों में समाचार पत्रों में विज्ञापन द्वारा जीवन साथी के चयन की प्रथा काफी अधिक लोकप्रिय हो गई है और इस दिशा में नवीनतम परिवर्तन यह हुआ है कि परस्पर अनुकूल साथियों को मिलाने का काम कम्प्यूटरों से लिया जाने लगा है।

6.5.3 विवाह के समय आयु में परिवर्तन

भारत में पिछली कुछ सदियों से बाल विवाह की प्रथा प्रचलित थी और इसे प्राथमिकता और प्रोत्साहन दिया जाता था। बाद में समाज सुधारकों ने इस प्रथा को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयास किए। तद्नुसार बाल विवाह अवरोध अधिनियम जो शारदा एक्ट के नाम से लोकप्रिय है, 1929 में पारित किया गया। इस कानून के तथा आधुनिक औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के प्रभाव के बावजूद विशेष रूप से ग्रामीण लोगों में कम आयु पर विवाह किए जाते रहे। शहरी क्षेत्रों में भी लड़की का शीघ्रताशीघ्र विवाह करने का अत्यधिक प्रचलन था।

किंतु स्कूलों और कालिजों में लड़कियों की बढ़ती हुई संख्या और नौकरी करने की उनकी इच्छा के साथ-साथ अधिकांश लड़कों की जीवन में देर से व्यवस्थित होने की समस्या के कारण विवाह की आयु बढ़ी है। सरकार ने अपनी जनसंख्या नीति के एक मुद्दे के रूप में अब विवाह की कम से कम आयु लड़कियों के लिए 18 वर्ष और लड़कों के लिए 21 वर्ष निर्धारित की है। सामान्यतः नगरों में विवाह अब इस निर्धारित आयु से काफी अधिक आयु में किए जा रहे हैं।

6.5.4 विवाह के रीति-रिवाजों में परिवर्तन

भारत में सामाजिक परिवर्तन ने अजीबोगरीब स्थिति पैदा कर दी है। औद्योगिकी और विज्ञान के अत्यधिक प्रभाव के कारण यह आशा की जाती थी कि एक धर्मनिरपेक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होगा और परिणामस्वरूप गैर-जरूरी रीति-रिवाजों को छोड़ दिया जाएगा। सभी समाजों में धर्म और समाज-सुधारकों ने हमेशा इस बात का आग्रह किया है कि निरर्थक रीति-रिवाजों पर व्यर्थ खर्च न किया जाए। किन्तु यह देखने में आया है कि जागरूक व्यक्तियों की आशा के विपरीत जहां तक रीति-रिवाजों का संबंध है भारत में विवाह आदि और अधिक पारम्परिक हो गए हैं। आजकल बहुत से ऐसे रीति-रिवाज फिर से शुरू हो गए हैं जो स्वतंत्रता के बाद समाप्त हो गए प्रतीत होते थे। किसी सीमा तक यह रीति-रिवाज धनी परिवारों ने ही शुरू किए हैं। समाज में बहुत से व्यक्तियों के पास इतना धन होता है कि वे शादी-विवाह के मौके पर बहुत फिजूल खर्ची करते हैं और जो लोग इतने धनी नहीं हैं वे भी उनकी नकल करने की कोशिश करते हैं।

6.5.5 विवाह के लक्ष्यों में परिवर्तन और वैवाहिक स्थिरता

पहले यह समझा जाता था कि परंपरागत समाजों में विवाह का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य पुनर्जनन है। सभी समाजों में कई बच्चे होने से माता-पिता को उच्च स्थान मिलता था और हिंदुओं में विशेष रूप से पुत्रों की कामना की जाती थी। इस प्रकार से बड़ा परिवार रखना विवाह का एक मुख्य लक्ष्य होता था और वर-वधू को शुभकामनाओं के साथ बहुत से बच्चे होने का आशीर्वाद दिया जाता था। किंतु आजकल के जीवन की परिस्थितियां कुछ ऐसी हैं कि बड़ा परिवार एक बोझ बन चुका है। वस्तुतः तीन या चार बच्चों वाले परिवार को भी अब पसन्द नहीं किया जाता है।

तृतीय विश्व के अनेक देश बढ़ती जनसंख्या की समस्या से घिरे हुए हैं इसलिए वे छोटे परिवार के प्रतिमान को प्रोत्साहन देने के लिए वचनबद्ध हैं। परिवार के आकार को सीमित रखना ही इनमें से अनेक देशों की घोषित सरकारी नीति है। भारत ऐसा पहला देश था जिसने सरकारी परिवार नियोजन कार्यक्रम को अपनाया। उन एशियाई और अफ्रीकी देशों में जहां लोकतांत्रिक सरकारें हैं शिक्षा द्वारा सशक्त प्रचार करके नागरिकों को सीमित पुनर्जनन के लाभों को समझने और स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। चीन ने भी जनसंख्या नियंत्रण का कठोर कार्यक्रम अपनाया है जिसके अन्तर्गत पुनर्जनन सीमित न रखने वाले युगलों के लिए हतोत्साही कार्यक्रम और दंड लागू किए गए हैं।

ये सभी प्रयास धीरे-धीरे भारत के लोगों और अन्य देशों के सांस्कृतिक मूल्यों को प्रभावित कर रहे हैं। इस वास्तविकता को समझा जा रहा है कि अधिक बच्चों की अपेक्षा, जिन्हें अच्छी तरह से खिलाया, पहनाया नहीं जा सकता या जिनकी देखभाल अच्छी तरह से नहीं की जा सकती, दो स्वस्थ बच्चे होना बेहतर है जिनकी देखभाल अच्छी तरह से की जा सकती है।

जैसे-जैसे पुनर्जनन और उसके साथ माता-पिता की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण होती जा रही है, पति-पत्नी के बीच साहचर्यता और बच्चों के लिए भावनात्मक सहारा देना विवाह के अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य बनते जा रहे हैं। वस्तुतः यदा लोग आज खुशी और आत्म-संतोष के लिए विवाह कर रहे हैं;

वैवाहिक अस्थिरता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों में भविष्य में कोई सुधार होने की बजाय उनके और अधिक खराब होने की संभावना है। विवाह से संबंधित हमारे दृष्टिकोण, मूल्यों और आदर्शों में भी परिवर्तन हो रहा है। ऐसी स्थिति में विवाह का भविष्य क्या है? सामाजिक जीवन के संबंध में कुछ पूर्वानुमान लगाना कठिन और जोखिमपूर्ण है। किंतु इस बात की कोई संभावना नजर नहीं आती कि व्यक्ति और सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में विवाह को कभी छोड़ा या त्याग दिया जाएगा। यदि पाश्चात्य देशों के अनुभव से कुछ सीखा जा सकता है तो कहना होगा कि यहां तलाक की बढ़ती हुई संख्या के बावजूद लोग विवाह करने से पीछे नहीं रहते हैं और व्यक्ति की विवाह में खुशी की तलाश जारी है।

बोध प्रश्न 3

नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।

1) विवाह के रूपों में परिवर्तन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें। अपना उत्तर केवल छः पंक्तियों में दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 विवाह के लक्ष्य और स्थिरता में किस प्रकार परिवर्तन आ रहा है इसका वर्णन करें। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दें।

.....

.....

.....

.....

.....

6.6 सारांश

इस इकाई में विवाह से संबंधित विभिन्न प्रथाओं पर चर्चा की गयी। हमने इस इकाई में आरंभ में विवाह संस्था और विवाह के प्रकार पर विचार किया है। इनसे विवाह प्रथाओं और उसकी कार्यविधि के व्यापक आकार का पता चलता है। बहुत से समाजों में विवाह के लिए पसंद का दायरा बहुत ही सीमित होता है जबकि अन्य समाजों में काफी स्वतंत्रता मिलती है। अंत में हमने यह चर्चा की है कि संस्था के रूप में विवाह में कैसे परिवर्तन होते रहे हैं। इससे पता चलता है कि विवाह एक ऐसी गतिशील संस्था है जिसमें हमेशा परिवर्तन होते रहे हैं।

शब्दावली

स्वजातीय विवाह : जहां विवाह हमेशा किसी जाति, वर्ग या जनजातीय समूह विशेष के अंदर ही किया जाता है।

गोत्र से बाहर विवाह : जब विवाह हमेशा संबंधियों के समूह विशेष से बाहर किए जाएं।

एकल विवाह प्रथा : जब विवाह में केवल एक पति और एक पत्नी ही हों।

बहु-पति प्रथा : जब एक स्त्री के एक से अधिक पुरुषों से विवाह हों।

बहुविवाह प्रथा : जब विवाह में स्त्री या पुरुष दोनों को एक से अधिक जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता हो।

बहु-पत्नी प्रथा : जब एक से अधिक स्त्रियों का विवाह एक पुरुष से हो।

उपयोगी पुस्तकें

गोरे, एम.एस. 1965. दी ट्रेडीशनल इंडियन फैमिली. एम.एफ. निमकॉफ (संपादित) *कम्पैरेटिव फैमिली सिस्टम्* में हाटन-मिफलिन: बोस्टन

कपाड़िया के.एम. 1966 *मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया.* (भारत में विवाह और परिवार) आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रैसः मुबंई

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) एकल विवाह प्रथा में एक समय में एक पति और एक पत्नी होती है। बहु-विवाह में एक समय में एक से अधिक पति या पत्नी होते हैं। बहु-विवाह के दो उप-प्रकार होते हैं — बहुपति प्रथा और बहुपत्नि प्रथा

2) सजातीय विवाह में यह जरूरी होता है कि एक व्यक्ति अपने एक समान वर्ग में, जैसे जाति में, ही करे। उसे अपनी जाति से बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं है। गोत्र से बाहर विवाह में व्यक्ति अपने गोत्र या गोत्र जैसे वर्ग से बाहर ही विवाह कर सकता है। गोत्र एक ऐसा विशेष वर्ग होता है जिसमें उस व्यक्ति को विवाह नहीं करना चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1) अधिमान्य विवाह से तात्पर्य उस विवाह से है जिसमें यह बताया जाता है कि किससे विवाह किया जाना चाहिए। ऐसे विवाहों का दक्षिण भारत में (ममेरे-फुफेरे भाई-बहन के बीच) आम प्रचलन है और मुसलमानों में (चचेरे-मौसेरे भाई-बहन के बीच) भी विवाह करने का आम प्रचलन है।

2) जनजातियों के बीच साथी का चयन कई प्रकार से किया जाता है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित तरीके आ जाते हैं–

1) वधू को खरीद कर विवाह करना,
2) युवा आवासशालाएं,
3) वधू को बलपूर्वक हासिल करके चयन करना,
4) वर के साहस की परीक्षा करके चयन करना।

बोध प्रश्न 3

1) विवाह के रूपों में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे समाज जिनमें बहुविवाह की परंपरा रही है वे भी एकल विवाह प्रथा की ओर आकर्षित हो रहे हैं। इस प्रकार विवाह की दृष्टि से स्त्री की स्थिति में सुधार हुआ है। किंतु पति-पत्नी दोनों में से किसी के लिए भी पुनर्विवाह अब स्वीकार्य है। अतः अब क्रमिक एकल विवाह प्रथा को मान्यता मिल रही है।

2) प्राचीनकाल में विवाह का मुक्त उद्देश्य पुनर्जनन द्वारा बड़ा परिवार बनाना था। आजकल विवाह का उद्देश्य है छोटा पर सुखी परिवार। आजकल युवक-युवतियां खुशी हासिल करने के लिए विवाह करते हैं इससे विवाह से बहुत अधिक उम्मीदें बंध जाती हैं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी विवाह की स्थिरता पर प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ता है।

इकाई 7 नातेदारी

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 नातेदारी का महत्व

7.3 नातेदारी के मूल तत्व

- 7.3.1 वंशक्रम (descent) के प्रकार
- 7.3.2 वंशक्रम समूहों के विभिन्न प्रकार्य
- 7.3.3 विरासत के नियम
- 7.3.4 आवासीय नियम
- 7.3.5 पितृसत्ता तंत्र (patriarchy) तथा मातृसत्ता तंत्र (matriarchy)

7.4 वंशक्रम पद्धति पर अधिक जानकारी

- 7.4.1 पितृवंश परंपराक्रम (patrilineal descent)
- 7.4.2 मातृवंश परंपराक्रम (matrilineal descent)
- 7.4.3 केरल की नायर जाति–एक उदाहरण
- 7.4.4 मातृवंश परंपरा पालन करने वाले अन्य समाज

7.5 भारत में नातेदारी

7.6 सारांश

शब्दावली

उपयोगी पुस्तकें

बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- नातेदारी का महत्व जानना;
- नातेदारी की मूल अवधारणाओं की व्याख्या करना;
- वंशक्रम (descent) के सिद्धान्तों की परिभाषा करना;
- संपत्ति की विरासत के नियम बताना;
- विवाहोपरांत आवासीय नियम को वंशक्रम से जोड़ना;
- भारत में नातेदारी की प्रणालियों को समझना।

7.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में नातेदारी के विभिन्न पक्षों की चर्चा की गई है। सामाजिक जीवन में नातेदारी की उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। नातेदारी की संकल्पना की परिभाषा दी गई है, जिसके अंतर्गत वंशक्रम की अवधारणा, उत्तराधिकार में मिलने वाली संपत्ति की विरासत तथा विवाहोपरांत आवासीय नियमों की चर्चा की गई है। वंशक्रम व्यवस्था पर विस्तार से बताते हुए पितृ वंशपरंपरा

(patrilineal) तथा मातृ वंशपरंपरा (matrilineal) का वर्णन किया गया है। अंत में भारत में नातेदारी के स्वरूप की विवेचना की गई है। इस प्रकार यह इकाई नातेदारी के विषय में पूरी जानकारी देती है।

7.2 नातेदारी का महत्व

नातेदारी से तात्पर्य व्यक्तियों के उन समूहों से है जो या तो समरक्तता के कारण या विवाह संबंधों के कारण आपस में जुड़े हैं। जो संबंध समरक्तता से बनते है उन्हें सहोदरज (consanguine) कहते हैं तथा जो विवाह से बनते हैं उन्हें रिश्तेदारी (affinity) कहते हैं। प्रायः जन्म तथा लालन-पालन से जुड़े नातों को एक प्राकृतिक प्रक्रिया मान लिया जाता है। हमे यही उचित और स्वाभाविक लगता है कि समीपस्थ नाते-रिश्ते में आपस में विवाह न हों और यौन-संबंध न पैदा हों। हमारा विश्वास है कि इस नियम के विपरीत व्यवहार करने के परिणाम अवश्य विनाशकारी होंगे। इसी प्रकार हमें यह भी स्वाभाविक लगता है कि श्रेणी विशेष के लोगों के बीच विवाह संबंध स्थापित किए जाएं, जबकि कुछ अन्य समाजों में वही विवाह-संबंध अमान्य हो सकते हैं।

विभिन्न नाते-रिश्ते वालों के बीच होने वाले व्यवहार के बारे में भी हमने स्पष्ट मानदंड रखे हैं, जैसे एक दूसरे के पति आदर, जान-पहचान, निरपेक्षता, दयाभाव, स्नेहभाव व सुरक्षा भाव आदि। नाते-रिश्तो में प्रस्थिति (status) के अनुसार ही एक दूसरे के प्रति यथोचित व्यवहार चलता रहता है व हम उसे स्वभावतः ही स्वीकार कर लेते हैं। इसमें प्रश्नचिन्ह केवल तभी लगते हैं जब हम अन्य समाज के लोगों के संपर्क में आकर इन्हीं संबंधों के दूसरे रूप भी देखते हैं। प्रारंभ में ये रूप अमानवीय या घिनौनी, बेतुकी या अनोखी, जंगली या अजीब भी लग सकते हैं। नृशास्त्रियों (anthropologists) ने बहुत समय व मेहनत यह मालूम करने में ही लगाया कि मानव समाज के विकास में नातेदारी की व्यवस्था कैसे पनपी और बढ़ी। उन्होंने विभिन्न समाजों में पाई जाने वाली नातेदारी संबंधी विविधताओं का अध्ययन किया।

पहली बार देखने में हमें अन्य समाजों में पाए जाने वाले नातेदारी के रूप बड़े आश्चर्यजनक भले ही लगें, परंतु, गहरायी से समझने पर मालूम होता है कि नातेदारी के संबंध बड़ी महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाते हैं और इनसे समाज की एकता बनाये रखने में बहुत मदद मिलती है। समाज के सामान्य कार्य-कलापों में व्यवधान पैदा करने वाली तनाव की स्थितियों के समाधान नातेदारी के संबंधों के आधार पर खोज लिए जाते हैं। यों, यह निष्कर्ष निकालना भी सही नहीं है कि नातेदारी के सभी नियम या तरीके सदा ही सभी सदस्यों के लिए अनुकूल होते हैं। जैसे–सती-प्रथा, स्त्री शिशु की गर्भ में ही हत्या, बाल-विवाह, विधवा-विक्रय आदि को किसी भी कसौटी पर न्यायसंगत नहीं माना जा सकता है। किंतु, इस इकाई के संदर्भ में हम केवल यह जानने की कोशिश करेंगे कि नातेदारी के विभिन्न रूप उन समाजों में प्रचलित मूल्यों तथा मानदण्डों से कैसे जुड़े हैं तथा उन्हें कैसे प्रभावित करते हैं।

7.3 नातेदारी के मूल तत्व

यह पहले ही बताया जा चुका है कि नातेदारी संबंध वास्तव में जैविक संबंधों की सांस्कृतिक व्याख्या की उपज हैं। हमने यह भी कहा है कि कैसे विभिन्न प्रकार से समाजशास्त्रियों ने नातेदारी व्यवस्था को देखा है। इसी संदर्भ में हमने नातेदारी की संकल्पना व शब्दावली भी परोक्ष रूप से बताई थी। अब इन्हीं विषयों को विस्तार से प्रस्तुत किया जा रहा है। आपको इन तकनीकी शब्दों को रटने की आवश्यकता नहीं है अपितु अच्छा हो यदि आप इन शब्दों में निहित नियमों व उनकी मूल विशेषताओं को समझ लें। आइए, सबसे पहले नातेदारी की महत्वपूर्ण अवधारणा वंशक्रम के बारे में जानें।

7.3.1 वंशक्रम (descent) के प्रकार

वंशक्रम वह सिद्धांत है जिसके आधार पर संतान अपने माता या पिता या दोनों के वंश की मानी जाती है। इस सिद्धांत के तीन मुख्य प्रकार हैं, जो नीचे दिये जा रहे हैं।

1)कुछ समाजों में पदवी, उपजाति के नाम का छाड़कर, जा प्रायः पिता से प्राप्त किये जाते हैं, संतान को माता तथा पिता दोनों के वंशों का माना जाता है । यह द्विपक्षीय वंशक्रम (bilateral or cognatic descent)का प्रकार कहलाता है। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में कई वंशक्रमों से जुड़ा होता है जैसे–अपने माता तथा पिता के वंशक्रमों से, माता के माता तथा पिता और पिता के माता तथा पिता के वंशक्रमों से, फिर नाना-नानी के माता और पिता तथा बाबा-दादी के माता और पिता के वंशक्रम से। इस तरह, कई समाजों में तो चार या पांच पीढ़ी तक के संबंधों को लोग मुंह जबानी गिना देते हैं।

जिन समाजों में समीपस्थ संबंधों के सीमित दायरे में विवाह किए जाते हैं, वहां एक व्यक्ति की सदस्यता एकल वंश परंपराक्रम (unilineal descent)में न होकर अन्य वंशों में भी होती है और तब उस व्यक्ति के लिए विवाद या झगड़े की स्थिति में अपनी वफादारी किसी एक वंश विशेष में रखने में परेशानी होती है। कुछ द्विपक्षीय वंशक्रम (bilateral or cognatic descent) मानने वाले समाजों में व्यक्ति को कई सहोदरज समूहों (cognatic groups)की वंश परंपरा (lineage) का सदस्य बनने का अधिकार होता है । परंतु इस तरह का अधिकार व्यक्ति को तभी मिलता है जब वह उस समूह विशेष की क्षेत्रीय सीमा में रहता हो। आजकल कई देशों में राष्ट्रीयता भी आवास के आधार पर मिलने लगी है।

2)दूसरी ओर कुछ समाजों में, जैसे हमारे समाज में भी, केवल एकल वंशपरंपरा वाले वंशक्रम (unilineal descent)को माना जाता है। इसमें केवल एक पक्ष के वंशक्रम को स्वीकार करते हैं अर्थात् संतान या तो माता की वंशपरंपरा की कहलाती है या फिर केवल पिता की वंशपरंपरा में गिनी जाती है। माता के वंश से वंशक्रम मानने वाले प्रकार को मातृ वंशपरंपरा (matrilineal) कहा जाता है जो एकल वंशपरंपरा क्रम का उप प्रकार है। दूसरा उपप्रकार है पितृ वंशपरंपरा (patrilineal)जिसमें पिता के वंश से संतान की वंशजता मानी जाती है।

पितृ परंपरा मानने वाले समाजों में समझा जाता है कि संतानोत्पति की प्रक्रिया में मुख्य भूमिका पिता की होती है और मां की भूमिका तो केवल गर्भ धारण करने मात्र की है। दूसरी ओर, मातृवंश परंपरा मानने वाले समाजों में इस प्रक्रिया में पिता की भूमिका व दायित्व को नहीं के बराबर समझा जाता है।

3)वंशक्रम का तीसरा प्रकार है **द्विपक्षीय एकल वंशपरंपराक्रम** (double unilineal descent)। कुछ समाजों में संतान माता व पिता दोनों की वंश परंपरा से भिन्न-भिन्न संदर्भा में जुड़ी होती है। किन्हीं प्रयोजनों के लिए संतान पितृ वंशपरंपरा से जुड़ी है जैसे संपत्ति की विरासत के लिए दूसरी ओर, धार्मिक अनुष्ठानों व उत्सवों में भूमिका निभाने के लिए वही व्यक्ति मातृ वंशपरंपरा का भाग माना जाता है। कहीं-कहीं अचल संपत्ति की विरासत पितृ वंशपरंपरा के आधार पर तथा चल संपत्ति की विरासत मातृ वंशपरंपरा के आधार पर एक ही व्यक्ति को मिलती है। ये स्थितियां द्विपक्षीय एकल वंशपरंपरा को दिखाती हैं जो वंशक्रम के पहले प्रकार अर्थात् द्विपक्षीय वंशक्रम (bilateral or cognatic desecent) से भिन्न है (इन दोनों शब्दों में भ्रम नहीं करना चाहिए) ।

द्विपक्षीय एकल वंश परंपरा क्रम (double unilineal descent) की तुलना में एकलवंश परंपरा क्रम (unilineal descent)मानने वाले समाजों में व्यक्ति को एक निश्चित अस्मिता मिलती है। यों कहें कि जन्म लेने से पहले ही व मृत्यु होने के बाद तक भी वह एक सामाजिक समूह विशेष (पितृ वंशपरंपरा या मातृ वंशपरंपरा) से जुड़ा रहता है। इन वंशक्रम के सदस्यों में समान अस्मिता की दृढ़ भावना पाई जाती है और वे एक दूसरे के प्रति भाई-चारे का व्यवहार करते हैं। चाहे उनके बीच वास्तविक वंशावली का (genealogical)नाता-रिश्ता न भी हो, व परस्पर एकता के सूत्र में जुड़े होते हैं।

ये वंशक्रम समूह, आवश्यक तो नहीं परंतु प्रायः ही, बहिर्गोत्रीय या बहिर्विवाही होते हैं अर्थात् विवाह वंशक्रम समूह (descent group)के बाहर वालों से ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ परंपरागत चीनी समाज को लें जो करीब सौ उपनामों (surnames) में बंटा था। इन्हें कुल या गोत्र भी कहा जा सकता था, जिनके सदस्यों के बीच विवाह करने की एकदम मनाही थी। ये समूह वंशपरंपराओं (lineages), उप वंशपरंपराओं (sub-lineages) तथा पारिवारिक इकाइयों में बंटे थे। इनके सदस्य पिछले कई सौ सालों तक के अपने वंश के पूर्वजों व उनकी उप वंशपरंपराओं परिवारों की आराम से

गिनती कर देते हैं। कभी-कभी तो पूरा का पूरा गांव ही एक कुल के सदस्यों से बना होता था भारतीय जातिगत समाज में भी गोत्र बहिर्विवाह की प्रथा वंशक्रम के इसी सिद्धांत पर आधारित है यहां भी चीनी समाज की तरह कुल और उप कुलपरंपराओं का श्रेणीकरण किया जाता है।

7.3.2 वंशक्रम समूहों के विभिन्न पक्ष प्रकार्य

बहिर्विवाह के पक्ष के अतिरिक्त वंशक्रम समूहों में अन्य विशेषताएं भी हैं। उनके सदस्य प्रायः धार्मिक अनुष्ठानों और उत्सवों में वंश या कुल के देवता, पूर्वजों एवं कुल चिन्हों (totem) की पूजा इकट्ठे होकर करते हैं। वंशक्रम समूहों में सत्ताधिकार का संगठन भी निहित होता है और शक्ति प्रायः वरिष्ठ पुरुषों के हाथों में रहती है। इस व्यवस्था में संयुक्त सम्पत्ति पर नियंत्रण का अधिकार भी जुड़ा होता है। व्यक्ति विशेष के आर्थिक अधिकार और उत्तरदायित्व वंश में उसके स्थान से परिभाषित होते हैं। अनेक समाजों में एकल वंशीय परंपरा समूह (unilineal descent group) ही न्यायिक इकाई भी होते हैं जो अपने झगड़े वंशक्रम के दायरे में ही निबटा लेते हैं। झगड़े की स्थिति में वंशक्रम समूह के सदस्य एकत्रित होकर अन्य वंशक्रम समूहों का सामना करते हैं। वंशपरंपरा की इस तरह की संरचना ऐसे समाजों में अधिक प्रचलित है जहां केन्द्रीय राजतंत्र व्यवस्था न हो। जब एक वंश परंपरा एक ही आवास-क्षेत्र में अनिश्चित सीमा तक नहीं फैल सकती है तब वह छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाती है। इस तरह उनकी आर्थिक एवं अन्य व्यवस्थाओं की दृष्टि से उनका अस्तित्व सरलतापूर्वक कायम रहता है।

भारतीय गांवों में पाई जाने वाली भूमि के बंटवारे की प्रक्रिया से हम सभी परिचित हैं। ऐसी शहरी बस्तियों के बारे में भी आप सबको मालूम होगा जहां आबादी का भाग विशेष एक वंशक्रम के पूर्वजों द्वारा बसाया गया होता है। कालांतर में बड़ी-बड़ी हवेलियां भाइयों तथा सौतेले भाइयों में बंट जाती हैं और बंटी हुई हवेलियां आगे आने वाले वंशजों में फिर से बंटती हैं। यदि वंश परंपरा की समाप्ति होती है तो सारी सम्पत्ति फिर से मूलवंशक्रम समूह में मिला दी जाती है।

एकल वंशपरंपरा (unilineal descent group) द्वारा जितने सामाजिक प्रकार्य पूरे होते हैं उन्हें देखते हुए अचरज की बात नहीं कि नातेदारी का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने एकल वंशपरंपराक्रम के सिद्धांत पर बहुत काम किया है। परंतु ये विद्वान भी इस बात को मानते हैं कि एकल वंशपरंपरा क्रम ही नातेदारी का एकमात्र मुख्य विषय नहीं है। अन्य पक्षों का अध्ययन भी आवश्यक है। उदाहरणतः प्राचीन रोम की एक परंपरा के अनुसार स्त्री विवाह के बाद अपने जन्म स्थान से पूरा संबंध तोड़ देती थी—इस स्थिति में स्त्री की प्रस्थिति की दृष्टि से किया गया—वंशक्रम का अध्ययन विशेष विषय हो सकता है। कई दास-प्रथा वाले समाजों में दास का अपना कोई परिवार ही नहीं होता था ऐसी स्थिति में विवाह व नातेदारी का रूप क्या होगा—यह भी अध्ययनीय है। पितृवंश परंपरा मानने वाले कई समाजों में मां के माता-पिता, बहन और विशेषतः मां के भाई अर्थात् मामा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस महत्व को सम्पूरक वंशत्व (complementary filiation) के सिद्धांत से समझाया गया है। इसके आधार पर पितृवंश परंपरा वाले समाजों में पाई जाने वाली मां के परिवार की (विशेषतः मामा की अपने भांजे-भांजी के प्रति) भूमिका की व्याख्या की जाती है। इससे यह भी साफ मालूम होता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी समाजों में संतान के संदर्भ में माता तथा पिता दोनों की वंशपरंपराओं का महत्व होता है, भले ही वंशक्रम किसी भी प्रकार का क्यों न हो।

7.3.3 विरासत के नियम

अधिकांश समाजों में वंशक्रम के सिद्धांतों के अनुसार ही विरासत के नियम भी बनाये जाते हैं। परंतु सारे समाजों में ये नियम एक ही प्रकार से वंशक्रम से जोड़े जायें—यह आवश्यक नहीं। कई समूहों में कई प्रकार की संपत्ति माता से पुत्री को मिलती है। परंपरानुसार भारत के अधिकांश भागों में अचल संपत्ति जैसे भूमि व मकान केवल पुत्रों को ही प्राप्त होता था। पुत्रों के न होने पर, अपवादजनक परिस्थितियों को छोड़कर, ऐसी संपत्ति सदा पिता के समीपी पुरुष संबंधियों को ही मिलती थी। दूसरी ओर, चल-संपत्ति, जैसे रुपया तथा आभूषण, विवाह के समय पुत्री को दी जाती रही हैं। अवश्य, कुछ आभूषण मात्र द्वारा पुत्रवधू को भी दिये जाते हैं।

चल-अचल संपत्ति के अतिरिक्त, कहीं-कहीं, विशेष अधिकार तथा दायित्व, गुप्त मंत्र, दस्तकारी, विशिष्ट कला-कौशल आदि भी नातेदारी के अनुसार वंश की भावी पीढ़ी को उत्तराधिकार में मिलते हैं। यहां तक कि कुछ समाजों में मुखियापद अथवा राजा का पद व अन्य सामाजिक अधिकार भी नातेदारी व्यवस्था के आधार पर ही निर्धारित होते हैं। ऐसी स्थितियों में ऐसे व्यक्ति विशेष की प्रस्थिति अर्जित (achieved) होने के स्थान पर जन्मजात (ascribed) प्रकार की ही कहलाएगी। यह भी माना जाता रहा है कि अधिकांश सरल समाजों (simple societies) में जन्मजात प्रस्थिति (ascribed status) की प्रधानता होती है जबकि आधुनिक औद्योगिक समाजों में अर्जित प्रस्थिति (achieved status) की महत्ता बढ़ गई है। फिर भी कई समाजशास्त्रियों द्वारा इस बात पर भी जोर दिया गया है कि आधुनिक समाज में भी नातेदारी का महत्व कम नहीं है जैसे, आधुनिक भारत में, राजनीति के क्षेत्र में सफल महिलाएं प्रायः प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों की पुत्री, पत्नी या बहन हैं। उदाहरण के लिए नेहरू परिवार को लिया जा सकता है।

7.3.4 आवासीय नियम

नातेदारी पद्धति में विवाह के पश्चात् आवास के नियम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आवासीय नियम नाते-रिश्तों के आपसी संबंधों के रूप पर बहुत प्रभाव डालते हैं। यदि पति-पत्नी अलग घर बसाते हैं (जैसा कि आधुनिक पाश्चात्य-सभ्यता से प्रभावित समाज में प्रायः होता है) तो उस आवास व्यवस्था को नवस्थानीय (neolocal) कहा जाता है। जहां पत्नी अपने पति के साथ पति के माता-पिता के घर में रहती है तो वह आवास पितृ स्थानीय (patrilocal) अथवा पतिपितृ स्थानीय (patrivirilocal) कहलाता है। जहां पति पत्नी के साथ रहने जाता है तो वह आवास मातृस्थानीय (matrilocal) अथवा पतिमातृस्थानीय कहलाता है। आवास के नियम वंशक्रम के नियमों से मेल रखते हो, यह आवश्यक नहीं। साधारणतः पितृवंश परंपरा (patrilineal) वाले समाजों में प्रायः नवस्थानीय (neolocal) और पति पितृस्थानीय (patrivirilocal) आवास व्यवस्था पाई जाती है। दूसरी ओर, मातृवंश परंपरा (matrilineal) वाले समाजों में ऊपर बताये गये तीनों आवास नियमों में से किसी का भी पालन हो सकता है। मातृवंश परंपरा वाले समाजों में कहीं-कहीं एक और प्रकार का आवास मिलता है जिसमें मां के भाई के साथ आवास-व्यवस्था पाई जाती है। इसे मातुल-स्थानीय (avuncular) आवास कहा जाता है।

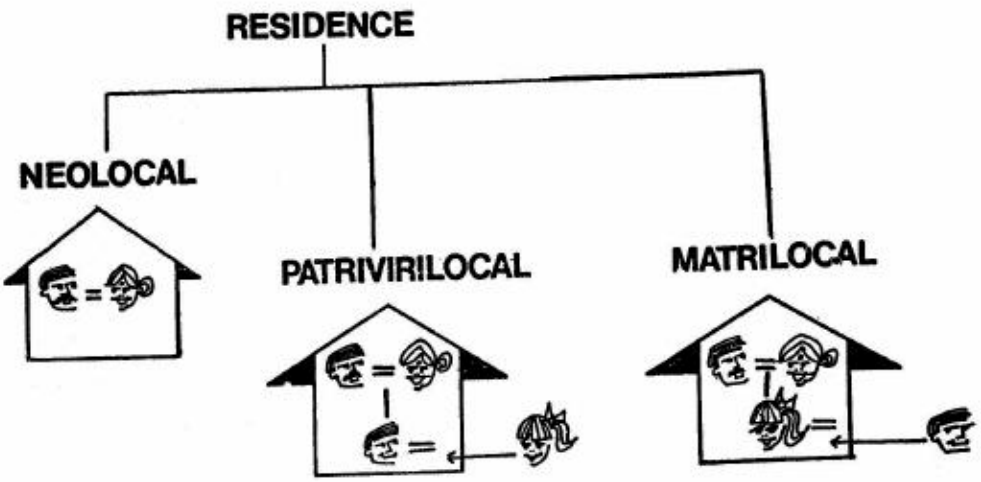

आवास नियम

7.3.5 पितृसत्ता तंत्र (patriarchy) तथा मातृसत्ता तंत्र (matriarchy)

कुछ विशेष लक्षणों के होने पर उस समाज को पितृसत्ता तंत्र (patriarchy) कहा जाता है जिसमें ये लक्षण मिलें।

i) पितृवंश परंपरा क्रम (patrilineal descent)

ii) संपत्ति की विरासत पिता से पुत्र को मिले,

iii) विवाहोपरात आवास पितृस्थानीय (patrilocal) हो,

iv) प्रभुता (authority) वंश के वरिष्ठ पुरुषों के हाथों में सीमित हो।

परंतु अभी तक धरती पर कोई ऐसा समाज नहीं मिला है जिसमें ऊपर दी गई विशिष्टताओं के एकदम विपरीत वाली व्यवस्था हो। अर्थात् कहीं भी मातृसत्ता तंत्र नहीं पाया जाता है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पितृसत्ता तंत्र (patriarchy) और पितृवंश परंपरा क्रम (patrilineal descent) को एक ही शब्द या अवधारणा नहीं समझना चाहिए। पितृसत्ता तंत्र से तात्पर्य उस सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था से है जिसमें पिता या वंश के वरिष्ठ पुरुष का स्थान प्रमुख होता है व उसकी प्रभुता एकछत्र होती है। ऐसी व्यवस्था में पितृवंश परंपरा क्रम पूरी व्यवस्था का एक अंश होता है। उसी तरह मातृसत्ता तंत्र (matriarchy) को व मातृवंश परंपरा क्रम (matrilineal descent) को एक नहीं समझना चाहिए। मातृसत्ता तंत्र में ऐसा समझा जाता है कि समाज में माता की या वंश की वरिष्ठ महिला की प्रभुता होती है तथा उस समाज की राजनीतिक सामाजिक व्यवस्था मातृसत्ता पर आधारित होती है। ऊपर कहा गया है कि आज तक इस प्रकार के समाज के अस्तित्व का कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मिला है। दूसरी ओर मातृवंश परंपरा क्रम (matrilineal descent) मानने वाले कई समाज कई देशों में आज भी पाए जाते हैं। अधिकांश मातृवंश परंपरा मानने वाले व मातृस्थानीय आवास नियम पालन करने वाले समाजों में भी संपत्ति की देख-रेख का काम पुरुषों के द्वारा ही किया जाता है। वे ही संपत्ति का नियंत्रण करते हैं। इस प्रणाली में प्रभुता भी पुरुषों के हाथ में होती है। इन समाजों को मातृ सत्ता तंत्र वाला नहीं कहा जा सकता है।

ऐसे समाजों के नृशास्त्रीय अध्ययनों से यह मालूम पड़ा है कि इन समाजों में पितृ वंशपरंपरा वाले समाजों की तुलना में स्त्री का स्थान काफी ऊंचा होता है और उन्हें सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में निर्णय लेने का अधिकार व्यापक रूप से मिलता है। कुछ नृशास्त्रियों का कहना है कि सरल तकनीकी वाले तथा न्यूनतम संपत्ति रखने वाले समाजों में स्त्री-पुरुषों के संबंध अधिक समानता के स्तर (egalitarian) वाले होते हैं। इन समाजों में औपचारिक रूप से चाहे पितृ वंशपरंपरा हो या मातृ वंशपरंपरा, स्त्री-पुरुषों में समानता का व्यवहार पाया जाता है। दूसरी ओर, कुछ समाजशास्त्री व नृशास्त्री कहते हैं कि प्रायः सभी मानव समाजों में सदा से ही महिलाओं और बच्चों की भूमिका पुरुषों की तुलना में गौण ही रही है। समाज चाहे पितृ वंशपरंपरा माानने वाला हो या मातृ वंशपरंपरा, उसमें पितृ सत्ता तंत्र के अंश प्रायः मिल जाते हैं। परंतु मातृ सत्ता तंत्र के कोई भी प्रमाण मानव समाज में नातेदारी के विकास के किसी भी चरण में नहीं मिले हैं अतः मातृ सत्ता तंत्र शब्द से सभी बचने का प्रयास करते हैं।

बोध प्रश्न 1

उत्तर के लिए नीचे दिए गये खाली स्थान का प्रयोग करें।

1) वंशक्रम के सिद्धांत की एक पंक्ति में परिभाषा दीजिए।

.....

2) वंशक्रम के कितने प्रकार हैं, संक्षेप में बताइए।

.....

.....

7.4 वंशक्रम पद्धति पर अधिक जानकारी

भारत में पाई जाने वाली पितृ वंशपरंपराक्रम पद्धति में भी काफी सीमा तक वही विशेषताएं पाई जाती हैं जो दुनिया के अन्य भागों में पितृ वंशपरंपरा मानने वाले समाजों में पाई गई हैं। संतानों में से लड़के जन्म से ही अपने वंशक्रम समूह के सदस्य तथा संयुक्त संपत्ति के सहभागी (co-parceners) बन जाते हैं। इसके विपरीत, लड़कियां अपने जन्म-स्थान वाले समूह की केवल अस्थायी सदस्या होती हैं। विवाह के समय वह अपने पति के वंशक्रम समूह में सम्मिलित हो जाती हैं तथा अंत में, मृत्योपरांत, अपने पुरुष वंशजों द्वारा पूर्वज की तरह पूजी जाती हैं। यह पहले ही कह दिया गया है कि ऐसे समाजों में आवास प्रायः पितृ-स्थानीय होता है।

वंशक्रम समूह के सदस्य धार्मिक अनुष्ठानों, जैसे देवी-देवताओं तथा पूर्वजों की पूजा, में भाग लेते हैं तथा वंशक्रम के परिवारों में मृत्यु होने पर छुआछूत के नियमों का पालन करते हैं। इनका संयुक्त संपत्ति पर वैयक्तिक अधिकार होता है। अचल संपत्ति जैसे भूमि तथा मकान की विरासत केवल पुरुषों को ही मिलती है। भारत में, स्वतंत्रता के बाद अनेक कानूनी परिवर्तन हुए हैं। उनके अनुसार अब लड़कियों को भी संयुक्त संपत्ति में लड़कों की तरह ही बराबर का अधिकार है। परंतु चूंकि यह अधिकार हाल में ही कानून द्वारा दिया गया है, इसका पालन अभी लोकव्यापी नहीं हुआ है। दूसरी ओर पुरुष वंशजों को अधिकार परंपरा से मिले हैं, और वे अभी भी कायम हैं।

जब नातेदारों में झगड़े होते हैं तो वंशक्रम के वरिष्ठ सदस्य उनका निदान करते हैं। वंशक्रम समूह से बाहर के व्यक्तियों से झगड़े सुलझाने के लिए बातचीत करने का अधिकार भी इन्हीं वरिष्ठ सदस्यों का होता है।

7.4.1 पितृ वंशपरंपराक्रम

यदि पितृसत्ता तंत्र (patriarchy) वाले समाज की विशेषताओं को ध्यान से देखा जाये तो मालूम होता है कि ऐसे समाजों में पितृ वंशपरंपरा क्रम, पितृ-स्थानीय आवास का नियम, पिता से पुत्र की पैतृक संपत्ति की विरासत, वरिष्ठ सदस्यों का वंशक्रम के सदस्यों पर तथा पुरुषों का स्त्रियों पर प्रभुत्व जैसी विशेषताएं पाई जाती हैं। अनेक सामाजिक आचार-विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे समाजों में स्त्री की एकमात्र सार्थकता उसके पत्नी व मां होने में ही मानी जाती है। अविवाहित रहना अथवा विधवा होना दुर्भाग्यपूर्ण तथा बुरा शकुन माना जाता है। लड़की अपने जन्म के घर में एक मेहमान की तरह ही मानी जाती है। विवाह के बाद वह ससुराल में बाहर से आई सदस्य मात्र होती है। स्त्री की दो परिवारों में दो तरह की प्रस्थितियों की इस परिवर्तनशील अवस्था की दुखभरी तथा मार्मिक स्थिति की चर्चा हमारे यहां के लोक-गीतों तथा लोक-कथाओं में वर्णित है। इनसे आप सभी परिचित ही हैं। दक्षिण भारत में पाए जाने वाले पितृ वंशपरंपराक्रम में पितृसत्ता तंत्र की सारी विशेषताएं नहीं मिलती हैं। वहां स्त्री का विवाह के बाद भी अपने जन्म-स्थान के सदस्यों से, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों रूपों में, महत्वपूर्ण संबंध बना रहता है। माता-पिता तथा भाइयों से तो संबंध रहता ही है, साथ में, संकट की अवस्था में स्त्री को अपने पिता/भाई के घर में रहने, खाने-पीने का पूरा अधिकार मिलता है।

कुछ पितृ वंशपरंपरा मानने वाले समाजों में मां के भाइयों का कुछ सामाजिक अनुष्ठानों व कार्य-कलापों में, विशेषतः भांजे व भांजी के संदर्भ में, महत्वपूर्ण योगदान होता है। साथ में भाई-बहनों के बीच होने वाले संवेदनशील तथा स्नेहमय संबंध का विस्तार बहन के बच्चों के साथ भी हो जाता है। पितृसत्ता तंत्र वाले समाजों में प्रायः स्त्री व उसके नातेदारों का महत्व नगण्य होता है। जबकि दक्षिण भारत में पाए जाने वाले समाजों में पितृवंश परंपरा होते हुए भी ऊपर चर्चित विशेषताएं स्त्री के अपेक्षाकृत ऊंचे स्थान तथा महत्व को दिखाती हैं। कुछ नृशास्त्रियों ने कहा है कि पुत्री के विवाह में पिता अपनी संपत्ति का एक हिस्सा लगा देता है, जिसे पिता की जायदाद में पुत्री के हिस्से की तरह माना जा सकता है। लेकिन कुछ अन्य नृशास्त्री इस बात पर जोर देते हैं कि दहेज को पैतृक विरासत नहीं माना जा सकता है। उसकी तुलना पुत्र को मिलने वाली विरासत से नहीं की जा सकती है क्योंकि दहेज में मिली संपत्ति पर प्रमुख स्वामित्व प्रायः लड़की के हाथ में न होकर उसके पति

तथा पति के परिवार के सदस्यों के हाथ में होता है। उनके अनुसार दहेज वास्तव में दूल्हे की कीमत चुकाने के बराबर है व जामाता के परिवार को विवाह तय करने के लिए दिया गया धन है।

7.4.2 मातृ वंशपरंपराक्रम

दक्षिण-पश्चम तथा उत्तर-पूर्वी भारत में मातृ वंशपरंपरा के अनेक परिचित उदाहरण मिलते हैं जिनकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। देखा जाए तो मातृ वंशपरंपरा वाले समाजों में पितृ वंशपरंपरा तथा पितृसत्ता तंत्र के एकदम विपरीत विशेषताएं नहीं मिलती हैं। इसका कारण यह है कि वंशक्रम चाहे पितृवंश में हो या मातृवंश में या दोनों वंशों में, प्रायः सभी समाजों में प्रभुता पुरुषों के हाथ में ही रहती है। अपवादस्वरूप केवल अतिसरल समाजों में ही स्त्री-पुरुष दोनों की समानाधिकार मिलते हैं। मातृ वंशपरंपरा के नियमों के अनुसार संपत्ति की विरासत मां से पुत्री को या मामा से भांजे को मिलती है तथा संपत्ति का संचालन प्रायः पुरुषों के हाथ में ही होता है।

मातृ वंशपरंपरा मानने वाले समाजों में विवाहोपरांत आवास की व्यवस्था समस्याजनक हो सकती है। ऐसे समाज में प्रायः पुरुष का अपने बच्चों पर भी नियंत्रण नहीं होता है। वे बच्चे उसकी पत्नी के वंशक्रम समूह के माने जाते हैं तथा बड़े होकर मां के भाई अर्थात् मामा के साथ रहते हैं। दूसरी तरफ यदि पुरुष को पत्नी तथा बच्चों के साथ रहना पड़े तो उसे अपनी बहन के बच्चों पर, बहन की संपत्ति पर प्रभुत्व जमाने में कठिनाई होगी। मातृवंश परंपरा में पति का बच्चों व पत्नी के साथ रहना कठिन होता है क्योंकि एक ही व्यक्ति एक साथ पिता तथा मामा की भूमिका नहीं निभा सकता है।

7.4.3 केरल की नायर जाति–एक उदाहरण

केरल प्रदेश में मातृ वंशपरंपरा मानने वाले समुदाय में मातृ वंशपरंपरा में निहित उलटबासियों (puzzles) का अनोखा हल पाया जाता है। उन्होंने एक तरह से पति-पत्नी के संबंधों को बलिवेदी पर चढ़ा कर मातृ वंशपरंपरा की एकता को अक्षुण्ण रखा है। पुरुष प्रायः एक विस्तृत मातृ वंशपरंपरा पालन करने वाले परिवार में बहनों, बहनों के बच्चों के साथ रहते हैं। इन परिवारों को "तारवाड' कहते हैं। वे अपनी पत्नियों के पास दूसरे "तारवाड" में केवल रात के समय जाते हैं। इस अर्थ में इस प्रथा को सामान्य बोलचाल की भाषा में "भेंट मुलाकाती पति प्रथा" (visiting husband system भी कहा जा सकता है।

नायर पुरुषों के बच्चे अपनी माता के साथ मां के "तारवाड" में रहते हैं। इस प्रथा में पति-पत्नी के संबंधों का महत्व नगण्य है व भाई-बहनों के संबंध बहुत शक्तिशाली हैं। यही नहीं बल्कि नायर स्त्री विधिवत् अनेक पतियों को "भेंट मुलाकात" के लिए आमंत्रित कर सकती है अर्थात् बहुपति विवाह का उनके यहां पालन होता है। केवल एक शर्त है कि दूसरा पुरुष पद और जाति में ऊंची प्रस्थिति का ही होना चाहिए, जैसे नायर या नंबूदिरी ब्राह्मण।

इसी प्रकार नायर पुरुष के भी कई पत्नियां हो सकती हैं। अर्थत् "बहुपत्नी प्रथा" भी इस समाज में पाई जाती है। नायर समाज में इस प्रकार विवाह-संबंधों के विविध रूपों की क्षीण दशा देखकर कई नृशास्त्रियों ने तो यहां तक कह दिया कि नायरों ने सिद्ध कर दिया है कि एकल परिवार कदाचित् मानव समाज के लिए लोकव्यापी संस्था नहीं है। यहां बता देना जरूरी है कि नायर समाज में आज यह परंपरागत रूप नहीं पाया जाता है और प्रायः सभी नायर समूह धीरे-धीरे अपने पड़ोसी समूहों की भांति हो गए हैं। इसलिए, अब इस शास्त्रीय चर्चा को यहीं छोड़ देना उचित है। हां! नायर समाज इस बात को समझने का अच्छा उदाहरण है कि मातृ वंशपरंपरा वाले समाजों में किस-किस तरह के उलझाव पैदा हो सकते हैं।

7.4.4 मातृ वंशपरपरा पालन करने वाले अन्य समाज

मातृ वंशपरंपरा मानने वाले कुछ अन्य समाज भी भारत में हैं जिनमें नातेदारी व्यवस्था नायर समाज से काफी भिन्न है। उदाहरण के लिए, असम के खासी समाज में वंशक्रम तथा विरासत के नियम मातृ वंशपरंपरा

परंपरा में माने जाते हैं और आवास भी मातृस्थानीय होता है। सबसे छोटी लड़की उत्तराधिकारिणी होती है तथा वह अपने पति व बच्चों के साथ मां के घर में रहती है। ज्येष्ठ पुत्री चाहे तो विवाह के बाद मां के घर से अलग अपना "नवस्थानीय" परिवार बसा सकती है। छोटी लड़की की अपेक्षा बड़ी लड़की के स्वयं बसाये गये स्वतंत्र परिवार में उसके पति को प्रभुता अधिक मिलती है।

अमम के गारो समाज में एक और भिन्न व्यवस्था है। वहां विवाह के बाद आवास तो मातृस्थानीय ही होता है, परंतु पुत्री का पति घर का मुखिया तथा प्रबंधकर्ता होता है। गारो समाज में ममेरे-फुफेरे बच्चों के बीच विवाह को अधिमान्यता देने का नियम है। इस नियम का परिणाम यह होता है कि मामा के बाद उसका भांजा परिवार का मुखिया व प्रबंधकर्ता हो जाता है। इस तरह दो वंश परंपराओं में एक निरंतर चलने वाली वैवाहिक संबंधों की कड़ी बन जाती है।

मानव सृष्टि के विकास का इतिहास जानने के इच्छुक पूर्वकालीन नृशास्त्रियों ने यह मत रखा था कि मातृ वंशपरंपरा वाले वंशक्रम वास्तव में प्राचीन कालीन "मातृसत्ता तंत्र" या "मातृ अधिकार" के अवशिष्ट रूप हैं। उनके अनुसार धीरे-धीरे मानव समाज मातृसत्ता तंत्र से बदलकर आज पितृसत्ता तंत्र का रूप ले चुका है। परंतु आज तक इस बात का कोई भी निर्णायक प्रमाण नहीं मिला है कि धरती पर कभी भी कोई मातृसत्ता तंत्र वाला समाज पाया जाता था या है। नायर वाले उदाहरण से तो यही मालूम होता है कि पिछली शती में नायरों के तारवाडों का पतन हो गया और अब नायर समाज भी पड़ोसी समूहों की तरह पितृवंश परंपरा को मानने लगा है।

समाजशास्त्री व नृशास्त्री आज भी मातृवंश परंपरा मानने वाले समाजों का विशेष रुचि से अध्ययन करते हैं। यह केवल इसीलिए नहीं कि वे मातृ वंशपरंपरा में पाई जाने वाली उलटबासियों को सुलझाना चाहते हैं, पर इसलिए भी कि हाल में स्त्री की प्रस्थिति और स्त्री-पुरुषों के समानाधिकार के विषय को लेकर काफी शक्तिशाली बहस चालू है। जहां एक ओर विद्वानों ने पाया कि प्रायः सभी समाजों में (चाहे वे पितृ वंशपरंपरा मानें या मातृ वंशपरंपरा या दोनों) प्रभुत्व एवं संपत्ति पर नियंत्रण पुरुषों का ही होता है। तो दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने यह भी दिखाया है कि मातृ वंशपरंपरा मानने वाले समाजों में स्त्री की प्रस्थिति अपेक्षाकृत बेहतर है।

बोध प्रश्न 2

1) पितृसत्ता तंत्र वाले समाज की विशेषताएं पांच पंक्तियों में बताएं।

.....

.....

.....

.....

.....

2) मातृ वंशपरंपराक्रम से क्या तात्पर्य है? पांच पंक्तियों में उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

7.5 भारत में नातेदारी

यदि आपसे कहा जाये कि अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर बताइये कि उत्तर व दक्षिण भारत में नातेदारी की क्या-क्या विशेषताएं हैं तो आपका क्या उत्तर होगा?

इस संदर्भ में आप सभी प्रायः विवाह से जुड़े भिन्न नियमों व उन पर आधारित नातेदारी की प्रथाओं की चर्चा करेंगे। यहां संक्षेप में उन विभिन्नताओं की चर्चा की जाएगी जिनका वर्णन प्रसिद्ध समाजशास्त्री इरावती कर्वे ने किया है।

दक्षिण भारत में साभान्यतः कुछ समीपी रिश्तेदारों में विवाह संबंधों को प्राथमिकता दी जाती है। विशेषतः एक या दूसरे या दोनों अर्थात् मामा या बुआ या मामा-बुआ दोनों के बच्चों के बीच विवाहों को अधिमान्यता दी जाती है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं बड़ी बहन की पुत्री से विवाह को भी विशेष अधिमान्यता दी जाती है। इन समूहों के सदस्य बराबरी की प्रस्थिति वाले माने जाते हैं। विवाह-संबंधों के बाद पत्नी देने वालों की प्रस्थिति पत्नी लेने वालों से केवल थोड़ी नीची मानी जाने लगती है। दक्षिण भारत में पाई जाने वाली विवाह प्रणाली के अंतर्गत आस-पास रहने वाले समान जाति समूहों के सदस्यों के दायरे में विवाह संपन्न होते हैं। प्रायः वर-वधू एक ही ग्राम के होते हैं और वधू अपने श्वसुर से पूर्व परिचित होती है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि मामी या नानी या बुआ सास बन जाने के बाद अपनी बहू से दुर्व्यवहार नहीं करती है।

दूसरी ओर, उत्तर भारत में विवाह संबंध समीपी रिश्तेदारों के बीच कभी भी तय नहीं किए जाते हैं। यहां तक कि एक ही गांव में रहने वाले लड़के-लड़कियों के बीच विवाह संपन्न नहीं किये जाते हैं। एक गांव में रहने वाले लड़के-लड़कियों को भाई-बहन के समान समझा जाता है। इस तरह विवाह गांव से बाहर दूसरे व दूर के गांवों के रहने वालों से ही तय किये जाते हैं। फलतः वधू अपने पति के घर से बिल्कुल अपरिचित होती है। ऐसी स्थिति में श्वसुरालय सदस्य प्रायः यह आरोप लगाते रहते हैं कि बहू पति का स्नेह, जिस पर औरों का भी अधिकार है, लेकर उसे अपने परिवार वालों से दूर कर देती है। और ऐसा करने में यह संयुक्त परिवार की नींव हिलाने का काम करती है। इस तरह जब भी कोई संयुक्त परिवार टूटता है तो टूटने के कारण चाहे जो भी रहे हों, प्रत्यक्षतः तो वधू पर ही उसे तोड़ने का आरोप लगाया जाता है। इस तरह की विवाह-व्यवस्था में "पुत्री" व "वधू" के बीच परिवार के सदस्यों का व्यवहार भी काफी भिन्न होता है। पर्दा प्रथा इस भिन्नता का सटीक उदाहरण है। नई बहू का श्वसुरालय में स्थान तब तक अनिश्चित रहता है—जब तक वह बेटे की मां नहीं बन जाती है।

उत्तर भारत में अधिकतर विवाह संबंध असमान सामाजिक प्रस्थिति वाले समूहों के सदस्यों के बीच में सम्पन्न किये जाते हैं। वर पक्ष की तुलना में वधू पक्ष सदैव नीचा माना जाता है। साथ में, विवाह के समय तय हुआ लेन-देन, प्रायः दहेज का रूप ले लेता है। फलतः इस क्षेत्र के कुछ भागों में पाए जाने वाली विवाह प्रणालियों में कुछ विशेषताएं आ जाती हैं, जैसे भ्राता पत्नी से विवाह, सती-प्रथा, स्त्री शिशु की गर्भ में हत्या और आजकल बहुचर्चित वधू-दहन आदि।

उत्तर-भारत तथा दक्षिण-भारत की विवाह-व्यवस्था में एक और अंतर है। इरावती कर्वे व अन्य कई विद्वानों के मतानुसार वंशक्रम व्यवस्था तथा विरासत के नियमों का सीधा संबंध विवाह की व्यवस्था के रूप से होता है। संक्षेप में, उत्तरी भारत में पितृ वंशपरंपरा सब जगह पाई जाती है तथा उसके साथ ही विरासत के पारम्परिक नियमों के अनुसार संयुक्त संपत्ति भी पिता से पुत्र को मिलती है। हां, उत्तर भारत में मातृ वंशपरंपराक्रम पालन करने वाले समाज भी अपवाद स्वरूप यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जैसे, खासी व गारो जनजातियां।

नातेदारी की प्रथाओं का यह रूप, जो भारत के मुख्य सांस्कृतिक क्षेत्रों में फैला है, इस सामाजिक संस्था का मोटा-मोटा विवरण देता है। यदि स्थान विशेषों की सभी विभिन्नताओं को भी, जो विविध भाषाओं तथा बोलियों से जुड़ी हैं, ध्यान में रखा जाए तो नातेदारी का अधिक साफ चित्र सामने आएगा। भारत में नातेदारी के स्वरूप का विस्तृत अध्ययन समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम 2 में किया जाएगा।

इस इकाई में हमने नातेदारी की समाजशास्त्रीय संकल्पना का परिचय दिया है। यह भी स्पष्ट किया है कि समाज में इस सामाजिक संस्था का महत्व क्या है। नातेदारी की मूल अवधारणाओं, जैसे–वंशक्रम, विरासत के नियम, आवास के नियम — की व्याख्या की है। हमने एकल वंश परंपराक्रम में दो प्रमुख रूपों पितृ वंशपरंपरा तथा मातृ वंशपरंपरा की चर्चा की है। अंत में, भारत में नातेदारी व्यवस्था के भिन्न आयामों का परिचय दिया है।

शब्दावली

वंशक्रम : संतति का माता या पिता या दोनों के वंशों से संबंध।

मातृ वंशपरंपरा : जहां वंशक्रम माता के वंश से माना जाए।

पितृ वंशपरंपरा : जहां वंशक्रम पिता के वंश से माना जाये।

पितृसत्ता तंत्र : जहां परिवार का मुखिया पिता या परिवार का वरिष्ठतम मुख्य सदस्य हो, जिसके हाथ में सारी प्रभुता निहित हो, जहां वंशक्रम पितृवंश परंपरा में माना जाये, जहां आवास का नियम पितृ स्थानीय हो और जहां विरासत में संपत्ति पिता से पुत्र को मिले।

मातृसत्ता तंत्र: सिद्धांततः इस व्यवस्था में पितृसत्ता तंत्र के एकदम विपरीत तत्व होते हैं, परंतु इस व्यवस्था के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिला है।

उपयोगी पुस्तकें

फारबर-बरनार्ड, (संपादित), 1966. *किनशिप एंड फैमिली आरगनाइजेशन* (नातेदारी तथा परिवार संगठन). जॉन वाइली एण्ड संसः न्यूयार्क

इरावती कर्वे, 1953. *भारत में बंधुत्व संगठन*. हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) वंशक्रम वह सिद्धांत है जिसके आधार पर संतान को माता अथवा पिता अथवा दोनों के वंशों से जुड़ा हुआ माना जाता है।

2) वंशक्रम के तीन प्रकार हैं :

   i) एकल वंश परंपराक्रम जिसके (unilineal descent) दो उप-प्रकार है–पितृवंश परंपरा तथा मातृवंश परंपरा।
   ii) द्विपक्षीय एकल वंश परंपरा (double unilineal descent)
   iii) द्विपक्षीय वंशक्रम का सिद्धांत (bilateral or cognatic descent system)

बोध प्रश्न 2

1) पितृसत्ता तंत्र वाले समाज में निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं :

   i) पितृ वंशपरंपरा वाला वंशक्रम।

   ii) पितृस्थानीय निवास।

   iii) पिता से पुत्र को सम्पत्ति की विरासत का नियम।

   iv) वंश के वरिष्ठ पुरुषों के हाथ में प्रभुता।

2) मातृ वंशपरंपरा वाला वंशक्रम पितृ वंशपरंपरा क्रम से एकदम विपरीत नहीं है। इसमें यद्यपि मातृ स्थानीय निवास होता है, मां से पुत्री को संपत्ति की विरासत मिलती है और वंशक्रम भी मातृ वंशपरंपरा में माना जाता है परंतु प्रभुता व संपत्ति के प्रबंध/नियंत्रण पुरुषों के हाथ में होते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची : खंड में चर्चित संदर्भ स्रोतों की सूची

(ये संदर्भ उन विद्यार्थियों के लिए दिए जा रहे हैं जो किन्हीं विशेष मुद्दों पर अधिक पढ़ना चाहते हैं।)

1 बीटी, जे. 1964. **अदर कल्चरस : ऐम्स, मैथड्स एण्ड अचीवमेंट्स इन सोशल एंथ्रोपोलोजी (अन्य संस्कृतियों व विज्ञान में लक्ष्य, पद्धतियाँ और उपलब्धियाँ)**. स्टलज एण्ड केगन पॉल : लंदन (अध्याय 7 व 8, पृष्ठ 93-138)

2. इवान्स-प्रिचार्ड 1966 **सोशल एंथ्रोपोलोजी** (सामाजिक मानव विज्ञान). अनुवादक—शशिप्रभा त्रिपाठी राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

3. फॉक्स, रोबिन, 1967 **किनशिप एण्ड मैरिज (नातेदारी एवं विवाह)**. हिन्दी अनुवाद, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल

4. कर्वे, इरावती, 1965 **किनशिप आर्गनाइज़ेशन इन इंडिया (भारत में बंधुत्व संगठन)**. हिंदी अनुवाद, हरियाणा साहित्य अकादमी : चंडीगढ़

5. मजुमदार, डी.एन., तथा मदन, टी.एन. (सम्पादक) 1986 एडीशन **एन इंट्रोडक्शन टु सोशल एंथ्रोपोलोजी (सामाजिक नृविज्ञान का परिचय)**. नेशनल पब्लिशिंग हाउस : नई दिल्ली (अध्याय 4, 5, 6, पृष्ठ 48-111)

6 मर्डोक, पी.जी. 1949. **सोशल स्ट्रक्चर (सामाजिक संरचना)**. मेकमिलन : न्यूयॉर्क (अध्याय 6, 7, पृष्ठ 91-183)

7 मेयर, लूसी, 1986. **इंट्रोडक्शन टु सोशल एंथ्रोपोलोजी (सामाजिक नृविज्ञान की भूमिका)** हिंदी अनुवाद, बिहार ग्रंथ अकादमी : पटना

खंड
3

समाजीकरण तथा शिक्षा

इकाई 8

समाजीकरण की प्रकृति 5

इकाई 9

समाजीकरण के अभिकरण 15

इकाई 10

शिक्षा की प्रक्रियाएँ 24

इकाई 11

शिक्षा संस्थाएँ 34

संदर्भ ग्रंथ सूची 43

विशेषज्ञ समिति

प्रो. त्रिलोकीनाथ मदान
इंस्टिट्यूट ऑफ इकानामिक ग्रोथ
नयी दिल्ली

प्रो. डी.एन. धनागरे
समाजशास्त्र विभाग
पूना विश्वविद्यालय
पूणे

प्रो. योगेन्द्र सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

प्रो. आन्द्रे बेते
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
7, अमेलिया अपार्टमेंट्स
माउंट कारमल रोड
बांद्रा
मुम्बई

प्रो. ए. प्रभाकर बर्नवास (सलाहकार)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

पाठ लेखक

डॉ. करुणा चनाना
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

डॉ. मालविका कारलेकर
काउंसिल फार विमन्स डेवलपमेन्ट स्टडीज
नयी दिल्ली

समाज शास्त्र संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
डा. शोभिता जैन
डॉ. त्रिभुवन कपूर
सुश्री अर्चना सिंह
डॉ. देवल कुमार सिंह राय

पाठ्यक्रम सम्पादक

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
मुम्बई

संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. बी.एन. कौल
प्रो. जी.एस. राव
कु. अनीता टपलू

अनुवाद

डॉ. ठाकुर दास
श्री नवीन चन्द्र पंत
श्री एस.सी. सेतिया
श्रीमती महेन्द्रो गोरावारा

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
श्री राकेश वत्स

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1998 (पुनः मुद्रित)

©इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989

ISBN-81-7091-326-8

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी के लिए विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली.110068 से सम्पर्क करें।

UGSY-01/84

खंड 3 समाजीकरण तथा शिक्षा

इस खण्ड में आप समाजीकरण और शिक्षा की प्रकृति तथा उसके विभिन्न पक्षों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। यह भी बताया जाएगा कि इसके द्वारा बालक किस प्रकार समाज के रीति रिवाजों को सीखता है और सामाजिक प्राणी बनता है। समाज में अनुशिक्षण की अचेतन और सोच समझ कर की जाने वाली प्रक्रियाओं का वर्णन भी किया गया है।

इकाई 8 में आप समाजीकरण, चेतन तथा अचेतन समाजीकरण और प्रत्याशी (anticipatory) समाजीकरण की संकल्पनाओं तथा प्रक्रियाओं के बारे में पढ़ेंगे। इकाई 9 में समाजीकरण की विभिन्न ऐजेंसियों, लड़कों तथा लड़कियों की समाजीकरण संबंधी प्रक्रियाओं में अंतर आदि के बारे में चर्चा की गयी है। इकाई 10 में शिक्षा तथा सीखने में अंतर, औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा और सीखने की कई प्रविधियों के बारे में बताया गया है। इकाई 11 में आप शिक्षा के विभिन्न पहलुओं के बारे में तथा शैक्षिक संस्थाओं में असमानता आदि के बारे में पढ़ेंगे।

इकाई 8 समाजीकरण की प्रकृति

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 समाजीकरण क्या है?
  8.2.1 समान अर्थ और मूल्य
  8.2.2 शिक्षा और समाजीकरण
8.3 समाजीकरण : प्रतिमान (Norms) और मूल्य (Values)
  8.3.1 ज्ञान का प्रसार
  8.3.2 अनुरूपता
8.4 चेतन और अचेतन समाजीकरण
  8.4.1 स्पष्ट और अस्पष्ट दिशाएँ
  8.4.2 व्यवहार पद्धतियाँ
8.5 भूमिका और समाजीकरण
  8.5.1 मुख्य और गौण समाजीकरण
  8.5.2 बालकों तथा वयस्कों का समाजीकरण
8.6 पुनर्समाजीकरण
  8.6.1 वैवाहिक पुनर्समाजीकरण
  8.6.2 मनोवृत्तियों में परिवर्तन
  8.6.3 व्यापक और गहन समाजीकरण
8.7 प्रत्याशी समाजीकरण (Anticipatory Socialisation)
8.8 सारांश
कुछ उपयोगी पुस्तकें
शब्दावली
बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप के लिए संभव होगा :

- समाज का सदस्य बनने के लिए बच्चों की समाजीकरण संबंधी प्रक्रिया का वर्णन करना;
- विभिन्न सामाजिक परिवेशों में समाजीकरण के विशिष्ट लक्षणों के बारे में बताना; और
- समाजीकरण के प्रकारों का विश्लेषण करना।

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में समाजीकरण के विभिन्न पक्षों की चर्चा की गयी है। जैसे समाजीकरण की संकल्पना और प्रक्रिया को समझाया गया है और उसके लक्ष्यों और प्रकार्यों की चर्चा की गयी है। इस इकाई का एक महत्वपूर्ण पहलू है समाजीकरण के प्रकारों की जानकारी देना। इसमें चेतन और अचेतन समाजीकरण, भूमिका निर्वाह के संदर्भ में समाजीकरण, प्रत्याशित समाजीकरण और पनर्समाजीकरण को शामिल किया गया है। इसके अलावा समाजीकरण की प्रकृति के बारे में भी गहराई से विचार किया गया है।

8.2 समाजीकरण क्या है?

सभी समाज इस प्रश्न के बारे में चिंता व्यक्त करते हैं कि मानव समाज में नवजात शिशु को समाज का सदस्य बनाने के लिए किस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए? बच्चा एक जैविकीय अवयव के रूप में पैदा होता है, इसकी नैसर्गिक आवश्यकताएँ और आवेग होते हैं। बालक में सीखने और संप्रेषण की जन्मजात क्षमता होती है। इसके आधार पर वह खाने की, पचाने की और शौच की शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण करता है तथा उन्हें नियमित भी करता है। धीरे-धीरे वह अपने वर्ग विशेष के व्यवहार

करने और अनुभव करने के तौर-तरीके सीखता है। जिस प्रक्रिया के द्वारा वह किसी समाज के मूल्यों और प्रतिमानों को आत्मसात करता है और उसमें रहना सीखता है, उसे ही समाजीकरण की प्रक्रिया कहते हैं। आत्मसात करने से यहाँ अभिप्राय है, अपने मन में किसी चीज को इतनी गहराई से बिठा लेना कि वह उसके व्यवहार का अभिन्न अंग बन जाए जैसा कि अच्छे तौर-तरीके का अर्थ होता है — सामाजिक मूल्यों और भूमिकाओं (उसके अनुरूप काम करने) को सीखना। दूसरे शब्दों में, अधिकांश मानवीय व्यवहार सीखा जाता है — यह अपने आप नहीं आता।

समाज वैज्ञानिकों ने बालक की सीखने और आत्मसात करने की इस क्षमता और मानव-प्रकृति के लचीलेपन का उल्लेख किया है। सीखने की क्षमता समाजीकरण से प्राप्त होती है और बालक मानव समाज का सदस्य बनने की शिक्षा अपने परिवार से प्राप्त करता है। यह विकास मोटे तौर पर सीखने की प्रक्रिया ही है। अतः हम इस बात पर बल देना चाहेंगे कि जन्मजात मनोवृत्तियों का निर्धारण आदर्शों, मूल्यों, प्रवृत्तियों, विश्वासों और व्यवहार पद्धतियों के शिक्षण द्वारा होता है।

8.2.1 समान अर्थ और मूल्य

बालकों के समाजीकरण से अभिप्राय है कि वे संबंधित संस्कृति के समान अर्थों और मूल्यों को समझते हैं और उसके अनुरूप अपने जीवन की व्यवहार पद्धतियों को निर्देशित करते हैं। जैसे ही बच्चा बड़ा होता है वह आचरण या व्यवहार संबंधी शिक्षा का उपयोग दूसरे लोगों के साथ किए गए व्यवहार में करता है। अतः बालक समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही समान अर्थों और दूसरों की प्रत्याशाओं को समझते हैं और उनके अनुरूप आचरण करना सीखते हैं।

समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे के जन्म के साथ ही शुरू हो जाती है। यह एक सतत् प्रक्रिया है क्योंकि सामाजिक शिक्षा कभी खत्म नहीं होती। अतः समाजीकरण की प्रक्रिया के लिए बचपन की अवस्था सबसे महत्वपूर्ण होती है जिसमें बालक अपने परिवार के बहुत से मूल्यों, विश्वासों, आदर्शों, प्रवृत्तियों, संस्कारों और व्यवहार पद्धतियों को आत्मसात करता है या सीखता है। माता-पिता को समाजीकरण एजेंट (अभिकर्ता) के रूप में देखा जा सकता है तथा बालक को समाजीकृत होने वाले के रूप में।

बचपन की प्रारंभिक अवस्था में माता-पिता को समाजीकरण करने वाली सबसे महत्वपूर्ण शक्ति माना जा सकता है। "चेतन या अचेतन रूप से वे बालक को विशिष्ट दिशा में सीखने के लिए प्रेरित करते हैं"। (व्हाइट.जी. 1977)

समाजवैज्ञानिकों द्वारा समाजीकरण प्रक्रिया को सतत् और गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है। इसके अतिरिक्त जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पुनर्समाजीकरण (देखें 8.6) की भी आवश्यकता होती है।

इस प्रकार समाज की दृष्टि से देखें तो समाजीकरण समाज का सदस्य बनाने के लिए प्रतिमानों, मूल्यों और विश्वासों को सिखाकर एक बच्चे को प्रशिक्षित करता है। यह एक जैविकीय तत्व को व्यक्तित्व प्रदान करता है, अस्मिता की भावना देता है, और प्रतिमानों, मूल्यों और महत्वाकांक्षाओं से युक्त व्यवहार करने और अनुशासित होने की शिक्षा देता है। समाजीकरण व्यवहार को तो नियंत्रित करता ही है, साथ ही यह वैयक्तिक और आत्म जागृति की अनिवार्य स्थिति भी बनाता है। (ब्रूम और सेल्ज़निक)।

8.2.2 शिक्षा और समाजीकरण

कुछ समाजों, विशेषकर जनजाति समाजों में बालक का शिक्षण और सामाजीकरण औपचारिक शिक्षा संस्थाओं के बिना होता है। फिर भी सीखने की प्रक्रिया के रूप में शिक्षा सर्वव्यापी (ubiquitous) होती है चाहे कोई जंगल में रहे या मरुस्थल में या शहर अथवा गाँव में। सीखने की सार्वभौमिकता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सभी प्रकार का सीखना समाजीकरण होता है उसी प्रकार जैसे सभी प्रकार की शिक्षा भी समाजीकरण के लिए नहीं होती।

यह भी उल्लेखनीय है कि सब कुछ सीखना समाजीकरण नहीं होता, क्योंकि उससे व्यक्ति जो कुछ सीखता है वह उसकी सभी सामाजिक भूमिकाओं के लिए आवश्यक या संगत नहीं होता। जैसे कहीं-कहीं सिगरेट पीना सीखना, सामाजिक भूमिकाओं को निभाने के लिए असंगत भी हो सकता है। व्यक्ति द्वारा इन मूल्यों और आदर्शों को सीखने की प्रक्रिया (जिसे संस्कृति भी कहा जाता है) लगभग सभी समाजों में एक जैसी होती है। विशिष्ट समाजों में इन मूल्यों में कई कारणों से भिन्नता हो सकती है।

कोई बालक, सबसे पहले अपने समाज का सदस्य होता है। साथ ही वह बड़े परिवार वर्ग (बिरादरी, खानदान आदि) का भी सदस्य होता है। इसी में उसके भाई, बहन तथा उसके माता-पिता के दूसरे रिश्तेदार भी सम्मिलित हो जाते हैं। जिस परिवार में उसका जन्म होता है वह केंद्रित या संयुक्त परिवार हो सकता है। इसी तरह वह बड़े समाज का भी सदस्य होता है। इन वर्गों और संस्थाओं का सदस्य होने के नाते प्रत्येक सदस्य को उसके व्यवहार संबंधी मूल्यों और प्रतिमानों को मानना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हम एक साथ कई वर्गों के सदस्य होते हैं। उदाहरण के तौर पर हम परिवार, बिरादरी, खानदान, कुनबा, समाज, स्कूल या कालेज के एक ही समय पर सदस्य होते हैं। इसी सदस्यता के अनुरूप हमें पुत्र, पुत्री, पोता, पोती या विद्यार्थी की भूमिका निभानी होती है। वे विभिन्न भूमिकाएँ भी एक साथ, एक ही समय पर निभायी जाती हैं। इन वर्गों के प्रतिमानों, अभिवृत्तियों, मूल्यों या व्यवहार पद्धतियों को सीखने की प्रक्रिया जीवन के प्रारंभ में शुरू होती है और जीवन भर चलती रहती है।

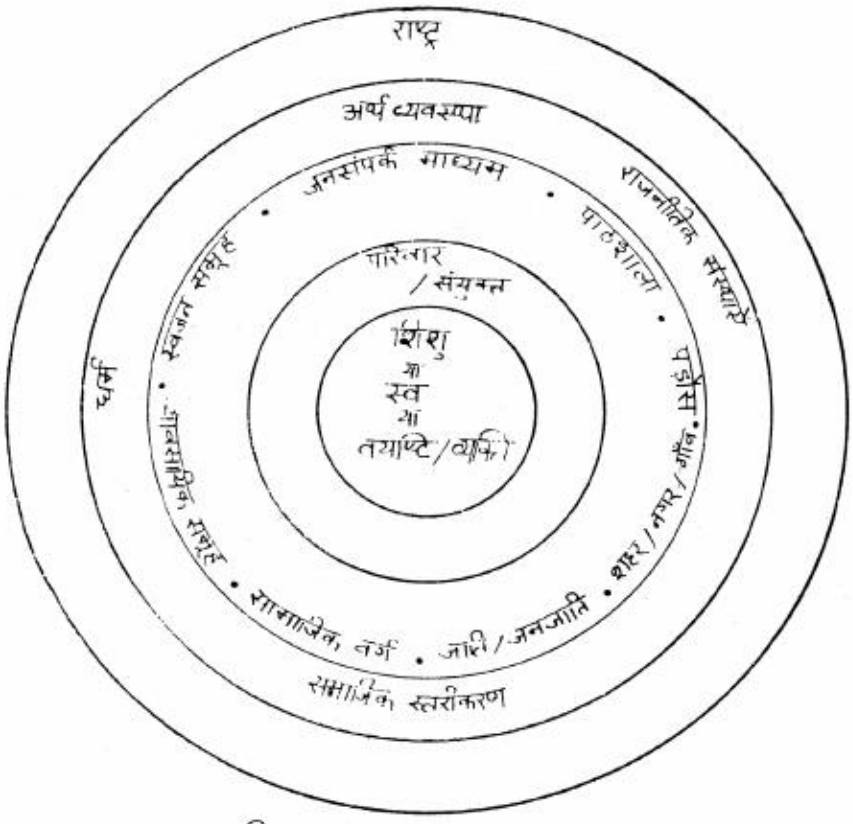

समाजीकरण का स्वरूप

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपना उत्तर दिये गये स्थान में लिखिए।

ख) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 समाजीकरण की प्रक्रिया को तीन पंक्तियों में समझाइए।

.....

.....

.....

8.3 समाजीकरण : प्रतिमान (Norms) और मूल्य (Values)

एक ही समाज में, विभिन्न परिवारों के मूल्यों, आदर्शों में जाति, धर्म या सामाजिक वर्ग या धार्मिक वर्ग के आधार पर अथवा गाँव या शहर में रहने के आधार पर, किसी जनजाति से संबंद्ध होने, या लड़का अथवा लड़की होने के आधार पर, भिन्नता होती है। इन सामाजिक वर्गों को समाजीकरण एजेंसियों के रूप में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए स्वच्छता पर दिया जाने वाला बल सामाजिक वर्ग के अनुसार घटता-बढ़ता है, साथ ही बोली जाने वाली भाषा स्थान के अनुसार होती है। बालक जन्म से भाषा नहीं जानता बल्कि जन्म के बाद उसे सीखता है। कुछ लोग मांस नहीं खाते या बीफ (गोमांस) या पोर्क (सूअर का मांस) से परहेज करते हैं। यह धार्मिक वर्ग विशेष के सदस्य होने पर निर्भर करता है। इस प्रकार एक बालक विभिन्न प्रकार के वयस्क बनने की क्षमता रखता है। एक समाज में विकसित वयस्क-व्यक्तित्व दूसरे समाज में विकसित वयस्क-व्यक्तित्व से अलग होता है — इस प्रकार वह दूसरे समाज में भाग लेने के अयोग्य होता है। उदाहरण के तौर पर ऐसा व्यक्ति जो मांस नहीं खाता, सिगरेट-शराब नहीं पीता, वह उस परिवार में अजीब सा लगेगा, जहाँ यह सब खाने-पीने की छूट होती है।

क्या समाजीकरण एक तरफा प्रक्रिया होती है जिसे बालक अपने माता-पिता से निष्क्रिय रूप से प्राप्त करता है? इस संबंध में अलग-अलग विचार हैं। हमारा मत है कि यह एक दुतरफा प्रक्रिया है। यह सही है कि बालक वयस्कों की तरह सक्रिय नहीं होता लेकिन वह निष्क्रिय भी नहीं होता।

अभी तक इस बात पर बल दिया गया है — कि समाजीकरण प्रक्रिया का उद्देश्य बालक को सामाजिक आदर्शों, मूल्यों, विश्वासों, मनोवृत्तियों और व्यवहार पद्धतियों को सीखने में सहायता करना होता है। जब हम समाजगत अपेक्षाओं की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि इन विभिन्न समाजगत अपेक्षाओं के स्तर में भी फर्क होता है। जब कोई व्यक्ति जन्म लेता है तब उसका पहला समाजगत अनुभव परिवार के माध्यम से होता है लेकिन जैसे-जैसे वह आधुनिक समकालीन समाजों में विकसित होता जाता है — उसका अनुभव भी बढ़ता जाता है। वह कई एजेंसियों का सदस्य हो जाता है। परिवार के बाद विद्यालय दूसरी एजेंसी है जिसका बालक सदस्य बनता है, बाद में अपने माता-पिता से संबद्ध धार्मिक वर्ग का भी वह सदस्य बन जाता है। फिर वह किसी व्यावसायिक वर्ग का सदस्य बनता है। समाजीकरण प्रक्रिया का विशिष्ट उद्देश्य बालक को संबंधित समाज का सक्रिय सदस्य बनाने के लिए उसके प्रतिमानों को आत्मसात करने में सहायता करना है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है एक बालक अपने समाज का सदस्य बनता है। इस प्रकार समाजीकरण एक प्रकार से सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया है जो वर्गगत जीवन को पुष्ट करती है और व्यक्ति के विकास को बढ़ावा देती है। यह व्यक्ति को सामाजिक वर्ग या वर्गों की अपेक्षाओं के अनुरूप बनने के लिए शिक्षित या प्रशिक्षित करती है। अतः वर्गगत प्रतिमानों और व्यवहार की अनुरूपता समाजीकरण प्रक्रिया के लिए अत्यावश्यक होती है जिसके द्वारा व्यक्तिगत सदस्यों पर सामाजिक नियंत्रण रखा जाता है।

8.3.1 ज्ञान का प्रसार

एमील दुर्खाइम के अनुसार, व्यक्ति के मन में विचार कोटियों का विकास इसी समाजीकरण के दौरान होता है। समाजीकरण से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में ज्ञान का प्रसार होता है। सामाजिक एकता समाज द्वारा निर्धारित प्रतिमानों, नियमों और मूल्यों को मानने की अपेक्षा करती है। विवाह, धार्मिक त्योहारों, शोक आदि के अवसरों पर जब वर्ग आपस में मिलकर एकता की भावना को अभिव्यक्त करते हैं तब इन अवसरों पर परिवार या पारिवारिक वर्ग की एकता स्पष्ट होती है। दूसरी ओर गणतंत्र दिवस और स्वतंत्रता दिवस पर राष्ट्रीय एकता प्रकट की जाती है। सामाजिक रीति रिवाज, संस्कार, सामाजिक शिष्टाचार और ऐसे अवसर एक वर्ग के सदस्यों को एक दूसरे के करीब लाते हैं — इन्हें समाजीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है। इन्हीं प्रक्रियाओं के द्वारा प्रतिमानों, मूल्यों, और व्यवहार पद्धतियों को मानवीय सामाजिक वर्गों के सदस्यों के बीच प्रसारित किया जाता है।

समाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायता करता है। समाजीकरण व्यक्ति को यह सिखाता है कि क्या **सोचा जाए और क्या न सोचा जाए**, क्या किया जाए और क्या न किया जाए और इस प्रकार **यह सामाजिक नियंत्रण लाने में सहायता करता है।** भावना के अतिरिक्त सामान्य आचरण से विचलित होने वाले व्यक्ति के मन में सामाजिक अस्वीकृति, दंड आदि का भय बना रहता है।

8.3.2 अनुरूपता

जहाँ समाजीकरण के द्वारा प्रत्येक समाज में सामाजिक प्रतिमानों और व्यवहार के प्रति एक प्रकार की अनुरूपता पैदा होती है, वहीं कुछ व्यक्तियों का आचरण उसके अनुरूप नहीं भी होता। दूसरे शब्दों में समाजीकरण समाज के सभी सदस्यों को अनुरूप बनाने में सक्षम नहीं हो पाता है। इस संघर्ष को कई कारक बढ़ावा दे सकते हैं — समाजीकृत करने वालों तथा समाजीकृत होने वालों के उद्देश्यों और प्रकार्यों के बीच संघर्ष हो सकता है। हम पहले बता चुके हैं कि व्यक्ति का समाजीकरण कई अभिकरणों **परिवार, विद्यालय,** संगीत साथियों, व्यावसायिक वर्ग के द्वारा और आधुनिक समाज में साहित्य (पुस्तकें, पत्रिकाएँ) और जन संचार के माध्यमों (दूरदर्शन, रेडियो, सिनेमा आदि) के द्वारा होता है। यदि इनके द्वारा अलग मूल्यों पर बल दिया जाता है तो **व्यक्ति की वर्ग या वर्गों** के मूल्यों के प्रति अनुरूपता कम हो जाती है। जैसे छात्रों को जन संचार माध्यमों को सुनने या देखने के लिए **प्रोत्साहित** किया जाता है। यदि जन संचार माध्यम कट्टरवादिता या अत्यधिक रूढ़िवादिता सिखाते हैं तो छात्रों द्वारा उदारतावादी मूल्यों के प्रति अनुरूपता कम हो जाती है। इस प्रकार अनुरूपता से हटने वाले वर्ग को प्रतिमानों से विचलन होने वालों की संज्ञा दी जाती है। (सामाजिक नियंत्रण के लिए देखें इकाई 31 तथा सामाजिक विचलन के लिए देखें इकाई 32) गरीब परिवारों के बच्चों के मूल्य विद्यालय के मूल्यों से अलग होते हैं। ऐसे बच्चे अनुरूपता से दूर होते हैं और अनुरूपता से बहुत हटने पर ऐसे बच्चों को बाल अपराधी भी मान लिया जाता है।

8.4 चेतन और अचेतन समाजीकरण

परिवार और विद्यालय में किये जाने वाले बच्चे के समाजीकरण का काफी भाग चेतन होता है। दूसरे शब्दों में, माता पिता सोच समझ कर बच्चे को कुछ ऐसी व्यवहार पद्धतियों और प्रतिमानों की शिक्षा देते हैं जिन्हें वे उपयुक्त समझते हैं। इसके लिए वे उसे **बार-बार यह बताते रहते हैं कि कौन सी चीज अच्छी है और कौन सी बुरी है, कौन सा आचरण या व्यवहार ठीक है और कौन सा गलत है। यदि बच्चा अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य करता है तो उसे पुरस्कृत किया जाता है और विपरीत आचरण करने पर दंड दिया जाता है।** इस प्रकार पुरस्कृत और दंड की व्यवस्था के द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया को मजबूत किया जाता है। उदाहरण के तौर पर स्वच्छता, आज्ञापालन, तत्परता, पौरुष (मर्दानगी) स्त्रीत्व की शिक्षा अधिकांश परिवारों में बचपन में ही शुरू हो जाती है। इसे चेतन समाजीकरण कहते हैं क्योंकि समाजीकरण एजेंट (माता-पिता) समाजीकरण प्रक्रिया के उद्देश्यों के प्रति सचेत होते हैं। फिर भी हम यह कहेंगे कि समाजीकरण की प्रक्रिया बहुत हद तक अचेतन होती है जो कि प्रेक्षण द्वारा सीखी जाती है।

हालांकि परिवार में समाजीकरण की प्रक्रिया चेतन और अचेतन दोनों प्रकार की होती है। यही स्थिति विद्यालय के लिए भी सही है, जहाँ विद्यालय के उद्देश्यों को, कक्षा में पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से सिखाया जाता है। जैसे विद्यालय का स्पष्ट उद्देश्य छात्रों को पढ़ाना और उन्हें परीक्षा में सफल होने के लिए सहायता करना है। इसी के साथ छात्र कक्षा से बाहर दूसरे बच्चों से मिलते हैं, उनसे दोस्ती करते हैं और छोटे-छोटे वर्ग बना लेते हैं जिन्हें जोड़ीदारों का समूह कहा जाता है। ये वर्ग बच्चों पर काफी प्रभाव डालते हैं। वे अपने पड़ोस में भी कई प्रकार के समूहों के सदस्य बन जाते हैं जिनके साथ वे लगभग नियमित रूप से खेलते हैं।

कभी-कभी बच्चे ऐसे वर्ग के प्रतिमानों तथा व्यवहार पद्धतियों को भी सीख लेते हैं जो उनके परिवार या विद्यालय वर्ग की विरोधी होती हैं। जैसे कुछ बच्चे अन्य बच्चों को देखकर धूम्रपान शुरू कर देते हैं जबकि उनके घर वाले उसका विरोध करते हैं और इससे संघर्ष उत्पन्न होता है। अथवा बच्चे पढ़ाई-लिखाई में अधिक रुचि लेने लगते हैं जबकि उनके परिवार में किसी का भी रुझान पढ़ाई-लिखाई की तरफ नहीं होता। इस प्रकार अचेतन समाजीकरण की प्रक्रिया में बच्चे जो कुछ दूसरे बच्चों से सीखते हैं उसे चेतन नहीं कहा जा सकता या उसे अन्य बच्चों के संपर्क और परस्पर व्यवहार के परिणाम की अपेक्षा के रूप में नहीं माना जा सकता।

8.4.1 स्पष्ट और अस्पष्ट दिशाएँ

हम चेतन और अचेतन समाजीकरण की प्रक्रिया का अंतर स्पष्ट कर चुके हैं और कुछ व्यवहार पद्धतियों एवं प्रतिमानों के विरुद्ध स्पष्ट और अस्पष्ट आदर्शों के उदाहरण भी दे चुके हैं। झूठ न बोलने या चोरी न करने या बड़ों की उपस्थिति में ऊँचा न बोलने या कुछ धार्मिक समुदायों में बुजुर्गों के पाँव छूने संबंधी व्यवहार पद्धतियों पर बल देने को चेतन समाजीकरण की प्रक्रिया का उदाहरण माना जा सकता है। माता-पिता इनके प्रति सचेत होते हैं और बच्चों को इसके अनुरूप व्यवहार करने पर पुरस्कृत या आदेशों का पालन न करने पर दंडित किया जाता है। यह चेतन प्रक्रिया कक्षा में होने वाली समाजीकरण की चेतन तथा सोच समझ कर की जाने वाली प्रक्रिया से गुणात्मक रूप में भिन्न होती है। कक्षा में इस प्रक्रिया का उद्देश्य संकल्पित और स्पष्ट नहीं होता। परिवार यह दावा नहीं करते कि वे बच्चों को ईमानदार या मेहनती बनाने के लिए प्रशिक्षित करते हैं या लड़कों को निडर या लड़कियों को सहनशील बनाने की शिक्षा देते हैं। दूसरी तरफ विद्यालयों के बोधात्मक उद्देश्य अच्छी तरह मालूम ही होते हैं — छात्र अच्छी तरह पढ़ सकें, परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो सकें आदि। अतः परिवार में घटित होने वाली दोनों प्रक्रियाएँ विद्यालय या अन्य औपचारिक एजेंसियों में होने वाली प्रक्रियाओं से भिन्न होती हैं। इस प्रकार हम दोनों प्रक्रियाओं में भेद कर सकते हैं कि गौण वर्गों जैसे विद्यालयों में होने वाली समाजीकरण प्रक्रिया के उद्देश्य परिवार की तुलना में संकल्पित, सुस्पष्ट और सचेतन होते हैं। लेकिन दोनों प्रक्रियाएँ (चेतन और अचेतन) एक ही समय पर घटित होती रहती हैं।

8.4.2 व्यवहार पद्धतियाँ

अपने मित्रों से या सखा वर्ग से विभिन्न व्यवहार पद्धतियाँ और प्रतिमानों का सीखना समाजीकरण की अचेतन प्रक्रिया कहलाती है। वास्तव में समाजीकरण अभिकर्ता अर्थात् सखा वर्ग और समाजीकृत होने वाले (बालक) के बीच अंतर करना कठिन हो जाता है। विद्यालय से दूर रहना एक प्रकार का उदाहरण हो सकता है। कोई बालक विद्यालय से अनुपस्थित रहने वाले और काम चोर बच्चों से दोस्ती कर सकता है और उस वर्ग का सदस्य बनने के बाद खुद भी विद्यालय से अनुपस्थित रह सकता है। दूसरी तरफ जो बालक विद्यालय में समय की पाबंदी को कोई महत्व नहीं देता था, वह समयनिष्ठ बालकों से मित्रता करके समय की पाबंदी का ध्यान रखना सीख सकता है। ये सब अचेतन समाजीकरण के उदाहरण हैं।

आधुनिक समाजों में इस प्रकार का अचेतन समाजीकरण जन संचार माध्यमों — सिनेमा, दूरदर्शन, तथा हास्यकथाओं, उपन्यासों (अर्थात् प्रकाशित सामग्री) के द्वारा संभव होता है। कॉलेज जाने वाले युवा लोगों के द्वारा भारतीय फिल्मों के नायकों का अनुकरण करना अचेतन समाजीकरण का अच्छा उदाहरण है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान में अपना उत्तर लिखिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 निम्नलिखित वाक्यों में खाली स्थान भरिए।

i) समाजीकरण प्रक्रिया का उद्देश्य बालक के द्वारा सामाजिक ..... और ..... के अनुरूप आचरण करना सीखना है।

ii) समाजीकरण के लिए समाज के सभी सदस्यों के द्वारा पूर्ण ..... का पालन करना संभव नहीं हो सकता।

iii) परिवार में समाजीकरण की प्रक्रिया ..... और ..... दोनों प्रकार की होती है।

iv) गौण वर्गों में समाजीकरण के उद्देश्य, परिवार की तुलना में ....., अधिक ..... और होते हैं।

8.5 भूमिका और समाजीकरण

हर शिशु किसी न किसी सामाजिक वर्ग में पैदा होता है और जन्म लेते ही वह उस सामाजिक वर्ग का सदस्य बन जाता है। और पुत्र या पुत्री, पोता या पोती की भूमिका का निर्वाह करता है। किसी व्यक्ति की भूमिका उस की सामाजिक स्थिति से तय होती है। और उसकी सामाजिक स्थिति उस विशिष्ट सामाजिक वर्ग में उसकी स्थिति से तय होती है, जिससे उसका संबंध है और इसी से उसके अधिकार और कर्तव्य भी तय होते है।

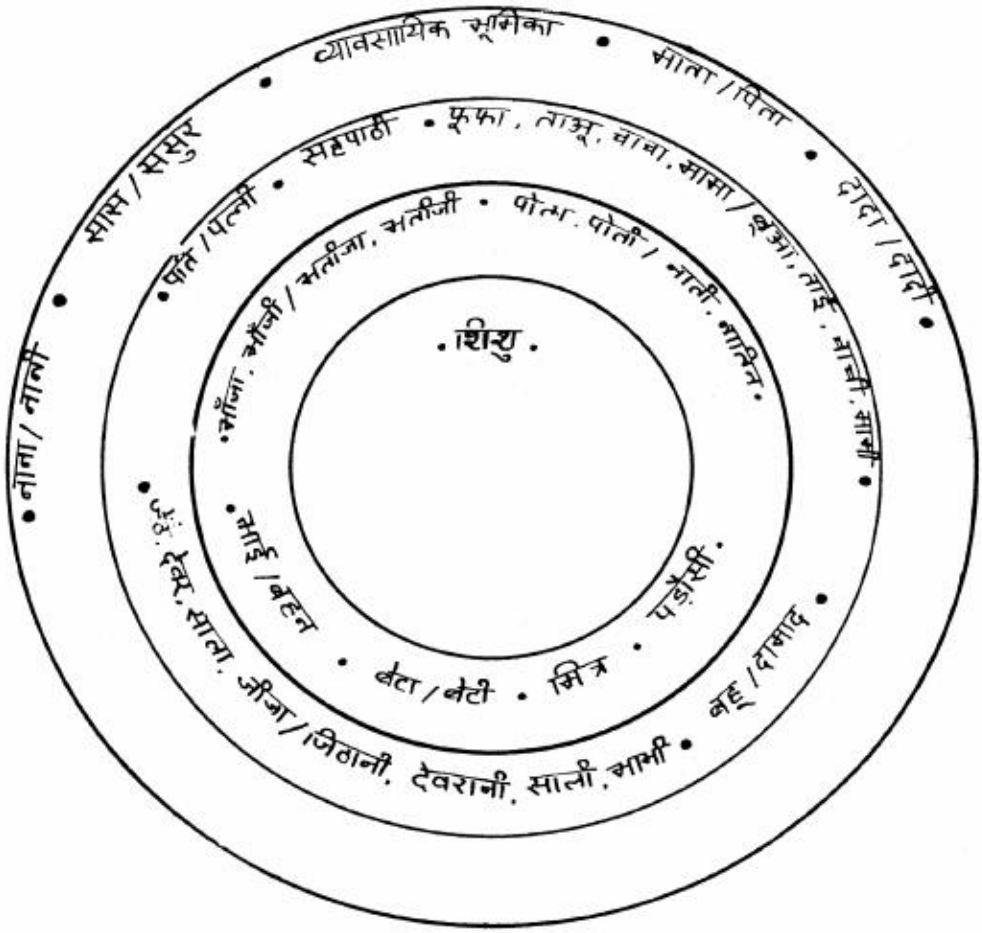

समाजीकृत होने वाले की विभिन्न भूमिकाएँ

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन काल में कई भूमिकाओं — पुत्र या पुत्री, पोते या पोती की भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में हर व्यक्ति की भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं जो आपस में जुड़ी होती हैं। व्यक्ति विशेष द्वारा किसी एक समय पर निभायी जाने वाली भूमिकाओं के समुच्चय को भूमिका पट (role-set) कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि बालक विभिन्न समाजीकरण अभिकर्ताओं की अपेक्षाओं के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है। उदाहरण के तौर पर बालक का अपने माता-पिता के साथ किया गया व्यवहार, अपनी बहन या मित्र या पड़ोसी या सहपाठी के साथ किए गए व्यवहार से अलग होता है। ये भूमिकाएँ एक के बाद एक नहीं बल्कि एक साथ निभायी जाती हैं। अन्य भूमिकाएँ इनमें जोड़ी या घटाई जा सकती है। फिर भी दी गई सूची पूरी नहीं है (चित्र 1)। इसी प्रकार अपनी दादी या नानी के साथ किया गया व्यवहार अपनी मां के साथ किए गए व्यवहार से अलग होगा ही। जैसे-जैसे बालक बढ़ता है वह इन बारीकियों को पहचानता है और उन्हें आत्मसात करता जाता है। जैसे ही वह एक भूमिका को अच्छी तरह समझ लेता है वह दूसरे के साथ व्यवहार करने योग्य बन जाता है। इसे भूमिका और भूमिका जन्य समाजीकरण कहते हैं।

इस प्रकार प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार पद्धति को भूमिका कहते हैं। फिर भी उसे एक विशिष्ट अर्थ दिया जाता है जैसे किसी समाज में लड़के/लड़की की भूमिका उस समाज की संस्कृति का एक हिस्सा होती है।

किसी भूमिका को कोई कैसे सीखता है ? शुरू-शुरू में बालक अपने माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों को भूमिकाएँ करते हुए देखता है और उन्हें स्वयं करने की कोशिश करता है। धीरे-धीरे वह अपने आपको दूसरों से अलग करना सीखता है और अपनी भूमिका का दूसरों की भूमिकाओं से अंतर समझ लेता है। ध्यान से देखने तथा सही आचरण पर पुरस्कृत तथा गलत आचरण पर दंडित होने से प्रायः दृढ़ीकरण के द्वारा प्रत्येक बालक सीखता है।

8.5.1 मुख्य और गौण समाजीकरण

मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्ति की आवश्यकताओं को मुख्य और गौण आवश्यकताओं में बाँटा गया है। मुख्य आवश्यकताएँ भूख और व्यय संबंधी आवश्यकताओं की तरह जन्मजात होती हैं। गौण आवश्कयताएँ वे आवश्यकताएँ हैं जो मुख्य आवश्यकताओं को पूरा करने से पैदा होती हैं। इसी प्रकार सामाजिक संस्थाएँ भी मुख्य और गौण संस्थाओं के रूप में बाँटी जा सकती हैं। परिवार पहला सामाजिक वर्ग है जिसमें बालक जन्म लेता है और यही वर्ग उसकी मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसे मुख्य वर्ग कहा जाता है। विद्यालय गौण वर्ग है क्योंकि यह बालक की गौण आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यह विभाजन बालक की मुख्य और गौण आवश्यकताओं पर आधारित है। माता-पिता मुख्य समाजीकरण अभिकर्त्ता होते है और अध्यापक गौण समाजीकरण अभिकर्ता। इसी प्रकार हम मुख्य और गौण भूमिकाओं तथा मुख्य और गौण समाजीकरण में भेद कर सकते हैं। परिवार के आदर्शों और मूल्यों को सीखने को मुख्य समाजीकरण और विद्यालय के प्रतिमानों, मूल्यों और व्यवहार पद्धतियों को सीखने को गौण समाजीकरण कहा जा सकता है।

8.5.2 बालकों तथा वयस्कों का समाजीकरण

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि समाजीकरण या सामाजिक भूमिकाओं को सीखने की प्रक्रिया सारा जीवन चलती रहती है। विभिन्न सामाजिक वर्गों और संस्थाओं का सदस्य बनने के साथ-साथ व्यक्ति उनके प्रतिमानों और मूल्यों को सीखने लगता है। उदाहरण के लिए जैसे ही बालक विद्यालय में दाखिल होता है वह वहाँ के अनुशासन और विद्यार्थी की भूमिका को सीख लेता है। आगे चलकर वयस्क के रूप में वह माता या पिता बनना और पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाना सीखता है। वह व्यवसाय करने लगता है और किसी व्यावसायिक वर्ग का सदस्य बनता है। तब उस वर्ग के अनुरूप ज़िम्मेदारी और भूमिका निभाना भी सीख लेता है। उदाहरणतः स्पष्ट है कि प्रशासक की भूमिका चाय की दुकान के मालिक या मजदूर की भूमिका से अलग होगी। इसीलिए समाज विज्ञानी यह मानते है कि समाजीकरण की प्रक्रिया सारा जीवन चलती रहती है और किशोरावस्था में ही समाप्त नहीं होती।

8.6 पुनर्समाजीकरण

अपनी व्यवहार पद्धति को बदलने और इसी प्रक्रिया में नये सामाजिक मूल्य और व्यवहार पद्धतियों को सीखने की प्रक्रिया को पुनर्समाजीकरण कहते है। जीवन में विभिन्न सामाजिक वर्गों और संस्थाओं का सदस्य होने पर व्यक्ति हमेशा नयी-नयी भूमिकाओं को सीखता रहता है। उदाहरण के लिए शिशु पहले परिवार का सदस्य बनता है और बेटे या बेटी की और बड़े परिवार में पोता, पोती की भूमिका निभाना सीखता है। यदि परिवार में बुआ या चाची रहती है तो वह भतीजे या भतीजी, भाँजा-भाँजी की भूमिका निभाना भी सीख लेता है। बाद में पड़ोस में खेलते हुए वह मित्र बनाता है और उस वर्ग के आदर्शों के अनुसार व्यवहार करता है। यदि वह खेल के नियमों को तोड़ता है, झगड़ता है या धोखा देता है तो दूसरे उसका बहिष्कार करते हैं। इस प्रकार वह उस वर्ग के नियमों का पालन करना सीख जाता है।

बाद में, बालक विद्यालय जाता है और विद्यार्थी की भूमिका निभाना सीखता है। और आगे चलकर वह नौकरी करता है और किसी संस्था का सदस्य बनता है या अपना खुद का व्यापार शुरू करता है। जो भी काम वह शुरू करता है वह उस व्यावसायिक वर्ग के नियमों और उसके आदर्शों का पालन करता है। इस तरह वह हमेशा नयी-नयी भूमिकाओं को सीखता रहता है।

कुछ स्थितियों में, व्यक्ति को न केवल नयी भूमिका के बारे में सीखना होता है बल्कि साथ ही सीखी गई भूमिका के कुछ प्रतिमानों और व्यवहार पद्धतियों में परिवर्तन करने या उसे भुलाने के लिए बाध्य होना पड़ता है ताकि वह नयी भूमिका को अच्छी तरह से निभा सके। इस स्थिति का बहुत अच्छा उदाहरण भारतीय लड़की की शादी से पहले की भूमिका को भुलाना और शादी के बाद की नयी भूमिका को अपनाना हो सकता है। भारत के विभिन्न भागों में लड़कियों से अपेक्षित प्रतिमानों और व्यवहार पद्धतियों से और उन पर दिए जाने वाले बल में अंतर हो सकता है लेकिन हम उसके शादी से पहले या शादी के बाद की अपेक्षित व्यवहार पद्धतियों (कुछ जनजाति वर्गों को छोड़कर) को आसानी से समझ सकते हैं।

8.6.1 वैवाहिक पुनर्समाजीकरण

जब लड़की की मंगनी या सगाई हो जाती है तब उसके लिए नयी समाजीकरण या पुनर्समाजीकरण की प्रक्रिया शुरू होती है। ससुराल में उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसकी शिक्षा दी जाती है। पंजाबी हिंदू परिवारों में लड़कियाँ अपने बुर्जुगों के सामने अपना सिर नहीं ढकतीं और न ही बड़ो के पाँव छूती हैं। सगाई के बाद उसको सिर ढकना और बड़ों के पाँव छूना सिखाया जाता है क्योंकि शादी के बाद यह सब उसे करना पड़ेगा।

शादी के बाद उसका पुनर्समाजीकरण शुरू होता है। उसे इसके बारे में असंख्य निर्देश दिये जाते हैं कि ससुराल में वह अपने

कुंआरेपन के निश्चिंतता के व्यवहार को छोड़कर अपने पति के परिवार के प्रत्येक बुर्जुग का सम्मान करना सीखे और अपने आप को स्वतंत्र न समझे। धीरे-धीरे नवविवाहिता को अपने पहले के व्यवहार को भुलाना होता है। शुरू की स्थितियों में वह अपने व्यवहार को छिपाती या दबाती है लेकिन जब वह अपने मायके आती है तब वह पूर्ववत आचरण करती है — वह अपने मायके में खुल कर हंसती है जबकि ससुराल में ऐसा करना असामान्य होता है।

पुनर्समाजीकरण के दूसरे उदाहरण के रूप में विधवा स्त्री को लिया जा सकता है। भारत के कुछ भागों में यह देखा जा सकता है कि विधवा को अपने पति की मृत्यु के बाद व्यवहार को एक दम बदलना होता है। विवाहित स्त्री के बाह्य चिह्नों को उसके शरीर से हटाया जाता है — उसे एक खास रंग की साड़ी या पोशाक पहननी होती है। और कुछ धार्मिक अनुष्ठान के द्वारा उसके गहने, कुंकुम और माँग के सिंदूर को हटा दिया जाता है। कहीं-कहीं उसके सिर के बाल साफ कर दिए जाते हैं इसके अलावा उसे घर के अलग भाग में रहना होता है। परिवार में उसके द्वारा किए जाने वाले कामों में भी अचानक परिवर्तन आ जाता है। उसे अशुभ माना जाने लगता है और वह विवाह के संस्कारों तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में भाग नहीं ले सकती।

8.6.2 मनोवृत्तियों में परिवर्तन

पुनर्समाजीकरण उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा व्यक्तियों को अपने जीवन के दौरान अपनी मनोवृत्तियों, मूल्यों, व्यवहारों और आत्म संकल्पनाओं में परिवर्तन करने के लिए विवश होना पड़ता है और वे नयी भूमिकाएँ निभाना सीखते हैं और नये अनुभव प्राप्त करते हैं। हालांकि दीर्घकालीन परिवर्तन काफी गहरे होते हैं और उनमें परिवर्तन के विशेष चरण क्रमशः ही लिये जाते हैं परंतु कभी-कभी वे एकाएक भी लेने पड़ते हैं।

उदाहरण के लिये, नयी भूमिका पुरानी या पिछली भूमिका के जारी रहने के रूप में या पुरानी या पिछली भूमिकाओं की समाप्ति के रूप में हो सकती है। कभी-कभी इनमें नगण्य परिवर्तन भी हो सकता है और कभी उनमें आमूल परिवर्तन होता है और नयी व्यवहार पद्धतियों का विकास होता है। इससे या तो व्यक्ति के व्यक्तित्व में आंशिक या पूर्ण परिवर्तन होता है और यह पिछले मूल्यों और प्रतिमानों का टूटना या पुरातन मूल्यों और प्रतिमानों का स्थापित होना भी हो सकता है।

वयस्कपन में धीरे-धीरे होने वाले आंशिक परिवर्तनों को सतत् समाजीकरण कहा जाता है। पुनर्समाजीकरण की स्थिति में अधिक आधारभूत तीव्र और आमूल परिवर्तन होते हैं। इसमें एक प्रकार की जीवन पद्धति को छोड़कर दूसरे प्रकार की जीवन पद्धति को अपनाना शामिल होता है। यह पहले से न केवल अलग बल्कि उसके विरोध में भी होता है। इसके उदाहरण हैं — अपराधियों के पुराने सिद्धांतों में परिवर्तन करना, नये सिद्धांत में दीक्षित करना या उनका पुनर्वास करना। इसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को पूरी तरह से बदलना और उसे अतीत से बिल्कुल काट देना होता है। इसके दूसरे उदाहरण ऐसे लोग हो सकते हैं जो बंबई, कलकत्ता या दिल्ली जैसे महानगरों में हमेशा से रहते आये हैं और उन्हें मध्य प्रदेश के दूर दराज के गाँवों में जनजातियों के बीच रहने के लिए कहा जाए या जनजाति प्रदेश में रहने वालों को इन महानगरों में रहने के लिए कहा जाए। अगर आप शहर में रहने वाले हैं तो ऐसे गाँव वालों से अपरिचित होंगे जो शहरी जीवन के अनुरूप बनने के लिए उचित अनुचित संकल्पनाओं के अनुसार अपने व्यवहार में परिवर्तन ले आते हैं। इसी प्रकार, यदि आप गाँव से संबद्ध हैं तब अपने शहर में आने वाले — अध्यापकों या डाक्टरों, नर्सों या दायों आदि को ग्रमीण जीवन के अनुरूप बनने में प्रयत्न करते हुए देखा होगा।

8.6.3 व्यापक और गहन समाजीकरण

कुछ व्यवसायी और जीवन से संबंधित भूमिकाएँ व्यापक और गहन समाजीकरण की अपेक्षा रखती हैं। इस प्रकार का समाजीकरण एक तरह का पुनर्समाजीकरण होता है। जैसे कि ईसाई पादरी या नन या गुरुद्वारे में ग्रंथी या रक्षा सेवाओं में कैडेट की भूमिका। कैडेट का समाजीकरण उसे लड़ने की क्षमता दिलाने में कहीं अधिक होता है। कैडेटों को सुव्यवस्थित रूप से समाज से हटाकर उन्हें नयी व्यक्तिगत और सामाजिक अस्मिता दिलाने वाले कार्य सौंपे जाते हैं। उनमें राष्ट्रीय अस्मिता की भावना पैदा की जाती है और उनमें विभिन्न संस्थाओं में दिये जाने वाले प्रशिक्षण के द्वारा पारस्परिक एकता की भावना भी आती है। इसी प्रकार हम ऊपर शादी के बाद भारतीय लड़की या विधवा का उदाहरण दे चुके हैं।

प्रौढ़ व्यक्ति का पुनर्समाजीकरण कठिन होता है। कैडेट या अपराधी या विधवा के पुनर्समाजीकरण के लिए हमें बाल्यावस्था के समाजीकरण की स्थितियों को गहन रूप से प्रस्तुत करना होगा। विशेषकर यह तब और भी आवश्यक हो जाता है जब हम सोच समझ कर की जाने वाली प्रक्रिया के द्वारा पुनर्समाजीकरण की बात करते हैं। पुनर्समाजीकरण व्यक्ति विशेष पर थोपा जा सकता है (जैसे कि किसी विशेष सिद्धांत में जबरदस्ती दीक्षित करने) या ऐच्छिक भी होता है (जैसा कि किसी जनजाति में रहने वाले नृविज्ञानियों की स्थिति में होता है)।

पुनर्समाजीकरण की प्रक्रिया यदि व्यक्ति के प्रारंभिक समाजीकरण के विरुद्ध होती है तो वह व्यक्ति नयी भूमिका की आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य नहीं होता। ऐसा होने से, उस व्यक्ति के जीवन में द्वंद्व की स्थिति पैदा हो सकती है।

8.7 प्रत्याशी समाजीकरण (Anticipatory Socialisation)

प्रत्याशी समाजीकरण उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें कोई ऐसा व्यक्ति जो उस वर्ग का सदस्य नहीं होता, इस उम्मीद पर उस वर्ग के मूल्यों, प्रतिमानों और व्यवहार पद्धतियों का अनुकरण करता है, कि वह वर्ग उसे स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार प्रत्याशी

समाजीकरण की संकल्पना संदर्भ समूह सिद्धांत से संबंध रखती है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी व्यक्ति का व्यवहार उसके मूल्य और प्रतिमान किसी विशिष्ट समूह या समूहों के संदर्भ में निर्धारित होते हैं। जैसे ही इन समूहों की सदस्यता में परिवर्तन होता है तब एक समूह से दूसरे समूह में जाने वाले व्यक्ति दूसरे समूह या जिस समूह का वे सदस्य बनना चाहते हैं, उसके व्यवहार का उत्साहपूर्वक अनुकरण करते हैं। ऐसे उदाहरण उन व्यक्तियों के हो सकते हैं जिन्हें अचानक काफी धन मिल गया हो। वे समाज के उच्च वर्ग या ऊंची जातियों के मूल्यों और व्यवहार, खानपान की आदतों और यहाँ तक कि अपनी भाषा और अपने रीति-रिवाजों में भी परिवर्तन ले आते हैं। उदाहरण के तौर पर जो दहेज नहीं देते थे, वे दहेज देना शुरू कर देते हैं, जो औरतें पर्दा नहीं करती थीं, वे अब पर्दा करने लगती हैं।

प्रत्याशी समाजीकरण व्यक्तियों तथा समूहों का होता है। यह सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन की स्थितियों में होता है। गाँव में छोटी जाति के लोग, धनवान बन जाने के बाद, ऊँची जातियों के व्यवहार का अनुकरण करने लगते हैं। यदि गाँव में प्रभावशाली जाति ब्राह्मणों की हो, तो धनवान बन जाने पर, छोटी जाति के लोग शाकाहारी और शराब न पीने वाले बन जाते हैं। वे अपनी जाति बदल लेते हैं, ब्राह्मणों की तरह जनेऊ धारण करने लगते हैं, अपनी औरतों को काम पर भेजना बंद कर देते हैं और ब्राह्मणों की तरह सिर के बाल साफ करने लगते हैं। वे अपनी विधवाओं पर कड़े व्यवहारिक प्रतिबंध भी लगा देते हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) दिये गये स्थान में उत्तर दें।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान करें।

1 इन प्रश्नों का उत्तर हाँ या नहीं वाले कोष्ठक पर चिह्न लगाकर दें।

i) क्या बालक परिवार में केवल एक ही भूमिका निभाता है ?
हाँ ( ) नहीं ( )

ii) क्या भूख और प्यास व्यक्ति की गौण आवश्यकताएँ होती हैं ?
हाँ ( ) नहीं ( )

iii) क्या कोई व्यक्ति जीवन भर नयी भूमिकाएँ सीखता रहता है ?
हाँ ( ) नहीं ( )

iv) क्या प्रौढ़ व्यक्तियों का पुनर्समाजीकरण आसानी से हो सकता है ?
हाँ ( ) नहीं ( )

8.8 सारांश

इस इकाई में हमने समाजीकरण के कई पहलुओं के बारे में पढ़ा है। हमने शुरू में समाजीकरण और उसके विभिन्न पक्षों के बारे में जानकारी प्राप्त की। इसमें समाजीकरण द्वारा सीखे गये प्रतिमान और मूल्य शामिल होते हैं। इसी इकाई में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के प्रसार की प्रक्रिया के बारे में बताया गया है। स्पष्ट और अस्पष्ट समाजीकरण, पुनर्समाजीकरण और प्रत्याशी समाजीकरण के बारे में भी चर्चा की गई है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1 Broom. L and Selznick, P. 1973. *Sociology*, Harper and Row Publishers : New York.
2 White, G. 1977. *Socialization* Longman. London.

शब्दावली

अभिकरण : सामाजिक स्तर की वह संस्था, जो सामाजिक प्रक्रियाओं का कारण बने, जैसे परिवार आदि (एजेंसी)
अभिकर्ता : वह व्यक्ति, जो सामाजिक प्रक्रियाओं का कारण बने, जैसे पिता, अधिकारी आदि (एजेंट)।
समवयस्क साथी: हर व्यक्ति के अपनी उम्र के साथी जिनके साथ वह उठता-बैठता है।
पुनर्समाजीकरण : समाजीकरण की प्रक्रिया में नये व्यवहार अपनाते जाने की प्रक्रिया।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 समाजीकरण सीखने की उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें सामाजिक मूल्यों, प्रतिमानों और व्यवहार पद्धतियों को आत्मसात किया जाता है।

बोध प्रश्न 2

i) प्रतिमानों, मूल्यों, विश्वासों, अभिवृत्तियों, व्यवहार पद्धतियों

ii) अनुरूपता

iii) चेतन, अचेतन

iv) सुपरिचित, स्पष्ट (व्यक्त), चेतन

बोध प्रश्न 3

i) नहीं ii) नहीं iii) हाँ iv) नहीं

इकाई 9 समाजीकरण के अभिकरण

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 समाजीकरण के अभिकरण
  9.2.1 विकास या बढ़ना
  9.2.2 धर्म और समाजीकरण
9.3 समाजीकरण में अंतर
  9.3.1 जाति का प्रभाव
  9.3.2 जनजातियों में समाजीकरण
  9.3.3 अन्य संस्थाएँ : घोतुल
9.4 परिवार, सामाजिक वर्ग और समाजीकरण
  9.4.1 व्यवहार और परिवार
  9.4.2 समाजीकरण और संचार
  9.4.3 स्कूल और समाजीकरण
9.5 स्त्री-पुरुषों की भूमिका
  9.5.1 लिंग संबंधी अध्ययन
  9.5.2 यौन संबंधी भेदभाव
9.6 संचार माध्यम और समाजीकरण
  9.6.1 जनसंचार माध्यमों में संदेश
  9.6.2 दूरदर्शन का प्रभाव
9.7 सारांश
कुछ उपयोगी पुस्तकें
शब्दावली
बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- समाजीकरण के विभिन्न कारकों और अभिकरणों का वर्णन कर सकेंगे;
- विभिन्न समाजों के उदाहरण लेकर समाजीकरण की प्रक्रियाओं में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे;
- समाजीकरण पर परिवार, वर्ग, जाति और संचार माध्यमों के प्रभाव का मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि किस तरह समाजीकरण से स्त्रियों और पुरुषों की अलग भूमिकाएँ निर्धारित होती हैं।

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई में समाजीकरण के अनेक अभिकरणों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। परिवार, धार्मिक संगठन, संचार माध्यम आदि प्रमुख अभिकरण हैं। इस इकाई में लड़के और लड़कियों के समाजीकरण के अंतर पर भी विचार किया गया है। भारतीय संदर्भ में समाजीकरण प्रक्रिया में जातियों और संस्कृति के महत्व की चर्चा भी की गयी है। समाजीकरण पर सामाजिक वर्ग का प्रभाव और समाजीकरण प्रक्रिया में यौन भेदभाव के पहलू की भी विस्तार से जाँच की गयी है।

9.2 समाजीकरण के अभिकरण

बच्चों का समाजीकरण उन अनेक अभिकरणों (एजेंसियों) या संस्थाओं द्वारा किया जाता है, जिनके वे सदस्य हैं, अर्थात् परिवार, स्कूल, समवयस्क साथी, पड़ोसी, व्यावसायिक साथी और सामाजिक वर्ग। सामाजिक ढाँचे में परिवार की स्थिति का निर्धारण समाज, वर्ग, जाति, धर्म आदि के आधार पर तथा इस बात पर होता है कि परिवार ग्रामीण क्षेत्र में रहता है या शहरी इलाके में। हम कुछ अन्य कारणों का भी उल्लेख करेंगे जो महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए किसी के ग़रीब या अमीर होने से

कबीलाई या गैर कबिलाई होने से, लड़का या लड़की होने से अथवा व्यस्क या बच्चा होने से भी समाजीकरण की प्रक्रिया में अंतर आ जाता है। समाजीकरण के भिन्न रूप संगीत, रस्म-रिवाज, भाषा, कला और साहित्य आदि के जरिए प्रकट होते हैं। कुछ कारक और अभिकरण विभिन्न समाजों के समाजीकरण की प्रक्रिया में अंतर ले आते हैं। ये बहुत निर्णायक होते हैं। इस धारणा का खंडन करने के लिए कि सभी समाजों में या किसी एक समाज में समाजीकरण एक समान होता है, इन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। हम पहले उन कुछ कारकों पर विचार करेंगे जो समाजीकरण की प्रक्रिया में अंतर लाते हैं यानी आयु, धर्म, जाति क्षेत्र आदि। अगले भाग में हम समाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों (यानी परिवार, स्कूल आदि) पर विचार करेंगे जो समाजीकरण की एकरूपता को रोकते हैं। अंतिम भाग में हम लिंग और संचार माध्यमों (विशेष रूप से टेलीविज़न) की भूमिका की बात करेंगे क्योंकि इनकी जनता तक सीधी पहुँच होती है।

9.2.1 विकास या बढ़ना

शैशवावस्था या बचपन में समाजीकरण की प्रक्रिया वयस्क अवस्था से अलग होती है। कुछ समाज वैज्ञानिक समाजीकरण को व्यक्ति के जीवन के विभिन्न चरणों में अलग करके देखते हैं। उदाहरणतः विद्वानों ने विभिन्न हिन्दू संस्कारों को ही जीवन के विभिन्न चरण बताया है। पारंपरिक हिंदू संस्कार बचपन को अनेक चरणों में बाँटते हैं। ये हैं — नामकरण, विद्यारम्भ और उपनयन आदि। इसके अलावा हिन्दू जीवन पद्धति में आश्रम व्यवस्था होती है, जो व्यक्ति के जीवन को चार भागों में बाँटती हैं। ये भाग हैं : ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और सन्यास। ये चारों भाग हिन्दू पुरुष के समाजीकरण का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब हैं। व्यक्ति के परिपक्व होने के साथ समाजीकरण के अभिकरण बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए बाल्यावस्था और किशोरावस्था के दौरान स्कूल, संगी-साथी और परिवार समाजीकरण प्रदान करते हैं। प्रौढ़ावस्था के दौरान व्यावसायिक समूह और विवाह के बाद नवस्थापित परिवार अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

9.2.2 धर्म और समाजीकरण

कुछ धार्मिक समुदायों में समाजीकरण की प्रक्रिया और व्यवहार में भेद सरलता से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए ईसाइयों, हिंदुओं, सिखों और मुसलमानों के अनुष्ठानों, धार्मिक विधि विधानों, रीति रिवाज और पोशाकों और कभी-कभी भाषा एवं विश्वास, मनोवृत्तियों और मूल्यों तथा व्यवहार प्रतिमानों में अंतर होता है। इनमें एक दूसरे से विभिन्नता पाई जाती है, यद्यपि पिछले कुछ वर्षों के दौरान बड़े शहरों में सभी धार्मिक समूहों के लिए कुछ बाहरी चिन्ह जैसे कि पोशाक, बोली और व्यवहार समान हो गए हैं। इस कारण पोशाक के आधार पर विभिन्न धार्मिक वर्गों को पहचानना मुश्किल हो गया है। गाँवों में अभी भी काफी लोग अपनी परंपरागत पोशाक पहनते हैं और उन्हें इसी कारण अलग से पहचाना जा सकता है। इसके अलावा, अच्छा हिन्दू या अच्छा मुसलमान या अच्छा सिख या अच्छा ईसाई होने के लिए जिन बातों पर जोर दिया जाता है, उससे भी समाज के सदस्यों के व्यवहार और मूल्यों में अंतर हो जाता है। उदाहरण के लिए एक अच्छे मुसलमान को हर रोज पाँच बार नमाज पढ़नी चाहिए। एक ईसाई को हर इतवार को गिरजाघर जाना चाहिए। एक सिख को गुरुद्वारे की सेवा करनी चाहिए और एक हिन्दू को मंदिरों को दान देना चाहिए। इसी तरह कभी-कभी कुछ धर्म के मानने वालों को संप्रदाय (पथ या मत) और उप संप्रदाय के आधार पर और छोटे हिस्सों में बांटा जा सकता है जैसे मुसलमान शिया और सुन्नी दक्षिण भारत में ब्राह्मणों शैव एवं वैष्णव वर्गों में बंटे हुए हैं। इसी तरह पंजाब में आर्य समाज और सनातन धर्म का पालन करने वालों के विवाह समारोह और अन्य धार्मिक विधि विधान में अंतर होता है। इस तरह का अंतर या भेदभाव केवल धार्मिक विचारों तक सीमित नहीं होता, बल्कि इन संप्रदायों एवं उप संप्रदायों की जनता के विश्वासों, आस्थाओं और आचरण के द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया में प्रकट होता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपना उत्तर नीचे दी गई जगह में लिखिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1 व्यक्ति का समाजीकरण करने वाले प्रमुख अभिकरणों पर लगभग पाँच पंक्तियों में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 शैशवावस्था किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था में क्रमशः किन अभिकरणों की अधिक भूमिका होती है। दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

9.3 समाजीकरण में अंतर

अगर शहर में पले-बढ़े व्यक्ति की किसी ग्रामीण से भेंट होती है, तो वह फ़ौरन पोशाक, बोली और रहन-सहन में अंतर के कारण उसे पहचान लेगा। ग्रामीण को न केवल उसके इन ऊपरी तत्वों से पहचाना जा सकता है, बल्कि उसके मूल्यों, विश्वास, आचार-विचार और आचरण से भी फौरन पहचाना जा सकता है। गाँव में रहने वाला व्यक्ति शहर में रहने वाले लोगों की पोशाक, बोली और आचरण से चकित होता है। आपने अक्सर सुना होगा कि गांव में या छोटे शहर से आने वाले व्यक्ति समझते हैं कि शहर के लोग अपने ही कामों में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें अपने मेहमानों या परिवार के बड़े लोगों की कोई परवाह नहीं होती। ग्रामीण और शहरी इलाकों में प्रतिक्रिया का यह अंतर समाजीकरण प्रक्रिया के अंतर का नतीजा है।

9,3.1 जाति का प्रभाव

अगर आप किसी गांव अथवा छोटे नगर के निवासी हैं तो आपको पता होगा कि गाँव वाले उस छोटी बस्ती के सदस्य के रूप में आपसे कैसे आचरण की अपेक्षा करते हैं। वैसे तो कुछ मूल्य, मानदण्ड और आचरण है, जो सभी गाँवों में समान हैं। गाँव के सदस्यों के लिए कई रस्म-रिवाज भी समान हो सकते हैं। लेकिन ग्रामीण समाज भी छोटे समूहों में बँटा होता है, जिन्हें जाति कहते हैं। जातियाँ जन्म के आधार पर अलग होती हैं, अर्थात व्यक्ति की जाति उसके जन्म से निश्चित होती है। इस आधार पर एक ब्राह्मण और हरिजन में अंतर है, और लुहार और सुनार में भी अंतर पहचाना जा सकता है। इसलिए एक गाँव में ही जातिगत उप संस्कृतियाँ होती हैं। इन पृथक संस्कृतियों के अलावा गाँव की अपनी संस्कृति होती है जिसे सभी मानते और अपनाते हैं और जो सबको एक सूत्र में बाँधती है। हर क्षेत्र की भाषा अथवा बोली भी अलग होती है। ऊँचे वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों की तुलना में अधिक सुसंस्कृत और परिष्कृत भाषा में बोलते हैं। इसी तरह जातियों की पोशाक में भी अंतर हो सकता है। किसी के लिए कोई पोशाक उपयुक्त है तो दूसरे के लिए नहीं। इसके अलावा एक जाति में जो आचरण उचित समझा जाता है, संभव है कि वह दूसरी जाति में उचित न समझा जाए। उदाहरण के लिए, शाकाहारी भोजन अन्य जातियों की तुलना में ब्राह्मणों में अधिक उपयोग किया जाता है।

9.3.2 जनजातियों में समाजीकरण

जनजाति अथवा गैर जनजाति क्षेत्र के आधार पर भी समाजीकरण की प्रक्रिया भिन्न होती है। हम मध्य भारत में स्थित मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में रहने वाली मुड़िया जनजाति की समाजीकरण प्रक्रिया के कुछ उदाहरण देंगे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि मुड़िया संपूर्ण जनजातीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत में अनेक जनजातियाँ हैं जिनके बारे में आपने इकाई 5 और 6 में पढ़ा है। उनकी समाजीकरण की प्रक्रिया में भी उतने ही अंतर हैं, जितने अन्य समाजों में। हम केवल एक उदाहरण के तौर पर मुड़िया समाज में समाजीकरण की चर्चा कर रहे है। आप ऐसे कई अन्य उदाहरण भी देख सकते है। अगर आप भारत के विभिन्न भागों के लोगों से मिलें अथवा आपके ऐसे मित्र हों तो आप इस अंतर को स्पष्ट रूप से देख सकेंगे।

9.3.3 अन्य संस्थाएँ : घोतुल

घोतुल संस्था आस्ट्रेलियाई एशियाई संस्कृति के समुदायों में पाई जाती है, लेकिन बस्तर के घोतुल अत्यधिक विकसित हैं और विश्व में सबसे अधिक संगठित हैं। समकालीन समाज में इनकी तुलना कम्यून से की जा सकती है। उदाहरण के लिए इज़राइल के "किब्बुट्ज़" की संस्था देख सकते हैं, जिसमें बच्चों को उनके माता-पिता से अलग कर सामुदायिक ढंग से उनके पालन-पोषण करने का प्रयत्न किया गया। भारत में अन्य जनजातियों में भी ऐसी संस्थाएँ पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए नागाओं में गांव की चौकी (village guard room) और औराँव में लड़कों के क्लब। समाजशास्त्रियों का कहना है कि मुड़ियाओं के लिए घोतुल सामाजिक और धार्मिक जीवन का केंद्र है। यह बच्चों को शैक्षणिक कार्य भी सौंपता है। पांच या छः साल की उम्र के बाद सभी अविवाहित मुड़िया लड़के-लड़कियाँ घोतुल के सदस्य हो जाते हैं। वे रात में घोतुल में सोते हैं। घोतुल की देखभाल, सफाई, रख रखाव की जिम्मेदारी भी उनकी होती है। दिन में वे अपने माता-पिता के घर चले जाते हैं और विभिन्न कार्यों में उनकी सहायता करते हैं। विवाह के बाद वे घोतुल छोड़ देते हैं।

घोतुल की सदस्यता बड़ी सावधानी के साथ व्यवस्थित की जाती है। कुछ दिन तक परीक्षण में रहने के बाद लड़के-लड़कियों को एक विशेष उपाधि दी जाती है। इस उपाधि के साथ निश्चित ओहदा (पदवी) और सामाजिक जिम्मेदारी सौंपी जाती है। समाज को संगठित और अनुशासन में रखने के लिए नेता नियुक्त किये जाते हैं। लड़कों का नेता **सरदार** कहलाता है और लड़कियों की नेता **बेलोसा** है। लड़के सदस्यों को **चेलिक** और लड़की सदस्यों को **मोतिआरी** कहते हैं। **चेलिक** और **मोतिआरी** के आपसी संबंध उस घोतुल के परंपरागत नियमों और विनियमों से नियंत्रित होते हैं, जिनके वे सदस्य होते हैं। वास्तव में घोतुल अपने सदस्यों को अनुशासन सिखाता है और उनमें भाईचारे की एवं मित्रता की भावना का विकास करता है।

9.4 परिवार, सामाजिक वर्ग और समाजीकरण

यहाँ परिवार और समाज के दो आयामों को एक साथ लिया जा रहा है, क्योंकि परिवार से तात्पर्य न केवल उसके आकार, स्वरूप और प्रकार से है, बल्कि उसकी सामाजिक स्थिति से भी है। किसी परिवार की सामाजिक स्थिति का निर्धारण उसकी

जाति, प्रजाति और समाजिक वर्ग आदि से होता है। पश्चिम में केवल सामाजिक वर्ग की ओर ही समाज वैज्ञानिकों का ध्यान गया है, हालाँकि प्रजाति को भी कुछ महत्व दिया गया है। भारत में परिवार या जाति अथवा किसी अन्य आयाम या अभिकरण के संदर्भ में समाजीकरण पर विशेष अध्ययन नहीं किये गये हैं। इसलिए परिवार और समाजीकरण के संबंधों को स्पष्ट करने के लिए हम अपने ही अनुभवों का सहारा लेंगे। स्कूल के संदर्भ में सामाजिक वर्ग, परिवार और समाजीकरण के बीच संबंधों को स्पष्ट करने के लिए हम अन्य देशों के उदाहरण भी देंगे।

उपभाग 9.2 में यह पहले ही कहा जा चुका है कि मानव समाजों में समाजीकरण की प्रमुख संस्था परिवार है, जो बच्चों को समाज के सदस्य के रूप में बदल देता है। व्यक्ति के जीवन में जन्म के बाद परिवार ही वह संस्था है जिसमें वह जीवन में सबसे पहले, लंबे और सबसे घनिष्ठ पारस्परिक व्यवहार का अनुभव करता है।

फिर भी, किसी परिवार के सदस्य बच्चे को जो सिखाना अथवा देना चाहते हैं, वह उस परिवार विशेष के ऐतिहासिक एवं सामाजिक अनुभवों के कारण सीमित होता है। इसके परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि बच्चों के पालन-पोषण के तरीकों और साथ ही सामाजिक संबंधों एवं कुशलता के संबंध में उनकी मनोवृत्ति और व्यवहार में एक परिवार से दूसरे परिवार में अंतर होता है। प्रत्येक बच्चे को उस यथार्थ एवं सांस्कृतिक विरासत को प्राप्त करने के लिए, जिन्हें उसका परिवार अनुभव करता है, अनुपम ढंग से तैयार किया जाता है।

9.4.1 व्यवहार और परिवार

परिवार ही बच्चों के मन में उचित व्यवहार करने, निर्णय करने और बड़ों के आदेशों का पालन करने आदि की सीख देता है। इसके अलावा, परिवार में ही बच्चे वस्तु एवं सेवाओं के उत्पादन और उपभोग में अपनी भूमिका अदा करने के लिए आवश्यक दृष्टि और कुशलता सीखते हैं। प्रत्येक परिवार घर के कामकाज में श्रम के बँटवारे का सिद्धांत अपनाता है और परिवार के बच्चों को काम के विचार से परिचित कराता है। इस प्रकार, आर्थिक भूमिकाओं में प्रारंभिक समाजीकरण परिवार में ही होता है।

जैसे-जैसे दूसरों के साथ संपर्क बढ़ता है बच्चे को समवयस्क साथी, स्कूल आदि अन्य विकल्प मिलने लगते हैं। उसका अन्य सामाजिक संस्थाओं या अभिकरणों जैसे कि स्कूल और पड़ोस के संगी-साथियों से परिचय होने लगता है। माता-पिता का असर कम होने लगता है, नये संबंध समूह (जैसे कि संगी-साथी) अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार बच्चे को पारिवारिक समूह संबंधों के साथ, जिनके बारे में उसने प्रारंभ में सीखा था, अनेक अतिरिक्त समूह संबंधों और दबावों से निपटना पड़ता है।

समाजीकरण के लिए प्रासंगिक बच्चे की शैक्षिक निपुणता पर पारिवारिक पृष्ठभूमि के प्रभाव के बारे में अनेक अध्ययन किये गये हैं। फिर इन अध्ययनों का एक प्रमुख निष्कर्ष यह है कि अगर बच्चा किसी श्रमजीवी परिवार का सदस्य है, जहाँ ज्ञान की उपलब्धियों पर कम ज़ोर दिया जाता है, तो बच्चे पर स्कूल का प्रभाव नकारात्मक पड़ता है, क्योंकि स्कूल पढ़ाई में अच्छे नतीजे और खास किस्म के व्यवहार पर ज़ोर देता है, जो बच्चे के परिवार के लिए असंगत है। फिर उसके अलावा अनुसंधानकर्ताओं ने इस ओर भी संकेत किया है कि श्रम जीवी माता-पिता की अपेक्षा मध्यवर्गीय माता-पिता स्कूल की समाजीकरण की भूमिका को मजबूत बनाने के लिए अध्ययन में सफलता की आवश्यकता और आम तौर पर उपलब्धि मूलक मूल्यों के महत्व पर जोर देते हैं। इसके अतिरिक्त, पिता के पेशे और बच्चों के समाजीकरण दिशामान अंतर के बीच भी संबंध दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, एक श्रमजीवी पिता को अपने काम में कम स्वतंत्रता और संतोष होता है, वह अपने परिवार के सदस्यों विशेष रूप से अपने पुत्र के प्रति निरंकुश और सख्त होता है।

9.4.2 समाजीकरण और संचार

भाषा का महत्व और सामाजिक वर्ग के अनुसार माता-पिता और बच्चों में संचार के प्रतिमान का अंतर अन्य ऐसे आयाम हैं, जिनका समाज वैज्ञानिकों ने अध्ययन किया है। इनमें बेसिल बर्नस्टीन का नाम उल्लेखनीय है। उनके अनुसार भाषा के इस्तेमाल की पद्धतियाँ और शिक्षण शैलियाँ वर्गों के अनुसार भिन्न होती हैं। उन्होंने पाया कि सामाजिक ढाँचे, बोली के रूप में और बाद में स्कूल में व्यवहार के नियमों के बीच संबंध है। उदाहरण के लिए उन्होंने दावा किया कि समाज के विभिन्न वर्गों के बच्चे शिक्षा का अवसर मिलने पर अलग-अलग प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं और स्कूल के संज्ञानात्मक उद्देश्य और शिक्षक की शैली के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का एक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व बच्चे की भाषा या भाषाई संहिता है। उनका यह भी दावा था कि अलग-अलग सामाजिक ढाँचे अलग-अलग किस्म की बोली व्यवस्था को जन्म देते हैं। जब बच्चा अपनी भाषा (बोली) सीखता है, वह साथ ही अपने सामाजिक ढाँचे की आवश्यकताओं को भी सीखता समझता है, जो सामाजिक वर्ग के अनुसार बदलते हैं। इसलिए मजदूर वर्गों के बच्चों की भाषा में सीमित शब्दावली होती है, जबकि मध्यम वर्ग के बच्चों की शब्दावली में ऐसी कोई कमी नहीं होती। अध्यापक अक्सर मध्य वर्ग के होते हैं, और मध्य वर्ग के बच्चों के साथ बेहतर संचार संबंध स्थापित कर सकते हैं, क्योंकि उनकी भाषा समान होती है। उनकी शब्दावली, अर्थ, वाक्य विन्यास एक से होते हैं। इस प्रकार श्रमजीवी वर्ग का बच्चा अध्यापक के साथ ठीक तरह से विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर सकता। वह अपनी पढ़ाई इस कमी के साथ शुरू करता है, जो इस सीमित सहयोग के कारण समूचे स्कूल जीवन के दौरान उसे प्रभावित करती है।

स्कूली शिक्षा के विभिन्न पहलुओं को बच्चे के परिवार से जोड़ते हुए अनेक अध्ययन किये गये हैं। समाजीकरण में परिवार और सामाजिक वर्ग के महत्व को दर्शाने के लिए हमने घर के और बाहर के, विशेष रूप से स्कूल के कुछ ही उदाहरण दिये हैं। हालाँकि हम यह उल्लेख करना चाहते हैं कि ये अध्ययन केवल दिशा संकेत करते हैं और निर्णायक तथ्य नहीं हैं।

9.4.3 स्कूल और समाजीकरण

"स्कूल" शब्द का प्रयोग यहाँ विविध औपचारिक शैक्षिक संस्थाओं के लिए किया गया है। ये संस्थाएँ समकालीन उद्योग प्रधान या औद्योगिक तथा जटिल शहरी समाज की प्रमुख विशेषताएँ है। हम यहाँ केवल यह बताएँगे कि स्कूल विद्यार्थियों के लिए दो संदर्भ (परिस्थितियाँ) पेश करते हैं। पहला है कक्षा का औपचारिक संदर्भ जिसमें समाजीकरण की मात्रा का निर्धारण पाठ्य पुस्तकों और शिक्षण के संज्ञानात्मक उद्देश्यों द्वारा किया जाता है। दूसरा संदर्भ अनौपचारिक है और शिक्षकों के साथ और छात्रों के आपस में व्यक्तिगत संबंधों में देखा जा सकता है।

कालान्तर में स्कूल द्वारा सामाजिक नियंत्रण बढ़ने लगता है और अध्यापक की निरंतर बढ़ती व्यावसायिकता के कारण समाजीकरण के अभिकरण के रूप में परिवार का प्रभाव कम होने लगता है। इस प्रकार समाजीकरण और शिक्षा से प्राप्त ज्ञान दोनों ही पाठ्यक्रम एवं पाठ्य चर्चा के केंद्र बिंदु बन जाते हैं और दोनों निश्चित सामाजिक व्यवहार का आधार बन जाते हैं। माता-पिता नैसर्गिक प्रवृत्ति और प्यार से जो कुछ करते हैं, वही कार्य व्यावसायिक लोगों को स्पष्ट नियमों और औचित्य के साथ करना होता है।

स्कूल की समाजीकरण की प्रक्रिया परिवार में इसी प्रक्रिया की सहायक हो भी सकती है और नहीं भी। कहीं-कहीं, स्कूल की समाजीकरण प्रक्रिया घर की समाजीकरण प्रक्रिया के मूल्यों, मानदण्डों और व्यवहार के विपरीत भी हो सकती है और घर के रीति-रिवाज और रहन-सहन के विपरीत व्यक्ति को मोड़ सकती है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दी गयी जगह का इस्तेमाल कीजिए।
ख) अपने उत्तरों की इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से तुलना कीजिए।

1 संक्षेप में विवेचना कीजिए कि जनजातियों में समाजीकरण कैसे होता है? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 समाजीकरण की प्रक्रिया में स्कूल की भूमिका पर टिप्पणी कीजिए। पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

9.5 स्त्री-पुरुषों की भूमिका

प्रत्येक समाज में स्त्री-पुरुषों की भूमिका की निश्चित व्यवस्था होती है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक संस्कृति की एक प्रक्रिया होता है जिसके जरिए वह बच्चों को उस भूमिका के लिए तैयार करती है जिसकी वयस्क होने पर समाज उनसे उपेक्षा करता है तथा उनके लिए आवश्यक समझता है। ये भूमिकाएँ लिंग, जातीयता और सामाजिक वर्ग आदि के आधार पर बदलती रहती हैं। निःसंदेह, लगभग विश्व भर में यौन (sex) भेद सबसे अधिक बुनियादी वर्ग है, और स्त्री-पुरुष के शारीरिक अंतर को प्रकट करता है, जबकि लिंग भेद यौन से संबंधित सामाजिक अंतर को प्रकट करता है।

समाजीकरण प्रक्रिया की सफलता उन अध्ययनों से प्रकट होती हैं, जो दिखाते हैं कि लिंग पहचान व्यक्तित्व निर्माण का अपरिवर्तनीय मूल मंत्र है और प्रत्येक मनुष्य के जीवन के प्रारंभिक चरण में यह दृढ़ता के साथ स्थापित हो जाती है। पुरुष और स्त्री का शारीरिक अंतर जन्मजात है, लेकिन विभिन्न संस्कृतियों और समाजों में लिंग की भूमिका में स्पष्ट अंतर दिखायी देता है। जब शारीरिक अंतर को सामाजिक जीवन में महत्व दिया जाता है तो वे पुरुषों और महिलाओं की भिन्न भूमिकाओं को जन्म देते हैं यद्यपि ये अंतर जन्मजात (सहज, स्वाभाविक) नहीं होते। नृविज्ञानिकों ने एक संस्कृति और समाज से दूसरी संस्कृति और समाज में भिन्न स्त्री-पुरुष भूमिकाओं को प्रकट करने के लिए विभिन्न संस्कृतियों के उदाहरण दिये हैं। जैसे शिकार करने वाले समाज में जहाँ पुरुष लोग शिकार के लिए औज़ार और हथियार बनाने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं, महिलाओं की भूमिका

अधिकांशतः निष्क्रिय होती है। वहाँ महिलाएँ प्रजनक गतिविधियों में प्रमुख भूमिका निभाती हैं। इसके विपरीत, अफ्रीका में, कृषि प्रधान समाज में महिलाएँ उत्पादक कार्यों में काफी सक्रिय भूमिका निभाती हैं।

9.5.1 लिंग संबंधी अध्ययन

समाजशास्त्रियों ने हाल ही में लिंग के संबंध में व्यवस्थित अध्ययन में रुचि लेना आरंभ किया। सबसे अधिक अनुसंधान समाजीकरण प्रक्रिया पर किया गया। समाजीकरण प्रक्रिया लगभग सभी समाजों में स्त्रियों और पुरुषों के बीच अंतर करती है जिससे पुरुषोचित और स्त्रियोचित (मर्दाना-जनाना) भूमिकाएँ, छवि, व्यवहार पद्धतियाँ और कार्य पैदा होते हैं। जैसे यह समझा जाता है कि महिलाएँ आज्ञाकारी (विनम्र) कमजोर और आश्रित होती हैं, मानो स्त्रियों में ये गुण जन्मजात होते हैं, जबकि क्रियाशीलता, आक्रामकता और स्वतंत्रता पुरुषोचित गुण माने जाते हैं। इसके अलावा, श्रम का विभाजन भी लिंग के अनुसार किया जाता है। उदाहरण के लिए घर-गृहस्थी का काम औरतों को दिया जाता है और बाहरी, सार्वजनिक और उत्पादन से जुड़े काम पुरुषों को दिए जाते हैं। फिर भी, अलग-अलग जनजातियों में काम के विभाजन में अंतर हो सकता है, (उदाहरण के लिए मुड़िया जाति को देख सकते हैं)।

आपने देखा होगा कि लड़कियों को आज्ञाकारी और नम्र होना पड़ता है। अधिकांश भारतीय परिवारों में उन्हें न केवल अपने माता-पिता बल्कि अपने भाइयों के आदेश मानने पड़ते हैं। उनसे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे न तो बाहर जाएँगी और न काम में पहल करेंगी। उन्हें विस्तार में ये निर्देश दिये जाते हैं कि वे कब क्या पहनें। शील-संकोच पर बहुत जोर दिया जाता है। यह उम्मीद की जाती है कि वे जोर से न हँसें। यद्यपि अब महानगरों में यह स्थिति बदल रही है, फिर भी बहुत अधिक प्रबुद्ध परिवार भी लड़की की शादी के समय दकियानूसी व्यवहार करते हैं। अनेक परिवारों में लड़कियों को कठिन श्रम की माँग करने वाले विषय (विज्ञान, गणित अथवा डाक्टरी या इंजीनियरिंग से संबंधित विषय) लेने पर निरुत्साहित किया जाता है। ऐसा व्यवहार उन परिवारों में भी किया जाता है जहाँ लड़कियों की तुलना में लड़के पढ़ने लिखने में तेज़ नहीं होते। यही नहीं, लड़कों को विज्ञान और अन्य व्यावसायिक पाठ्यक्रम लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। अगर माता-पिता केवल एक बच्चे की शिक्षा का खर्च उठा सकते हैं (दिल्ली और मद्रास जैसे शहरों में भी) तो इस बात की संभावना अधिक होती है कि लड़की के स्थान पर लड़के को ही उच्च शिक्षा के लिए भेजेंगे।

9.5.2 यौन संबंधी भेदभाव

यह भेदभाव इस सामाजिक अपेक्षा पर आधारित होता है कि लड़की काम नहीं करेगी, यद्यपि आजकल लड़कियों की बहुत बड़ी संख्या महानगरों में काम कर रही है। इसके अलावा एक भावना यह भी रहती है कि लड़कियाँ तो शादी के बाद घर गृहस्थी संभालेंगी और मायका छोड़ देंगी।

चूँकि माता-पिता, दादा-दादी, मित्र, शिक्षक आदि समाजीकरण के अभिकर्ता (करण) होते हैं, यह स्थिति और जटिल हो जाती है क्योंकि यह सब घर के भीतर और बिल्कुल व्यक्तिगत आधार पर किया जाता है। इसके अलावा, यह भेदभाव उन व्यक्तियों के जरिए किया जाता है जो भावात्मक रूप में इस प्रक्रिया से जुड़े हैं। यह स्थिति इस तथ्य के कारण और भी जटिल हो जाती है कि लड़के लड़कियाँ वैसा ही आचरण करना चाहते हैं, जैसा उनके माता-पिता चाहते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनके माता-पिता प्रसन्न होते हैं। वे उन लोगों को भी नाराज़ नहीं करना चाहते हैं जिनसे वे प्यार करते हैं।

समाजीकरण पर बहस और यौन भूमिका रुढ़िबद्धता और भेदभाव से जुड़ी है। जब सामाजिक भूमिकाएँ लिंग के आधार पर निर्धारित की जाती हैं, जिनसे भेदभाव होता है या औरतों पर अनुचित प्रतिबंध लगाए जाते हैं, तब इन्हें चुनौती दी जाती है। इस संबंध में रुढ़िबद्धता और भेदभाव के साथ-साथ अन्य शब्द पूर्वाग्रह और यौनवाद हैं। यद्यपि इनमें से प्रत्येक के अलग-अलग कार्य हैं, तथापि वे सभी उसी प्रतिबंध (नियंत्रण) के हिस्से हैं, जिनके कारण महिलाएँ दबाव अनुभव करती हैं। समाजीकरण से निर्धारित और निर्मित ये प्रतिबंध कुछ मनोवृत्तियों, मूल्यों, प्रतिमानों, रीति-रिवाजों और अपेक्षाओं से मिलकर बनते हैं। ये शब्द महिलाओं के प्रति किये गये भेदभाव और स्थिति को रेखांकित करते हैं क्योंकि (क) पुरुष औरतों से श्रेष्ठ समझे जाते हैं और (ख) औरतों को महत्वपूर्ण जगहों से वंचित रखा जाता है। भेदभाव के कुछ प्रमुख उदाहरण है : औरतों को पुरुष की तुलना में एक जैसे काम के लिए कम मजदूरी देना और लिंग के आधार पर उन्हें शिक्षा के अवसरों और कुछ कामों से वंचित करना। इस संदर्भ में यह उदाहरण दिया जा सकता है कि कृषि में महिला श्रमिकों को पुरुषों से कम मजदूरी दी जाती है। इसके अलावा लड़कों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है क्योंकि वे परिवार की आय को बढ़ाएँगे। लेकिन अधिकांश परिवारों में लड़कियों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। इस तरह के भेदभाव का स्रोत रुढ़िवादी व्यवहार है (किसी वर्ग के सदस्यों द्वारा समान रूप से अपनाया गया व्यवहार)। पुनः यह बात किसी समूह, स्त्रियों, हिंदू या नीग्रो किसी के भी विषय में कही जा सकती है।

इसलिए जब पहले हमने यह कहा कि समाज नवजात शिशु का समाजीकरण करता है या बच्चे को समाज का उपयोगी सदस्य बनाने के लिए उसका समाजीकरण करता है तो हमने कुछ विशेषताओं की चर्चा की थी, जो समाज के सभी सदस्यों में होती हैं, चाहे वे लड़के हों या लड़कियाँ, हिन्दू हों या मुसलमान, गाँव वाले हों या शहर वाले, जनजातीय हों या गैर जनजातीय। समाजीकरण का कार्य अनेक अभिकरणों (एजेंसियों) द्वारा किया जाता है। हमने उनमें समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण वे रूप में परिवार का अध्ययन किया।

9.6 संचार माध्यम और समाजीकरण

समाजीकरण समाजों में जन संचार के साधन जैसे कि पुस्तकें, रेडियो, समाचारपत्र, फिल्म या सिनेमा, रिकार्ड और वीडियो उन लोगों के समाजीकरण साधन हैं जो या तो उनके पाठक हैं या श्रोता और दर्शक हैं। जन संचार के ये साधन (विशेष रूप से फिल्म, रेडियो और टेलीविजन) एक साथ राष्ट्रव्यापी श्रोताओं को समान संदेश पहुँचाते हैं। इन साधनों ने सभी सीमाओं को समाप्त कर दिया है। इसलिए समाजीकरण पर इनका प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यहाँ हमारा संबंध बुनियादी रूप से उस संदेश एवं छवियों से है जो प्रसारित एवं प्रक्षेपित किये जाते हैं। जन संचार माध्यमों के जरिए संदेश और छवियों के प्रभाव से समाजीकरण प्रक्रिया की विषय वस्तु बनती है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए लिंग और समाजीकरण के संदर्भ में निश्चित सवाल यह होगा — जन संचार के साधनों विशेष रूप से टेलीविजन में पुरुषों और स्त्रियों की कैसी छवि प्रदर्शित की जाती है? अथवा ग्रामीण जनता के संदर्भ में हम पूछ सकते हैं : ग्रामीण जनता की कल्पना (छवि) कैसी है? और क्या ये संदेश गाँव वालों के लिए उपयोगी हैं? क्या उनकी छवि वास्तव में उनके अनुभवों का प्रतिनिधित्व करती है और अगर ऐसा है तो वह ग्रामीण भारत के किस हिस्से का प्रतिनिधित्व करती है ? या फिल्मों में हिंसा का बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ता है? भारतीय समाज के सामने आने वाले समस्त आयामों के संदर्भ में ऐसे सवाल पूछे जा सकते हैं।

एक अन्य रोचक सवाल यह है कि सबसे अधिक महत्वपूर्ण माध्यम कौन सा है और किसके लिए? उदाहरण के लिए भारत में टेलीविजन सभी के लिए सबसे महत्वपूर्ण माध्यम हो गया है, महानगरों में बच्चों के लिए कॉमिक्स महत्वपूर्ण हैं, जबकि ग्रामीण इलाकों तक में अभिजात वर्ग के परिवारों में वीडियो बहुत ही लोकप्रिय है।

9.6.1 जनसंचार माध्यमों में सन्देश

फिर भी, समाजीकरण के संदर्भ में निर्णायक सवाल संदेश और छवि से संबंधित है। संचार माध्यमों के इस्तेमाल और उनके प्रभाव के बारे में हमारे देश में बहुत ही कम अध्ययन किये गये हैं। हाल ही में पाठ्य पुस्तकों, कॉमिक्स, फिल्मों और टेलीविजन पर महिलाओं की छवि और बच्चों पर उनके प्रभाव की ओर विद्वानों और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का ध्यान गया है। उदाहरण के लिए अधिकांश पाठ्य पुस्तकों में दिखाया जाता है कि औरतें घर पर काम करती हैं और आदमी कमाई करता है। विशेषज्ञों का कहना है कि जहाँ तक निम्न आय वर्ग का सवाल है औरतें जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिए हमेशा से कार्य करती रही हैं। इसके अतिरिक्त बड़े नगरों में यहाँ तक मध्य वर्ग की औरतें भी आजकल जीवन यापन करने और उच्च शिक्षा के कारण उत्पन्न सामाजिक आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए काम कर रही हैं।

अन्य देशों में संचार माध्यमों पर किये गये अधिकांश अध्ययनों में या तो टेलीविजन पर ध्यान केंद्रित किया गया है या यह नतीजा निकाला गया है कि बच्चों द्वारा प्रयुक्त प्रमुख माध्यम टेलीविजन है, यद्यपि अन्य प्रमुख संचार माध्यम भी हैं, उदाहरण के रूप में कॉमिक्स, पुस्तकें, फिल्में आदि। टेलीविजन देखना, विश्व भर में खाली समय बिताने का प्रमुख काम हो गया है। संचार माध्यम के द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया पर विचार करने के लिए हम टेलीविजन का उदाहरण लेंगे। जो सवाल यहाँ उठेंगे उनमें से कुछ अन्य संचार माध्यमों पर भी लागू होंगे और कुछ अप्रासंगिक भी होंगे।

9.6.2 दूरदर्शन का प्रभाव

टेलीविजन अपने संदेश के जरिए दर्शक के साथ सीधा संपर्क करता है। यह संपर्क एक तरफा होता है और इसमें सामाजिक संपर्क या व्यक्तिगत संपर्क शामिल नहीं है। साथ ही यह अभिकरण परिवार के अभिकरण के भीतर की व्यवस्था है, क्योंकि लोग अपने घर में ही टेलीविजन देखते हैं। इसमें सामाजिक और लोगों की पारस्परिक क्रिया शामिल नहीं होती। इसके अलावा, यह एक अन्य अभिकरण अर्थात् परिवार में होता है। क्योंकि यह आम तौर पर घर पर ही देखा जाता है। यह किसी समाज विशेष से जुड़ी मान्यताओं के विरुद्ध अन्य मान्यताओं का प्रचार कर सकता है। इसका संदेश कहीं निरर्थक भी हो सकता है क्योंकि हमारी जनसंख्या का बड़ा हिस्सा अशिक्षित है और ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है, जबकि कार्यक्रम शहरी दर्शकों को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। इस प्रकार इसके द्वारा प्रसारित मान्यताएँ और आचरण, प्रतिमान माता-पिता द्वारा अपनायी गई मान्यताओं के विरुद्ध हो सकते हैं। माता-पिता कई तरह से इसे रोकने का प्रयत्न करते हैं, जैसे दूरदर्शन देखने पर कठोर नियंत्रण (विशेष रूप से रविवार को अथवा इम्तहान के दौरान) और कुछ कार्यक्रमों को देखने की अनुमति प्रदान न करना (देर रात की वयस्क फिल्में)। लेकिन, स्कूल और पड़ोस में बच्चे के साथी या मित्र उसके साथ किन्हीं कार्यक्रमों की चर्चा करके उसे प्रभावित कर सकते हैं। शिक्षक भी उन पर टिप्पणी कर सकते हैं। इसके अलावा कार्यक्रमों में जो दिखाया जाता है, उस पर माता-पिता का प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं होता।

इस संदर्भ में अन्य देशों में किये गये अध्ययनों में मुख्य रूप से किन समस्याओं की चर्चा है? अधिकांश अध्ययनों में दर्शक के रूप में बच्चों की भूमिका और बच्चों पर टेलीविजन के प्रभाव पर जोर दिया गया है। संचार माध्यमों के जरिए समाजीकरण पर आम राय यह है कि इसमें, विशेष रूप से बच्चों के लिए, लेकिन आम तौर पर परिवारों के लिए भी नुकसानदेह अनुभव शामिल है। कुछ लोग टेलीविजन द्वारा (यहाँ तक कि सिनेमा द्वारा भी) बच्चों एवं किशोरों में हिंसा और अपराधों की प्रवृत्ति पैदा करने की चर्चा करते हैं। यद्यपि ये अध्ययन केवल अटकलें हैं, लेकिन इस विषय में आगे अनुसंधान करने की आवश्यकता की ओर संकेत करते हैं।

अब तक, आपकी भी राय होगी कि टेलीविजन का संदेश एक तरफा है। यह सच है कि इसका प्रत्यक्ष प्रभाव होता है, लेकिन यह सामाजिक संदर्भ से कटा नहीं है जब तक यह काम घर में और परिवार के सदस्यों की उपस्थिति में किया जाता है। टेलीविजन देखना एक सामाजिक गतिविधि है। दर्शक कार्यक्रमों पर अनुकूल या प्रतिकूल टिप्पणियाँ करते हैं। फिर दर्शकों में क्रिया-प्रतिक्रिया भी उतना ही महत्वपूर्ण तत्व है, जितना कि कार्यक्रम का समय और देखने का स्थान। टेलीविजन अपने में कुछ अर्थ नहीं रखता बल्कि देखने के सामाजिक संदर्भ में इसके प्रभाव पर विचार किया जाता है। दूसरे शब्दों में, कुछ सीमा तक कार्यक्रम की प्रतिक्रिया इस तथ्य से निर्धारित होती है कि आप इसे अपने माता-पिता के साथ देख रहे हैं या अकेले और क्या आप इसे घर पर देख रहे हैं या बाहर देख रहे हैं और ऐसी ही अन्य बातें।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का इस्तेमाल कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए

1 इस बात का वर्णन कीजिए कि समाजीकरण की प्रक्रिया में यौन संबंधी भेदभाव कैसे होता है ?

.....

.....

.....

.....

.....

2 लोगों के समाजीकरण में संचार माध्यमों के प्रभाव पर टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

9.7 सारांश

हमने इस इकाई में देखा कि समाजीकरण के अनेक अभिकरण होते हैं। समाजीकरण इन अभिकरणों के जरिए काम करता है और विभिन्न प्रकार की व्यावहारिक पद्धतियों का प्रचार करता है। इनमें से कुछ अभिकरण हैं, परिवार, जाति, वर्ग, पर्यावरणीय और अन्य। वास्तव में हमने इस बात पर जोर दिया है कि लिंग संबंधी अंतर (लड़के और लड़कियाँ और स्त्री-पुरुषों के बीच) अधिकांशतः सीखी जाने वाली प्रक्रिया है। संचार माध्यम जैसे कि सिनेमा और टेलीविजन प्रचलित विश्वासों को मजबूत बनाते हैं। लेकिन कभी-कभी वे ऐसा नहीं भी करते। इस इकाई में समाजीकरण पर संचार माध्यमों के प्रभाव की समीक्षा की गई है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1 Kammeyer, Keaneth C.W. and Yetman, Norman R. 1979, *Sociology, Experiencing Changing Society,* Mass Allyn and Bacon, Inc. Boston.

2 Mckee James, B. 1981, *Sociology : The Study of Society,* Holt, Rinehart and Winston, New York.

शब्दावली

अभिकरण : साधन जिनके द्वारा समाजीकरण (हमारे मामले में) की प्रक्रिया में सहायता मिलती है यानी परिवार और स्कूल
बोली (उपभाषा) : यह बोलचाल की भाषा है और क्षेत्र परिवर्तन के साथ ही इसमें अंतर हो जाता है।
लिंग : लिंग दो प्रकार के होते हैं पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। यह मानव और जानवरों की योनिगत विशेषताओं की जैवकीय पहचान है। यहाँ लिंग स्त्री-पुरुष की सामाजिक भूमिकाओं का द्योतक है।
यौन : स्त्री और पुरुष का भेद । यौन शारीरिक भेद का द्योतक है।
घोतुल : बासबन में मुड़ियाओं में अविवाहित स्त्री पुरुषों का मिलन कक्ष।

बोध प्रश्न 1

1 किसी व्यक्ति का समाजीकरण करने के प्रमुख अभिकरण हैं परिवार, स्कूल, संगी-साथी, पड़ोस आदि। समाजीकरण को प्रभावित करने वाले कारकों के दो उदाहरण हैं। (1) सामाजिक वर्ग या जाति की सदस्यता (2) क्या कोई लड़का या लड़की है।

2 समाजीकरण की प्रक्रिया में शैशवावस्था तथा किशोरावस्था में परिवार, स्कूल तथा संगी-साथी की भूमिका मुख्य होती है जबकि प्रौढ़ावस्था में व्यावसायिक समूह की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

बोध प्रश्न 2

1 जनजातियों में समाजीकरण विशेष संस्थाओं जैसे कि मुड़ियाओं में घोतुल, नागाओं में गांव के चौकीदार के कक्ष के जरिए होता है। इन संस्थाओं में पाँच छह वर्ष की उम्र के सभी अविवाहित लड़के-लड़कियाँ साथ रहते हैं उन्हें शैक्षिक कार्य सौंपे जाते हैं और वे घोंतुल अथवा क्लब के रख-रखाव के लिए जिम्मेदार होते हैं। दिन में वे अपने माता-पिता के घर जाते हैं और विभिन्न कामों में उनकी सहायता करते हैं। लेकिन रात में वे घोतुल में सोते हैं। विवाह के बाद वे घोतुल को छोड़ देते हैं।

2 समाजीकरण के दो संदर्भ जो स्कूल उपलब्ध कराता है वे हैं औपचारिक संदर्भ और अनौपचारिक संदर्भ। औपचारिक संदर्भ पाठ्य पुस्तकों और शिक्षण प्रक्रिया के संज्ञानात्मक उद्देश्यों से निर्धारित होता है, जबकि अनौपचारिक संदर्भ का छात्रों के शिक्षकों और अपनी मित्र मंडली के साथ पारस्परिक संबंधों से पता लगता है।

बोध प्रश्न 3

1 समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान यौन संबंधी भेदभाव किया जाता है। यह मान लिया जाता है कि लड़कियाँ काम नहीं करेंगी, जबकि इन दिनों काफी लड़कियाँ महानगरों में काम कर रही हैं।

2 यौन रुढ़िवादिता कुछ किस्म के मनोवृत्ति, मूल्य, प्रतिमान, रीति-रिवाज और आकाँक्षाएँ हैं जो स्त्री-पुरुष के भिन्न समाजीकरण को स्वरूप प्रदान करती हैं। यह समझा जाता है कि पुरुष, स्वतंत्र, योग्य और आक्रामक होते हैं, जबकि औरतों को आश्रित, डरपोक और दब्बू समझा जाता है।

3 संचार माध्यम उदाहरण के लिए रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, पुस्तकें, सिनेमा, समाचार पत्र आदि क्षेत्र धर्म, लिंग, जाति और वर्ग की सीमाओं को पार करके लोगों को प्रभावित करते हैं। ये माध्यम देशभर के लोगों को एक ही सा संदेश देते हैं। इसलिए समाजीकरण में इनकी भूमिका निर्णायक होती है। यह संदेश और छवि दोनों पेश करते हैं, जैसे कि ''वीडियो'' फिल्म और टीवी आदि के मामले में होता है। ये लिंग, ग्रामीण और शहरी स्थिति के संदर्भ में प्रश्नों को निपटाते हैं। ये वयस्कों और बच्चों दोनों के दिमाग को प्रभावित करते हैं और उनकी मान्यताओं, आचरण और आकांक्षाओं को स्वरूप प्रदान करने या नया स्वरूप देने में सहायता करते हैं।

इकाई 10 शिक्षा की प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 शिक्षा से अभिप्राय
  10.2.1 जीवन भर सीखने की प्रक्रिया और शिक्षा
  10.2.2 औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा
10.3 भारत में शिक्षा प्रणाली के विकास का इतिहास
10.4 शिक्षा और असमानता
  10.4.1 शिक्षा का विस्तार
  10.4.2 शिक्षा के संबंध में अध्ययन
10.5 स्त्री शिक्षा
  10.5.1 स्कूली शिक्षा और साक्षरता
  10.5.2 निरक्षरता का प्रश्न
  10.5.3 शिक्षा और रोजगार
10.6 सारांश
कुछ उपयोगी पुस्तकें
शब्दावली
बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप बता सकेंगे कि :

- शिक्षा और सीखने की प्रक्रिया में क्या अंतर होता है;
- औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा जैसी शिक्षा की विभिन्न पद्धतियाँ क्या है;
- भारत में शिक्षा प्रणाली में ऐतिहासिक परिवर्तन कब, क्यों और किस प्रकार हुए; और
- समाज में शिक्षा के अवसरों का किस सीमा तक असमान वितरण हुआ है।

10.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों (इकाई 8 तथा 9) में हमने आपको समाजीकरण के स्वरूप तथा उसके अभिकरणों की जानकारी दी थी। इनसे पहले की इकाइयों में यह बताया गया था कि शिक्षा संस्थाओं का समाजीकरण-प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान रहता है। आगामी दो इकाइयों में हम भारत में शिक्षा संस्थाओं की प्रक्रियाओं तथा उनके प्रमुख पहलुओं की चर्चा करेंगे।

इस इकाई में हम शिक्षा का अभिप्राय समझने और हमारे समूचे जीवन में इसकी उपयोगिता का क्या महत्व है यह जानने का प्रयास कर रहे हैं। इस इकाई में शिक्षा प्रणाली के औपचारिक तथा अनौपचारिक पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया गया है तथा भारत में आधुनिक शिक्षा पद्धति के विकास तथा इतिहास की जानकारी दी गयी है। इसमें शिक्षा पद्धति तथा स्त्री शिक्षा में मौजूद असमानताओं पर प्रकाश डाला गया है तथा निरक्षरता की समस्या पर चर्चा की गई है। शिक्षा और रोजगार के विषय पर भी विचार किया गया है। वास्तव में इस इकाई में भारतीय समाज के संदर्भ में शैक्षणिक प्रक्रिया का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

10.2 शिक्षा से अभिप्राय

इस इकाई को पढ़ते हुए आप व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली में भाग ले रहे हैं। हम समझते हैं कि आपने इस ढंग से शिक्षा प्राप्त करने का फैसला इसलिए किया क्योंकि आप स्कूल की पढ़ाई पूरी नहीं कर सके या कॉलेज में दाखिला नहीं ले सके। अथवा आपने किसी और विषय की पढ़ाई की। ये कारण आपको सीधे-सादे और सामान्य से लग रहे होंगे। परन्तु हो सकता है कि इनके पीछे

कोई और कारण रहे हों। इन कारणों की जाँच करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि शिक्षा का यह स्वरूप अन्य स्वरूपों से किस तरह भिन्न है। सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि शिक्षा से अभिप्राय क्या है?

शिक्षा का शब्दकोशीय अर्थ है "चरित्र तथा मानसिक शक्तियों के विकास के लिए योजनाबद्ध शिक्षण।" योजनाबद्ध शिक्षण शब्दों का विशेष महत्व है, जिसका अर्थ है विशिष्ट अर्थों और संकेतों के प्रेषण की व्यवस्थित विधि। शिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक विद्यार्थी अध्यापक से ज्ञान प्राप्त करता है और यह प्रक्रिया औसत छात्र के बौद्धिक स्तर और आयु को ध्यान में रखकर तैयार की जाती है और उसी के अनुरूप उसका दर्जा तय किया जाता है। जब कोई छात्र या छात्रा स्कूल, कालेज अथवा विश्वविद्यालय में जाते हैं तो वहाँ औपचारिक शिक्षा प्राप्त करते हैं। जो शिक्षा आप ले रहे हैं, उसमें आपके सामने कोई अध्यापक नहीं है, बल्कि आप इस समय जो पाठ पढ़ रहे हैं, उससे संबंधित जानकारी बहुत विस्तार से और सुबोध ढंग से दी जाती है ताकि आपको इस सामग्री को समझने या उसकी व्याख्या के लिए किसी अन्य व्यक्ति की जरूरत महसूस न हो। फिर भी जानकारी तो आपको दी गयी है और आप यह फैसला नहीं कर सकते कि इसमें से क्या आपके पाठ्यक्रम में है और क्या नहीं है। यही वह केंद्र है जहाँ शिक्षा और सीखने में महत्वपूर्ण अंतर दिखाई देता है।

10.2.1 जीवन भर सीखने की प्रक्रिया और शिक्षा

आपने यह उक्ति अवश्य सुनी होगी कि व्यक्ति जीवन भर सीखता रहता है। इसका मतलब है कि व्यक्ति किसी खास उम्र या अवस्था में ही नहीं सीखता अपितु हम जीवन के हर अनुभव से कुछ न कुछ सीखते हैं। परन्तु यह सीख स्कूल जैसी किसी विशेष संस्था के माध्यम से नहीं मिलती। उदाहरण के तौर पर किसी बाज़ार में घूमते हुए आप आम लोगों और उनके तरह-तरह के काम-धंधों के जारे में जान सकते हैं। इसी तरह आप जाति-प्रथा के बारे में जान सकते हैं।

वास्तव में सीखने के आपके ये अनुभव बहुत सार्थक होते हैं और यह प्रक्रिया ऐसी है, जिससे केवल आप ही लाभ उठा सकते हैं। दूसरी ओर, किसी विशेष विषय की शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है जिसमें आप अन्य लोगों के साथ मिलकर शामिल होते हैं। इसमें भागीदारी करना एक निर्धारित प्रणाली पर आधारित है, जिसमें अन्य विषयों में से संबंधित विषयों को क्रम दिया जाता है और उन्हें व्यवस्थित किया जाता है। अंत में अध्यापक आपके ज्ञान का मूल्यांकन करता है या परीक्षा होती है जिसके उत्तरों को आपको मूल्यांकन के लिए भेजना होता है। सीखने की प्रक्रिया में तो आप कहीं और कभी भी सीख सकते हैं, किंतु शिक्षा नियमित और नियंत्रित प्रक्रिया होती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि शिक्षा भी सीखने की प्रक्रिया है किंतु सीखने के सारे तरीकों को उस अर्थ में शिक्षा नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में हम इस समय इस शब्द का इस्तेमाल कर रहे हैं। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री एमाइल दुर्खाइम और टालकाट पार्सन्स के अनुसार स्कूल की कक्षाओं, अध्यापकों तथा विद्यालयों की व्यवस्था से सीखने की समूची प्रक्रिया बच्चे को समाज का सक्रिय सदस्य बनने में सहायक होती है। असल में बच्चे को सही ढंग से समाज के अनुकूल ढालने में विद्यालयों की शिक्षा बहुत आवश्यक है। परन्तु उन्होंने यह तथ्य ध्यान में नहीं रखा कि बच्चों में सामाजिक विषमताएँ भी होती है और उनके कारण बच्चों को स्वयं को स्कूल के अनुकूल ढालने में कितनी कठिनाइयाँ आती हैं।

10.2.2 औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा

शिक्षा औपचारिक भी हो सकती है और अनौपचारिक भी। यह सीधे अध्यापक द्वारा भी दी जा सकती है और पहले से तैयार ऐसे पाठ्यक्रम के माध्यम से भी दी जा सकती है जैसा आप इस समय पढ़ रहे हैं। इस पाठ को पढ़ते हुए आप जिस शिक्षा पद्धति में भाग ले रहे हैं उसे दूरस्थ शिक्षण कहा जाता है। इसमें आपकी शिक्षण सामग्री, परियोजनाओं आदि के प्रस्ताव, उपयोगी पुस्तकों की सूचना तथा अन्य संबंधित गतिविधियों का ज्ञान आप तक लिखित रूप में और संचार माध्यमों जैसे रेडियो, टेलीविजन और वीडियो कार्यक्रम के द्वारा पहुँचाया जाता है।

आप समाजशास्त्र में डिग्री प्राप्त करने के लिए पढ़ाई कर रहे हैं। दूरस्थ शिक्षण की इस पद्धति के माध्यम से कोई व्यस्त व्यक्ति वकील या डाक्टर कला के इतिहास या कलाकृतियों को ठीक-ठाक करने के संबंध में ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह लिखित पाठों अथवा श्रव्य-दृश्य माध्यमों से संभव है। यह प्रयास डाक्टर या वकील के रूप में उनके औपचारिक प्रशिक्षण का अंग नहीं होगा, बल्कि यह अपनी रुचि के विषयों के बारे में और अधिक जानने की प्रक्रिया होगी। इससे भले ही कोई डिग्री या डिप्लोमा नहीं मिलेगा परन्तु जिस क्षेत्र में वह व्यक्ति औपचारिक रूप से योग्य है उससे भिन्न किसी विषय की सम्यक जानकारी उसे अवश्य मिल जाएगी। इसलिए दूर शिक्षण पद्धति का उपयोग औपचारिक डिग्री के लिए प्रशिक्षण देने में भी किया जा सकता है और विभिन्न विषयों में ज्ञान बढ़ाने के उद्देश्य से भी किया जा सकता है।

कुछ मामलों में मूल्यांकन महत्वपूर्ण तथा आवश्यक हो सकता है तो कुछ मामलों में इसका कोई महत्व नहीं होता।

इसी प्रकार हमारी शिक्षा प्रणाली की अनौपचारिक पद्धति में भी मूल्यांकन परीक्षण आदि की व्यवस्था के बगैर आवश्यक ज्ञान प्रदान करना है। परन्तु दूरस्थ शिक्षण और अनौपचारिक शिक्षा के विषय में सामग्री तथा विधि की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण अंतर है। हमारे देश में अनौपचारिक शिक्षा का उद्देश्य उन लोगों को शिक्षित करना रहा है जो गरीबी तथा इसी तरह के अन्य कारणों से औपचारिक शिक्षा से वंचित रह गये हैं। दूसरे शब्दों में ये वे लोग हैं जो स्कूल गये ही नहीं या जिन्हें पढ़ाई पूरी होने से पहले ही स्कूल छोड़ना पड़ा। दूसरे शब्दों में इस कार्यक्रम का उद्देश्य उन लोगों को पढ़ना-लिखना सिखाना है जो औपचारिक शिक्षा पद्धति से लाभ नहीं उठा सके। इनमें मुख्यतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे उपेक्षित वर्गों तथा शहरों में गंदी बस्तियों एवं दूर-दराज के गांवों में रहने वाले लोगों के बच्चे शामिल हैं। स्कूली शिक्षा से वंचित रहने वाले बच्चों में

लड़कियों की संख्या काफी अच्छी है परन्तु कई सामाजिक आर्थिक समस्याओं के कारण अनौपचारिक शिक्षा की कक्षाओं में भी लड़कियाँ खुल कर भाग नहीं ले पातीं।

भारत में 1975-76 में 15 से 25 वर्ष की आयु के लोगों के लिए अनौपचारिक शिक्षा के नाम से बहुत बड़ा कार्यक्रम चलाया गया। बाद में चलाये गये अन्य कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों की भांति इस कार्यक्रम का उद्देश्य वंचित वर्गों को सार्थक शिक्षा प्रदान करना था। राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम अप्रैल 1979 में चलाया गया और इसका उद्देश्य 15 से 35 वर्ष के 10 करोड़ निरक्षर व्यक्तियों को साक्षर बनाना था। महात्मा गांधी की "नयी तालीम" या बुनियादी शिक्षा के आधार पर इसमें कोई हुनर सीखते हुए पढ़ने-लिखने सीखने की पद्धति अपनायी गयी। इसके अतिरिक्त पढ़ने वाले लोगों की सुविधा तथा आवश्यकता के अनुसार पाठ्यक्रम तथा पढ़ने का स्थान, समय और अवधि आदि तय करने का निश्चय किया गया। ये कार्यक्रम औपचारिक शिक्षा पद्धति के अंतर्गत नहीं आते। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य औपचारिक शिक्षा पद्धति के साथ मिलकर देश में व्याप्त निरक्षरता की समस्या हल करना है। भारत में पहला स्कूल खुले 150 वर्ष हो गये हैं। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के 40 वर्ष बाद भी देश की आधी जनसंख्या ही साक्षर हो पायी है। निरक्षर लोगों में आधी से अधिक महिलाएँ और लड़कियाँ हैं।

ऐसा अनुमान है कि सन् 2000 तक विश्व में 95 करोड़ 40 लाख लोग निरक्षर होंगे, जिनमें से 50 करोड़ केवल भारत में होंगे। अब आप समझ चुके होंगे कि शिक्षा की प्रक्रिया केवल साधनों की उपलब्धता से ही नहीं बल्कि कई अन्य सामाजिक आर्थिक पहलुओं से भी जुड़ी है। यह बात औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा पर लागू होती है। यह शिक्षा चाहे कक्षा में सीधे अध्यापक द्वारा दी जाए या पाठ्य पुस्तक के माध्यम से या प्रसारण से अथवा पशुओं की देखभाल सिखाने के लिए आयोजित कक्षाओं में दी जाए।

10.3 भारत में शिक्षा प्रणाली के विकास का इतिहास

भारत में शिक्षा प्रक्रिया के आरंभ पर नज़र डालने से पता चलता है कि हमारे यहाँ पहले गुरु-शिष्य परंपरा प्रचलित थी। इस परंपरा में गुरु द्वारा वैयक्तिक आधार पर शिक्षा दी जाती थी। यह शिक्षा मुख्यतया मौखिक वार्तालाप पर आधारित थी, किंतु आगे चलकर यह परंपरा ग्रंथों की व्याख्या और अनुशीलन पर आधारित हो गयी, जिसमें युद्ध कौशल से लेकर व्यक्तिगत नैतिकता तक के सभी विषयों पर गहन विचार-विमर्श किया जा सकता था। परन्तु इस प्रकार की शिक्षा बहुत कम लोगों को सुलभ हो सकती थी। प्रायः ऊंची जातियों तथा समाज में समृद्ध और शक्तिशाली वर्गों के बालक ही ऐसी शिक्षा ग्रहण कर सकते थे क्योंकि इतने लम्बे समय तक बच्चों को शिक्षा दिला पाना केवल समृद्ध वर्गों के ही बूते की बात थी।

विद्या प्राप्ति एक विशेष परिधि में सीमित थी और हिन्दुओं में ब्राह्मणों को समाज में विशेष सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त थी क्योंकि उन्हें इस विद्या को प्राप्त करने का विशेषाधिकार प्राप्त था। 18वीं शताब्दी के अंत से स्थिति धीरे-धीरे बदलने लगी। शहरीकरण में वृद्धि के फलस्वरूप नये-नये काम धंधे चालू होने लगे और सामूहिक रूप से शिक्षा पाने की प्रक्रिया का विस्तार होने लगा। इसी के आधार पर हमारे स्वदेशी प्राथमिक विद्यालय या पाठशालाएँ अस्तित्व में आयीं और जल्दी ही अनेक घरों में पाठशालाएँ खुल गयीं।

19वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में ब्रिटिश शासकों का ध्यान भारतीयों को शिक्षित करने की ओर गया। इसका कारण था बढ़ते हुए व्यापार, वाणिज्य और नौकरशाही में स्थानीय लोगों का सहयोग लेना। विशेषकर निम्न स्तर पर पश्चिमी ढंग की स्कूल पद्धति लागू होने से पहले देश के अनेक भागों में पाठशालाओं का सुव्यवस्थित रूप विद्यमान था। इन प्राथमिक विद्यालयों को उच्च वर्ग के लोग जमींदार, व्यापारी आदि अगली पीढ़ी को कुछ खास किस्म की भूमिका निभाने और कार्य करने का प्रशिक्षण देने के लिए खोलते थे। प्रत्येक पाठशाला में एक पुरुष अध्यापक तथा औसतन 10 से कम छात्र होते थे। लड़के आम तौर पर 8 वर्ष की उम्र में पढ़ना शुरू करते थे और 4 से 6 साल तक शिक्षा ग्रहण करते थे। उस समय के आलेखों में किये गये उल्लेख से पता चलता है कि पाठशालाओं में पढ़ाई शिक्षाशास्त्र तथा अनुशासन के कठोर नियमों के अनुसार होती थी।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर दिये गये स्थान पर ही लिखें।
ख) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलाएँ।

1 यह बताएँ कि शिक्षा से क्या अभिप्राय है? अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दें।

.....

.....

.....

.....

.....

2 शिक्षा और सीखने की प्रक्रिया में क्या अंतर है? पांच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

3 औपचारिक शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा क्या होती है? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

4 भारत में शिक्षा प्रणाली पर एक टिप्पणी लिखें। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में दें।

.....

.....

.....

.....

.....

10.4 शिक्षा और असमानता

आजादी के बाद औपचारिक शिक्षा संस्थाओं का सुव्यवस्थित जाल पूरे देश में फैला। इसके साथ-साथ अनौपचारिक शिक्षा की दिशा में भी कुछ प्रगति हुई। फिर भी आंकड़ों से (बार चार्ट-1) मालूम होता है कि अब भी समाज के अनेक वर्ग ऐसे हैं जो शिक्षा संस्थाओं के प्रभाव से अछूते हैं।

बार चार्ट-1

सम्बन्धित आयु वर्ग में जनसंख्या की तुलना में प्राथमिक शिक्षा में दाखिले का प्रतिशत
Enrolment at Elementary Stage as Percentage of the Population in the Corresponding Age-Group

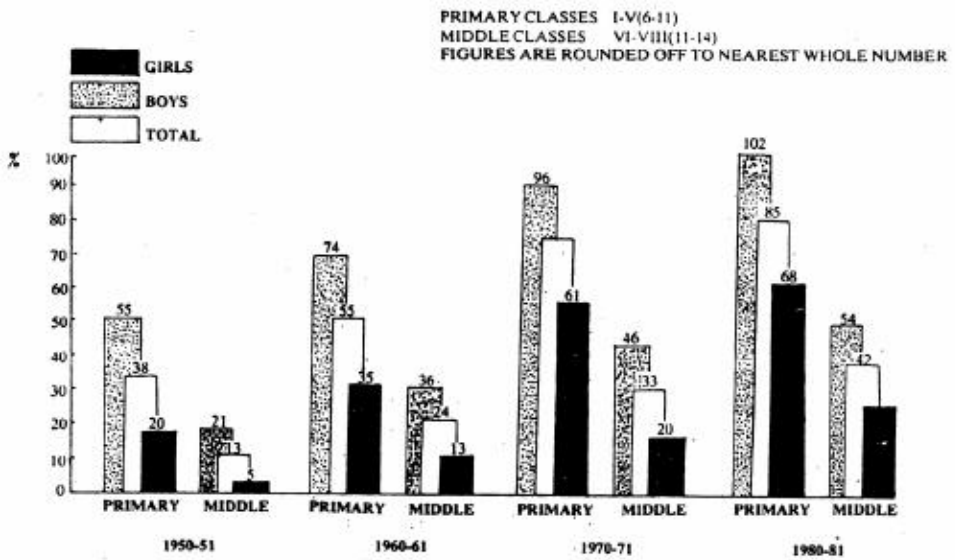

एक ओर तो हमारे यहाँ इतनी तेजी से विकास हो रहा है कि हमारे विशेषज्ञ संसार के श्रेष्ठतम व्यावसायिक लोगों से टक्कर लेने में सक्षम हैं और दूसरी ओर निरक्षर लोगों तथा स्कूल न जाने वाले व्यक्तियों की संख्या लगातार बढ़ रही है।

और भी कई विकासशील देश हैं जो हमारी तरह निरक्षरता की समस्या से जूझ रहे हैं। तथाकथित विकसित देशों में निरक्षरता की समस्या नहीं है किंतु वे औपचारिक स्कूली शिक्षा के स्थान पर कोई वैकल्पिक शिक्षा पद्धति की तलाश में हैं और शिक्षा प्राप्त करने के अवसरों में और समानता लाना उनकी महत्वपूर्ण समस्या है। अमरीका, ब्रिटेन तथा हालैण्ड जैसे देशों में आकर बसे अनेक लोग हैं और उनमें से अधिक संख्या ऐसे लोगों की है जो वहीं प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इसके अलावा स्थानीय लोगों में भी अनेक वर्गों के पास अन्य वर्गों की तुलना में साधनों का अभाव है। इस कारण उन देशों में शिक्षा के अवसरों में समानता के बारे में बहस जोर पकड़ती जा रही है।

10.4.1 शिक्षा का विस्तार

पिछले दो दशकों में इस विचार के कारण शिक्षा का पर्याप्त विस्तार हुआ है कि शिक्षा संस्थाओं को लोगों में और अधिक समानता लाने में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। इसके फलस्वरूप समानता के सिद्धांत तथा शिक्षा के साथ इसके सम्बन्ध के बारे में अलग-अलग व्याख्याएँ भी सामने आयी हैं। इस विषय पर आगे चर्चा करने से पहले शिक्षा के संदर्भ में समानता को परिभाषित कर लेना आवश्यक है। क्या इसका अर्थ सबके लिए समान शिक्षा या शिक्षा पाने का समान अवसर है? जैसा कि कहा गया है कि शिक्षा के अधिकार और शिक्षा के समान अधिकार में जमीन आसमान का अंतर है। सब के लिए समान शिक्षा के संकल्प का आधार यह मान्यता है कि सब व्यक्ति एक समान हैं। परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। हमारे विषमताओं से ग्रस्त समाज में अवसर की समानता का अर्थ है शिक्षा पाने की कोशिश करने का समान अवसर। पश्चिमी देशों में जहाँ शिक्षा के अवसरों में समानता पर अधिकांश बहस का सूत्रपात हुआ है। इस बात पर अधिक ध्यान दिया गया है कि प्राप्त शिक्षा में अंतर किस प्रकार का है न कि इस प्रश्न पर कि शिक्षा की सुविधायें सब को उपलब्ध हैं कि नहीं।

अधिकतर विकसित देशों में मुख्य प्रश्न इस बात पर उठाया गया है कि जहाँ शिक्षा की उपलब्धि सभी बच्चों को है वहाँ शिक्षा के नाम पर जो भी उपलब्ध है क्या वह हर वर्ग और समुदाय को हर समय एक ही कीमत पर मिल सकती है या नहीं। या क्या, कुछ लोग कुछ विशेष उपलब्धियों के कारण ज्यादा अच्छी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। यानि कि शिक्षा मिलना और किस प्रकार की शिक्षा मिलना कई और शर्तों पर निर्भर करता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से कम विकसित वर्गों के शिक्षा पूरी किए बिना स्कूल छोड़ने वाले तथा पढ़ाई में कमजोर रहने वाले बच्चों की संख्या बढ़ रही है। बेहतर शिक्षा उन बच्चों को मिलती है जिनके माँ-बाप अधिक संपन्न होते हैं। शिक्षा पूरी किये बिना स्कूल से उठने और साक्षरता कक्षाओं को छोड़ने के अनेक कारण हैं। इस इकाई के प्रारंभ में हमने आपसे कहा था डिग्री के लिए कालेज में नियमित पढ़ाई के बजाए आपने इस तरह की शिक्षा को क्यों चुना। हमने इस तथ्य के बारे में भी आपको बताया कि भारत में स्कूलों में दाखिला लेने वाले बहुत से बच्चे पढ़ाई पूरी किए बिना ही स्कूल छोड़ देते हैं। आप तो इस ढंग से शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं, परन्तु वे शिक्षा पाने के वैकल्पिक तरीकों को नहीं खोजते या खोज नहीं सकते। अब हम आपको संक्षेप में यह बताएँगे कि लोग क्यों पढ़ाई जारी नहीं रख सकते या जारी नहीं रखते।

10.4.2 शिक्षा के संबंध में अध्ययन

1950 के दशक में ब्रिटेन के कुछ समाजशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि नौकरी पेशा लोगों के बच्चे मध्य वर्ग के अन्य बच्चों की तुलना में अलाभान्वित रहते हैं। उनके अध्ययन में कहा गया है कि मध्यवर्गीय स्कूलों में बच्चा अपने आपको अपनी पारिवारिक और सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अनुसार ही ढाल पाता है। कुछ अन्य समाजशास्त्रियों की मान्यता रही है कि जीवन की उपलब्धियों में विषमताओं के लिए स्कूली शिक्षा की बजाय पारिवारिक परिस्थितियों में अंतर अधिक जिम्मेदार है। ब्रिटेन में शैक्षणिक अग्रता वाले क्षेत्रों का पता लगाने का कार्यक्रम तथा अमरीका में प्रोजेक्ट हेडस्टॉट (project headstart) नाम की योजना चलाए जाने के साथ शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी सहयोग या हस्तक्षेप का श्रीगणेश हुआ। संक्षेप में इन दोनों कार्यक्रमों का उद्देश्य कुछ चुने हुए स्थानों पर अलाभान्वित बच्चों के लाभ के लिए विशेष उपाय करना था। इनमें विशेष शिक्षा सामग्री उपलब्ध कराना, उन्हें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वस्थ बनाना तथा शिक्षा के अलावा अन्य गतिविधियों पर जोर देना जैसे उपाय शामिल थे। हमारे देश में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के बच्चों के लिए स्थान सुरक्षित रखने की नीति शुरू करने का उद्देश्य भी इसी प्रकार का है। इन उपेक्षित वर्गों के बच्चों को कुछ अतिरिक्त सहायता की जरूरत है और आरक्षण की नीति का उद्देश्य उन्हें ऐसी सहायता उपलब्ध कराना है ताकि वे उच्च वर्गों की बराबरी करने लायक बन सकें। 1960 के अंत तक यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार की रियायतें बढ़ती हुई असमान परिस्थितियों की तुलना में पर्याप्त नहीं थी। और फिर यह भी महसूस किया गया कि शिक्षा संस्थाएँ बच्चे के समाज से जुड़ने में बाधक बन रही थीं। इस इकाई में आगे हम भारत में उपलब्ध आँकड़ों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे जिससे पता चलता है कि पारिवारिक वातावरण किस तरह शिक्षा की प्रगति में बाधक बनता है।

अगली इकाई में शिक्षण संस्थाओं की कार्य प्रणाली के संदर्भ में इन पहलुओं का अध्ययन किया जाएगा।

टिप्पणी : क) अपने उत्तर दिये गये स्थान पर ही लिखें।
ख) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलाएँ।

1 शिक्षा और असमानता विषय पर पाँच पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 स्त्री शिक्षा

स्कूलों में लड़कों के मुकाबले बहुत कम लड़कियाँ दाखिला लेती हैं। इसीलिए स्कूल जाने वाले बच्चों की सामान्य दर कम रहती है। परन्तु इन तथ्यों से पूरी तस्वीर हमारे सामने नहीं आती। यदि 1991 में सब लड़कियाँ स्कूलों में दाखिल हो जाएं तो भी यह जानना बहुत जरूरी है कि 1995 में वे कहाँ होंगी। क्या वे तब भी स्कूलों में पढ़ रही होंगी या पोथी-बस्ते को अलविदा कह कर वापस खेतों में या घरों में काम करने लगेंगी? उदाहरण के तौर पर 1975-76 में 6 से 11 वर्ष की 66 प्रतिशत लड़कियाँ प्राथमिक स्कूलों में दाखिल हुईं। परन्तु यदि हम 1980-81 में आँकड़ों पर नजर डालें तो पता लगेगा कि इनमें से अधिकतर लड़कियाँ तब भी पहली कक्षा में ही थीं। 1980-81 तक उन लड़कियों को छठी कक्षा में होना चाहिए था जबकि छठी कक्षा में उस साल केवल 29 प्रतिशत लड़कियों ने दाखिला लिया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्राथमिक शिक्षा पूरी होने से पहले ही 50 प्रतिशत लड़कियाँ पढ़ने-लिखने से नाता तोड़ लेती हैं। ताजा सरकारी आँकड़ों से भी यह बात सामने आती है कि पहली कक्षा में प्रवेश लेने वाली 10 में से केवल 2 लड़कियाँ आठवीं कक्षा तक पहुँच पाती हैं। इस कहानी का महत्वपूर्ण पहलू यह है कि स्कूल में कभी पाँव न धरने वाली तथा बीच में स्कूल छोड़ देने वाली अधिकतर लड़कियाँ अनुसूचित जातियों और जनजातियों की तथा शहरों व गांवों के अन्य निर्धन परिवारों की होती हैं। मुस्लिम लड़कियाँ और भी कम स्कूल जाती हैं।

10.5.1 स्कूली शिक्षा और साक्षरता

यह बताया जा चुका है कि गुजारे लायक पढ़ाई-लिखाई सीखने के लिए बच्चे को कम से कम 4 से 5 वर्ष तक स्कूल में रहना आवश्यक है जिससे वह निरक्षरता के अँधेरे में न लौट सके। लेकिन ऐसी हालत में, जब 4 करोड़ 40 लाख बच्चे मजदूरी करते हों और हर तीसरे परिवार का एक बच्चा कमाऊ हो, शिक्षा के राष्ट्रीय लक्ष्यों को पूरा करने के लिए व्यक्ति स्तर पर जीवित रहने की व्यक्तिगत नीतियों को ध्यान में रखकर विचार करना होगा। समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और शिक्षाशास्त्री इस समस्या को समझने या इसे हल करने के तरीके ढूँढने की कोशिश में लगे हैं। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि परिवारों की गरीबी के मुकाबले शिक्षा पर लागत अधिक होने के कारण बच्चों को स्कूल भेजना पसन्द नहीं किया जाता। शिक्षा का मतलब है बच्चों को कुछ वर्ष स्कूल भेजना और इससे होने वाला लाभ बहुत कम बैठता है। बच्चे के स्कूल जाने से उससे होने वाली आमदनी नहीं हो सकती, लेकिन उसमें कटौती अवश्य हो जाती है। जब परिवार को केवल दो जून की रोटी ही मिल पाती हो तो वास्तविक अर्थों में लागत और भी अधिक होती है। इस तरह शिक्षा को घाटे का सौदा समझा जाता है क्योंकि इससे बेहतर रोज़गार मिलने की कोई निश्चित संभावना नहीं होती।

शहरों में गरीब और गंदी बस्तियों में किये गये अध्ययनों से भी यह तथ्य सामने आया है कि स्कूली शिक्षा की लड़कियों के जीवन में मामूली भूमिका रहती है। उत्तर भारत में सफाई करने वालों की एक उपजाति बाल्मीकियों के बारे में दिल्ली में हाल में किए गए अध्ययन से यह तथ्य प्रकट हुआ है कि लड़कियों की शादी का प्रश्न क्योंकि घरके काम और परम्परागत रोज़गार से जुड़ा रहता है, इसलिए उनकी शिक्षा को कोई महत्व नहीं दिया जाता। जिन माताओं के लड़के स्कूलों में थे, उनमें से लगभग 75 प्रतिशत की इच्छा थी कि उनके लड़के प्राथमिक शिक्षा पूरी करें, किन्तु जिनकी लड़कियाँ स्कूलों में गयीं, उनमें से 50 प्रतिशत माताओं ने स्वीकार किया कि उनकी बेटियाँ तीसरी कक्षा से आगे नहीं पढ़ सकीं। उन्हें स्कूल से उठा लिया गया क्योंकि उन्हें काम-धंधा मिल गया, शादी कर दी गयी या घर के काम अथवा छोटे भाई-बहन की देखभाल के लिए उन्हें घर पर रखना जरूरी समझा गया। सारणी 1 में यह दिखाया गया है कि प्रधानाध्यापकों और शिक्षकों के अनुसार स्कूलों में कम लड़कियों के दाखिल होने के क्या-क्या कारण हैं।

सारणी-1

स्कूल में लड़कियों के दाखिल होने के अध्यापकों और मुख्याध्यापकों द्वारा बताए गए कारण।

कारण	उत्तर का प्रतिशत	
	मुख्याध्यापक	अध्यापक
आर्थिक पिछड़ापन	49	61
लड़कियों का घर में काम करना/ रोजगार मिलना	45	37
माँ-बाप की लापरवाही	41	49
निकट में एक और स्कूल	16	7
इमारत तथा बैठने की पर्याप्त सुविधाओं का अभाव	14	12
सामाजिक पिछड़ापन	10	15
शिक्षा सामग्री तथा खेल के मैदानों की कमी	4	6
स्कूल काफी दूर होना		
लड़कियों के लिए अलग स्कूल न होना	1	7

10.5.2 निरक्षरता का प्रश्न

बम्बई की एक गंदी बस्ती में सर्वेक्षण करने पर पता चला कि वहाँ लड़कियों की निरक्षरता लड़कों की तुलना में तीन गुना अधिक थी क्योंकि लोग अपनी लड़कियों को तो प्राथमिक विद्यालयों में दो चार साल तक ही भेजने को तैयार थे जबकि लड़कों के बारे में उनका कहना था कि उन्हें स्कूल की पढ़ाई पूरी कराएंगे। आप जानते हैं कि हर तरह के धंधे में दिनों-दिन प्रतियोगिता बढ़ती जा रही है। इसके साथ-साथ शहरीकरण भी तेजी से हो रहा है। इन सब कारणों से हालत यह हो गयी है कि जिन परिवारों में पुरानी पीढ़ी के लोग अनपढ़ रहे या बहुत कम पढ़ पाए, उनके जवान बच्चे तरह-तरह की कक्षाओं और पाठ्यक्रमों में बढ़-चढ़ कर प्रवेश ले रहे हैं। चाहे किसी को बस कंडक्टर बनना हो अथवा क्लर्क या फिर प्रशासनिक सेवा में जाना हो, इन सबके लिए प्रमाण-पत्र, डिप्लोमा और डिग्रीयाँ बहुत जरूरी हो गयी हैं। इस बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सीधा परिणाम यह निकलता है कि साधन कम होने पर लड़की की बजाय लड़के की पढ़ाई पर रुपये लगाना बेहतर समझा जाता है, क्योंकि लड़के को ही कमाऊ माना जाता है। इसके बावजूद विभिन्न सामाजिक आर्थिक श्रेणियों तथा धार्मिक और जातीय समुदायों में अब अधिकाधिक लड़कियाँ औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। मध्यवर्गीय परिवारों में लड़की को शिक्षित करना उपयोगी माना जाता है। उनकी आय से परिवार को चलाने में भी मदद मिलती है।

परन्तु अधिकतर भारतीय महिलाओं के लिए इस प्रश्न का कोई महत्व नहीं है कि वे काम करती हैं या नहीं। बरसों से औरतें खेतों में मेहनत करती रही हैं, पशुओं की देखभाल और बड़े परिवारों के लिए खाना पकाने तथा सड़क निर्माण जैसे तरह-तरह के काम करती आयी हैं। इस प्रकार के काम करने वाले समुदायों में भी लड़कियों की शिक्षा के प्रति सबसे अधिक उदासीनता देखने को मिलती है। जल्दी विवाह तथा जवान हो रही लड़की पर तरह-तरह की पाबंदियाँ रहने के कारण भी उनकी पढ़ाई-लिखाई में बाधा आती है। पिछली दो इकाइयों में आपको समाज में व्यक्ति के जुड़ने तथा समाजीकरण के बारे में बताया गया। इसलिए आप जानते हैं कि समाजीकरण की प्रक्रिया में घरों में लड़के तथा लड़की में किस तरह अंतर किया जाता है। हम जानते हैं कि जलाने की लकड़ियाँ चुनकर उनके बढ़िया ढेर लगाने या गोबर को अच्छी तरह से थापने की कला लड़की

अपनी माँ को देखकर ही सीखती है। इस तरह घर के काम में सहायता करने के तरीके के लिए उन्हें स्कूल भेजना ज़रूरी नहीं है। ये सारे काम समाजीकरण की प्रक्रिया में हो जाते हैं। उन लड़कों के बारे में भी यह बात लागू होती है, जो परम्परागत पेशे अपना लेते हैं या बचपन में ही माचिस, लाख या चूड़ी उद्योग जैसे धंधों में पड़ जाते हैं।

10.5.3 शिक्षा और रोज़गार

इस तरह हम देखते हैं कि जब गरीब लोग अपनी बेटियों को स्कूल भेजते हैं तो वे बेहतर रोज़गार की उम्मीद से ऐसा नहीं करते। हालाँकि इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बच्चों को स्कूल भेजने के फायदे लोगों को अब समझ आने लगे हैं, परन्तु यह भी मालूम होना चाहिए कि अलग-अलग लोगों के लिए शिक्षा का मतलब अलग-अलग है। जब एक बटाईदार किसान अपनी बेटी को गांव के स्कूल में भेजने का फैसला करता है तो वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि गाँव के और लोगों की बेटियाँ भी स्कूल जा रही हैं। इसके अलावा हमारे समाज में औरतों पर अत्याचार भी बहुत होते हैं। इसलिए यह सोचा जाता है कि पढ़ने-लिखने पर उनकी बेटी शादी के बाद माँ-बाप को अपनी हालत बताने के लिए पत्र तो लिख सकेगी। इससे अपनी बेटियों के भविष्य के बारे में चिन्तित अनेक परिवारों के मन में सुरक्षा का भाव पैदा होता है। परन्तु शिक्षा के संबंध में योजना बनाने वालों के लिए अधिक महत्व की बात यह है कि हमारे समाज में जहाँ बाल अनुरक्षण की सुव्यवस्थित सुविधाएँ बहुत कम हैं, वहाँ भी दिन में कुछ घंटों के लिए स्कूल बच्चों की देखभाल का केंद्र बन सकता है। इसलिए अब यह विचार बन रहा है कि स्कूलों को ऐसा रूप दिया जाए कि बड़ी उम्र के बच्चों का भी वहाँ मन लगे। इसके लिए जिन उपायों पर विचार किया जा रहा है, उनमें दोपहर को भोजन देना, प्राथमिक स्कूलों में बालवाड़ी की व्यवस्था और शिक्षा की प्रक्रिया में स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं का सहयोग लेना शामिल है।

कोशिश यह भी की जाती है जिन वर्गों ने अभी तक अपने बच्चे स्कूल में भेजने के बारे में कोई उत्साह नहीं दिखाया, वे भी बच्चों को स्कूल भेजने लगे। परन्तु यह काम आसान नहीं है। समस्याएँ तब और बढ़ जाती हैं जब इस तरह के प्रयास उन व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा किये जाते हैं, जो अलग-अलग परिस्थितियों में पले बच्चों में समरसता लाना जरूरी नहीं मानते।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र का तेजी से विकास हो रहा है, जबकि उच्च शिक्षा समाज के छोटे से भाग को ही उपलब्ध हो पाती है। साथ ही इस पर लगभग उतना ही धन खर्च हो रहा है जितना देश की बहुत ज्यादा आबादी तक पहुँचने वाली प्राथमिक शिक्षा पर किया जाता है। अधिकतर देशों में बहुसंख्यक लोगों की आवश्यकता बनाम अल्पसंख्यक लोगों की माँग की यह समस्या किसी न किसी रूप में विद्यमान है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अच्छे स्तर की उच्च वर्ग की शिक्षा और जन शिक्षा को साथ-साथ चलाना होगा परन्तु प्रश्न यह है कि क्या प्राथमिक शिक्षा को अधिक उपयोगी और लोकप्रिय बनाने की नीतियों की तरफ कोई ध्यान दिया जा रहा है? यह ठीक है कि ऐसा कोई अकेला बड़ा संकट नहीं है जो समूची भारतीय शिक्षा व्यवस्था को प्रभावित करता हो, परन्तु शिक्षा के सभी क्षेत्रों में अनेक समस्याएँ है। कुछ लोगों को विशेषाधिकार मिल जाने की समस्या से उपजे विवादों का महत्व सबसे अधिक है। जीवित रहने के लिए आवश्यक महत्वपूर्ण साधनों को पा सकने के मामले में जो असमानता मौजूद है, उससे स्कूलों में दाखिले बढ़ाने के तरीकों के बारे में शहरी बहसें एकदम निरर्थक और बेतुकी हो जाती हैं। अगली इकाई में हम शिक्षा प्रणाली की आंतरिक कार्य शैली पर विचार करेंगे। इससे आप बेहतर ढंग से यह समझ सकेंगे कि स्कूल या पाठ्य पुस्तकों ने ऊँच-नीच पर आधारित हमारे समाज के मूल्यों को किस तरह पक्का किया है। हम निरक्षरता की समस्या हल करने के लिए सुझाए गए कुछ समाधानों के साथ-साथ इस प्रमुख प्रश्न का भी विवेचन करेंगे कि क्या स्कूल की कोई आवश्यकता रह गयी है?

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर ही लिखें।
ख) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिला लें।

1 **स्त्री शिक्षा पर एक टिप्पणी लिखिए। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में दें।**

.....

.....

.....

.....

.....

2 **स्कूली शिक्षा और निरक्षरता की समस्या का पाँच पंक्तियों में विवेचन कीजिए।**

.....

.....

.....

.....

.....

10.6 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि शिक्षा से अभिप्राय है ज्ञान देने की एक विशेष प्रणाली। यह काम औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों पद्धतियों से हो सकता है। इस इकाई में हमने यह बताया कि भारत में शिक्षा प्रणाली का विकास किस प्रकार हुआ। इस इकाई में शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा के विकास पर भी प्रकाश डाला गया। शिक्षा के विस्तार के लिए काफी प्रयास हो रहे हैं और वर्तमान स्थिति पहले से काफी बेहतर है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1 McKee, James B., 1974, *Sociology : The Study of Society* New York : Holt, Rinehart and Winston.

2 Worsley, Peter , 1987, *The New Introducing Sociology* Middlesex : Penguin Books Ltd.

शब्दावली

शिक्षा: स्कूल कालेज जैसी किसी विशेष व्यवस्थित प्रणाली के माध्यम से दिया जाने वाला ज्ञान।
औपचारिक: ऐसी पद्धति जिसमें नियमों पर आधारित स्पष्ट व्यवस्था होती है।
असमानता: धन, लाभ, शिक्षा आदि सुविधाओं का असंतुलित वितरण।
साक्षरता: किसी भाषा में लिखने, पढ़ने तथा समझने की क्षमता।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 शिक्षा को चरित्र तथा मानसिक शक्तियों के विकास का योजनाबद्ध शिक्षण बताया गया है। यह शिक्षण एक प्रक्रिया है जिसमें शिक्षार्थी शिक्षक से-ज्ञान प्राप्त करता है। यह प्रक्रिया औसत छात्र की आयु और बौद्धिक स्तर के अनुरूप तैयार की जाती है और उसका दर्जा तय किया जाता है।

2 शिक्षा और सीखने की प्रक्रिया में अंतर यह है कि शिक्षा स्कूल-कालेज और विश्वविद्यालय जैसी औपचारिक व्यवस्थित प्रणाली से दी जाती है। इस प्रणाली में विद्यार्थी अध्यापक की देखरेख में ज्ञान प्राप्त करता है। सीखने की प्रक्रिया वह है जिसमें अध्यापक की मदद के बिना ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसकी कोई अवधि निर्धारित नहीं होती और यह प्रक्रिया जीवन भर चल सकती है।

3 औपचारिक शिक्षा एक व्यवस्थित पद्धति के जरिए अध्यापक द्वारा दी जाती है। इससे औपचारिक डिग्री या डिप्लोमा मिलता है। इसके विपरीत अनौपचारिक शिक्षा में संबंधित ज्ञान तो दिया है, परंतु इसमें मूल्यांकन, परीक्षाएँ आदि का प्रावधान नहीं रहता। इसमें गीतों, कथा-कहानियों जैसी गैर-परंपरागत विधियों से शिक्षा दी जाती है।

4 भारत में प्रारंभ में शिक्षा की गुरु-शिष्य परंपरा या गुरु द्वारा व्यक्तिगत आधार पर शिक्षा देने की पद्धति प्रचलित थी। बाद में धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या और अनुशीलन के आधार पर शिक्षा दी जाने लगी। इस प्रकार यह उच्च वर्ग के अल्पसंख्यक वर्ग अर्थात् ब्राह्मणों तक ही सीमित थी। 18वीं शताब्दी के अंत में शहरों के विकास के फलस्वरूप स्वदेशी पद्धति से प्राथमिक विद्यालय तथा पाठशालाएँ अस्तित्व में आयीं। 19वीं शती के प्रारंभ में ब्रिटिश शासकों ने पश्चिमी पद्धति के स्कूल खोले तथा व्यापार,वाणिज्य और नौकरशाही जैसे विषयों की शिक्षा भी लागू की।

बोध प्रश्न 2

1 यह सर्वमान्य बात है कि शिक्षा संस्थाओं को लोगों में समानता लाने की दिशा में और अधिक सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। परन्तु शिक्षा के लिए समान अधिकार तथा समान शिक्षा के अधिकार में फर्क है। सबके लिए समान शिक्षा का संकल्प इस मान्यता पर आधारित है कि सब मनुष्य समान हैं परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। हमारे विषमता से ग्रस्त समाज में अवसरों की समानता का अर्थ है शिक्षा पाने के प्रयास का समान अवसर।

बोध प्रश्न 3

1 भारत में बहुत कम लड़कियाँ स्कूलों में दाखिला लेती हैं। इनमें से बहुत थोड़ी लड़कियाँ प्राथमिक शिक्षा पूरी कर पाती हैं। पढ़ाई पूरी किए बिना स्कूल से उठ जाने वालेबच्चों में भी कुछ सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के कारण लड़कियों का प्रतिशत है। उन्हें घर के काम-काज में और छोटे भाई-बहनों को संभालने के काम में लगा दिया जाता है।

स्कूल की पढ़ाई पूरी करने में कम से कम चार-पाँच साल लगते हैं। इस बात पर ध्यान देना बहुत जरूरी है कि बच्चे फिर से निरक्षरता के अंधेरे में न चले जाएँ। समाज के अलग-अलग वर्गों के लिए बच्चों को स्कूल भेजने का अर्थ अलग-अलग है। पढ़ाई पूरी किए बिना स्कूल से उठने वाले बच्चों में निर्धन बच्चों की संख्या बहुत ज्यादा है। इसका कारण यह है कि बच्चों को स्कूल में रखने का उन्हें कोई लाभ दिखाई नहीं देता। बच्चे को स्कूल भेजने का मतलब होता है बच्चे की आय और घर पर उससे कराए जाने वाले काम से हाथ धोना।

इकाई 11 शिक्षा संस्थाएँ

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 शिक्षा और असमानता

- 11.2.1 प्राथमिक विद्यालय
- 11.2.2 निजी विद्यालय (प्राइवेट स्कूल)

11.3 शिक्षण व्यवसाय

- 11.3.1 अध्यापकों के बारे में अध्ययन
- 11.3.2 शिक्षा और अध्यापक
- 11.3.3 स्कूल में उपलब्धि
- 11.3.4 पाठ्य पुस्तकें लिखना

11.4 शिक्षा में भेदभाव

- 11.4.1 विभिन्न पाठ्यक्रमों के विषय
- 11.4.2 विज्ञान और लिंग
- 11.4.3 अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ
- 11.4.4 शिक्षा और सैच्छिक संगठन

11.5 सारांश

कुछ उपयोगी पुस्तकें

शब्दावली

बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आपके लिए संभव होगा :

- शिक्षा पद्धति में असमानता के तत्वों की व्याख्या करना;
- शिक्षा के व्यवसाय के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करना;
- शिक्षा में भेदभाव के तत्वों का पता लगाना; और
- अनुसूचित जातियों और जनजातियों की शिक्षा का वर्णन करना।

11.1 प्रस्तावना

शिक्षा संस्थाओं से संबंधित इस इकाई में हम आपको शिक्षा के विभिन्न पहलुओं के बारे में बताएंगे। यह इकाई शिक्षा और असमानता के पहलुओं से आरंभ होती है। इसमें शिक्षा संस्थाओं के विभिन्न प्रकार शामिल हैं। इस इकाई में शिक्षा के व्यवसाय पर विस्तार में अध्ययन किया गया है तथा विद्यालय में उपलब्धि के बारे में भी कहा गया है और प्रयोग में आने वाली पाठ्य पुस्तकों के बारे में भी टिप्पणी की गई है। अगले भाग में शिक्षा में लिंग के आधार पर और वर्ग आदि के आधार पर भेदभाव पर विस्तृत चर्चा की गई है। अतः इस इकाई में शिक्षा संस्थाओं के बारे में काफी विस्तार से चर्चा की गई है।

11.2 शिक्षा और असमानता

पिछली इकाई को पढ़ने के पश्चात आप संभवतः यह सोचें कि समाज में ऊँच-नीच के भेदभाव के कारण शिक्षा के लक्ष्यों को प्राप्त करने में कठिनाई होती है। यह बात सच है किंतु यह याद रखना भी महत्वपूर्ण है कि शिक्षण पद्धति स्वयं असमानताओं

से मुक्त नहीं है। यहाँ पर हम स्कूल पद्धति में स्तरण (stratification) पाठ्य पुस्तकों में पूर्वाग्रहों और कक्षा में भेदभाव की प्रक्रियाओं के बारे में बताएँगे। इसके बाद हम देखेंगे कि औपचारिक पद्धति की धारणा ने किस प्रकार से अनौपचारिक पद्धति को प्रभावित किया है। अन्त में हम उठाए गए कुछ मुद्दों के सुझाए गए समाधानों पर संक्षेप में चर्चा करेंगे। ब्रिटेन में खर्चीले शुल्क वाले पब्लिक स्कूलों का आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज जैसे विख्यात विश्वविद्यालयों में प्रवेशों से संबंध है और इसी प्रकार उच्च व्यावसायिक और नौकरियों के साथ भी संबंध है। शेयर बाज़ार और अन्य अनेक व्यवसायों पर ब्रिटेन के कुछ प्रतिशत लोगों का नियंत्रण है। भारत में उपनिवेशवाद की विरासत के परिणामस्वरूप इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ पैदा हुई : दून स्कूल अथवा सेन्टपाल स्कूल अथवा अधिक फीस वाले गैर-आवासीय प्राइवेट स्कूल के विद्यार्थी के लिए सरकारी स्कूल में पढ़े हुए विद्यार्थी की अपेक्षा देश के विख्यात कॉलेजों और विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना ज्यादा आसान है। इसका मुख्य कारण यह है कि पब्लिक स्कूलों में विद्यार्थियों को न केवल सीमित संख्या में सीटों के लिए प्रतियोगिता का प्रशिक्षण दिया जाता है बल्कि अंग्रेज़ी भाषा के बहु प्रयोग का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। राष्ट्रीय भाषा को गौरव प्रदान करने की हमारी सभी कोशिशों के बावजूद अंग्रेज़ी अभिजात वर्ग के लोगों की भाषा बनी हुई है। अथवा उन लोगों की भाषा बनी हुई है जो समाज में अच्छे ओहदों पर हैं।

11.2.1 प्राथमिक विद्यालय

आकड़ों के अनुसार देश में 6.9 लाख शिक्षण संस्थाएँ हैं। उनमें से 70 प्रतिशत से अधिक प्राथमिक विद्यालय हैं। इनकी वित्त-व्यवस्था सरकार, नगर निगमों और प्राइवेट निकायों द्वारा की जाती है। इनमें से अधिकांश संस्थाओं की वित्त व्यवस्था और संचालन सरकार के हाथ में होता है। परन्तु यदि हम उन विद्यार्थियों की संख्या को देखें जिन्हें आई.टी.आई., आई.आई.एम., मेडिकल महाविद्यालयों और व्यावसायिक संस्थानों जैसी ख्याति प्राप्त संस्थाओं में उच्च शिक्षा के लिए प्रवेश मिलता है तो हम देखेंगे कि इनमें से अधिकांश प्राइवेट स्कूलों को सरकार का समर्थन मिलने के बावजूद इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि विद्यार्थियों की पहुँच उच्चतर शिक्षा तक होगी हालाँकि उसमें से अधिकांश की वित्त व्यवस्था सरकार द्वारा ही की जाती है। अपेक्षाकृत कम फीस देकर उच्च सरकारी नौकर अथवा विख्यात डाक्टर के बच्चे ऐसी संस्थाओं में जहाँ सरकारी धनराशि के कारण शिक्षा को काफी राजकीय सहायता मिलती है — आरकीटैक्ट अथवा इंजीनियर का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं।

दूसरी ओर अधिकांश भारतीय बच्चे सरकारी तथा नगर निगम विद्यालयों में जाते हैं। परन्तु कुछ ही कालेज तथा व्यावसायिक संस्थाओं में पहुँच पाते हैं। इसके अतिरिक्त स्कूलों में पढ़ रहे अधिकांश विद्यार्थियों के लिए सुविधाएँ बहुत अपर्याप्त हैं। ताजे सरकारी आँकड़ों के अनुसार 40 प्रतिशत स्कूलों में ढंग के भवन नहीं है और न ही ब्लैक बोर्ड हैं, जबकि 60 प्रतिशत विद्यालयों में पीने के पानी की सुविधा नहीं है। दूसरी ओर लगभग 55 पब्लिक स्कूल जो कि इग्लैंड के पब्लिक स्कूलों के नमूने पर बनाये गये हैं, अपने विद्यार्थियों को मनोरम ऐश्वर्य के वातावरण में घुड़सवारी, तीरअंदाजी, शतरंज और फोटोग्राफी सिखाते हैं। ग्रामीण और सुविधा वंचित बच्चों को इस प्रकार के विद्यालयों में पहुँचाने के लिए समर्थ बनाने के अपने नये प्रयास में सरकार ने नवोदय अथवा माडल स्कूलों की स्कीम आरंभ की है। इन स्कूलों का उद्देश्य योग्य विद्यार्थियों को, विशेषतः उन्हें जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में हैं, उनके माँ-बाप के आर्थिक स्तर को ध्यान में रखे बिना बढ़िया किस्म की शिक्षा प्रदान करना है।

11.2.2 निजी विद्यालय (प्राइवेट स्कूल)

कहने को सरकार अधिक फीस वाले विद्यालयों के जरिए विशेष अधिकारों को जारी रखने के विरुद्ध है, परन्तु ये नवोदय विद्यालय ठीक वही कर रहे हैं। सिवाय इसके कि उनका क्षेत्र कुछ भिन्न है। जो पहले यह समझते थे कि शिक्षा उनके क्षेत्र में उपलब्ध नहीं है तथा इस तरह उनके साथ भेदभाव होता है अब ऐसे जमींदारों के बच्चों के लिए प्रतिष्ठित शिक्षा दी जा रही है। भले ही सिद्धान्ततः ऐसी अच्छी संस्थाएँ खोलने में कोई हर्ज नहीं है, परन्तु कोई आवश्यक नहीं कि इनसे अच्छी किस्म का प्रसार हो। अधिक से अधिक इनके द्वारा विशेष अधिकार व अवसरों के क्षेत्र को केवल व्यापक बनाया जा सकता है। महाराष्ट्र की हाल ही की एक रिपोर्ट से, जहाँ पर इस प्रकार के 7 विद्यालय चल रहे हैं, यह संकेत मिलता है कि उक्त कार्यक्रम के आरंभ करने में जल्दबाजी के कारण कुछ असंतुलित शुरुआत हुई है। रास्ता दिखाने वाली इन संस्थाओं का उद्देश्य जहाँ ग्रामीण कन्याओं को उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना है, वहीं अक्सर ऐसा देखा गया है कि माँ-बाप अपनी पुत्रियों को सहशिक्षा वाली संस्थाओं में भेजने के इच्छुक नहीं होते। इसके अतिरिक्त स्कूल स्तर पर सहशिक्षा वाली आवासीय संस्था अपने आप में एक नयी चीज है, सम्भवतः उच्च वर्ग के लोग भी अपने बच्चों को इस प्रकार की संस्थाओं में भेजने में संकोच करेंगे। परिणामस्वरूप अमरावती के स्कूल में कुल 120 विद्यार्थियों में से केवल 29 कन्याएँ हैं और तुलजापुर नवोदय स्कूल में कुल 74 विद्यार्थियों में 8 कन्याएँ हैं। कन्याओं की शिक्षा की निराशाजनक स्थिति को देखते हुए यह एक अच्छी शुरुआत है। परन्तु देखना तो यह है कि यह कन्याएँ इन विद्यालयों में कितने समय तक रहती हैं। इस बात की काफी संभावना है कि यह विद्यालय शीघ्र ही शैक्षिक ढाँचे का एक अभिन्न अंग बन जाएँगे जो गाँव के तेजी से बढ़ते हुए उच्च और मध्य वर्ग के लोगों के बच्चों की शिक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा पद्धति परिवर्तन का एक स्वतंत्र माध्यम नहीं है, बल्कि इसकी संस्थाएँ विद्यमान असमानताओं को और भी मजबूत करती हैं और नयी असमानताओं को पैदा करती हैं। उदाहरण के तौर पर नवोदय ग्रामीण विद्यालय समाज के विभाजन को और भी व्यापक बना रहे हैं और नगरीय तथा उपभोगता वाले प्रतिमानों का उन लोगों में प्रसार करने में सफल हो रहे हैं जो इस समय तक इन मूल्यों से बचे हुए थे। यह समस्या और भी स्पष्ट हो जाएगी यदि हम इस विद्यालय के आन्तरिक जीवन को देखें अर्थात् अध्यापकों का व्यवहार, पाठ्य पुस्तकों में पूर्वाग्रह आदि।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान पर ही अपना उत्तर लिखें।

ख) अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से करें।

1 प्राथमिक शिक्षण संस्थाओं में असमानता का प्रवेश कैसे होता है? अपना उत्तर लगभग दस पंक्तियों में दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.3 शिक्षण व्यवसाय

शिक्षा के विख्यात दार्शनिकों की पुस्तकों को पढ़ें, तो पता चलता है कि यदि अध्यापकों की न्यायसंगत माँगों एवं जरूरतों को पूरा किया जा सके तो वे सफल शिक्षक होंगे। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थिति कुछ भिन्न है। उन लोगों का सामाजिक आधार, जिन्हें शिक्षित करना है, तेजी से व्यापक होता जा रहा है, जबकि अध्यापकगण मुख्यतः मध्यवर्ग से आते हैं। ऐसी स्थिति में एक अध्यापक की अपने कर्तव्य में संबद्धता का निर्धारण अन्य कारकों से होता है। ये अन्य कारण भी लगभग उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कार्यकाल की सुरक्षा और काम करने के उचित घंटे। अध्यापक और विद्यार्थी में एक समान मूल्य संहिता हो। यदि यह संभव नहीं है, तो कम से कम यह समझ लेना जरूरी है कि कोई भी ऐसी संस्कृति जो अध्यापक की संस्कृति से भिन्न हो, जरूरी नहीं कि वह हीन हो और उसमें तत्काल सुधार करने की आवश्यकता है। भारत में सर्वोत्तम निजी विद्यालयों के विद्यार्थियों को सरकारी और नगर निगम के विद्यालयों में पढ़ रहे विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ हैं।

विद्यार्थियों और उनकी समस्याओं के साथ अध्यापक की संबद्धता की सीमा के मामले में भी यही बात सत्य है। पब्लिक स्कूल के विद्यार्थी से यह आशा की जाती है कि वह सच्चा, निडर और सुसंस्कृत होगा। तत्पश्चात् वह प्रायः देश के उच्च वर्ग के व्यवसायों का सदस्य बन जाता है अथवा एक सफल व्यापारी। समाज के उच्चतम वर्ग के लड़कों को ऐसे अध्यापक पढ़ाते हैं जो उस सभ्यता विशेष के प्रभुत्व प्रतिमानों से परिचित होते हैं। सर्वोत्तम प्राइवेट और पब्लिक स्कूलों के मुख्य उद्देश्यों और शिष्यों के परिवारों की महत्वाकांक्षाओं के बीच कोई बुनियादी विरोध नहीं है। दोनों ऊँचे ओहदे और अच्छे पैसे वाले व्यवसाय की तैयारी चाहते हैं।

11.3.1 अध्यापकों के बारे में अध्ययन

शहरी और सहकारी विद्यालयों के अध्यापकों के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता लगा है कि स्कूलों के अध्यापक अपने विद्यार्थियों के साथ ठीक सामंजस्य बनाना ज्यादा आसान समझते हैं। सरकारी स्कूलों में निम्न मध्य वर्ग और मध्य वर्ग के अध्यापक अपने और अपने विद्यार्थियों के बीच के फासले को बनाये रखने के इच्छुक होते हैं। इनमें से अधिकांश विद्यार्थी श्रमिक वर्ग के होते हैं। सरकारी विद्यालयों के अध्यापकों से भेंटवार्ता से मालूम हुआ कि वे अपने विद्यार्थियों को मूर्ख, नादान और चालाक समझते हैं। इस प्रकार के मनोविचार और भी मजबूत हो जाते हैं जब भाषा, वाक्य रचना और शब्दावली के अंतर पर बल देने वाली बातें अधिक मूल्यवान समझी जाती है। ब्रिटिश समाजशास्त्री बेसिल बर्नस्टाइन ने विस्तार से लिखा है स्कूलों में ज्ञान का प्रसार कैसे होता है। उनके अनुसार मौखिक भाषा अथवा लिखित शब्द के स्तर पर होने वाले कक्षागत (class room) व्यवहार का निर्धारण प्रत्येक सामाजिक वर्ग की भाषा-परंपरा के आधार पर होता है। इनका पूरा तथा सही ज्ञान व अनुसरण केवल उस सामाजिक वर्ग के लोग ही कर सकते हैं और इस तरह इन भाषा परंपराओं या बोलचाल व लिखने के पूर्व मान्य तरीकों के प्रयोग के आधार पर उच्च व मध्य वर्ग के लोग आपस में गुट बना लेते हैं। जीवन शैली विशेष का अनुसरण करते हैं। इस तरह क्रमशः सांस्कृतिक पूँजी का निर्माण होता है जिसके बल पर वर्ग विशेष तथा शिक्षा पद्धति के बीच प्रगाढ़ता बढ़ जाती है।

अमेरिका और ब्रिटेन में किये गये अध्ययनों से पता चलता है कि अध्यापकों द्वारा विद्यार्थियों के मूल्यांकन में प्रजाति एवं एथनिसिटी (जातिगत या प्रजातीगत) तत्व किस प्रकार महत्वपूर्ण बन जाते हैं। ये तत्व प्रायः आब्जेक्टिव इंटेलिजेंस से

प्रमाणित नहीं होते। ब्रिटिश अध्ययन से पता चला कि मध्यम वर्ग के अध्यापक ऐसे बच्चों के पक्षधर होते हैं जो साफ सुथरे कपड़े पहनते हैं और जिनके बारे में वे महसूस करते हैं कि वे सम्पन्न घरों से आते है। इस प्रकार का बिल्ला लगाना हानिकारक हो सकता है क्योंकि विद्यार्थी स्वयं इस प्रकार के लेबलिंग को (जो उनके अध्यापकों ने उन पर लगाए हैं) तुरंत आत्मसात कर लेते हैं। अमरीका में अश्वेत बच्चों के प्राथमिक विद्यालय में किये गये अध्ययन से यह मालूम हुआ कि उन विद्यार्थियों की उपलब्धि काफी अच्छी रही जिनके बारे में अध्यापकों को काफी ऊँची आशाएँ थीं और ऐसे विद्यार्थियों की उपलब्धियाँ कम रहीं जिनसे आशाएँ भी कम थीं।

11.3.2 शिक्षा और अध्यापक

न्यूयार्क के हारलेम नामक अश्वेत क्षेत्र में यह पाया गया कि अध्यापकगण एक यथाक्रम तरीके से श्वेत मूल्य, सभ्यता और भाषा विद्यार्थियों पर लाद रहे थे। यदि बच्चे बुनियादी रूप से इस अपरिचित जीवन शैली के अनुसार अपने आप को नहीं ढाल पाए तो उन्हें असफल समझा गया। वे अध्यापक जो इस संस्कृति को ऊपर से थोपने के लिए उत्तरदायी थे, अपनी भूमिका की महत्ता में पूरी तरह से कायम थे। उपर्युक्त विश्लेषण से शिक्षण संबंधी दो भिन्न शैलियों पर प्रकाश पड़ता है। पहली शैली श्रमिक वर्ग के बच्चे की जानबूझकर उपेक्षा से संबंधित है और दूसरी स्कूल द्वारा किये गये सुधार से संबंधित है जिसके अंतर्गत उप संस्कृति को समाप्त करके भिन्न भिन्न पृष्ठभूमियों से आने वाले शिष्यों पर दूसरी प्रकार की संस्कृति लादने का प्रयास किया जाता है। छठे दशक में अमरीकी शैक्षिक सुधारों के आलोचकों ने यह पाया कि दूसरे प्रकार की संस्कृति लादने का प्रयास देश के अनेक विद्यालयों में किया जा रहा था। परन्तु दूसरी ओर भारत में जहाँ 14 वर्ष तक की आयु से अधिकांश बच्चे सुविधावंचित घरानों से आते हैं और उनमें और उनके अध्यापकों में या औपचारिक स्कूल पाठ्यक्रम में बहुत कम समानता होती है किंतु समस्या मुख्यतः उपेक्षा की है। इस उपेक्षा में यह विश्वास निहित है कि मध्यम वर्ग के विद्यालय का पाठ्यक्रम और जिस प्रकार की संस्कृति का यह प्रतिपादन करती है वह, निर्धन बच्चे की संस्कृति से बेहतर है। अतः यदि बच्चा नहीं समझता तो उसमें दोष उसी का है न कि अध्यापक के तरीके का और न ही पाठ्यक्रम का। अवधारणा यह है कि यदि बच्चा विद्यालय में पढ़ाए जाने वाली मध्यम वर्ग की जीवन शैली को स्वीकार करेगा तो उसके लिए सामाजिक और व्यावसायिक गतिशीलता की संभावनाएँ संभवतः काफी अधिक होंगी। सीखने की प्रारंभिक प्रक्रिया बच्चे की होनी चाहिए। दूसरी ओर, अमरीका में अध्यापकों को प्रशिक्षण दिया जाता है कि कैसे बच्चों को विदेशी बोली सिखाएँ। सांस्कृतिक और प्रजातीय मतभेदों की ओर जिससे बच्चे की परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाने की प्रक्रिया पर असर पड़ता है, बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

11.3.3 स्कूल में उपलब्धि

यह मान लिया गया है कि विद्यालय में उपलब्धि अनेक तत्वों पर निर्भर है। भारत में जहाँ स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की विकट समस्या है वहीं बच्चे की स्कूल के प्रति उदासीनता में अध्यापक और पाठ्यक्रम की भूमिका पर अनुसंधान करने की आवश्यकता है। एक श्रमिक के बच्चे का स्कूल में टिके रहना इस बात पर निर्भर करता है कि क्या श्रमिक परिवार शिक्षा को उपयोगी समझता है। उच्च अवसर, लागत बच्चों को स्कूल से दूर ले जाती है। जो यह महसूस करते हैं कि अध्यापक और स्कूल प्रशासन सहानुभूति रहित हैं ऐसे माँ-बाप की मनोवृत्ति भी बच्चे को स्कूल के प्रति उदासीन बनाती है। अध्यापकों के अतिरिक्त पाठ्यपुस्तकों तथा कक्षा में दिया गया कार्य औसत मध्य वर्ग बच्चे के अनुसार होता है। यदि आप कुछ निर्धारित पाठ्य पुस्तकों को देखें तो आपको आश्चर्य होगा कि भाषाओं के पाठ्यक्रम में कहानियाँ प्रायः ऐसी स्थितियाँ और पात्रों से भरी होती हैं जिनसे कुछ वर्गों के बच्चे बिल्कुल परिचित नहीं होते। यदि शिक्षा का उद्देश्य समझने की क्षमता को बढ़ावा देना है तो इसके लिए आसान तरीका यह है कि उन दृष्टान्तों के जरिए क्षमता बढ़ाई जाए जिनसे बच्चा परिचित है। इस प्रकार घिसे-पिटे परंपरागत विचारों को बार-बार थोपने से बच्चों की समझ में भी जंग लग सकता है। उदाहरणतः पाठ्य पुस्तकों में लड़कियों व महिलाओं के बारे में रूढ़िगत विचारों की प्रस्तुति को लिया जा सकता है।

11.3.4 पाठ्य पुस्तकें लिखना

अब यह बात सुनी जाने लगी है कि पाठ्य पुस्तक चाहे वह अंग्रेज़ी की हो अथवा गणित की, कुछ स्थितियों में पात्रों और प्रतीकों के प्रयोग के जरिए एक ही प्रकार के आदर्शों को जारी रखने का एक शक्तिशाली माध्यम बन सकती है। उदाहरण के तौर पर देश में व्यापक रूप से प्रयोग में पायी जाने वाली हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों के एक एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रायोजित अध्ययन में लड़का केन्द्रित कहानियों और लड़की केंद्रित कहानियों का अनुपात 21:0 पाया गया। इस प्रकार जब पुस्तकों में आत्मकथाओं संबंधी संदर्भ देखे गये तो 110 ऐसे संदर्भों में से 94 विख्यात पुरुषों के पाए गए। सेंट्रल इन्स्टीट्यूट आफ इंग्लिश हैदराबाद द्वारा प्रकाशित अंग्रेज़ी भाषा की तेरहवीं पाठ्यपुस्तक में लड़का केन्द्रित कहानियों और लड़की केन्द्रित कहानियों का अनुपात 81:9 पाया गया। इसके अतिरिक्त दोनों भाषाओं की पुस्तकों में यह सामान्य प्रवृति मिली कि लड़कों को साहसी, महत्वाकांक्षी और विज्ञान और प्रौद्योगिकी में रुचि दर्शाने वाला बताया गया था तथा आर्थिक कार्यकलापों और आर्थिक स्वनिर्भरता से संबंधित भूमिकाओं में कन्याओं और महिलाओं को बहुत कम दर्शाया गया था। मराठी पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन से पता चला कि जब कभी कन्याओं को ही नियोजित दिखाया जाता है तो उन्हें हमेशा निम्न और अधीनस्थ भूमिकाओं में चित्रित किया जाता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि तथ्य से हट कर इस प्रकार की बातें वास्तव में स्वयं की अनुभूतियों को प्रभावित कर सकती थीं, एन.सी.ई.आर.टी. की महिला शिक्षा इकाई ने हाल ही में एक परियोजना चालू की है जिनके अंतर्गत ऐसी मार्गदर्शिकाएँ तैयार की जाएँगी जिनसे यह पता चल सके कि महिलाओं के स्तर को सुधारने के लिए किस प्रकार की पाठ्यपुस्तकें लिखी जाएं। गणित की मार्गदर्शिका यह बताती है कि किस प्रकार से लिंग विशेष का पक्ष लेने से मनोवृत्तियों में परिवर्तन आ जाता है। पहले

की पाठ्य पुस्तकों में पुल्लिंग को प्रधानता दी जाती थी। अब ऐसे सवालों का हल ढूंढने को कहा जाता है जो लिंग की दृष्टि से निष्पक्ष हों। उदाहरण के तौर पर तीसरी कक्षा के विद्यार्थियों को यह सवाल दिया जाता है कि यह बताएँ कि अपनी पुत्री और पुत्र को बराबर-बराबर राशि बाँट देने के पश्चात् लक्ष्मण के बैंक खाते में कितनी राशि शेष रही। मिडिल स्कूल स्तर पर अनुपात, ग्राफ और इक्वेशन महिला वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के आत्मकथा संबंधी ब्योरों के जरिए बताए जाते हैं। सवालों से अधिक महत्व उन अनुदेशों का है जो अध्यापकों को दिये जाते हैं और कहा जाता है कि विद्यार्थियों को हल करने का तरीका समझाते समय पाठ में क्या जोड़ा जाए। इस प्रकार की नवीनतम मार्गदर्शिका का सूत्रपात करने वालों को यह भलीभांति पता है कि जब तक अध्यापकगण अधिक कल्पनाशीलता से पढ़ाने की आवश्यकता के बारे में पूरी तरह से आश्वस्त् नहीं हो जाते, बच्चे अपना ध्यान सवाल के हल पर ही केंद्रित रखेंगे, पाठ्य सामग्री पर नहीं। वास्तव में यही समस्या का निचोड़ है। अध्यापकगण मोटे तौर पर रूढ़िवादी होते हैं, जो गणित, भौतिक शास्त्र अथवा हिन्दी के जरिए पुरुष और महिला के बीच अधिक बराबरी की बात को पढ़ाने अथवा समझाने की आवश्यकता के बारे में सरलता से आश्वस्त नहीं होते हैं। न ही पाठ्य पुस्तकों के परिशोधन की प्रक्रिया आरंभ करना आसान है और न ही यह करना आसान है कि देश के सभी स्कूलों में एक सी पाठ्यपुस्तकें पढ़ाई जाएँ। इसके अतिरिक्त पाठ्य पुस्तकों के लेखक भी परिवर्तन के विरुद्ध हैं क्योंकि वे यह महसूस करते हैं कि सामूल परिवर्तनों से स्कूल समुदाय और परिवार दोनों में पहले से मौजूद अपेक्षाओं में स्पष्ट बदलाव आ जायेगा।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर ही लिखें।

ख) अपने उत्तर इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलाएँ।

1 शिक्षा और मूल्यों पर पाँच पंक्तियों में एक टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

2 विद्यालय में उपलब्धि के पहलुओं पर चर्चा करें। उत्तर के लिए लगभग सात पंक्तियों का प्रयोग करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.4 शिक्षा में भेदभाव

हम देखते हैं कि केवल पाठ्य पुस्तकें और अध्यापकगण ही कुछ विद्यार्थियों के विरुद्ध भेदभाव नहीं करते बल्कि इस प्रकार के भेदभाव की जड़ें तो स्वयं शिक्षा पद्धति में बहुत गहरी हैं। इस बात का ध्यान रखे बिना कि शिक्षा के किस स्तर पर विचार किया जा रहा है, भारतीय लड़कियों की अपेक्षा भारतीय लड़के शिक्षा पाने, शिक्षा के भावी प्रयोग के संदर्भ में बेहतर स्थिति में हैं। इसके अतिरिक्त जनसंख्या का वह थोड़ा सा प्रतिशत हिस्सा जो उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है उसमें लड़कियाँ निम्न स्तर में केन्द्रित होती हैं, जिससे उनमें कम प्रतिस्पर्धा होती है और सामान्य शिक्षा के लिए उनकी संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। ऐसी उच्चमध्यम (high middle) या मध्य वर्ग की लड़कियों की नियति में और किसान या कुम्हार परिवारों में पहली शिक्षित पीढ़ी के लड़कों की नियति में कोई अंतर नहीं है। उच्च स्तर के अपेक्षाकृत कम मेडिकल कालेजों, प्रोद्योगिकी प्रबंध और इंजीनियरिंग की संस्थाओं में दी जाने वाली उच्च शिक्षा के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा है। जहाँ पहली श्रेणी की संस्थाओं में विशेषाधिकार प्राप्त पृष्ठभूमियों के लड़के आते हैं वहाँ दूसरी श्रेणी की संस्थाओं में ऐसे लड़कों की बहनें आती हैं और वे लड़के आते हैं जो उच्च स्तर की प्रतिस्पर्धात्मक चयन परीक्षाओं में सफल नहीं हो पाते क्योंकि ये परीक्षाएँ उप-संस्कृति विरोध और अंग्रेज़ी भाषा से सुपरिचित होने को महत्व देती हैं।

इस प्रकार उच्च शिक्षा की दोहरी पद्धति केवल सामाजिक-आर्थिक स्तर के आधार पर ही नहीं बल्कि लिंग के आधार पर भी उच्च वर्ग को विभिन्न संस्थाओं में प्रशिक्षित अधिकांश विद्यार्थियों से अलग करती है। यहां पर सटीक भेद तो यह है कि जहाँ कई सामाजिक पृष्ठभूमियों के लड़के प्रायः उच्च प्रकार की संस्थाओं में प्रवेश नहीं ले पाते वहाँ लड़कियों को सफल होने के

लिए प्रयास करने का अवसर नहीं दिया जाता है। मध्यम वर्ग के लड़कों को चयन करते समय विभिन्न प्रकार के दबावों का सामना करना पड़ता है। ये दबाव भिन्न प्रकार के होते हैं। पुरुष प्रधान समाज में, उपलब्धि-परीक्षा और चयन के द्वारा लड़कों पर डाला गया दबाव विफल नहीं होता है। दूसरी ओर खुली प्रतियोगिता के जरिये कई तरह के पाठ्यक्रमों में सफल होने की वचनबद्धता भी होती है। सैद्धांतिक रूप से कन्याओं की भी उन्हीं पाठ्यक्रमों तक पहुँच होती है जिन तक लड़कों की। परन्तु वास्तविकता यह है कि यदि उन्हें कॉलेज जाने की अनुमति दी जाती है तो वे कुछ गिने-चुने स्त्रियों से जुड़े अध्ययन क्षेत्रों की ओर ही आकर्षित होती हैं। लड़कों को प्रतियोगिता में भाग लेने और सफल होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और लड़कियों को सुविभाजित "सुरक्षित" शिक्षा क्षेत्रों में भागीदार होने के लिए प्रवृत्त किया जाता है। ये कथन आपके लिए कुछ और स्पष्ट हो जाएंगे यदि हम कुछ शोधकार्य पर आधारित आँकड़ों की जाँच करें।

11.4.1 विभिन्न पाठ्यक्रमों के विषय

ऐसी एक मान्यता है कि कन्याएँ कुछ क्षेत्रों में दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा बेहतर होती हैं। दूसरी ओर विज्ञान, गणित और इंजीनियरिंग से संबद्ध पुरुष-प्रधान अनुशासनों को अधिक श्रेष्ठ और उच्च स्तरी बुद्धिमता वाला करार दिया जाता है। इन क्षेत्रों में विशेषज्ञता रखने वाली कुछ सीमित संस्थाएँ उच्च शिक्षा में एक उत्कृष्ट दल का सृजन करती हैं। इनमें प्रवेश काफी उच्च स्तरीय प्रवेश-परीक्षाओं द्वारा ही होता है। प्रायः कन्याएँ इन गिने-चुने विद्यार्थियों में नहीं होती हैं। भारत में 10+2+3 पद्धति का एक मुख्य लाभ (10+2 का अर्थ है विद्यालय में बिताया गया समय और 3 का अर्थ है पहली डिग्री के लिए बिताए गए वर्ष) यह है कि इसमें दसवीं कक्षा तक के सभी विद्यार्थियों के लिए विज्ञान और गणित का अध्ययन अनिवार्य है। हालाँकि शिक्षा की यह पद्धति औपचारिक रूप से 1968 में अपना ली गई थी, किंतु कुछ राज्यों में इसे अभी स्वीकार किया जाना है। परिणामस्वरूप पुरानी स्कीम के अंतर्गत स्कूल में लड़कियों के लिए विज्ञान और गणित के स्थान पर गृह विज्ञान और कला से संबंधित विषय रख सकते हैं। हम यह भी देखते हैं कि नयी पद्धति के अंतर्गत स्कूल इस पद्धति के प्रतिकूल जाने के रास्ते यह कह कर ढूँढते हैं कि अध्यापक वर्ग जनसंख्या का अधिकांश भाग मुसलमानों का है और लड़कियाँ स्कूल में विज्ञान और गणित विषय ले ही नहीं पातीं क्योंकि प्रशिक्षण प्राप्त महिला अध्यापिकाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। यह भी संभव है कि इस प्रकार के स्कूल वस्तुतः परदा समाज की कन्याओं की शिक्षा की मांग को पूरा कर रहे हैं। दूसरे, कन्या के लिए कौन-सा विषय पढ़ना उचित है, यह भाव समान्य रूप से शिक्षा पद्धति में विद्यमान जरूर है। इस बात का प्रमाण ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षाओं में कन्याओं द्वारा चुने गये विषयों से मिलता है। दिल्ली के स्कूलों के हाल ही के एक अध्ययन से यह पता लगा कि जहाँ 60 प्रतिशत कन्याओं ने आर्ट्स के विषय चुने, और 30 प्रतिशत कन्याओं ने विज्ञान और वाणिज्य के विषय चुने वहीं 40 प्रतिशत से ऊपर कन्याओं ने अपेक्षाकृत नये व्यावसायिक विषय चुने। व्यावसायिक विकल्पों का विषयानुसार श्रेणीकरण करने पर मालूम हुआ कि कन्याओं ने टंकण, बुनाई, कपड़ा उद्योग, स्वास्थ्य की देखभाल तथा सौन्दर्य की देखभाल संबंधी विषय चुने जबकि लड़कों ने नेत्र विज्ञान, प्रकाश विज्ञान, लेखा परीक्षा और लेखे का रख-रखाव तथा कार्यालय-प्रबंध नामक विषय चुने। इसके अतिरिक्त सामाजिक रूप से लाभदायक उत्पादक कार्य के विकल्प जो गैर-शैक्षिक क्षेत्र में नवीं और दसवीं कक्षाओं में चुने जाते हैं वे "विशिष्ट रूप से लिंग के अनुरूप होते हैं और कन्याएँ स्कूल में भी वही काम करती हैं जो घर में करती है।" यदि देश के विभिन्न भागों में होने वाली अंतिम चरणों की परीक्षाओं में लड़कियों का परीक्षा-फल देखा जाय तो पता लगता है कि न केवल लड़कियों का स्तर लड़कों से बेहतर है बल्कि उन लड़कियों का परिणाम जिन्होंने विज्ञान संबंधी विषय लिए हैं यदि लड़कों से बेहतर नहीं तो बराबर अवश्य है। दिल्ली सेकन्डरी स्कूल की 1985 के बारहवीं कक्षा के परिणामों को देखने से पता लगता है कि लड़कियों ने विज्ञान, मानविकी, वाणिज्य और व्यावसायिक अध्ययनों के चारों ग्रुपों में लड़कों से अधिक प्रतिशत अंक प्राप्त किये। जहाँ विज्ञान विषय लेने वालों में 70 प्रतिशत से अधिक लड़के थे वहाँ मानविकी विषय लेने वालों में 60 प्रतिशत से अधिक लड़कियाँ थी। वाणिज्य विषय लेने वाले लड़के और लड़कियों की संख्या बराबर थी और व्यावसायिक विषय लड़कियों में अधिक लोकप्रिय थे। रोचक बात यह है कि यद्यपि विज्ञान विषय कम लड़कियों ने लिया लेकिन उनमें से उत्तीर्ण होने वालों का प्रतिशत 83.8 था, जबकि लड़कों के मामले में यह प्रतिशत 70.7 था।

11.4.2 विज्ञान और लिंग

इस बारे में दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। पहला यह कि दसवीं कक्षा में विज्ञान विषय में अच्छे अंक प्राप्त करने वाली लड़कियों में से कितनी लड़कियाँ +2 की कक्षा में विज्ञान विषय लेती है? और दूसरा प्रश्न है कि जितनी लड़कियाँ 12वीं कक्षा में विज्ञान विषय लेती हैं, क्या वे डिग्री स्तर पर वही विषय या उनसे संबंधित विषय लेती हैं? इस बारे में बिल्कुल सही उत्तर देना तो कठिन है लेकिन ऐसे संकेत हैं कि देश के कुछ सर्वोत्तम विद्यालयों में विज्ञान में चार लड़कों के मुकाबले एक लड़की होती है। इसके अतिरिक्त अध्यापक प्रशिक्षणार्थियों की कक्षा के अनुभव से यह पता लगता है कि ये लड़कियाँ चुपचाप और अलग-थलग रहती हैं। ये लड़कियाँ अपना गृह कार्य भी ठीक से करती थीं और यूनिट परीक्षाओं में भी अच्छे अंक प्राप्त करती थी परन्तु कक्षा में होने वाली चर्चाओं में बहुत कम भाग लेती थीं। बातचीत में लड़कों की प्रधानता रहती थी। लड़कियों का चर्चा में कम भाग लेने का एक कारण समझा जा सकता है परन्तु जिन अध्यापकों ने छठी और सातवीं कक्षाओं को पढ़ाया उन्होंने देखा कि किशोर-कन्याएँ अपना दृष्टिकोण रखने में उतनी ही स्पष्ट थीं जितना कि लड़के। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यही कन्याएँ पुरुष प्रधान वातावरण में विनम्र और आज्ञाकारी होने की आवश्यकता को शीघ्र ही आत्मसात कर लेती हैं तथा सवाल-जवाब करने की पहली मनोवृत्ति का त्याग कर देती हैं। दिल्ली के एक प्रमुख सह-शिक्षा स्कूल के एक प्रधानाचार्य ने कहा कि विज्ञान विषय लेने वाली अधिकांश कन्याएँ डाक्टर बनने की आशा रखती हैं। प्री-मैडिकल परीक्षा में असफल होने वाली अधिकांश कन्याएँ, गृह विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, जीव-रसायन अथवा आर्टस विषय ले लेती है। बहुत कम कन्याएँ इंजीनियरिंग, अनुसंधान वैज्ञानिक अथवा भू-भौतिकी बनने की इच्छुक होती हैं। किशोरावस्था आने पर लड़कियों के

समाजीकरण में विनम्रता, आज्ञाकारी होना और सामूहिक रूप से परिवार के प्रति दायित्व पर बल दिया जाता है। समाज-वैज्ञानिकों ने कहा है कि स्कूल का आंतरिक जीवन मध्य वर्ग प्रभुत्व पर आधारित प्राधिकार के पदानुक्रम (hierarchy) को दिखाता है। यह भाषाई संहिताओं (codes) और प्रयोग की जाने वाली पाठ्य पुस्तकों से भी स्पष्ट है।

सुविधावंचित घरानों के लड़कों को भी लड़कियों की तरह इस तरह की अनेक असमर्थताओं का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के तौर पर यदि हम अनुसूचित जातियों पर किये गये अध्ययनों को देखें तो पता लगता है कि विद्यार्थियों का हर्जा प्रायः इसलिए होता है कि वे वह सब कुछ नहीं समझ पाते जो उनको पढ़ाया जा रहा है। विभिन्न प्रकार की भाषाई और सामाजिक पृष्ठ भूमियों से आने वाले बच्चे क्षेत्रीय भाषा में लगभग एक सा पाठ्यक्रम हमेशा नहीं समझ पाते। भाषा और विषय वस्तु दोनों ही कुछ विद्यार्थियों की समझ से बाहर होते हैं। जिसके परिणामस्वरूप वे स्कूल छोड़ देते हैं। इसके अलावा शैक्षिक संस्थाओं के भीतर फैला हुआ भ्रष्टाचार भी उन्हें निरुत्साहित करता है क्योंकि परिवारों के पास इतने संसाधन नहीं होते कि वे पास कराने के लिए परीक्षकों को व दूसरों के लिए पैसा आदि दे सकें। फिर भी अनुसूचित जातियों के कुछ लड़के उच्च शिक्षा प्राप्त करने में सफल होते हैं।

11.4.3 अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ

आई.आई.टी. बम्बई से 1973 में बी.टैक कोर्स में भर्ती हुए 13 अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के विद्यार्थियों का गहन अध्ययन करने पर पता लगा कि दूसरे वर्ष के अंत तक उनमें से केवल 5 ही शेष रहे। हालांकि सभी ने वह क्रैश पाठ्यक्रम पास कर लिया था जो उनकी सामाजिक और शैक्षिक कमियों को पूरा करने के लिए चलाया गया था। परन्तु जन्म की अयोग्यता को पूरा करने के लिए यह शायद काफी नहीं था। आधे विद्यार्थी तो इसलिए छोड़ कर चले गये क्योंकि उन्हें शैक्षिक स्तर काफी उच्च स्तर का लगा, शेष ने इसलिए छोड़ दिया कि उन्हें यह शिकायत थी कि उनके विरुद्ध जातपात का भेदभाव किया जाता था। छात्रावास में रहना, काँटा-छुरी और कप-प्लेट आदि का इस्तेमाल करना और अंग्रेज़ी में बोलना और लिखना उनके लिए समस्या थी। बहुत कम विद्यार्थी ही ऐसी उच्च कोटि के संस्थानों के लिए योग्यता प्राप्त कर पाते हैं। अधिकांश विद्यार्थी शिक्षा के सामान्य विद्यालयों में जाते हैं अथवा आई.टी.आई. या उनके समकक्ष संस्थाओं में जाते है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि सारी अनुसूचित जातियाँ समकक्ष हैं और यह कि सभी सामान्य रूप से भाग्यशाली होती है। यहाँ पर भी हम पाते हैं कि इनमें से कुछ दूसरों से ऊपर हो जाती हैं। सीटों के आरक्षण से अनुसूचित जातियों के कुछ प्रतिशत को प्रतियोगिता में भाग लेने का अवसर मिलता है जबकि अधिकांश इस पद्धति से बाहर रह जाते हैं। एक बड़े समुदाय में कम संसाधनों के वितरण से कुछ प्रभाव पड़ते हैं। वे अनुसूचित जनजातियाँ जो बेहतर संगठित होती हैं और राजनैतिक रूप से ज्यादा शक्तिशाली होती हैं, सीटों का अधिकांश भाग ले लेती हैं। एक ही समुदाय के भीतर सुविधावंचित लोगों और सुविधा युक्त लोगों के बीच का फासला बढ़ जाने से शिक्षा द्वारा नई असमानताएँ पैदा हो जाती हैं। हम आरक्षण के विरुद्ध तर्क नहीं दे रहे हैं। परन्तु आपको यह बताने का प्रयास कर रहे हैं कि जब नीति बनाने वाले ऐसा नहीं भी चाहते, तब भी लाभ पाने वाले हमेशा वे लोग नहीं होते जिनके लाभ के लिए वह नीति बनाई जाती है।

यदि हम विशेषाधिकार और अवसर की बात कर रहे हैं तो यह निष्कर्ष निकालना सही होगा कि जनसंख्या का वह अधिकांश भाग औपचारिक शैक्षिक पद्धति में यर्थाथतः भाग नहीं ले पाता है जिसमें लड़कियाँ, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्य और वे लोग भी होते हैं जो आर्थिक और सामाजिक रूप से वंचित हैं। इससे पहले की इकाई में हमने संक्षिप्त रूप से इस बात का उल्लेख किया था कि गैर-औपचारिक पद्धति में भी अनेक समस्याएँ हैं। एक प्रमुख समस्या यह है कि लक्षित जनसंख्या के लिए पर्याप्त रूप से संगत पाठ्यक्रम सामग्री बना पाना संभव नहीं हो पाता। क्योंकि पाठ्य पुस्तकों के अधिकांश लेखक तथा नियोजन और अध्यापन कर्मचारी मध्यम वर्ग के होते हैं। फलतः क्या जरूरी है और क्या दिया जाए इसमें अंतराल रह जाता है। गैर-औपचारिक तथा प्रौढ़ शिक्षा कक्षाएँ अलग से लगाने में कोई अधिक लाभ नहीं होता। यह जरूरी है कि उन्हें विकास और कौशल प्राप्त करने के व्यापक मुद्दों से जोड़ा जाए अन्यथा यह कार्यक्रम असंगत और व्यर्थ रह जायेंगे। जैसा कि इस प्रकार की अनेक परियोजनाओं से सम्बद्ध व्यक्तियों ने कहा है। आसानी से सुलभ पीने का पानी और बीमारी के समय सस्ता अनाज और चिकित्सा सहायता जैसी आवश्यकताएँ संगत मामले समझे जाते हैं। क्योंकि गरीबी "नागरिकता के मूलभूत सिद्धांतों, सामाजिक एकीकरण अथवा राजनैतिक सत्ता में भागीदारी संबंधित वाद-विवादों" के प्रति गरीबों को उदासीन बना देती है।

11.4.4 शिक्षा और स्वैच्छिक संगठन

स्वैच्छिक संगठन, महिलाओं के संगठन और इसी प्रकार के अन्य संगठन गैर-औपचारिक शिक्षा को अधिक संगत बनाने में लगे हुए हैं। ऐसी स्थिति में जहाँ शिक्षा मात्र भिन्न प्रकार से पढ़ाना ही हो, उसे संगत करना हमेशा संभव नहीं होता। इसके अलावा पाठ्य सामग्री, चार्ट, उदाहरण आदि हमेशा संगत नहीं होते। ऐसी स्थिति में नये प्रयोगों से काफी लाभ उठाया जा सकता है। महाराष्ट्र में कुछ संगठनों के अनुभव बताते हैं कि किस प्रकार से थोड़ी सी कल्पना एवं पहल करने की इच्छा रुचि पैदा करने में सहायक हो सकते हैं। महिलाओं की एक गैर-औपचारिक कक्षा की संख्या समूहगान, कथा-बाँचने तथा स्वास्थ्य संबंधी मौलिक सूचना की प्राथमिक पुस्तक के वितरण से बढ़ाई गई। इसमें गोसवी बंजारन औरतें भाग ले रही थीं।

उपर्युक्त प्रकार से चलाये जाने वाले केन्द्रों की संख्या अधिक नहीं है। औपचारिक और गैर-औपचारिक दोनों क्षेत्रों के केन्द्र कल्पना के अभाव से ग्रस्त हैं तथा उसमें नौकरशाही अधिक चलती है। इस बात की पड़ताल किये बिना कि वर्तमान संस्थाएँ

सही प्रकार से काम कर रही हैं या नहीं, संस्थाओं के खोलने की लालसा के कारण ही नवोदय विद्यालयों का जन्म हुआ है। जबकि नवयुग विद्यालय ठीक से चालू भी नहीं हो पाये हैं। यह एक ऐसी समस्या है जो कमोबेश सभी देशों के सामने आई है। परिणामतः छठे दशक के अंत से शिक्षा के प्रति उदासीनता-सी पैदा हो गई है और शिक्षा सम्बद्ध व्यक्ति विकल्पों के बारे में बोलते और लिखते हैं। कुछ सामाजिक वैज्ञानिकों ने महसूस किया कि स्कूलों में ऐसे पाठ्यक्रम को खत्म कर देना चाहिए क्योंकि ये असमानता फैलाते हैं और गुप्त पाठ्यक्रम पर आधारित पद्धति से बच्चों को अति मात्रा में प्रतियोगिता सिखाते हैं। इस प्रकार का पाठ्यक्रम बच्चे उस की क्षमता का मापक है जिसमें विषय के समझने की अपेक्षा परीक्षाफल का महत्व अधिक है। लैटिन अमेरिका में विशेषज्ञों ने निर्धन विद्यार्थियों को पढ़ाने का बेजोड़ तरीका निकाला। उनके अनुसार यह सोच लेना कि औपचारिक शिक्षा जन्म की कमियों को दूर कर देगी तो यह एक भ्रम होगा।

परन्तु ये प्रयोग भी आंशिक रूप से ही सफल हुए हैं। अब तक आप इस बात से परिचित हो गये होंगे कि शिक्षा सार्थक परिवर्तन लाने के स्थान पर बाधक सिद्ध हो सकती है। उदाहरण के तौर पर जैसा कि हमने देखा है नई असमानताओं को पैदा करने में इसकी भूमिका कोई कम नहीं है।

जब आप समाजीकरण, सामाजिक संरचना, स्तर और भूमिका आदि के बारे में पढ़ेंगे, तब आपके लिए इन दो इकाइयों को अधिक व्यापक संदर्भ में देखना अधिक आसान होगा। अधिकांश सामाजिक संस्थाएँ बदलती हैं। जैसे ही वे एक दूसरे को प्रभावित करने वाली अनिवार्य प्रक्रिया का भाग बनती है, वे परिवर्तनशील हो जाती हैं। समाज शास्त्र का अध्ययन करते समय अपने सामने संस्थाओं के स्वरूप के बारे में घिसी-पिटी मान्यताएँ रखने की जगह हमें निरंतर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मानव विकास और अस्तित्व के लिए परिवर्तन और सुधार आवश्यक है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ख) अपने उत्तरों की तुलना इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से करें।

1 खाली स्थानों को भरें

क) देश के सर्वोत्तम स्कूलों में ..... के सेक्शन में चार लड़कों के मुकाबले में लड़की होती है।

ख) जनसंख्या का अधिकांश भाग, जिसमें ..... तथा सामाजिक व आर्थिक रूप से वंचित लोग हैं, औपचारिक शिक्षा पद्धति में कम ..... ले पाते हैं।

2 अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा की क्या स्थिति है? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

11.5 सारांश

इस इकाई में आपने शैक्षिक संस्थाओं के विभिन्न पहलुओं के बारे में पढ़ा है। सर्वप्रथम शिक्षा और असमानता के विषय पर चर्चा की गई। तत्पश्चात् शैक्षिक व्यवसाय के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया। इसके बाद शिक्षा में भेदभाव के प्रश्न पर विचार किया गया। इन विषयों के विभिन्न पहलुओं की व्यापक और विस्तृत चर्चा की गई।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1 Halsey, A.H. Floud J, and Anderson C.A., 1961. *Education, Economy and Society—A Reader in the Sociology of Education*, New York, The Free Press of Glencoe.

2 Worsley, P. 1987. *The New Introducing Sociology*, Penguin Books Ltd, Middlesex, England.

शब्दावली

उपलब्धि : इससे तात्पर्य शैक्षिक क्षेत्र में परीक्षाफल से है उदाहरणार्थ कक्षा में अंक।
भेदभाव : कुछ वर्ग विशेष के विद्यार्थियों उदाहरणार्थ गरीब बच्चों के प्रति सौतेला बरताव।
लिंग : स्त्री-पुरुष की पहचान।
शिक्षा में नई प्रणाली : इसमें मुद्रित सामग्री के अलावा श्रव्य-दृश्य माध्यमों का भी इस्तेमाल होता है।
परदा : चेहरे को ढकने वाला परदा, यहाँ परदा प्रथा के रूप में समाज में कुछ समुदाय की स्त्रियाँ बड़े-बूढ़ों से एवं पर पुरुष के सामने परदा करती हैं।
अवसर लागत : दूसरे प्रकार के आर्थिक लाभों (अवसर) को खोना। उदाहरण के तौर पर एक युवक अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए नौकरी मिलने के अवसर को गंवा देता है। यहाँ पर नौकरी अवसर लागत है।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

प्राथमिक शैक्षिक संस्थाओं में असमानता का प्रवेश विद्यार्थियों को दी जाने वाली शैक्षिक सुविधाओं के जरिए होता है। अधिकांश भारतीय विद्यार्थी सरकारी और निगम विद्यालयों में जाते हैं। इनमें से कुछ ही कालेज और व्यावसायिक संस्थाओं में पहुंच पाते हैं। जबकि उच्च परिवारों से आने वाले विद्यार्थी पब्लिक स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन विद्यालयों में गुणवत्ता और मात्रा दोनों ही दृष्टिकोणों से सर्वोत्तम सुविधाएँ होती हैं। इन संस्थाओं में शिक्षा पाने वाले बच्चे सामान्यतः उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् उन्हें नौकरियाँ भी बेहतर मिल जाती हैं। इस प्रकार हमारी शिक्षा पद्धति में ही असमानता विद्यमान है।

बोध प्रश्न 2

1 प्रत्येक स्तर पर शिक्षा में मूल्य प्रवेश करते हैं। प्रायः विद्यार्थी और अध्यापक समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों से होते हैं। उनका पालन-पोषण भिन्न-भिन्न प्रकार की मूल्य पद्धतियों में हुआ होता है। अतः जब एक अध्यापक किसी विद्यार्थी के पहनने अथवा बोलने के ढंग को बदलने का प्रयास करता है तो वह बच्चे पर अपने मूल्य लाद रहा होता है।

2 विद्यालय में उपलब्धि के अनेक कारण होते हैं। बच्चे को प्रोत्साहित करने में अध्यापकों, पाठ्यक्रम और पाठ्य-पुस्तकों की महत्वपूर्ण भूमिका है। माँ-बाप की इच्छा शक्ति (will power) और अध्यापक की सहानुभूति और विचार-शीलता बच्चे के विकास को प्रभावित करती है। अन्यथा बच्चा अकेला पड़ जाता है और शिक्षा में उसकी रुचि समाप्त हो जाती है।

बोध प्रश्न 3

1 क) विज्ञान, एक
ख) लड़कियाँ, अनुसूचित जातियाँ/जनजातियाँ, नहीं

2 सरकारी समर्थन के बावजूद अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियों के विद्यार्थी अपनी सामाजिक और शैक्षिक कमियों पर काबू नहीं कर पाते। देश के विभिन्न भागों में किए गए कतिपय अध्ययनों से यह स्पष्ट है।
(संदर्भ भाग 11.4.3)

संदर्भ ग्रंथ सूची

(यह सूची उन विद्यार्थियों के लिए है जो विषय को अधिक गहराई से जानना चाहते हैं)

- बर्नस्टेन, बी. 1977. *टूवार्ड ए थियरी ऑफ एजूकेशनल ट्रांसमिशन*, मैथ्यून इन्स : लंदन।
- दुर्खाइम, इ. 1956. *एजूकेशन एंड सोशियालॉजी*, न्यूयार्क फ्री प्रेस : न्यूयार्क।
- भारत सरकार, 1956. *नेशनल पालिसी आफ सोशियोलॉजी*, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग नयी दिल्ली।
- कारलेकर. एम. 1982. *पावर्टी एंड विमेन वर्क, ए स्टडी ऑफ स्वीपर विमेन इन दिल्ली*, विकास पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
- पर्सन्ज टी. सोशल, 1964. *सोशल स्ट्रक्चर एंड पर्सनलेटी*, फ्री प्रेस : न्यूयार्क
- आटवे, ए.के.सी. 1986. *शिक्षा का समाजशास्त्र*, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी : लखनऊ।
- नारायण, आदित्य, 1987. *शिक्षा मनोविज्ञान*, भाग 1, 2 उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी लखनऊ।
- फोर, एडगर आदि (सम्पादित), 1985. *आजीवन शिक्षा : शिक्षा जगत आज और कल (अनुवाद)*, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी लखनऊ।
- रूहेला, सत्यपाल, 1986. *शिक्षा का समाजशास्त्र*, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ।
- शर्मा, ब्रह्मदेव, 1986. *शिक्षा, समाज और व्यवस्था*, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी : लखनऊ।
- शर्मा, हरद्वारी लाल 1987. *बालक और परिवार*, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी : लखनऊ।

Notes

खड
4
आर्थिक प्रक्रियाएँ

इकाई 12
अर्थव्यवस्था तथा प्रौद्योगिकी 5

इकाई 13
उत्पादन प्रक्रियाएँ 17

इकाई 14
वितरण प्रक्रियाएँ 28

इकाई 15
उपभोग का स्वरूप 36

संदर्भ ग्रंथ सूची 45

विशेषज्ञ समिति

प्रो. त्रिलोकी नाथ मदन (अध्यक्ष)
निदेशक
इंस्टीट्यूट ऑफ इकॉनोमिक ग्रोथ
दिल्ली

प्रो. डी.एन. धनागरे
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे

प्रो. योगेंद्र सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. आन्द्रेबेते
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. विक्टर एस. डि'सूजा
माउंट कारमल रोड
मुंबई

प्रो. ए. प्रभाकर बर्नबास
(सलाहकार)
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ लेखक

डॉ. एम.एन. पाणिनी
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. के. राधाकृष्ण मूर्ति
आन्ध्र विश्वविद्यालय
वाल्टेयर

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

डॉ. शोभिता जैन
डॉ. त्रिभुवन कपूर
सुश्री अर्चना सिंह
डॉ. देबल के. सिंहराय

संपादक

प्रो. विक्टर एस. डि'सूजा
माउंट कारमल रोड़
मुंबई

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. बी.एन. कौल
प्रो. जी.एस. राव
प्रो. पी.आर. रामानुजम
श्री के. मुरुगन

अनुवाद

श्रीमती सुषमा लोहिया
नई दिल्ली

श्री ओ.पी. अग्रवाल
नई दिल्ली

श्री मुनिदत्त दवे
नई दिल्ली

संकाय सदस्य

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
डॉ. परमानन्द पांचाल
डॉ. पूरनचन्द टंडन

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1998 (पुनः मुद्रित)

©इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989

ISBN-81-7091-337-3

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGSY-01/128

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी के लिए विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली-110068 से सम्पर्क करें।

खंड 4 परिचय : आर्थिक प्रक्रियाएँ

मनुष्य को अपनी सुख-सुविधाओं के लिये भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, इसलिए वह उत्पादन वितरण तथा उपभोग संबंधी आर्थिक संगठनों पर निर्भर है। सभी आर्थिक प्रक्रियाएँ सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण से जुड़ी होती हैं, इसलिए अगली चार इकाइयों में हम आर्थिक-प्रक्रियाओं के सामाजिक पहलुओं पर चर्चा करेंगे।

इकाई 12 में विभिन्न समाजों में अर्थव्यवस्था एवं प्रौद्योगिकी के बीच संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। इकाई 13 में आर्थिक संगठनों एवं उनकी उत्पादन प्रक्रियाओं की चर्चा की गई है। हमने समाज़, उत्पादन और प्रौद्योगिकी के बीच संबंध को समझने में समाजशास्त्रियों के योगदान को भी रेखांकित किया है। इकाई 14 में वितरण की प्रक्रियाओं का विवरण दिया गया है और विभिन्न प्रकार की विनिमय पद्धतियों तथा बाजार-विनिमय की विशिष्टताओं पर प्रकाश डाला गया है। अंत में इकाई 15 में उपभोग की प्रक्रिया, उसके विभिन्न सिद्धांतों तथा उनके सामाजिक स्वरूप के बारे में बताया गया है।

इकाई 12 अर्थव्यवस्था तथा प्रौद्योगिकी

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 अर्थव्यवस्था तथा प्रौद्योगिकी का संबंध
  12.2.1 अर्थव्यवस्था की परिभाषा
  12.2.2 प्रौद्योगिकी की परिभाषा
  12.2.3 अर्थव्यवस्था और समाज
12.3 पूर्व-आधुनिक समाजों में प्रौद्योगिकी का विकास
  12.3.1 सरल समाजों में प्रौद्योगिकी
  12.3.2 पशु-पालक समाजों में प्रौद्योगिकी
  12.3.3 खेतिहर समाजों में प्रौद्योगिकी
    12.3.3.1 कृषि उत्पादनों में अतिरेक (surplus)
    12.3.3.2 नई सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव
    12.3.3.3 श्रम विभाजन
  12.3.4 शहरों का विकास
12.4 आधुनिक समाज में प्रौद्योगिकी का विकास
  12.4.1 औद्योगिक क्रांति
  12.4.2 विकास के नमूने
12.5 प्रौद्योगिक विकास के सामाजिक पहलू
  12.5.1 औद्योगिक निगम
  12.5.2 कार्ल मार्क्स एवं मैक्स वेबर की धारणाएँ (theses)
  12.5.3 सम्पन्न मजदूरों का उभरना
  12.5.4 आधुनिक युग के मजदूरों का अन्यताभाव या परकीकरण (alienation)
12.6 आधुनिक प्रौद्योगिकी और काम-काज के संबंध
  12.6.1 मशीनें और उत्पादन
  12.6.2 रोजगार पैदा करना
  12.6.3 प्रौद्योगिकी और संघीकरण
12.7 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप :

- अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी के आपसी संबंधों को जान सकेंगे;
- पूर्व-आधुनिक एवं आधुनिक समाज में प्रौद्योगिकी के विकास की प्रक्रियाओं को समझ सकेंगे; तथा
- समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं और उत्पादन प्रक्रिया पर प्रौद्योगिक विकास के प्रभाव को जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम प्रौद्योगिकी एवं अर्थव्यवस्था के संबंध में पढ़ेंगे तथा सरल समाज, पशु पालक समाज, रोलिहर समाज और शहरी तथा औद्योगिक समाज पर प्रौद्योगिक विकास के प्रभाव को जान सकेंगे। यहाँ हम औद्योगिक क्रांति तथा अर्थव्यवस्था के अन्य पक्षों के बारे में भी पढ़ेंगे। इसमें औद्योगिक रूप से विकसित अर्थव्यवस्था में प्रौद्योगिकी एवं अर्थव्यवस्था की भूमिका का, प्रौद्योगिकी और काम-काज के संबंधों पर चर्चा का समावेश है। इसमें रोजगार बढ़ाने, मशीनों की भमिका और संघीकरण पर भी प्रकाश डाला गया है।

12.2 अर्थव्यवस्था तथा प्रौद्योगिकी का संबंध

हम हर समाज में लोगों को जीवित रहने के लिए संघर्ष करते पाते हैं। इस जीवन-संघर्ष में लोग औजार तथा अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ बनाने के लिए प्राकृतिक उत्पादनों जैसे लकड़ी, पत्थर, गारा, घास, धातु आदि का प्रयोग करते हैं। लोगों की भौतिक, शारीरिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के संतोष से ही उस समाज की अर्थव्यवस्था बनती है। अब आपको यह बताया जाएगा कि अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी क्या है और उनका आपस में क्या संबंध है।

12.2.1 अर्थव्यवस्था की परिभाषा

संसार में सभी जगह लोग अनुभव करते हैं कि उनकी कुछेक आवश्यकताएँ ऐसी हैं जो भौतिक वस्तुओं तथा अन्य लोगों की सेवाओं से ही पूरी हो सकती हैं। इन जरूरतों को पूरा करने के लिए उन्हें आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर होना पड़ता है, जो उन्हें ये भौतिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ देती हैं। शारीरिक आवश्यकताओं का संबंध जैविक प्रक्रिया से होता है। भूख लगने पर हम खाना खाते हैं, प्यास लगने पर पानी पीते हैं, ठंड लगने पर गरम कपड़े पहनते हैं, गर्मी लगने पर पंखा चलाते हैं, चोट लगने पर या बीमार पड़ने पर उपचार करते हैं। इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमें भौतिक वस्तुओं जैसे–भोजन, पानी, कपड़ा, घर, हथियार, दवाएँ तथा अन्य व्यक्तियों के सहयोग आदि की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक संबंध बनाए रखने के लिए तथा भौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं की प्राप्ति के लिए सामाजिक जरूरतें भी होती हैं। विशिष्ट सामाजिक भूमिकाओं को उनके विशिष्ट पहनावे, विशिष्ट उपकरणों, विशिष्ट साज-सज्जा के साथ जोड़ा जाता है। उदाहरण के लिए डॉक्टर को ही लीजिए, वह विशेष कपड़े पहनता है, उसके पास विशेष उपकरण होते हैं, उनके क्लिनिक में रोगियों की जाँच के लिए विशेष मेज, यंत्र तथा एक्सरे मशीन वगैरह होती हैं। इन भौतिक वस्तुओं, नर्स एवं तकनीशियन के बिना कोई भी डॉक्टर अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर सकता। इसी तरह लोग भौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं के आदान-प्रदान से सामाजिक एकता को बनाए रखते हैं। जैसे–सामाजिक एवं धार्मिक अवसरों पर एक दूसरे को उपहार देना नातेदारी के संबंधों को प्रगाढ़ बनाता है।

12.2.2 प्रौद्योगिकी की परिभाषा

आमतौर पर प्रौद्योगिकी को व्यावहारिक कला कहते हैं। शिकार, कंद-मूल इकट्ठा करना, मत्स्य-पालन, पशुपालन, कृषि, खदानें खोदना आदि से लेकर वस्तु-निर्माण, भवन-निर्माण, परिवहन, भोजन, पानी, बिजली, ऊर्जा आदि की व्यवस्था करना इसके उदाहरण हैं। इसमें संचार साधन, औषधियाँ तथा सैनिक प्रौद्योगिकी भी शामिल हैं।

"कार्य कुशलता, ज्ञान तथा उपयोगी वस्तुएँ बनाने एवं उनके प्रयोग कर सकने की क्षमता को ही प्रौद्योगिकी कहते हैं। इसकी धुरी वे प्रक्रियाएँ हैं जो प्राथमिक रूप से मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रक्रियाएँ न होकर जीवविज्ञानी एवं भौतिकी हैं। ये प्रक्रियाएँ उन सांस्कृतिक परंपराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं जो मानवीय समुदायों में शारीरिक एवं जीवविज्ञान संबंधी पर्यावरण से जूझने के लिए समाज में पनपती हैं और जिनमें मनुष्य की जीवधारी रचना का भी समावेश है।" (इंटरनेशनल इंसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज़, भाग 15)

12.2.3 अर्थव्यवस्था और समाज

किसी भी समाज की अर्थव्यवस्था केवल उसके सामाजिक मानकों से ही संबंधित नहीं होती वरन् समाज विशेष में पाए जाने वाले औज़ारों और खोजों की भी उसमें भूमिका होती है। यदि हम मानव समाज की उन्नति तथा शिकार से पशु पालन, कृषि तथा आधुनिक औद्योगिक समाज तक के प्रौद्योगिकी विकास पर ध्यान दें तो यह तथ्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

किंतु पूर्व-आधुनिक एवं आधुनिक समाज में प्रौद्योगिकी के विकास का वर्णन करने से पहले हमें यह कहना आवश्यक है कि भौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं से मानव की शारीरिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वत: नहीं हो जाती है। इसके लिए किसी ऐसी व्यवहार व्यवस्था का होना आवश्यक है जिससे व्यक्ति आवश्यक भौतिक वस्तुओं का निर्माण कर सके और जरूरी संसाधन जुटा सके। और यह व्यवस्था है–"आर्थिक संगठन" जो उत्पादन, वितरण और खपत की क्रियाओं के इर्द-गिर्द घूमती है।

12.3 पूर्व-आधुनिक समाजों में प्रौद्योगिकी का विकास

आमतौर पर कहा जा सकता है कि प्रौद्योगिक परिवर्तन का अध्ययन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन में निहित है। सरल समाज से लेकर आधुनिक औद्योगिक समाज तक कई चरणों में औज़ारों और प्रौद्योगिकियों का विकास हुआ है।

12.3.1 सरल समाजों में प्रौद्योगिकी

सरल समाजों में लोग जंगलों, रेगिस्तानों, पहाड़ों आदि पर रहते थे और शिकार करके तथा इधर-उधर से खाद्य सामग्री एकत्रित करके अपना गुज़ारा करते थे। वे शिकार के लिए धनुष-बाण जैसे सीधे-सादे शस्त्रों का प्रयोग करते थे, पशुओं की खाल पहनते थे और शिकार के लिए कुत्ते पालते थे। कालांतर में दो बड़े आविष्कार किये गए और परिणामस्वरूप धीरे-धीरे शिकारी जीवन का स्थान अपेक्षाकृत जटिल आर्थिक संगठनों के नए रूपों ने ले लिया। ये आविष्कार थे—पशुपालन तथा कृषि। इनके साथ अन्य आविष्कार तथा यांत्रिक खोजें भी हुईं।

कृषि के माध्यम से लोगों ने भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार भी किया। अवश्य ऐसे भी कृषक समुदाय थे जिनमें व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व की जगह सारी भूमि पर कुल का सामुदायिक स्वामित्व था। आदिवासियों की अनेक संस्कृतियों में प्रत्येक परिवार को कुल की सामुदायिक भूमि में से छोटे-छोटे हिस्सों को खेती करने के लिए दिया जाता है। उन खेतों की उपज पर परिवार विशेषों का हक होता था। ऐसे समुदायों में खेती के लिए प्रायः हल का उपयोग न होकर कुदाली (hoe) से खेती की जाती थी। इसीलिए, इस प्रकार के समुदायों की संस्कृति को कुदाली संस्कृति (hoe-culture) भी कहा गया है।

भारत में कई आदिवासी समुदाय "झम" कृषि (Jhum cultivation) भी करते हैं। इस प्रकार की खेती में हर मौसम में नई भूमि पर खेती की जाती है और पुरानी भूमि को पुनः उर्वर होने के लिए छोड़ दिया जाता है। यह केवल तभी संभव है जब जनसंख्या कम और जंगल में पर्याप्त भूमि हो।

12.3.2 पशुपालक समाजों में प्रौद्योगिकी

बड़े पशुओं के पालन से लोगों को नियमित रूप से खाने-पीने को मिलने लगा। उनकी स्थिति में सुधार हुआ। अब वे मारे-मारे जंगलों में नहीं घूमते थे। अब वे अस्थिर उपज पर निर्भर नहीं थे। हमें भारत, अफ्रीका तथा अन्य स्थानों पर इस प्रकार की अनेक पशुपालक जनजातियाँ मिलती हैं। पशुओं के झुंड केवल खाद्यान्नों के नहीं, धन धान्य के प्रतीक भी हैं क्योंकि ये विनिमय और व्यापार के अच्छे साधन भी हैं। परंतु पशुओं का विनिमय तथा व्यापार विशेष रूप से पुरुषों का काम था अतः पशुपालक समाजों में पुरुषों ने "कुदाली संस्कृति" की तुलना में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। हाथी, घोड़े और ऊंट जैसे पशुओं के प्रयोग से सैनिक तकनीकों का भी विकास हुआ। इनका प्रयोग सामान ढोने के लिए तो किया ही जाता रहा है साथ ही ये तीव्र आवागमन के साधन भी रहे हैं।

12.3.3 खेतिहर समाजों में प्रौद्योगिकी

बड़े पैमाने पर की गई कृषि से एक प्रकार की स्थिरता आई जिससे लोगों ने स्थायी घर बनाना शुरू किया। स्थिर कृषि से मिट्टी के बरतन बनाना शुरू करना भी जुड़ा है। इसके साथ ही बाल या ऊन अथवा सूत बुनने की कला का भी विकास हुआ। कपड़े, मिट्टी के बरतनों, टोकरियों और अनाज की फसलों के फलस्वरूप लोगों के पास सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी, जिसका एक विशेष महत्व था। इन हस्तकलाओं में लोगों ने और दक्षता प्राप्त की और उनमें विशिष्टीकरण (specialisation) पैदा होने लगा। इस तरह, कृषि के इस आरंभिक काल में ही आदान-प्रदान की शुरुआत भी हुई जो हस्तकलाओं में विशिष्टीकरण से उपजी।

12.3.3.1 कृषि उत्पादनों में अतिरेक (surplus)

कृषि में स्थिरता आने पर कुदाली और पशुपालन के साथ खेती में हल का भी उपयोग होने लगा। औजारों एवं तकनीकों में सुधार के साथ खेती के लिए अधिक भूमि उपयोग में लाई जाने लगी और उपज में वृद्धि हुई। व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व एक नियम सा बन गया। अर्थात् परिवारों ने भूमि पर अलग-अलग कब्जा किया। यहां परिवार से हमारा तात्पर्य नातेदारों के एक बड़े समूह से है।

12.3.3.2 नई सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव

समाज में भूमि धन-धान्य का विशेष आधार बन गई। मनुष्यों को धन-धान्य की लालसा होती है इसलिए भूमि पर अधिकार जमाने की परंपरा का विकास हुआ। भूमि खरीद कर या विवाह

संबंध स्थापित करके या जहाँ कहीं मजदूरों का बाहुल्य मिला वहाँ जबरदस्ती भूमि छीन कर भूमि स्वामित्व बढ़ाया गया। कई स्थानों पर ये मजदूर कृषकों के अपने नाते-रिश्तेदार होते थे। कहीं दास एवं बंधुआ होते थे तो कहीं उनके साझेदारी पर खेती करने वाले होते थे। परिणामतः सामाजिक वर्गों, खेतिहरों तथा जमींदारों का विकास हुआ। बड़े-बड़े जमींदार शक्ति और धन के लिए आपस में लड़ते थे; और उनमें जो सबसे अधिक धनी और शक्तिशाली होता था वह शासन के न्याय तथा सेना संबंधित सभी अधिकार अपने हाथ में ले लेता था। धनी परिवार प्रायः कला, वास्तुकला और धार्मिक क्रियाकलापों को संरक्षण देते थे। इसी समय सामन्तवाद भी आरंभ हुआ।धीरे-धीर समय के प्रवाह में और जब तब विद्रोह के कारण इन प्रभुता प्राप्त परिवारों की प्रभुता समाप्त होती चली गई और राज्य तंत्रों का उदय हुआ। व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के साथ-साथ ग्राम कस्बों में बदल गए, कस्बे शहरों में और शहर महानगरों में परिवर्तित हो गए। (औगबर्न और निमकौफ 1968)।

12.3.3.3 श्रम विभाजन

हस्तकला के विकास ने सम्पत्ति की वृद्धि में योगदान दिया और इसके साथ ही अधिकाधिक मजदूरों की जरूरत हुई। तांबा, टीन, सोना, चांदी और लोहे जैसी धातुओं के आविष्कार से औज़ार हथियार, बहुमूल्य गहनों आदि का निर्माण होने लगा। ये धातु, अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्राप्त थे, इसलिये इनसे सम्बद्ध कलाओं में कुछ ही लोग दक्षता प्राप्त कर सके। फलतः विशेष योग्यता या विशिष्टीकरण का विकास हुआ। बड़े पैमाने पर कृषि से समाज में श्रम विभाजन की शुरुआत हुई। कुछ स्थानों पर, जैसे भारत में—इसने जाति प्रथा का रूप लिया जिसमें जन्म से ही लोग विभिन्न व्यवसायों के आधार पर ऊँच-नीच की श्रेणियों में बँट गए।

12.3.4 शहरों का विकास

कृषि एवं हस्तकला के क्षेत्र में तथा खाद्यान्न के अतिरेक के कारण व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ। तीव्र गति वाले आवागमन के साधनों ने नगरों और महानगरों को जन्म दिया जिससे औद्योगिक नगरीय संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। शहरों में लोग अन्न नहीं उपजाते। वे उसे बाजार से खरीदते हैं। इसलिए बाजार की अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ और वाणिज्य तथा व्यापार फले-फूले। यूरोप में धीरे-धीरे सामन्तवाद का स्थान पूँजीवाद ने लिया जिसे हमने अंग्रेजों से उनके लम्बे शासनकाल के दौरान विरासत में पाया है। यूरोप और अमेरिका में पूँजीवाद के विकास की प्रक्रियाओं को ब्रिटेन में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति से बड़ा प्रोत्साहन मिला। आइये अब हम इस औद्योगिक क्रांति के दौरान होने वाले कुछ प्रौद्योगिक परिवर्तनों पर दृष्टिपात करें।

12.4 आधुनिक समाज में प्रौद्योगिकी का विकास

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति प्रारम्भ हुई जिसने अनेकों अन्वेषकों को जन्म दिया। जेम्स हारग्रीव्स ने 1764 में कताई की मशीन का और रिचर्ड आर्कराइड ने 176६ में स्पिनिंग फ्रेम का आविष्कार कर कताई की पद्धति को और परिष्कृत कर दिया। जेम्स वाट ने 1780 में भाप से चलने वाले इंजन का आविष्कार किया जिससे कोयले की खानों एवं कपड़े की मिलों में वाष्प-शक्ति के प्रयोग की शुरुआत हुई और इंग्लैंड ने अपने औद्योगिक उत्पादन में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि की। इंग्लैंड के औद्योगिक विकास में इन विशिष्ट व्यक्तियों का योगदान उल्लेखनीय है, किन्तु उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ इससे भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। यदि सामाजिक परिस्थितियाँ औद्योगिक उत्पादन में उनके इन आविष्कारों के उपयोग को प्रोत्साहित न करतीं तो संभवतः औद्योगिक क्रांति न होती। उदाहरण के लिये इटली के प्रख्यात चित्रकार लियोनार्डो द विंची (1452-1519) ने भी, जो एक विशिष्ट इंजीनियर और शिल्पकार भी थे, कुछ नए हथियारों का विकास किया था और हवाई जहाजों के चित्र बनाए थे। किन्तु उनकी यह कला केवल पत्र पर ही सिमट कर रह गई क्योंकि उस समय वहाँ की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ ऐसी नहीं थीं कि उनके विचारों को साकार किया जा सकता।

12.4.1 औद्योगिक क्रांति

अब एक बार फिर इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति की ओर लौटें। यह समय था जब औद्योगिक कार्यकर्ताओं और शिल्पकारों ने वैज्ञानिक संस्थाओं की स्थापना की थी जिससे विज्ञान और इंजीनियरिंग के क्षेत्र में और अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सके और औद्योगिक उत्पादन बढ़ाया जा सके। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में संयक्त राज्य अमेरिका के महत्वपूर्ण प्रौद्योगिक विकास के

पीछे तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का हाथ है। वहाँ भूमि के आधिक्य और काम करने वालों की कमी के कारण कृषि विश्वविद्यालयों तथा इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में विभिन्न मशीनों का आविष्कार हुआ। इन परिस्थितियों के अतिरिक्त उत्तरी अमेरिका संस्कृति ने भी उद्यमकर्ताओं को जो स्वतंत्रता और प्रोत्साहन दिया वहीं कुछ लोगों के अनुसार देश के प्रौद्योगिक विकास का एकमात्र कारण था। उत्तरी अमेरिका में स्वतंत्र बाजार की प्रवृत्ति ने व्यक्तिगत व्यापार को प्रोत्साहित किया। छोटे से बिन्दु से आरंभ कर वहाँ के लोग कठिन श्रम और अद्‌भुत विचारों के बल पर ही अपना भाग्योदय कर सके और बेशुमार पैसा कमा सके। कोई भी व्यक्ति जिसमें थोड़ी सी भी शोध की प्रतिभा थी और जो अपने विचार एवं बुद्धि से उसका प्रयोग कर सकता था, वह पेटेन्ट नियम के अन्तर्गत अपने आविष्कार पर कानूनी अधिकार प्राप्त कर उसका लाभ उठा सकता था।

विभिन्न समाजों में तकनीकी परिवर्तन

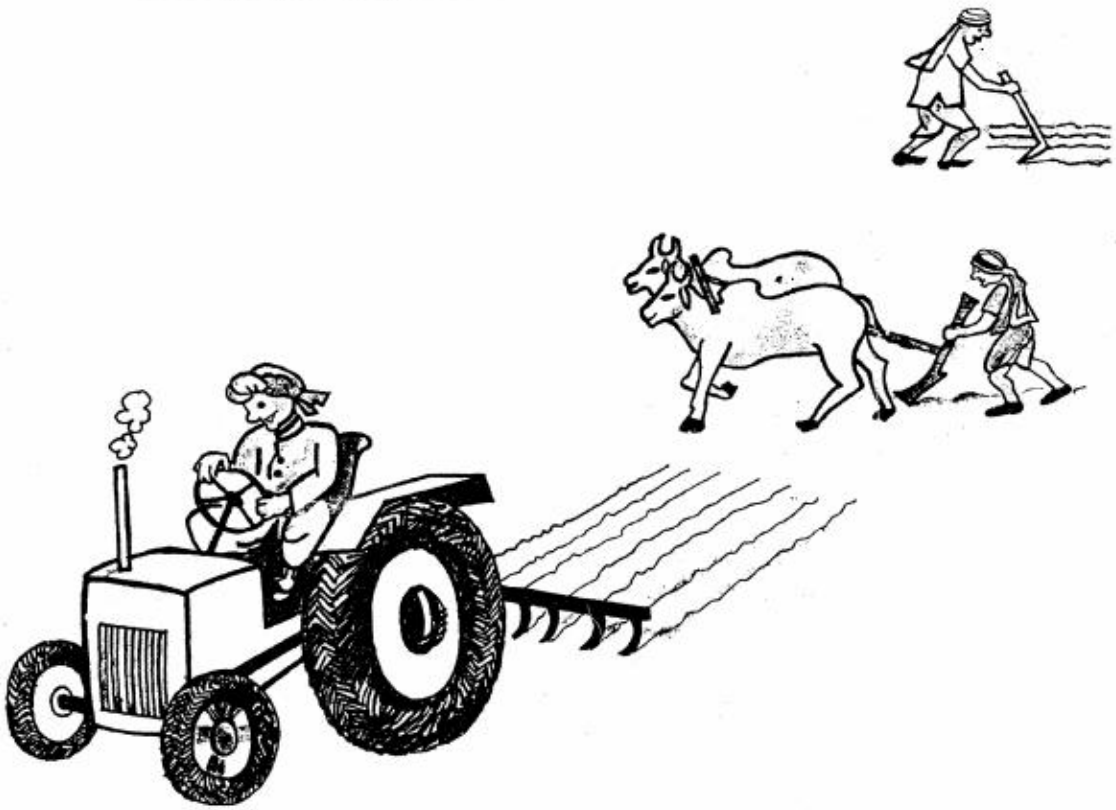

विभिन्न समाजों में प्रौद्योगिकी परिवर्तन : कुदाल से लेकर हल और ट्रैक्टर तक

12.4.2 विकास के नमूने

एक ओर संयुक्त राज्य अमेरिका अपने विकास का उदाहरण प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर जापान। सन् 1868 "माइजी पुनर्स्थापना" का वर्ष था। जापानी सरकार ने अपने युवाओं को पश्चिमी देशों में आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी सीखने के लिए भेजा और कई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना कर औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया।

1950 के दशक से जापान ने आश्चर्यजनक आर्थिक प्रगति की। एशियाई देशों में यह पहला देश है जिसकी गणना संसार के सबसे धनी दस देशों में होती है। जापान औद्योगिक क्षेत्र में विशेष रूप से इलेक्ट्रॉनिक्स, लोहे एवं स्टील, कार एवं जलयान उद्योग में विश्व का अग्रगण्य देश है। बहुत से अमेरीकी उद्योग जापान की तुलना में ठंडे पड़ गए हैं क्योंकि जापानी अपने उत्पादन में निरंतर सुधार और उन्नति करते जा रहे हैं।

जापानी अनुभवों से कई रोचक प्रश्न उभर कर सामने आते हैं जो उद्योग और प्रौद्योगिकी के विकास में सामाजिक तत्वों के प्रभाव से जुड़े हैं

12.5 प्रौद्योगिक विकास के सामाजिक पहलू

पश्चिमी सभ्यता में व्यक्ति को महत्ता दी जाती है और समाज के नियम तथा मूल्य उसके अधिकारों की रक्षा करते हैं, किन्तु जापान में समाज का स्थान व्यक्ति से ऊँचा है। जापान के औद्योगिक निगम एक बड़े समुदाय के रूप में कार्य करते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी एक विशेष निगम का अंग बनता है और वहाँ कार्य आरंभ करता है, तो वह अपना समस्त जीवन उस निगम की सेवा में ही व्यतीत करता है। उसे वेतन तथा मजदूरी उसकी योग्यता को नहीं अपितु वरिष्ठता को ध्यान में रख कर दी जाती है। निगम की उत्पादन योजना संबंधी चर्चा में सभी सदस्य और कार्यकर्ता भाग लेते हैं। सबकी सहमति पर योजना के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् निगम के प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य बन जाता है कि वह लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जी-जान से प्रयास करे। यहाँ एक मजबूत साझेदारी की डोर होती है जो कार्यकर्ताओं और प्रबंधक को एकसूत्र में बांधती है, जिसके फलस्वरूप यह एक कार्यकुशल और मजबूत उत्पादक इकाई बन जाती है।

जापान के समान संयुक्त राज्य अमेरिका में पिछले वर्षों में ऐसा औद्योगिक चमत्कार दिखाई नहीं पड़ा है। यह कहा जाता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका का अत्यधिक वैयक्तिक रवैया ही औद्योगिक स्पर्धा में रुकावट बन गया है। शोध और विकास में, विशेष रूप से उच्च प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में पूँजी लगाना खतरनाक हो गया है। इस प्रकार पूँजी लगाना तभी लाभप्रद हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति अनकहे ही इस बात को समझ ले कि उसे अब अन्य लोगों के साथ मिलकर एक लम्बे समय तक कार्य करना होगा, चाहे इसमें उसे व्यक्तिगत रूप से हानि ही क्यों न उठानी पड़े।

12.5.1 औद्योगिक निगम

इस प्रकार कार्यकर्ता एक नये उत्पादन के विकास से बहुमूल्य अनुभव प्राप्त कर सकते हैं और कार्य को नए ढंग से करना सीख सकते हैं। उदाहरण के लिए अपने कार्यकाल में वे यह सीख सकते हैं कि विरल धातु मिश्रणों में विकारों के प्रतिशत को किस प्रकार कम किया जा सकता है। जब किसी को इस प्रकार का अनुभव प्राप्त हो जाता है तो उसके इस अनुभव का लाभ उठाने के लिए अन्य निगम उसे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास कर सकते हैं। वे स्थानांतरण से होने वाले नुकसान को पूरा करने के लिए भी तत्पर हो सकते हैं। यदि कार्यकर्ता इन आकर्षणों से प्रभावित हो नई नौकरी स्वीकार कर लेता है, तो इस नई प्रौद्योगिकी के विकास में लगी लागत **बेकार हो जाती है। कहते हैं कि अमेरिकी समाज में उन लोगों की रक्षा की जाती है जो कि व्यक्तिगत विकास के लिए निगम छोड़कर चले जाते हैं। निगम के साथ बंधे रहने वालों की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। यही कारण है कि निगम तथा व्यक्ति दोनों ही शोध और विकास के उन कार्यों को हाथ में लेने में हिचकिचाते हैं, जिनमें अधिक लागत की आवश्यकता होती है।**

जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना से पता चलता है कि अमेरिका में संभवतः वही संस्थाऐं आज अनेक क्षेत्रों में औद्योगिक नेतृत्व में आड़े आ रही हैं जिन्होंने कभी व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया था और बदले में देश के औद्योगिक और प्रौद्योगिक विकास का कारण बनी थीं। यह एक रोचक तथ्य है क्योंकि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में मूलभूत शोध की दृष्टि से यह देश संसार में आज भी सबसे आगे है। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश में आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के लिए केवल उचित वातावरण और परिस्थितियाँ बनाना ही काफी नहीं, शोध कार्य को लाभप्रद उत्पादक योजनाओं में बदलना भी आवश्यक है।

12.5.2 कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर की धारणाएँ

प्रौद्योगिकी के विकास से संबंधित उपरोक्त सामग्री का कार्ल मार्क्स या मैक्स वेबर के दृष्टिकोण से भी वर्णन किया जा सकता है। यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि "प्रोटेस्टेंट" मत पर वेबर के विचार और पूँजीवाद के उद्भव में उसकी भूमिका यूरोप के इतिहास में एक विशिष्ट समय से सम्बद्ध है। किन्तु फिर भी वेबर के सिद्धांतों का उपयोग जापान तथा तीसरी दुनिया के देशों के विकास को समझने के लिये किया जाता है। इस प्रकार के उदाहरणों के लिये उद्यमी समुदायों के धार्मिक विचारों को भी देखना होगा जिससे "प्रोटेस्टेन्ट" मत से उनकी तुलना की जा सके। इस प्रकार की व्याख्यायें जापानी प्रौद्योगिक और औद्योगिक विकास तथा विश्व के अन्य उद्यमी समुदायों के संबंध में की गई हैं। इनमें से कुछ अध्ययनों का प्रभाव आधुनिकीकरण के सिद्धांतों पर भी पड़ा है जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। मार्क्स के विचारों के संबंध में यह कहा जाता है कि पूँजीवाद के बारे में की गई उसकी भविष्यवाणियों का परीक्षण करने के लिए सही मूल्यांकन आवश्यक है। और ऐसा करने में स्वाभाविक रूप से हमारी चर्चा समाज पर प्रौद्योगिकी और औद्योगिक उत्पादन

12.5.3 सम्पन्न मजदूरों का उभरना

मार्क्स के आलोचकों का कहना है कि मार्क्स की भविष्यवाणियाँ सच नहीं हुईं। जीवाद की जड़ें उखड़ने के स्थान पर और अधिक दृढ़ होती जा रही हैं, विशेषकर उद्योग प्रधान देशों में जिनमें जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के कई देशों का समावेश है। क्रांति को भुलाकर श्रमिक वर्ग ने उत्पादन के पूँजीवादी तरीके को मान लिया है। इसका कारण यह है कि इन देशों में श्रमिक वर्ग का रहन-सहन काफी ऊँचा हो गया है। अधिक आमदनी के कारण मजदूरों की ऐसी श्रमिक संघों का सदस्य बनने में कोई रुचि नहीं रह गई है जो उनके अधिकारों के लिए लड़ाई कर सकें। इंग्लैंड में 1970 के दशक में गोल्डथौर्प, लौकवुड तथा अन्य लोगों ने "वर्गों के ढांचे में संपन्न श्रमिक" विषय पर अध्ययन किया जिसका उद्देश्य था : सम्पन्न वर्ग की अवधारणा का अध्ययन करना और यह अध्ययन इस अवधारणा की पुष्टि करता है। इस अध्ययन में यह दर्शाया गया है कि मजदूर अपनी फैक्टरी को अपने जीवनयापन का एक साधन मानता है। उसे इस फैक्टरी से जुड़े होने में न गर्व का अनुभव होता है और ना ही वह अपने साथियों के साथ मित्रता या भाईचारा बढ़ा पाता है। फैक्ट्री के काम में उसे किसी प्रकार की जीवन की सार्थकता दिखलाई नहीं पड़ती। वह इधर-उधर के मनबहलाव के कार्यों में दिलचस्पी लेने लगा है। वह राह देखता है कि कब उसका कार्य समाप्त हो और कब वह अपने घर जाकर अपने परिवार के सदस्यों के साथ अथवा अपने मित्रों के साथ समय बिताए। आज उसका जीवन अधिक व्यक्तिगत हो गया है और वह इसको बनाए रखने का भरसक प्रयास भी करता है। वह श्रमिक-संघ का सदस्य भले ही हो पर वह उसकी गतिविधियों में उत्साह से भाग नहीं लेता। वह श्रमिक-संघ को उच्च वेतन पाने का एक साधन मात्र मानता है। सामाजिक परिवर्तन का दूत बनने की उसकी लालसा खत्म हो गई है। आज उसने पूँजीवादी व्यवस्था को मौन स्वीकृति दे दी है। उसे इस व्यवस्था से सिर्फ भरसक लाभ उठाने में रुचि रह गई है। ये सारी बातें मार्क्स के उन सिद्धांतों का खण्डन करती हैं जो उसने पूँजीवादी समाज में मजदूरों की भूमिका के बारे में कहे थे।

12.5.4 आधुनिक युग में मजदूरों का अन्यताभाव या परकीकरण

वस्तुतः इस अध्ययन से पहले भी मार्क्सवाद में विश्वास रखने वाले कुछ विचारकों ने मजदूरों के रवैये में इस परिवर्तन की चर्चा की थी। प्रभावशाली मार्क्सवादी सिद्धांतकार मार्क्यूज ने 1960 के दशक में कहा था कि आधुनिक समाज में मजदूर भी बहुत बदल गया है। औद्योगिकी ने उससे अपना व्यक्तित्व छीन लिया है। उसकी संवेदनशक्ति को समाप्त कर दिया है। वह मशीन का प्रारूप बनकर रह गया है। जिसने कभी स्वतंत्रता के फल को चखा तक न हो, वह स्वतंत्रता की कल्पना कैसे कर सकता है। ऐसे ही एक दास के समान आधुनिक श्रमिक ऐसा मशीनी जीवन जीता है कि वह अपनी इस दासता से मुक्ति की बात न सोचता है, न सोचना चाहता है। इसीलिए मार्क्यूज ने कहा था कि आधुनिक समाज के प्रभाव से अछूते विश्वविद्यालय के छात्र ही वे लोग हैं जो देश में क्रांति ला सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) नीचे दिये गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इकाई के अन्त में दिये गए उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 प्रौद्योगिकी के विकास से सम्पत्ति किस प्रकार एकत्रित होने लगी? लगभग सात पंक्तियों में इसका उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 औद्योगिक निगम संस्था के बारे में लगभग पाँच पंक्तियों में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

3 क्रांति के विषय में मार्क्स की भविष्यवाणी किस प्रकार गलत सिद्ध हुई? लगभग पांच पंक्तियों में विवरण दीजिए।

4 सम्पन्न मजदूरों के संबंध में किये गए अध्ययन की विशेषताएँ क्या थीं? लगभग सात पंक्तियों में लिखिए।

12.6 आधुनिक प्रौद्योगिकी और काम-काज के सम्बन्ध

यदि हम आधुनिक प्रौद्योगिकी को समझना चाहते हैं तो हमें पहले हाथ के औजार और मशीनी प्रयोग के अंतर को समझना होगा। जब एक मजदूर हाथ के औजार से काम करता है तो वह अपने काम का खुद मालिक होता है। पर मशीन के साथ काम करने में उसकी स्थिति एवं गति बदल जाती है। उसके हाथ से छीनकर मशीन में फिट किया गया औजार एक विशेष दिशा में ही घूम सकता है जबकि वही औजार मजदूर के हाथ में विभिन्न दिशाओं में घूम सकता था। मशीन के साथ काम करते समय मजदूर को अपनी कार्य गति को भी मशीन के अनुसार घटाना या बढ़ाना पड़ता है। किंतु मशीन का लाभ यह है कि वह मनुष्य की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकती है, अधिक वस्तुएँ बना सकती है, क्योंकि मशीन मनुष्य की तरह बारंबार एक ही प्रक्रिया से थकती नहीं है।

मशीन का उपयोग उस समय किया जाता है जब अधिक उत्पादन की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये मोची को लें। मान लीजिए उसे एक जोड़ी जूते बनाने हैं। इसके लिए वह चमड़ा लेकर उस पैर के आकार और साइज के अनुसार उसके कई टुकड़े काटेगा जिसके लिए उसे जूता बनाना है। उनकी सिलाई करेगा और जूते का तला तैयार करेगा। उसके बाद वह जूते का ऊपरी भाग बनाने के लिये चमड़े का एक बड़ा टुकड़ा लेकर उसे काटेगा। उसकी कई जगह सिलाई करने के बाद उसे तले से जोड़ेगा। एक बार फिर चमड़ा काटकर जूते की ऐड़ी बनायेगा। कील से उसे जूते में जड़ेगा। इसके बाद वह जूते पर रंग लगाएगा और पौलिश करेगा। एक पैर का जूता बनाने के बाद वह यही कार्य दुबारा करेगा। यदि उसे बहुत बड़ी संख्या में जूते बनाने हैं तो उसके लिये बेहतर होगा कि पहले वह सभी जूतों के तले एवं ऊपरी हिस्से एक साथ काट ले और फिर तला बनाए; ऊपर के हिस्सों की सिलाई करे और तलों के साथ उन्हें जोड़े। लेकिन यदि वह इन सब कामों के लिए विशेष औजार तथा मशीनें उपयोग में लाता है तो उसका काम सरल हो सकता है। साइज एवं डिजाइन के मानकीकरण से और सिलाई के लिए विशेष सिलाई-मशीनों के उपयोग से उसके काम में गति आ सकती है। इस प्रकार वह कम समय में अधिक जूते बना सकेगा। कार्य में सहायता एवं गति के लिए वह कई लोगों को अपने साथ लगा सकता है और प्रत्येक को एक विशेष कार्य सौंप सकता है। प्रत्येक कार्य के लिए मशीनों का सहारा ले वह अपने कार्य को सुगम एवं लाभप्रद बना सकता है

12.6.1 मशीनें और उत्पादन

एक बार जब उत्पादन में मशीनों का उपयोग आरंभ होता है तो वह धीरे-धीरे बढ़ता चला जाता है। सबसे पहले मशीन मजदूर के हाथ से औजार छीन लेती है और फिर उसे अपनी गति के अनुरूप कार्य करने के लिए बाध्य करती है। मशीन उससे औजार ही नहीं अपितु धीरे-धीरे उसकी कार्यकुशलता भी हथिया लेती है। उदाहरण के लिए कम्प्यूटर को ही लीजिए जिसका प्रयोग आज बहुत गति से बढ़ रहा है। कम्प्यूटर कुशल से कुशल कारीगर की अपेक्षा कहीं अधिक सुचारू एवं सही मात्रा में काम कर सकता है। कम्प्यूटर में एक बार जानकारी भर देने के बाद सारा काम स्वतः होता चला जाता है। मशीन चलाने के लिए किसी भी ऐसे व्यक्ति को लगाया जा सकता है जो पैनल को पढ़कर कुछेक बटनों को सही ढंग से दबा सके। हालांकि यह सच है कि कम्प्यूटर को सही निर्देश देने या खराद (lathe) को चलाने का काम सिर्फ एक विशेषज्ञ कर सकता है। मशीन में कोई गड़बड़ी पैदा न हो इसकी देखरेख सिर्फ विशेष इंजीनियर ही कर सकता है। माना कि इनका वेतन बहुत ऊँचा होता है, लेकिन अगर फैक्ट्री का मालिक ऐसे कुछ विशेष प्रशिक्षित कुशल लोगों को अपने यहाँ रखता है तो उसे अन्य कई यांत्रिकों की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। सिर्फ मुट्ठी भर अर्धप्रशिक्षित कारीगरों को कम वेतनमान पर रखकर वह पैसा बचा सकता है। कार्यालयों में भी कम्प्यूटर का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। आज मैनेजर बिना सेक्रेटरी की सहायता के कम्प्यूटर से अपना काम चला सकता है। कम्प्यूटर मैनेजर की सारी टेलीफोन कॉल्स ले सकता है, उसकी डायरी रख सकता है, उसे यह बता सकता है कि उसे कब, कहाँ, किससे मिलने जाना है। ऐसे अनगिनत काम वह कर सकता है। इसी प्रकार वर्डप्रोसेसर से पत्र लिखने का काम बहुत आसान हो गया है। यह एक काम है जिसे सामान्य टाइपिस्ट करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक प्रशिक्षित सेक्रेटरी का सारा काम मशीनें और कम प्रशिक्षित व्यक्ति कर सकते हैं। इसे "दक्षता समाप्त करने वाली" प्रक्रिया का नाम दिया जा सकता है। आधुनिक प्रौद्योगिकी इस प्रक्रिया की पोषक है।

12.6.2 रोजगार पैदा करना

आधुनिक औद्योगिकी का रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ा है, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। कुछ लोगों का कहना है कि आधुनिक मशीनों द्वारा नए रोजगार पैदा हो रहे हैं जो मशीनीकरण द्वारा पैदा किये बेरोजगार की स्थान-पूर्ति करते हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के कारण वैयक्तिक कार्यकुशलता तेजी से समाप्त होती जा रही है। इसीलिए कार्यकुशल कारीगरों के सामने, जो बेकार होते जा रहे हैं, एक समस्या खड़ी हो गई है। आधुनिक समाज दो प्रकार के कारीगरों में विभाजित होता जा रहा है। एक ओर बड़ी संख्या उन कारीगरों की है जिनकी कार्यकुशलता का कोई मूल्य नहीं रह गया है, और दूसरी ओर वे मुट्ठी भर कारीगर हैं जिन्होंने विशेष ढंग की कार्यकुशलता पर एकाधिपत्य जमा रखा है। हर सामान्य औद्योगिक संस्थान में आपको केवल थोड़े से ही कारीगर काम करते दिखाई देंगे। कंपनी के अधिकारीगण उन थोड़े से लोगों को संतुष्ट रखने के लिए अच्छी मजदूरी दे सकते हैं और पक्का कर सकते हैं कि लड़ाकू मजदूर संघ उनके संस्थान में कायम ही न हों। ऐसी परिस्थिति में केवल वही मजदूर आवाज उठाएंगे जो बेकार हो गए हैं या जिनका प्रशिक्षण अथवा जिनकी दक्षता अर्थहीन हो गई है। लेकिन यह विरोध बरसों पहले रेल अथवा बसों के आ जाने से तांगेवालों द्वारा किए गए विरोध जितना ही निरर्थक होगा।

12.6.3 प्रौद्योगिकी और संघीकरण

आधुनिक प्रौद्योगिकी से न केवल मजदूर बेकार हो रहे हैं वरन् इसका प्रभाव तो संघ बनाकर अपने अधिकारों के लिये उनके लड़ने पर भी पड़ा है। इंग्लैंड में 1984-85 में हुए कोयले की खान के मजदूरों की हड़ताल को कुंठित कर देने वाला अन्त उनकी इस कमजोरी की ओर संकेत करता है। लम्बी हड़ताल के बावजूद इन खान-मजदूरों को अन्ततः सरकार के इस निश्चय के सामने झुकना पड़ा था कि खानों को फायदे पर चलाने के लिए उन्हें उत्पादन बढ़ाना ही होगा। और फ़ायदे पर चलाने का अर्थ है आधुनिक प्रौद्योगिकी का यथासंभव प्रयोग। इंग्लैंड के ये खान मजदूर जो कुछ समय पहले तक मजदूर वर्ग की परम्परा एवं संस्कृति को और काम में अपनी स्वायत्तता को कायम रखे हुए थे, कंप्यूटरयुक्त मशीनों के इस हस्तक्षेप को रोक सकने में असमर्थ रहे हैं, जिसने उनकी कार्यकुशलता पर प्रभाव डाला है। वे अपनी हड़ताल में जनता की सहानुभूति तक न पा सके क्योंकि सरकार का कहना था कि खानों को फायदे पर चलाने के लिए उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है जिससे देश खुशहाली की ओर अग्रसर हो सके। फलस्वरूप मजदूर वर्ग को धीरे-धीरे ऐसी सुरक्षात्मक नीतियाँ अपनाने के लिये कर दिया गया है कि अब मजदूर संघों से जुड़े लड़ाकूपन एवं विद्रोह की भावना का तो अंत ही हो गया है।

जापान से भी कुछ ऐसे सूत्र प्राप्त हुए हैं जो आधुनिक प्रौद्योगिकी के कारण मजदूर वर्ग की परिवर्तित चेतना की ओर संकेत करते हैं। आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रभाव पर किये गए एक अध्ययन से पता चलता है कि जापानी मजदूरों का अधिकतर समय अपनी पत्नियों से अलग रह कर बीतता है। अपनी महिलाओं को उन्होंने घर की चारदीवारी में और भी सुरक्षित कर दिया है और इसका मुख्य कारण है घर में प्रयुक्त अनेकों बिजली की मशीनें और टेलीविजन। अब इन मजदूरों को घर लौटने की जल्दी नहीं होती क्योंकि उनकी पत्नियाँ टेलीविजन देखकर अपना मन बहला सकती हैं। आधुनिक प्रौद्योगिकी ने महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता लाने की बजाय उन्हें और अधिक रूढ़िवादी बना दिया है।

उनका कहना है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के कारण काम के घंटे कम करना संभव हो गया है। बेकार होने की जगह आधुनिक प्रौद्योगिकी में काम के घंटे कम हो जाते हैं और सारे मजदूरों को अच्छा वेतन मिले ताकि अपने फुर्सत के समय में वे अन्य रचनात्मक चीजें कर सकें। यह तर्क दिया जाता है कि दुर्भाग्य से पूँजीवादी व्यवस्था में धन को बराबर-बराबर नहीं बाँटा जा सकता और बेरोजगारी की बढ़ती प्रवृत्ति की समस्या को टाला नहीं जा सकता है। इसके विपरीत पूँजीवाद के समर्थकों का कहना है कि समाजवादी देशों में न स्वतंत्र बाजार हैं और न ही लाभ का कोई आकर्षण, इसलिए उनमें उत्पादन क्षमता सीमित हो जाती है और सतत् कमी बनी रहती है। उनका तर्क है कि समाजवादी व्यवस्था केवल गरीबी को ही समाज के सदस्यों में बाँटती है। इन आलोचकों ने अपने तर्क की पुष्टि में सोवियत संघ तथा चीन की हाल ही की परिवर्तित नीति की ओर संकेत किया है जिसके अनुसार निजी व्यापार को बढ़ावा दिया जाने लगा है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) नीचे दिये गए रिक्त स्थान पर अपना उत्तर लिखिए।
ख) अपने उत्तर का इकाई के अन्त में दिये गए उत्तर से मिलान कीजिए।

1 आधुनिक प्रौद्योगिकी और काम-काज का आपस में क्या संबंध है। लगभग सात पंक्तियों में विवेचना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 प्रौद्योगिकी और संघीकरण पर एक टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

12.7 सारांश

इस इकाई में हमने अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकी के आपसी संबंध के बारे में चर्चा की है। हमने सरल, पशुपालक, खेतिहर तथा कृषि समाज के विकास का अध्ययन किया है। औद्योगिक क्रांति के दौरान विकसित विभिन्न प्रौद्योगिकियों का भी हमने यहाँ वर्णन किया है। हमने इस इकाई में यह भी देखा कि आधुनिक प्रौद्योगिकी का उत्पादन व्यवस्था और समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है। आधुनिक प्रौद्योगिकी से मजदूरों की स्थिति तो कमजोर हो ही गई है, साथ ही इससे मजदूरों

में अलगावपन और अन्यथापन भी पैदा हो गया है। किंतु दूसरी ओर हमें यह आश्वासन भी मिलता है कि प्रौद्योगिकी के सहारे एक ऐसी दुनिया कायम होगी जिसमें प्रत्येक वस्तु का बाहुल्य होगा। यद्यपि इससे यह प्रश्न भी जुड़ा है कि क्या मजदूरों से उनकी कार्यकुशलता और क्रांति करने की क्षमता नहीं छिन जाएगी। आधुनिक प्रौद्योगिकी समाज का आधुनिकीकरण करने की बजाय रूढ़िवादिता की शक्तियों को बढ़ावा दे रही है। यह भी निश्चित है कि इससे मजदूर और गरीब दूसरों पर निर्भर हो जाएंगे।

शब्दावली

सम्पन्न : ऐसा व्यक्ति या समुदाय जिसके पास मूलभुत जरूरतों की पूर्ति के लिए आवश्यक संसाधनों के अतिरिक्त धन या वस्तुएँ हों।
निगम : एंक बड़ा व्यापार जिसमें अधिक रोजगार देने तथा अधिक उत्पादन की क्षमता हो।
प्रौद्योगिकी : उन सभी साधनों का एकीकरण जिनसे मनुष्य की सुख-सुविधा के साधन जुटाये जा सकें।
संघ निर्माण : मजदूरों का एक ऐसा समूह बनाया जाना जो अपने अधिकारों की माँग एवं रक्षा कर सकें।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

आर. ब्लॉनर, 1984 *"एलीनेशन एंड फ्रीडम : द फैक्टरी वर्कर एंड हिज इंडस्ट्री"*, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस; शिकागो
जेम्स, बी. मैकी, 1981, *सोशियोलाजी : द स्टडी ऑफ सोसायटी,* होल्ट राइनहार्ट एंड विस्टन; न्यूयार्क

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 जब कुदाली से हल तक कृषि संबंधी उपकरणों का विकास हुआ और बड़े जानवरों का उपयोग होने लगा तो बड़ी भूमि पर कृषि की शुरुआत हुई। इस प्रकार उपज में बढ़ोत्तरी हुई, अधिक अनाज उपलब्ध होने लगा, और लोगों ने स्थायी घर बनाने आरंभ कर दिये। वे बाल, ऊन तथा सूत से कपड़ा बुनने लगे और मिट्टी के बरतन बनाने लगे, इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे लोगों के पास सम्पत्ति जमा होने लगी। धनी परिवार बड़ी-बड़ी जमीनों के मालिक बन बैठे। उन्होंने कला, शिल्प तथा धार्मिक संस्थाओं को बढ़ावा एवं संरक्षण दिया।

2 औद्योगिक निगम ऐसी संस्था है जिसमें बड़े पैमाने पर उत्पादन करने एवं काम देने की क्षमता होती है। जापान में, निगम की उत्पादन योजना पर मजदूरों द्वारा पहले ही चर्चा कर ली जाती है और सबकी स्वीकृति होने पर निगम में यह प्रत्येक का कर्तव्य बन जाता है कि उत्पादन के उस लक्ष्य की प्राप्ति में सम्पूर्ण सहयोग दिया जाए।

3 औद्योगिक समाज में मजदूरों द्वारा क्रांति के संबंध में मार्क्स की भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई है। क्योंकि मजदूरों के द्वारा पूंजीवाद को ठुकराया नहीं गया। इसके विपरीत वह ज्यादा शक्ति से दिन प्रतिदिन और फल-फूल रहा है। मजदूरों ने, अमेरिका में धन में बढ़ोत्तरी, बेहतर जीवनयापन आदि के कारण पूंजीवाद को स्वीकार किया है।

4 इस अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सम्पन्न मजदूर फैक्ट्री के जीवनयापन का साधन मात्र समझते हैं। फैक्ट्री से जुड़े होने में वे गर्व का अनुभव नहीं करते। फैक्ट्री के अन्य मजदूरों से उनकी कोई खास मित्रता भी नहीं होती। वहाँ उन्हें अपने जीवन की कोई सार्थकता दिखलाई नहीं पड़ती। अब वे फैक्ट्री के बाहर अपने खाली समय में अपनी खुशियाँ ढूंढने लगे हैं, अपने घर-परिवार अथवा अपने मित्रों के साथ समय बिताने के लिये वे ललायित रहने लगे हैं। इस प्रकार उनमें मजदूर वर्ग की चेतना नहीं जागी है।

बोध प्रश्न 2

1 आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा काम-काज के बीच आपसी संबंध यह है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी जहाँ एक ओर मजदूर के काम को सरल करती है वहीं दूसरी ओर उनसे उनकी दक्षता छीन कर उन्हें बेकार बना देती है और बेरोजगारी का जन्म होता है। कम्प्यूटर जैसी आधुनिक मशीनों के युग में कुछ ही कुशल मजदूरों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार वे थोड़े से व्यक्ति जिन्हें अधिक वेतनमान मिलता है काम पर एकाधिकार कर लेते हैं।

2 मजदूर वर्ग की कमजोरी का एक कारण है आधुनिक प्रौद्योगिकी का विकास। इससे उनकी

क्रांति करने की शक्ति का ह्रास हुआ है। 1984 में इंग्लैंड में कोयले की खान के मजदूरों की हड़ताल बिना किसी नतीजे के विफल रही है। खान-मजदूरों को सरकार के इस निर्णय के सामने झुकना पड़ा है कि खानों को लाभ पर चलाने के लिए उनका उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिए। इस प्रकार प्रौद्योगिकी ने मज़दूर वर्ग तथा उनके संघीकरण को कमजोर बना दिया है।

इकाई 13 उत्पादन प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 आर्थिक संगठन
13.3 उत्पादन तथा सामाजिक कारक
  13.3.1 भूमि अधिकारों का पक्ष
  13.3.2 उत्पादन का सामाजिक पक्ष
  13.3.3 सेवाएँ और उत्पादन
  13.3.4 महिलाएँ और उत्पादन
13.4 प्रौद्योगिकी तथा उत्पादन
  13.4.1 कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण
  13.4.2 उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ
  13.4.3 आर्थिक संरचना
13.5 मैक्स वेबर का दृष्टिकोण
  13.5.1 यूरोप में पूँजीवाद
  13.5.2 विचार और मूल्य
13.6 एमाइल दुर्खाइम का दृष्टिकोण
13.7 पुनर्विचार
13.8 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- आर्थिक संगठन और उसके प्रकार जान सकेंगे;
- सामाजिक कार्यकलाप के रूप में उत्पादन को समझ सकेंगे;
- उत्पादन की प्रक्रिया में अथवा उत्पादन साधनों और समाज के सदस्यों के बीच संबंध समझ सकेंगे; तथा
- उत्पादन, प्रौद्योगिकी और समाज के बीच उनके अन्तः संबंधों के बारे में प्रख्यात समाज शास्त्रियों के विचारों को जान सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप आर्थिक संगठन, उत्पादन की प्रक्रियाओं और उसके विभिन्न आयामों के बारे में जानकारी हासिल करेंगे। इसके लिए विभिन्न अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण भी दिए गए हैं। इससे संबंधित अन्य विषय जैसे भूमि अधिकार तथा उत्पादन में सामाजिक कारकों पर भी विचार प्रस्तुत किए गए हैं। हमने यहाँ प्रौद्योगिकी तथा उत्पादन के बीच संबंधों का भी विवेचन किया है। उत्पादन की भौतिक शक्तियों के बारे में कार्ल मार्क्स के विचारों को भी इसमें शामिल किया गया है। यूरोप में पूंजीवाद के बारे में मैक्स वेबर के विचारों का विवेचन और दुर्खाइम के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी इस इकाई में दिया गया है।

13.2 आर्थिक संगठन

वस्तुओं के उत्पादन, विनियोजन, वितरण तथा उपभोग से संबंधित सभी मानवीय व्यवहारों को आर्थिक संगठन कहते हैं। इसका अर्थ है यह एक ऐसी नियोजित कार्रवाई है जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार की मानवीय सेवाओं का एक दूसरे से और मानवेतर वस्तुओं के साथ संयोजन किया जाता है। ये वस्तुएँ ही मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताओं की तुष्टि करती हैं। दूसरे शब्दों में, आर्थिक संगठन मनुष्य के उन व्यवहारों का अभिकल्पन है जिनसे वस्तुओं का उत्पादन, वितरण तथा उपभोग संभव होता है। संक्षेप में, यह व्यक्ति के भौतिक साधनों तथा प्रत्येक समाज के सामूहिक जीवन की एक व्यवस्था है।

आर्थिक संगठन, फिर चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हों, प्रत्येक मानव समाज के जीवित रहने और सतत् रूप से चलते रहने के लिए एक कार्यमूलक आवश्यकता है। किन्तु प्रत्येक समाज का चाहे वह एक सरल अथवा कृषक अथवा शहरी समाज हो उसका एक विशिष्ट प्रकार का आर्थिक संगठन होता है। एक सरल जनजातीय समाज एवं कृषक प्रधान समाज तथा एक मौद्रिक बाजार-प्रधान अथवा राज्य-निर्देशित और आज के औद्योगिक समाज के बीच मौलिक अंतर होता है। सरल तथा कृषक प्रधान समाजों का आर्थिक संगठन, निर्वाह-आधारित होता है जिसे उत्पादन-उपभोग-अर्थव्यवस्था के अंतर्गत गिना जाता है। शहरी औद्योगिक समाजों में आर्थिक अधिशेष इतना पर्याप्त होता है कि यह एक बड़ी गैर-खेतिहर जनसंख्या का भरण-पोषण कर सकता है। इस इकाई में हम उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं का उनके सभी आयामों में विवेचन करेंगे।

अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण

अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा रोजमर्रा-उपभोग की वस्तुओं तथा उनके उत्पादन के लिए जरूरी मशीनों, मशीनों के पुर्जों और कच्चे माल के उत्पादन हेतु भूमि, श्रम तथा पूंजी का संयोजन किया जाता है। यहाँ भूमि का अर्थ कृषि कार्य से संबंधित भूमि तथा उस भूमि से है जिस पर कोई वर्कशाप अथवा फैक्ट्री खड़ी की जाती है। कभी-कभी इस शब्द का उपयोग प्राकृतिक संपदा के लिए भी किया जाता है। अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि भूमि के विभिन्न खंडों में प्रकृति-प्रदत्त गुण होते हैं और उनमें बहुत परिवर्तन कर पाना संभव नहीं है।

श्रमिकों द्वारा किया गया कार्य श्रम कहलाता है। श्रमिक ही मशीनों और कच्चे माल का उपयोग करके सामाजिक प्राणी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वस्तुओं का उत्पादन करता है। यही मशीनें और कच्चा माल पूँजी कहलाता है, जो उत्पादन के लिए जरूरी होता है। भूमि, श्रम और पूंजी, उत्पादन के महत्वपूर्ण कारक माने जाते हैं और इनमें से प्रत्येक कारक के व्यवहार का अध्ययन उत्पादन के नियमों की जानकारी के लिए जरूरी है। कभी-कभी अर्थशास्त्री संगठन अथवा उद्यमवृत्ति के कारक को भी उत्पादन के कारकों में जोड़ देते हैं लेकिन मोटे तौर पर वे भूमि, श्रम और पूंजी नामक कारकों के अध्ययन तक ही स्वयं को सीमित रखते हैं।

धीरे-धीरे अर्थशास्त्रियों को यह महसूस होने लगा कि उत्पादन की प्रक्रिया में एक मानवीय घटक भी शामिल होता है। यह तो सही है कि श्रम भी उत्पादन प्रक्रिया का मानवीय घटक है परन्तु यह मानकर कि श्रम की एक इकाई मशीन अथवा औजार के श्रम की एक अन्य इकाई के बराबर हो सकती है उन्होंने कुछ ऐसी सामाजिक और मानवीय समस्याओं को नजरंदाज कर दिया जो उत्पादन बढ़ाने में पैदा हो सकती हैं। इस बात की ओर समाजशास्त्रियों ने ही ध्यान आकृष्ट किया कि यदि देश में उत्पादन बढ़ाना है तो हमें श्रमिकों के कार्य करने और रहन-सहन की परिस्थितियों, कार्य के प्रति उनके विश्वासों और मूल्यों तथा समाज में प्रचलित सामाजिक संस्थाओं एवं प्रथाओं पर विचार करना भी जरूरी होगा। उन्होंने बताया कि समाज में ऐसे व्यक्ति भी उपलब्ध होने चाहिएँ जो उत्पादन बढ़ाने हेतु उद्योग लगाने के लिए अपनी सम्पत्ति को जोखिम में डालने के लिए तैयार हों। ऐसे उद्यमी, ऐसे समाज में ही फलते-फूलते हैं जिनमें उद्यमवृत्ति को मान्यता दी जाती है। इस तरह से समाजशास्त्रियों ने उत्पादन को प्रभावित करने वाले उन सामाजिक कारकों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया जिनको अर्थशास्त्रियों ने अनुदेखा कर दिया था।

13.3 उत्पादन और सामाजिक कारक

उत्पादन स्वयं एक सामाजिक कार्यकलाप है इसलिए उस पर सामाजिक कारकों का असर पड़ता है। किसी वस्तु के निर्माण अथवा खाद्यान्न उत्पादन की प्रक्रिया में लोगों के बीच एक निश्चित संबंध स्थापित होते हैं। स्वामित्व तथा समुदाय के संसाधनों के उपयोग संबंधी नियम इन संबंधों का स्वरूप निर्धारित करते हैं। बिहार में रांची जिले के जंगलों में रहने वाली मुंडा या कोल जनजाति के लोगों का ही उदाहरण लें। मुंडा लोगों को अब भारत सरकार ने जनजाति के रूप में मान्यता दी है। अभी हाल तक वे जंगलों को काटकर जला डालने वाली खेती करते थे। इसे वे "जरा" खेती कहते हैं। इसके लिए वे जंगल के एक भूखंड को जला डालते थे और जगह साफ कर लेते थे। उस जगह को खोदकर उसमें राख-बिखेर देते थे और फिर बीज की बुवाई कर देते थे। जिस हिस्से पर वे एक बार खेती कर लेते थे उसे परती छोड़ देते थे और फिर आग लगाकर नई जगह बना लेते थे। इस तरह की खेती को अब सरकार नापसंद करती है क्योंकि इससे बड़े पैमाने पर जंगलात का नुकसान होता है। प्रसिद्ध नृविज्ञानी, एन.के. बोस, ने मुंडा लोगों के भूमि-अधिकारों और सामाजिक संगठन के बारे में लिखा है। शुरू में जिन जंगलों में ये लोग रहते थे उनके ये ही मालिक होते थे लेकिन जैसे-जैसे इन लोगों का अंग्रेजों के शासन काल में बाहर के लोगों के साथ संपर्क बढ़ा इस भूमि पर भारत की ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण हो गया। बिचौलिये पैदा हो गए जो इन लोगों के कबीले के नहीं होते थे। उन्हें खूंटकट्टीदार कहा जाता था। बोस का कहना है कि ये खुंटकट्टीदार मुंडा गाँवों में एक ऐसा जमींदार वर्ग हो गया जिसका यहाँ की भूमि पर पूरा अधिकार है। लेकिन उन्होंने जोतने और फसल काटने के लिए जमीनें लोगों को दे दीं। स्पष्ट है कि जमीन पर अधिकार की कई श्रेणियाँ हो गईं। कुछ लोगों को केवल जमीन जोतने और फसल उगाने का अधिकार था तो दूसरों को उससे उच्च अधिकार प्राप्त थे। इन अधिकारों ने न केवल समाज के सदस्यों के बीच संबंधों को ही परिभाषित कर दिया गया अपितु खूंटकट्टीदार को उनके उच्च अधिकारों की वजह से पर्याप्त राजनीतिक शक्तियाँ भी प्राप्त हो गईं।

13.3.1 भूमि संबंधी अधिकारों का पक्ष

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मुंडा लोगों में उपर्युक्त भूमि के अधिकारों की पद्धति में जैसे-जैसे वे स्थानीय राजाओं और बाद में मुगल शासन तथा फिर ब्रिटिश शासन के अधीन आए, परिवर्तन आ गया। अब खुंटकट्टीदारों को जागीरदारों और राजाओं की सत्ता को मानना पड़ा और उन्हें वार्षिक लगान तथा नजराना पेश करना पड़ा जिससे मुंडाओं के अधिकारों पर काफी प्रतिबंध लग गया और वे दरिद्र होते गए।

एक अन्य उदाहरण बंधुआ-मजदूर-प्रथा है जो इसे समाप्त करने के लिए बनाए गए विशिष्ट कानूनों के बावजूद भारत के बहुत से इलाकों में आज भी विद्यमान है। उत्तर प्रदेश के टिहरी गढ़वाल जिले में एक मजदूर को अपने विवाह के लिए जमींदार से कुछ रुपया उधार लेने पर आज भी उस जमींदार-साहूकार के यहां बंधुआ मजदूर के रूप में काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। ये मजदूर अक्सर डोम तथा कोल्टा जैसी अछूत जातियों के होते हैं। उसे कर्ज लिए गए रुपए और ब्याज चुकाने तक जमींदार के खेत में काम करना पड़ता है और कर्ज चुकाते उसकी जिंदगी बीत जाती है। यही नहीं उसे जमींदार के खेत में तो काम करना ही होता है अक्सर उसकी पत्नी को भी जमींदार के घर में काम करना पड़ता है। कभी-कभी तो जब तक कर्जा चुक न जाए कर्जदार की बीबी को अपने मालिक के यहाँ रखैल बनकर रहना पड़ता है। बताया जाता है कि भूमिहीन मजदूरों को इस तरह के बंधन में फँसना ही पड़ता है क्योंकि यदि वे ऐसा न करें तो भूखे मर जाएँ। इस बहाने उन्हें खाना तो नसीब हो जाता है।

13.3.2 उत्पादन का सामाजिक पक्ष

उत्पादन एक सामाजिक कार्यकलाप ही नहीं है अपितु समाज द्वारा परिभाषित एक कार्यकलाप भी है। एक तरह से तो समाज ही यह निर्धारित करता है कि क्या उत्पादन है और क्या नहीं है। उत्पादन का अर्थ ऐसी वस्तु का उत्पादन करना है जो समाज द्वारा मूल्यवान मानी जाती है और जो मूल्यवान होती है वही उत्पाद कहलाती है। उत्पाद का उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य होता है। उपयोग मूल्य का अर्थ है किसी वस्तु के उपयोग में लाने से प्राप्त मूल्य। कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी वस्तु का किसी व्यक्ति के लिए तो उपयोग मूल्य हो परन्तु दूसरे के लिए बिल्कुल न हो। जैसे कि सिगरेट-बीड़ी पीने वाले के लिए सिगरेट-बीड़ी का उपयोग मूल्य होता है परन्तु धूम्रपान न करने वाले के लिए उसका कोई उपयोग मूल्य नहीं है। उपयोग मूल्य के अलावा वस्तुओं में विनिमय मूल्य होना भी आवश्यक है अर्थात् वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका कोई व्यक्ति दूसरी वस्तु से विनिमय कर सके ये वस्तु इन दोनों शर्तों को पूरा करती है वहीं वस्तु

समाज का उत्पादन कहला सकती है। अतः यदि कोई किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए अपना समय तथा पैसा खर्च करता है किन्तु यदि वह वस्तु उपर्युक्त अर्थ में मूल्यवान नहीं है तो उसे उत्पादन नहीं माना जाएगा। एक समाज में जो चीज मूल्यवान मानी जाती है हो सकता है दूसरे समाज में उसे ऐसा न माना जाए। भारत में गोबर ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाता है इसलिए वह मूल्यवान है और इसीलिए गोबर के उपले खरीदे और बेचे जाते हैं। अतः देश के उत्पादन का हिसाब लगाते समय गोबर के उपलों के मूल्य को भी उसमें जोड़ा जाएगा। लेकिन अन्य समाजों में ऐसा नहीं होगा। भारत में सोने का उदाहरण लीजिए। यहाँ सोने को ऐसी बहुमूल्य धातु माना जाता है जिसका संबंध देवी-देवताओं से है इसलिए अन्य समाजों की तुलना में भारत में इसे अधिक मूल्यवान माना जाता है। इसीलिए एक समाज में जिस वस्तु को उत्पादन माना जाता है हो सकता है दूसरे समाज में उसे ऐसा न माना जाए। लेकिन आज बाजारों का बहुत विस्तार हो गया है और उसने पूरी दुनिया को अपने में समेट लिया है इसलिए दुनिया के देशों में इस बात के लिए अधिकाधिक सहमति हो गई है कि कौन-सी वस्तुएँ उत्पादन के अंतर्गत आएँगी।

13.3.3 सेवाएँ और उत्पादन

क्या उत्पादन का संबंध केवल वस्तुओं के सृजन से ही है? पहले समय में तो इसका उत्तर हाँ में हो सकता था। इसीलिए आधुनिक अर्थशास्त्र के जनक माने जाने वाले एडम स्मिथ ने 1776 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "वैल्थ आफ नेशन्स" में लिखा कि जो वस्तुओं का उत्पादन करते हैं वे ही उत्पादक हैं। इसी कसौटी पर उन्होंने कहा कि राजनीतिज्ञों, मिनिस्टरों, पादरियों, प्राध्यापकों, कलाकारों एवं अन्य ऐसे ही लोगों की सेवाएँ चाहे कितनी भी प्रतिष्ठा वाली क्यों न हो उत्पादक नहीं है। उत्पादन-परिणामों पर विचार करते समय हममें से बहुत से लोग तो आज भी ऐसा ही सोचते हैं। वैज्ञानिकों, अनुसंधानकर्ताओं, अध्यापकों, राजनीतिज्ञों अथवा ऐसे ही अन्य वर्गों की सेवाओं की उपेक्षा करके हम उस अनुसंधान, शिक्षण तथा देश के लिए समुचित आर्थिक और राजनीतिक नीतियाँ निर्धारित करने के काम की भी उपेक्षा कर देते हैं जिसकी वजह से देश के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। आधुनिक समय में नए उत्पादों को उत्पादित करने और उत्पादन की नई प्रक्रियाओं के विकास करने में बौद्धिक कार्यकलाप का इतना योगदान रहा है कि एडम स्मिथ द्वारा प्रस्तुत किया गया विभेद हमें भ्रम में डाल देगा। इसके अतिरिक्त, मध्य-युगीन पेशेवर और प्रदर्शन-कलाकारों की तरह उनकी सेवाओं का यद्यपि प्रकट रूप में उत्पादन प्रक्रिया से सीधा संबंध नहीं है परन्तु परोक्ष रूप से उन्होंने श्रमिकों के कल्याण और उनकी उत्पादिता बढ़ाने में योगदान किया है। इसलिए देश के कुल उत्पादन की गणना करते समय हमें उन सेवाओं को भी मद्देनजर रखना होगा जिनका वस्तुओं के उत्पादन से सीधा संबंध तो नहीं है परन्तु उनका परोक्ष योगदान अवश्य है। अतः वस्तुओं की तरह ये सेवाएँ भी समाज द्वारा मूल्यवान मानी जाती हैं।

13.3.4 महिलाएँ और उत्पादन

सेवाओं को उत्पादन में शामिल करने पर भी कुछ ऐसी सेवाएँ रह जाती हैं जिन्हें उत्पादन में नहीं जोड़ा जाता। बहुत से नारीवादियों का कहना है कि वर्ष के कुल उत्पादन की गणना करने की पद्धति में महिलाओं के योगदान की उपेक्षा कर दी जाती है। महिलाएँ बहुत से घरेलू काम करती हैं और अपने आदमियों की खेती के काम में सहायता से लेकर खाना पकाने, कपड़े धोने, बच्चों को पालने का काम करती है परन्तु उन्हें आश्रितों के रूप में गिना जाता है, श्रमिक के रूप में नहीं। उत्पादन के कुल मूल्य की गणना करते समय सांख्यिकीकार उनकी सेवाओं को नहीं जोड़ते क्योंकि उन्हें अपनी सेवाओं के बदले पैसे का भुगतान नहीं किया जाता। लेकिन जैसा कि नारीवादियों का कहना सही है कि सांख्यिकीकार उस अन्न की मात्रा को तो अपनी गणना में जोड़ लेते हैं जो किसान (अक्सर पुरुष) खुद अपने उपभोग के लिए पैदा करता है। यह चलन इस बात का द्योतक है कि नारी जाति के प्रति समाज में पूर्वाग्रह व्याप्त हैं। आखिर महिलाओं द्वारा किए गए कार्य न केवल मूल्यवान ही होते हैं अपितु घरेलू कामकाज देश की समूची अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करते हैं। घरेलू कामकाज की जिम्मेवारी उठाकर महिलाएँ अपने मर्दों को विभिन्न फैक्टरियों या खेतों पर काम करने के लिए चिंतामुक्त कर देती हैं और इस प्रकार राष्ट्र के उत्पादन में योगदान करती हैं। यह उदाहरण ही इस बात को उजागर करता है कि कैसे समाज के मूल्य यह निर्धारित करते हैं कि कौन सी चीज उत्पादक है अथवा कौन सी अनुत्पादक है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) उत्तर के लिए नीचे दिए खाली स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर मिलाएँ।

1 उत्पादन के सामाजिक पक्ष पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। अपना उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 सेवाओं और उत्पादन के बीच क्या संबंध है? एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। अपना उत्तर लगभग सात पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 उत्पादन प्रक्रिया में महिलाओं के योगदान की किस प्रकार उपेक्षा की जाती है। उदाहरण सहित लगभग सात पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 प्रौद्योगिकी और उत्पादन

उत्पादन संबंधी उपर्युक्त विवेचन में उत्पादन के प्रौद्योगिकीय पक्ष की चर्चा नहीं की गई है। इस पक्ष की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। किसी समाज में उत्पादन का स्तर और उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओं की विविधता इस बात पर निर्भर करती है कि उत्पादन के लिए किस तरह की मशीनें और औजार प्रयुक्त किए जा रहे हैं, मशीनें बनाने और उनके निष्पादन में सुधार करने की कितनी तकनीकी जानकारी हासिल है और वहाँ कितने प्रशिक्षित तकनीशियन तथा इंजीनियर उपलब्ध हैं। यही उत्पादन का प्रौद्योगिकीय पक्ष है। प्रौद्योगिकी से ही नए उत्पाद और नई प्रक्रियाएँ जन्म लेती है और आज तो किसी देश का आर्थिक विकास इसी बात पर निर्भर करता है कि वहाँ प्रौद्योगिकी निगम और सरकारी संगठन नए उत्पादों और प्रक्रियाओं को विकसित करने के लिए व्यवस्थित रूप से कितना अनुसंधान कार्य करवाते रहते हैं। इसी तरह के अनुसंधान और विकास प्रयासों की वजह से बहुत-सी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें गिरी है और जो चीजें कभी केवल समृद्ध और धनी लोगों को सुलभ थीं आज जनसाधारण को भी सुलभ हो गई हैं। उदाहरणतः आधुनिक इलैक्ट्रानिकी के विकास की वजह से आज एक गरीब आदमी भी ट्रांजिस्टर रेडियो खरीद सकता है जबकि कुछ वर्षों पूर्व केवल धनी-मानी लोगों के घर में ही रेडियो होता था।

किसी भी समाज में उत्पादन का स्तर उस समाज में उपलब्ध प्रौद्योगिकी और वहाँ के सामाजिक संबंधों तथा मूल्यों पर निर्भर होता है। यदि हम किसी समाज की संस्कृति में वहाँ की सामाजिक

संरचना और मूल्यों को भी शामिल करते हैं तो हम कह सकते हैं कि प्रौद्योगिकी, सामाजिक, संरचना और संस्कृति उत्पादन को प्रभावित करते हैं। तथ्य तो यह है कि प्रौद्योगिकी, सामाजिक संरचना और संस्कृति परस्पर गुंथे होते हैं।

13.4.1 कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण

कार्ल मार्क्स का नाम 1917 में हुई रूसी क्रांति और पूर्वी यूरोप, चीन, वियतनाम, क्यूबा तथा अन्य देशों में साम्यवादी आंदोलन के प्रसार के साथ जुड़ा हुआ है। कार्ल मार्क्स (1818-1872) ने उन प्रमुख सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर अपनी लेखनी चलाई जो उनके समय में यूरोप के बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों में चर्चा के विषय बने हुए थे। यूरोप में आए सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को समझने के लिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित दृष्टिकोण को तत्कालीन समाज वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों ने पहले तो मान्यता नहीं दी लेकिन मार्क्स की मृत्यु के बाद सभी ने उनके दृष्टिकोण को सराहा और आज स्थिति यह है कि लगभग सभी समाजशास्त्री मार्क्स के विचारों अथवा मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित विचारधारा का महत्व समझने लगे हैं। यही बात राजनीतिक आंदोलनों पर भी लागू होती है। मार्क्स की गहन अन्तर्दृष्टि और सशक्त विश्लेषण ने सामाजिक परिवर्तनों और विकास को समझने के लिए एक नई दिशा प्रदान की है।

13.4.2 उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ

मार्क्स ने समाज में होने वाले परिवर्तनों के लिए "उत्पादन की भौतिक शक्तियों" और "उत्पादन के संबंधों" को महत्वपूर्ण माना है। मार्क्स का "उत्पादन की भौतिक शक्तियों" से तात्पर्य मुख्यतः प्रौद्योगिकी से ही है। मानव-इतिहास में जो भी प्रौद्योगिकीय प्रगति हुई है जैसे छपाई मशीन, भाप का इंजन, बड़े पैमाने पर वस्तुएँ पैदा करने हेतु मशीनें आदि। वे सभी यही दर्शाती हैं कि उत्पादन की ये शक्तियाँ लगातार विस्तार पा रही हैं और सामाजिक व्यवस्था को ऐसे प्रौद्योगिकीय विकासों के अनुरूप बनना चाहिए। प्रिंटिंग प्रेस और भाप का इंजन तभी विकसित हो सके जब उनके अनुकूल सामाजिक व्यवस्था मौजूद थी। जैसे-जैसे उत्पादन की शक्तियों का विकास होता है एक समय ऐसा आ जाता है जब उस अधिक विकास और विद्यमान सामाजिक व्यवस्था के बीच टकराव पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक व्यवस्था को बदलकर ऐसी नई व्यवस्था पैदा करनी चाहिए जिसमें उत्पादन की शक्तियों का प्रगामी विकास संभव हो सके। मार्क्स ने सामाजिक व्यवस्था शब्द का "उत्पादन के संबंधों" के विकल्प के रूप में प्रयोग किया। ये ऐसे संबंध हैं जिन्हें विभिन्न मनुष्य परस्पर स्थापित करते हैं जिससे कि समाज अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन सुनिश्चित कर सके। हालांकि ये संबंध स्वेच्छा पर आधारित नहीं होते। जैसे सामंतवादी युग में जमींदार और कृषि-दास के बीच और पूंजीवाद में पूंजीपति और श्रमिक के बीच जो संबंध हैं, वे उत्पादन के संबंध हैं। पूंजीपति का उत्पादन के साधनों अर्थात् मशीनों पर स्वामित्व होता है और उन पर काम करने के लिए वह श्रमिक को भाड़े पर लेता है। श्रमिक भी भाड़े पर इसलिए काम करते हैं कि उनका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व नहीं होता और वे बाजार में अपना श्रम बेचने मात्र के लिए ही स्वतंत्र होते हैं। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के ये संबंध और विशेषकर पूंजी और श्रम के बीच जो संबंध हैं वे परस्पर विरोधी और संघर्ष पैदा करने वाले होते हैं। इनके अन्तर्गत पूंजीपति श्रमिक का शोषण करके लाभ कमाता है और श्रमिक को अपने श्रम के मूल्य से कम मजदूरी मिलती है। पूंजीवाद के अन्तर्गत जब उत्पादन की शक्तियों का और अधिक विकास होता है तो एक स्थिति ऐसी आ जाएगी जब उत्पादन के संबंध अर्थात् पूँजी और श्रम के संबंध उत्पादन की शक्तियों की और अधिक प्रगति के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर देंगे। ऐसी स्थिति में सामाजिक व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन आएगा कि उसमें पूँजीपतियों का विनाश हो जाएगा और पूँजी पर समस्त समाज का अधिकार हो जाएगा।

13.4.3 आर्थिक संरचना

मार्क्स के विचारानुसार उत्पादन की शक्तियाँ और उत्पादन के संबंध ये दोनों आर्थिक सरचना अथवा समाज की आधारभूत संरचना का निर्माण करते हैं। इसी आर्थिक संरचना के आधार पर समाज की कानूनी, राजनीतिक तथा सामाजिक संरचना अथवा समाज का ऊपरी ढांचा तैयार होता है। मार्क्स ने इसकी तुलना एक भवन से की है। हालांकि भवन की नींव दिखाई नहीं देती किन्तु उसकी मजबूती ही यह बताती है कि उस पर कितनी मंजिला इमारत बनाई जा सकती है, भवन की लंबाई-चौड़ाई कितनी हो, उसकी दीवारें कितनी मोटी बनाई जाएँ आदि। वे सुझाते हैं कि इस अर्थ में समाज की आर्थिक संरचना ही सामाजिक संबंधों, कानूनी और राजनीतिक संस्थाओं और इन संस्थाओं के साथ चलने वाले विचारों और मूल्यों को निर्धारित करती है

इसलिए मार्क्स का कहना है कि प्रौद्योगिकी के विकास के लिए अनुकूल उत्पादन संबंध होने चाहिए और दूसरी ओर अनुकूल प्रौद्योगिकीय परिस्थितियों के अन्तर्गत ही उत्पादन संबंध परिपक्व और विकसित होने चाहिए। प्रौद्योगिकी और उत्पादन संबंध दोनों मिल कर राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं तथा इन संस्थाओं के साथ चलने वाले विचारों और मूल्यों के विकास क्षेत्र का निर्धारण करते हैं।

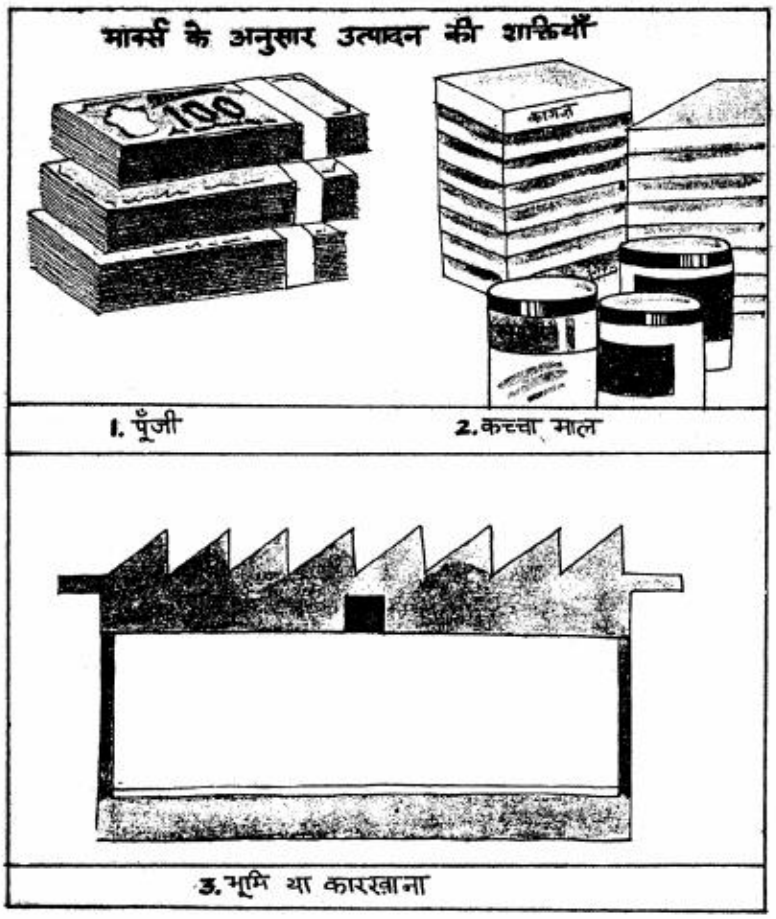

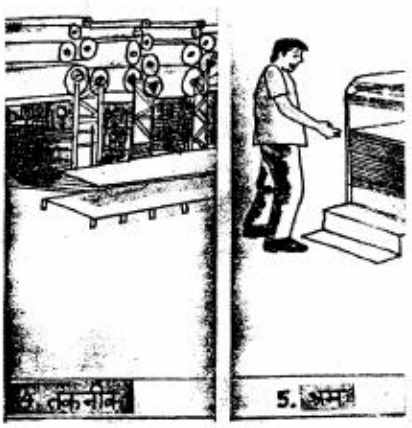

13.5 मैक्स वेबर के विचार

मैक्स वेबर (1864-1920) एक अग्रणी जर्मन समाजशास्त्री थे जिन्होंने न केवल यूरोप की समाजों के बारे में ही अपितु चीन, भारत तथा जापान के बारे में भी काफी कुछ लिखा। उनकी भी उन्हीं समस्याओं में रुचि थी जिनमें कि मार्क्स की थी और उन्होंने बताया कि आर्थिक संरचना और सामाजिक संस्थाओं तथा विचारों के बीच जो संबंध है उसे उलटकर देखना चाहिए। उन्होंने दर्शाया कि मार्क्स ने विचारों और मूल्यों की बजाय भौतिक परिस्थितियों को सामाजिक परिवर्तन का मूल तत्व बताकर इकतरफा व्याख्या ही प्रस्तुत की है। इसके विपरीत, वेबर के अनुसार, विचार और मूल्य ही भौतिक परिस्थितियों का स्वरूप निर्धारण करते हैं।

13.5.1 यूरोप में पूँजीवाद

वेबर अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए यूरोप में पूँजीवाद के उदय और विकास का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार यूरोप में जब पूंजीवाद का उदय हुआ उस समय दो अन्य सभ्यताएँ भी विद्यमान थीं जो कुछ मायनों में यूरोपीय सभ्यता से कहीं अधिक विकसित थीं। चीन की सभ्यता काफी विकसित थी, वहाँ सबसे पहले छपाई मशीन तथा बारूद का आविष्कार हो चुका था। भारत में गणित और खगोल विज्ञान जैसे कई विज्ञान काफी समुन्नत अवस्था में थे। इसके बावजूद पूँजीवाद का जन्म भारत और चीन की बजाय यूरोप में हुआ। इसका उत्तर खोजते हुए वेबर ने पाया कि पूँजीवाद का जन्म उस समय के यूरोप के प्रोटेस्टेंट ईसाई मत के कुछ पंथों

के अनुयायियों में प्रचलित विचारों और मूल्यों के कारण हुआ। ये प्रोटेस्टेंट भाग्य की धारणा में विश्वास करते थे जिसके अनुसार भगवान ने कुछ लोगों को उद्धार के लिए पहले से ही चुन रखा है। वेबर के अनुसार इस विश्वास की वजह से उन लोगों में यह उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गई कि वे भी इन चुने लोगों की पंक्ति में आ जाएँ। इन चुनिंदा लोगों में अपना स्थान सुनिश्चित करने का एक ढंग यह है कि सांसारिक कामकाजों में बड़ी तेजी के साथ लगा जाए, अपने और दैवी रूप से निर्धारित धंधे में निष्ठापूर्वक काम किया जाए। अपने धंधे में लगे रहना ही काफी नहीं है बल्कि उस धंधे में व्यवस्थित रूप से कार्य करके सफलता हासिल करनी चाहिए। लेकिन धंधे में सफलता भी केवल सुख पाने के लिए नहीं अपितु ईश्वरीय परमानंद पाने के लिए होनी चाहिए। ये प्रोटेस्टेंट विश्वास करते थे कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वरीय परमानंद पाने के लिए काम करने की बजाय आराम अथवा आलस्य करता है तो वह अपना समय नष्ट करता है। विलासितापूर्वक रहना विषयाशक्ति का द्योतक है जो ईश्वर के काम से विमुख करता है अतः वे बड़ा सादा और तपस्वी जीवन बिताते थे। दूसरों के साथ लेन-देन में ईमानदारी बरतते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि वे ईश्वरीय काम कर रहे हैं अतः उसमें सफलता पाने का कोई छोटा रास्ता नहीं है। सैक्स वेबर का तर्क है कि यही मूल्य पूंजीवाद की भावना के भी अनुरूप हैं। आखिरकार, बचत और निवेश के लिए मितव्ययिता और साथ ही साथ लाभ कमाने की इच्छा जरूरी होती है। व्यवस्थित रूप से परिश्रम करना, दूसरों के साथ व्यावसायिक लेन-देन में ईमानदारी बरतना, वायदे को पूरा करना, हिसाब-किताब में विश्वसनीयता कुछ ऐसे अनिवार्य गुण हैं, जिन्हें यदि अपनाया जाए तो व्यवसाय में सफलता अवश्य मिलती है। यह सच भी है कि प्रोटेस्टेंट व्यवसायियो को जाने से पहले बहुत से व्यवसायियों, व्यापारियों और सूदखोरों ने अतुल सम्पत्ति कमाई परन्तु वह कमाई किसी व्यवस्थित ढंग से नहीं अपितु भाग्य के साथ जुआ खेलकर अर्जित की गई थी। संयोग और भाग्य का उनकी सफलता में मुख्य हाथ था। पूंजीवाद विवेक पर ज्यादा जोर देता है अर्थात् संयोगतत्व को कम करके व्यवस्थित रूप से अपने प्रयासों के परिणाम पर अपना नियंत्रण बढ़ाने पर ज्यादा जोर देता है। इस तरह वेबर ने कहा कि पूंजीवाद के जन्म के वक्त प्रोटेस्टेंटवाद और पूंजीवाद के बीच इस प्रकार के संबंध की जरूरत थी। एक बार जब पूंजीवाद स्थापित हो गया तो उसे अपने विकास के लिए प्रोटेस्टेंट नैतिक मान्यताओं की जरूरत नहीं रही।

13.5.2 विचार और मूल्य

इस प्रकार वेबर उत्पादन की किसी विशिष्ट पद्धति के समर्थन के लिए विचार और मूल्यों को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। वेबर ने प्रौद्योगिकी की भूमिका तथा पूंजीपति और श्रमिक के बीच संबंध पर भी विचार किया था लेकिन प्रौद्योगिकी तथा उत्पादन दोनों के बारे में उल्लेखनीय बात उन्हें यह नजर आई कि ये दोनों ही युक्तिसंगतता के सिद्धात के आधार पर संगठित होते हैं। मानकीकृत हिस्सों को विकसित करके और काम की नेमी तथा पुनरावर्ती कामों के रूप में विभाजित करके प्रौद्योगिकी को एक आधुनिक फैक्ट्री में युक्तिसंगत बनाया जा सकता है। पूंजीपति और श्रमिक के बीच संबंधों को काम को व्यवस्थित करके युक्तिसंगत किया जा सकता है। वेबर पाते हैं कि युक्तिसंगतता श्रमिक को ही औद्योगिक इकाई में अपने उत्पादन के साधन से वंचित नहीं करती अपितु अधिकारी श्रमिक को भी उत्पादन के साधन से वंचित कर देती है। यह आफिस कर्मचारी को नौकरशाही के उपकरणों से अलग कर देती है क्योंकि आफिस का कर्मचारी भी अपने कामकाज के लिए आवश्यक स्टेशनरी, फर्नीचर तथा बिल्डिंग का मालिक नहीं होता। उनका तो यह भी कहना है कि यहाँ तक कि जब उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन होता है और एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था स्थापित होती है जिसमें उत्पादन के साधनों पर पूरे समाज का अधिकार होता है तब भी काम के युक्तिसंगत संगठन की प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आता। श्रमिक को अपने मशीनी काम को करते हुए पुनरावर्ती और नीरस काम करते रहना पडता है। वेबर यह महसूस करते हैं कि आधुनिक समाज में उत्पादन के संबंधों का कोई महत्व नहीं होता, जिसका महत्व होता है वह है युक्तिसंगतता की भावना जो आज समाज में चारों ओर व्याप्त हो गई है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर नीचे खाली स्थान में दीजिए।
ख) इकाई के अंत में दिए उत्तर से अपने उत्तर मिलाइए।

1 प्रौद्योगिकी और उत्पादन के संबंध में मार्क्स के विचार लिखिए। अपना उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 यूरोप में पूँजीवाद के संबंध में मैक्स वेबर के विचार लिखिए। अपना उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.6 एमाइल दुर्खाइम का दृष्टिकोण

दुर्खाइम एक अग्रणी फ्रांसीसी और मैक्स वेबर के समकालीन समाजशास्त्री थे। वेबर की तरह दुर्खाइम ने भी मार्क्स की विचारधारा से सहमत होने का प्रयास किया किंतु उनकी प्रमुख चिंताएँ मार्क्स की विचारधारा की चिंताओं से अलग किस्म की थीं। नैतिकता और सामाजिक व्यवस्था की समस्या में दर्खाइम की रुचि अधिक थी। किंतु आधुनिक समाज के संबंध में उन्होंने जो विचार प्रकट किए हैं वे उत्पादन, प्रौद्योगिकी और समाज के बीच संबंधों के संदर्भ में प्रासंगिक हैं।

दुर्खाइम ने अपनी पुस्तक **'डिवीजन आफ लेबर इन सोसायटी'** (1893) में समाज में श्रम के विभाजन का अपेक्षाकृत आशाजनक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार पूर्व-औद्योगिक समाजों और औद्योगिक समाजों के बीच एक मूलभूत अंतर होता है। पूर्व-औद्योगिक समाजों में एक प्रकार की सामाजिक एकता होती थी जिसे वह ''यांत्रिक एकता'' का नाम देते हैं। ''यांत्रिक एकता'' समानता से आने वाली एकात्मा है और इस प्रकार के समाजों में समाज का ''सामूहिक अंतःकरण'' समाज के व्यक्तियों की आवृत करता है। ऐसे समाजों में श्रम का विभाजन एकरूपता पर आधारित होता है और इनमें अपेक्षाकृत कम सामाजिक विभेद होते हैं। समाज के सदस्यों के समान विश्वास और मूल्य होते हैं और एक बड़ी सीमा तक एक समान भूमिका होती है। इस तरह यदि समाज के एक हिस्से को, अमूर्त रूप में, हटा भी दिया जाए तब भी उसका शेष समाज पर कोई असर नहीं पड़ता। इन समाजों में कानूनी और मानकीय मूल्य **प्रतिबधात्मक** किस्म के होते हैं। एक अपराधी को उसे सुधारने के लिए नहीं अपितु समाज को संतुष्ट करने के लिए दंड दिया जाता है।

औद्योगिक समाजों में एकता एकरूपता पर नहीं अपितु विभेदों पर आधारित होती है। इनमें समाज का प्रत्येक हिस्सा एक विशेषीकृत कार्य निष्पादित करता है और उनके निष्पादन का योगदान कुल समाज को बनाए रखने के लिए होता है। इस प्रकार यहाँ श्रम का विभाजन इस तरह का होता है कि समाज के सभी हिस्से एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। इसलिए हम एक हिस्से को दूसरे पर प्रभाव डाले बिना अलग नहीं कर सकते। ऐसे समाजों की कानूनी व्यवस्था क्षतिपूरक प्रकार की होती है जिसके अंतर्गत अपराधी को सुधारने पर जोर दिया जाता है न कि समाज को संतुष्ट करने पर ध्यान दिया जाता है। ऐसे समाज में व्यक्तियों को ज्यादा स्वतंत्रता हासिल होती है।

दर्खाइम के विचारानुसार यांत्रिक श्रम विभाजन से सावयवी श्रम विभाजन में परिवर्तन वैसा ही है जैसा कि किसी जीव का सरलता से जटिलता की ओर विकास होना। उनका यह जैविक उदाहरण देना यह सिद्ध करता है कि वे यांत्रिक से सावयवी व्यवस्था में परिवर्तन के लिए औद्योगीकरण अथवा उत्पादन प्रणाली को मूल कारक नहीं मानते। अस्तु हम देख सकते हैं कि आधुनिक समाज संरचनात्मक रूप से पारंपरिक समाजों से भिन्न होते हैं। यह बात मार्क्स और वेबर की विचारधारा में भी निहित थी परंतु दुर्खाइम ने इसे मुख्य रूप से उभारा है। आधुनिक प्रौद्योगिकी और आधुनिक उत्पादन प्रणाली विभेद आधारित और जटिल समाजों के साथ-साथ पनपती हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : (क) अपने उत्तर नीचे खाली स्थान में दीजिए।
(ख) इकाई के अंत में दिए उत्तर से अपने उत्तर मिलाइए।

1. श्रम विभाजन का क्या अर्थ है ? अपना उत्तर करीब तीन पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

2. यांत्रिक और सवयवी एकता का क्या अर्थ है ? अपना उत्तर करीब सात पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.7 पुनर्विचार

मार्क्स, वेबर और दुर्खाइम के विचारों से यह स्पष्ट है कि ये तीनों यह मानते हैं कि आधुनिक समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन आते जा रहे हैं। समाज में आने वाले परिवर्तनों के विवरण के बारे में इन तीनों में सहमति है परंतु उनके कारणों के बारे में इनमें काफी मतभेद हैं।

वेबर और दुर्खाइम के बाद से आधुनिक समाज में काफी सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। अब बाजारों का इतना विस्तार हो गया है कि वह समूचे विश्व में फैल गया है। अब संपूर्ण विश्व को एक एकीकृत अर्थव्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। जो समाज अपनी आधुनिक उत्पादन प्रणालियाँ विकसित नहीं कर पाए हैं वे बाहर से आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा उत्पादित माल आयात कर सकते हैं। कुछ समाज जो अभी हाल तक पुरानी प्रौद्योगिकी को ही अपनाए हुए थे और पारंपरिक सामाजिक प्रथाओं से ग्रसित थे वे भी बाजारों के एकीकरण की वजह से बाध्य होकर आधुनिकीकरण की भंवर में फंस चुके हैं। आज जो परिवर्तन हो रहे हैं वे इतने जटिल हैं कि इन तीन विचारकों ने जो घटनाक्रम का अध्ययन प्रस्तुत किया था वह काफी नहीं है। आज तो उससे आगे चलकर हमें समकालीन सामाजिक परिवर्तनों के संबंध में प्रासंगिक मुद्दों पर विचार करना है। इसीलिए हम अगली इकाई में अपना ध्यान समकालीन सामाजिक प्रक्रियाओं पर केंद्रित करेंगे।

13.8 सारांश

इस इकाई में हमने उत्पादन प्रक्रियाओं का अध्ययन किया है। हमारी यह चर्चा काफी पूर्ण रही है। हमने देखा कि कैसे उत्पादन के विभिन्न पहलुओं का सामाजिक कारकों से संबंध होता है। प्रौद्योगिकी और उत्पादन के विभिन्न तथ्यों का भी इसके साथ घनिष्ट संबंध होता है। इस इकाई में कार्ल मार्क्स के विचारों पर भी महत्वपूर्ण चर्चा की गई। आर्थिक संरचना और उत्पादन की भौतिक शक्तियों पर भी विचार प्रस्तुत किए गए। हमने मैक्स वेबर और एमाइल दुर्खाइम के दृष्टिकोण पर भी विचार किया। इसलिए यह इकाई काफी सूचनात्मक रही।

शब्दावली

बंधुआ : किसी साहूकार के कर्ज लेने की एवज में श्रमिक का एक लम्बी अवधि तक उसकी सेवा में बंधे रहना। वह श्रमिक कर्ज की अदायगी के लिए उसके खेत आदि पर काम करता रहता है।

पूंजीवाद : एक ऐसी आर्थिक प्रणाली जिसके अंतर्गत उत्पादन प्रक्रिया द्वारा लाभ का अधिकतम करने की कोशिश की जाती है।

पूर्वनियति : ऐसा सिद्धांत जिसके अनुसार ईश्वर को सभी घटनाओं की पहले से जानकारी होती है और इसी वजह से वह बिना किसी गलती के उनका मार्गदर्शन करता है जो मोक्ष के लिए नियत हैं।

प्रौद्योगिकी : उत्पादन की वृहद पूंजी-प्रधान प्रणाली जिसमें श्रम की अपेक्षा मशीनों का अधिक उपयोग किया जाता है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

कार्ल मार्क्स, 1970, *ए कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक आफ पोलिटिकल इकानामी*. प्रोगेस पब्लिशर्स : मास्को

मैक्स वेबर, 1930, *द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट आफ केपिटलिज्म*, एलन एड अनविन : लंदन

एमाइल दुर्खाइम, 1964, *द डिविजन आफ लेबर इन सोसायटी*, फ्री प्रेस : ग्लेंको

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 उत्पादन समाज द्वारा परिभाषित कार्यकलाप है। यह समाज ही निर्धारित करता है कि क्या उत्पादन है और क्या उत्पादन नहीं है। उत्पादित वस्तुओं का मूल्य समाज द्वारा निर्धारित होता है। सामाजिक रूप से मूल्यवान वस्तु ही उत्पाद कहलाती है। उत्पाद का उपयोग मूल्य और विनिमय-मूल्य होता है।

2 सेवाओं और उत्पादन में घनिष्ट संबंध होता है। पहले लोगों का और विशेष रूप से एडम स्मिथ जैसे लोगों का विचार था कि केवल वस्तुओं का सृजन ही उत्पादन होता है। लेकिन आज हम आधुनिक समाज में उत्पादन की प्रक्रिया में वैज्ञानिकों, अनुसंधानकर्ताओं, राजनीतिक योजनाकारों, अर्थशास्त्रियों आदि के अत्यधिक योगदान को भी स्वीकार करते हैं। इन सेवाओं के अभाव में उत्पादन प्रक्रिया का जल्दी ही ह्रास हो जाएगा।

3 वैज्ञानिक और सांख्यिकीविद् उत्पादन प्रक्रिया में स्त्रियों के योगदान की उपेक्षा कर देते हैं। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के घरेलू कामकाज करती हैं जैसे खाना पकाना, सफाई करना, खेती के काम में अपने मर्दों की सहायता करना, बच्चों की देखभाल करना आदि। इनने योगदान के बावजूद उन्हें आश्रित माना जाता है और उनकी सेवाओं को तुच्छ समझा जाता है।

बोध प्रश्न 2

1 कार्ल मार्क्स के अनुसार "उत्पादन की भौतिक शक्तियों" और "उत्पादन के संबंधों" के कारण समाज में परिवर्तन होते हैं। उत्पादन की भौतिक शक्तियों से उनका तात्पर्य प्रौद्योगिकी, पूंजी आदि से था। भाप इंजिन, छपाई मशीन आदि के आविष्कार के रूप में मानव इतिहास में जो प्रौद्योगिकीय उन्नति हुई है उससे यह सिद्ध हो जाता है कि समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ही प्रौद्योगिकी में परिवर्तन और समुन्नति होती रहती है।

2 वेबर ने यूरोप में पूँजीवाद के जन्म और विकास के कारणों की खोज करने की चेष्टा की। समुन्नत सभ्यताओं के बावजूद भारत और चीन में पूँजीवाद का विकास नहीं हुआ अपितु इंग्लैंड में यह पनपा। उन्होंने पूँजीवाद के जन्म का कारण उन विश्वासों और विचारों को बताया जो प्रोटेस्टेंट ईसाई मतावलंबियों में व्यापक रूप से फैले हुए थे। इन प्रोटेस्टेंटों का पूर्वनियति, ईश्वर के चुने लोग, व्यवसाय आदि की धारणाओं में विश्वास था। इन मूल्यों ने पूँजीवाद के जन्म और विकास में सहायता की।

बोध प्रश्न 3

1 श्रम विभाजन का अर्थ है समाज का घटकों अथवा विभागों में विभाजित हो जाना जिसमें प्रत्येक घटक अपना विशिष्ट कार्य निष्पादित करता है। दुर्खाइम ने बताया है कि पारंपरिक समाज यांत्रिक एकता पर आधारित होता है जबकि आधुनिक समाज सावयवी एकता पर।

2 पारपरिक पूर्व-औद्योगिक समाजों में विद्यमान यांत्रिक एकात्मता समाज का ऐसे विभागों में विभाजन है जो संगठन और कार्य में एक समान होते हैं। एक विभाग को हटा देने से कुल समाज पर कोई असर नहीं होता। लेकिन जटिल औद्योगिक समाजों में विद्यमान सावयवी एकता में समाज का प्रत्येक विभाग एक विशेष कार्य निष्पादित करता है जिसके द्वारा कुल समाज का अस्तित्व बना रहता है।

इकाई 14 वितरण प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 वितरण
14.3 विभिन्न विनिमय पद्धतियाँ
  14.3.1 पारस्परिक आदान-प्रदान
    14.3.1.1 वस्तु मूल्य
  14.3.2 पुनर्वितरण पर आधारित विनिमय
    14.3.2.1 पॉटलैच समारोह
  14.3.3 बाजार विनिमय
    14.3.3.1 बाजार विनिमय की विशेषताएँ
    14.3.3.2 बैंक और विज्ञापन सेवाएँ
14.4 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप :

- वितरण पद्धति के विभिन्न पहलुओं को समझ सकेंगे।
- विभिन्न समाज में विभिन्न वितरण पद्धतियों और वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय को जान सकेंगे।
- बाजार-विनियम और उसकी विशेषताओं की जानकारी हासिल कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप वितरण के सिद्धांतों, विभिन्न विनिमय पद्धतियों, पारस्परिक आदान-प्रदान और आर्थिक लेन-देन के बारे में पढ़ेंगे। यहाँ पुनर्वितरण पर आधारित विनिमय बाजार-विनिमय की विशेषताओं और बैंक एवं विज्ञापन सेवाओं का भी उल्लेख किया गया है।

14.2 वितरण

यदि व्यक्ति अपना उत्पादन कार्य सिर्फ स्वयं के लिए करने लगे तो सहकारिता का सामाजिक लाभ समाप्त हो जाएगा। आपने देखा होगा कि किसी भी समाज में उत्पादन से जो लाभ होता है उसका सब लोगों को समय एवं श्रम के अनुपात में समान फल नहीं मिलता। इस समस्या से निपटने के लिए प्रत्येक समाज किसी एक वितरण पद्धति का या लोगों के बीच वस्तुओं और सेवाओं को उचित अनुपात में बाँटने के लिए विभिन्न नीतियों का सहारा लेता है। एक स्थानीय समूह या अलग-अलग स्थानीय समूहों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के आदान-प्रदान को वितरण या विनिमय पद्धति कहते हैं। पैसे देकर वस्तुएँ लेना और काम कराना वस्तुओं और सेवाओं के वितरण का एक आम तरीका है। किसी भी समाज की आर्थिक पद्धति वहाँ की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से संबद्ध होती है जिसका प्रयोग वहाँ के लोग निजी एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय के लिए करते हैं। सामान्य सामाजिक जीवन और रोजमर्रा की जिंदगी के लिए वस्तुओं एवं सेवाओं का यह विनिमय आवश्यक है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में यहां तक कि आदिम काल की पुरानी अर्थव्यवस्था में भी विनिमय पद्धति का

प्रचलन था। विनिमय 6 प्रकार का हो सकता है: वस्तुओं के बदले वस्तुएँ, सेवाओं के बदले सेवाएँ, सेवाओं के बदले वस्तुएं, वस्तुओं के बदले पैसा, सेवाओं के बदले पैसा और पैसों के बदले पैसा। पैसे का प्रयोग हमें अपेक्षाकृत नई अर्थव्यवस्था में मिलता है। विनिमय का सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इसमें लोगों के बीच लेन-देन होता है और इस लेन-देन या विनिमय के अपने कुछ नियम एवं सिद्धांत होते हैं जिनका लोगों द्वारा आपस में वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय के लिए पालन किया जाता है।

14.3 विभिन्न विनिमय पद्धतियाँ

आर्थिक इतिहासकार कार्ल पोलानी ने विनिमय के तीन विभिन्न तरीकों का उल्लेख किया है : पारस्परिक आदान-प्रदान, पुनर्वितरण और बाजार-विनिमय। आप देखेंगे कि प्रत्येक अर्थव्यवस्था इनमें से (कम से कम) किसी एक विनिमय पद्धति से प्रभावित है। हालांकि अनेकों अर्थव्यवस्थाएँ इनमें से दो या तीनों की तीनों पद्धतियों पर आधारित हैं। आइए, अब हम एक-एक करके इन तीनों की व्याख्या करें। प्रत्येक के अपने विशेष नियम एवं सिद्धांत हैं जिनके कारण ये तीनों एक दूसरे से अलग हैं और तीनों का वस्तुओं एवं सेवाओं के लेन-देन के संदर्भ में विशेष अर्थ है।

14.3.1 पारस्परिक आदान-प्रदान

यह पद्धति है जिसमें दो व्यक्ति या समूह अपने स्तर के अनुरूप आपस में वस्तुओं या सेवाओं का आदान-प्रदान करते हैं। मान लीजिए छुट्टियों में हम अपने दादा-दादी से मिलने जाएं और उनके लिए कोई भेंट ले जाएँ या फिर अपने दोस्त को अपनी मोटरसाइकिल पर अपने साथ स्कूल ले जाएं! यह दुनियादारी है जिसमें लेन-देन के वांछित नियम से हम नहीं बंधे हैं। इसमें किसी प्रकार की कोई विवशता नहीं है और न ही भौतिक लाभ का लालच है। अन्य शब्दों में बाजार-विनिमय से यह सर्वथा भिन्न है। कौन सी माँ होगी जो प्यार से अपने बेटे को कुछ देना नहीं चाहेगी या कौन सा बेटा अपनी माँ को अपनी क्षमता के अनुसार कुछ देना नहीं चाहेगा। यहाँ उनके लेन-देन का आधार "प्यार" है, माँ-बेटे का "रिश्ता" है या फिर आप इसे "दायित्व" की संज्ञा भी दे सकते हैं। अगर बेटा सब कुछ होते हुए भी माँ को कुछ नहीं देता तो माँ का दिल दुःख सकता है या उसे बुरा लग सकता है। इसी प्रकार अगर माँ अपने बच्चों की तरफ से हाथ खींच लेती है तो बच्चों को महसूस हो सकता है। इस प्रकार का लेन-देन अपनों के बीच ही होता है अजनबियों के बीच नहीं।

इस पद्धति में "बाजार-विनिमय" के समान दूसरे से बदले में अधिक प्राप्ति की इच्छा नहीं की जाती। अगर माँ अपने बेटे को कुछ देती है तो वह यह नहीं सोचती कि इसके बदले में उसे बेटे से ज्यादा कीमती चीज मिलेगी। इसी प्रकार अगर वह अपनी बेटी को हीरे-जवाहरात का सैट देती हैं तो वह इसलिए नहीं कि उसके बदले में उसे बेटी से अधिक मूल्यवान वस्तु प्राप्त होगी। वह अपने बच्चों को इसलिए देती है कि यह एक सांस्कृतिक दायित्व है जो माँ के रूप में उसकी भूमिका से जुड़ा है।

14.3.1.1 वस्तु-मूल्य

यह आवश्यक नहीं कि आप किसी को बदले में जो दें उसका मूल्य समान हो; लेकिन अक्सर देखा गया है कि समान हैसियत के व्यक्तियों के बीच लेन-देन समान स्तर का होता है। स्वाभाविक है आप किसी को भी कोई वस्तु उसके स्तर के अनुरूप ही देंगे यह एक पारम्परिक या सांस्कृतिक दायित्व है। विनिमय प्रायः दो तरफा होता है जैसे क्रिसमस में आप अपने मित्रों को उपहार देते हैं और आपके मित्र आपको। पर कभी-कभी हम देखते हैं कि मामला एकतरफा भी हो सकता है। उदाहरण के लिए जब कोई पड़ोसी या रिश्तेदार विवाह में वर-वध को कोई भेंट देता है तो वर-वधू तुरन्त उन्हें उसका मूल्य चुकाने नहीं पहुंच जाते। वे ऐसे मौके की प्रतीक्षा करते हैं। यह जो बाद में देने की बात है इससे व्यक्ति एक तरह के ऋण-जाल में फँस जाता है। अतः आदान-प्रदान दो प्रकार का हुआ :

1 **सामान्य आदान-प्रदान** : इसमें न मूल्य देखा जाता है, न दी गई वस्तु और न ही वस्तु लौटाने का समय। इस प्रकार के विनिमय में आर्थिक लाभ या अपने फायदे के बारे में नहीं सोचा जाता। इसका मतलब यह हुआ कि सामान्य आदान-प्रदान में हम जब किसी को कोई उपहार देते हैं तो यह नहीं सोचते कि वह उसके बदले में हमें और क्या भेंट देगा।

2 **संतुलित आदान-प्रदान** : इसमें लेन-देन संतुलित होता है अर्थात् एक निश्चित् अवधि में वस्तुओं और सेवाओं का सीधा आदान-प्रदान होता है। इस प्रकार का विनिमय किसी वस्तु या लाभ विशेष की इच्छा या आवश्यकता पर आधारित होता है।

आदान-प्रदान के प्रकार : लेन-देन - 1

यह शिकारियों और भोजन जुटाने वाले समाज के सदस्यों के बीच आदान-प्रदान का एक प्रमुख तरीका रहा है। उदाहरण के लिए कुछ लोग शिकार के लिए जाते हैं। उनमें से किसी एक द्वारा पकड़े या मारे गए जानवरों को शिविर के सभी लोग साथियों के प्रति परस्पर नातेदारी की भावना में जुड़े होने के कारण मिल बाँट कर खाते हैं।

14.3.2 पुनर्वितरण पर आधारित विनिमय

विनिमय की इस पद्धति में दायित्व के आधार पर लोगों के एक समूह के बीच एक स्थान पर वस्तुएँ एकत्रित करके वस्तुओं एवं सेवाओं का बँटवारा किया जाता है। इसमें पारस्परिक दायित्व की भावना से वस्तुओं का पुनर्वितरण होता है। अन्य शब्दों में एक समूह के लोगों से वस्तुएँ लेकर किसी एक स्थान पर इकट्ठी की जाती है और फिर वहाँ से उनका समाज में वितरण किया जाता है। पुनर्वितरण समाज के सदस्यों की ओर से ऐच्छिक या अनैच्छिक हो सकता है। अनैच्छिक इसलिए क्योंकि वस्तु संग्रह केन्द्र अपने एजेन्टों के माध्यम से सत्ता अधिकारियों को अपनी वस्तुएँ एवं सेवाएँ सौंपने के लिए लोगों को विवश कर सकता है। पुनर्वितरण केन्द्र का मुखिया किसी समूह या कबीले का प्रमुख हो सकता है या किसी राज्य का शासक। पुनर्वितरण पद्धति का सभी स्थानों पर बोलबाला है लेकिन जटिल राजनैतिक तंत्र और आर्थिक समृद्धि वाले समाज में वितरण का यह विशेष महत्वपूर्ण औजार बन जाता है।

स्वैच्छिक पुनर्वितरण कम से कम पारिवारिक स्तर पर आपको सर्वत्र मिलेगा जैसे परिवार के सदस्य अपनी आय और अपना श्रम एक जगह इकट्ठा करते हैं और मिल-बाँट कर उसका लाभ उठाते हैं। लेकिन पुनर्वितरण पद्धति का शिकार एवं मत्स्य पालन प्रधान समाज में, कुछेक बागबानी प्रधान जगहों पर और लगभग उन सभी पशुपालन एवं कृषि प्रधान क्षेत्रों में बोलबाला होता है जहाँ एक या दूसरे तरह का राजनैतिक तंत्र द्वारा संग्रहण केन्द्र में वस्तु के संग्रहण और वितरण में समन्वय स्थापित किया जाता है।

14.3.2.1 पॉटलैच समारोह

पॉटलैच समारोह अमेरिका के उत्तर-पश्चिम तट पर बसने वाले इण्डियन्स में पुनर्वितरण का एक तरीका है। इसमें बड़े जोर-शोर से अपने विशेषाधिकारों और अपनी धन दौलत का प्रदर्शन किया जाता है। मेजबान की शानो-शौकत को बढ़ाने के लिए मेहमानों के बीच वस्तुएँ बाँटी जाती हैं। गृह–निर्माण संबंधी पॉटलैच रस्म बड़ी शानदार होती है। लगभग दस वर्ष तक पति-पत्नी घर के

२. पुनर्वितरण

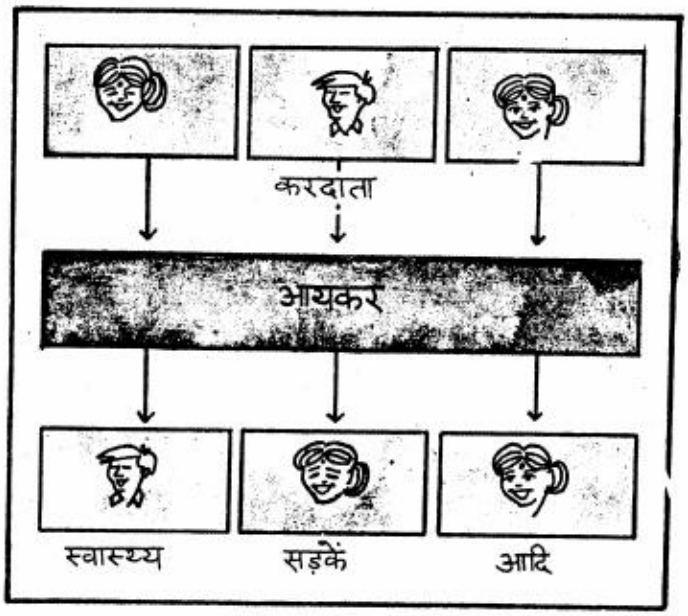

लिए कठिन श्रम करते हैं। पॉटलैच समारोह से एक वर्ष पहले पत्नी दुकान से फर या कम्बल लेकर अपने कबीले के विभिन्न सदस्यों को उधार देती है।

कबीले के सदस्य पॉटलैच समारोह के अवसर पर उन्हें शत-प्रतिशत ब्याज के साथ लौटा देते हैं। पॉटलैच के समय अतिथि नए घर में इकट्ठे होते हैं और अपने पद के अनुसार स्थान ग्रहण करते हैं। इस समारोह में अतिथि उपहारों से लाभान्वित होते हैं और मेजबान सामाजिक एवं राजनैतिक प्रतिष्ठा से। मेजबान को रहने के लिए घर मिल जाता है, उसे घर का मालिक बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है, पत्नी अपने बच्चों एवं अपने कबीले के लिए सामाजिक सम्मान का पात्र बन जाती है।

पुनर्वितरण पद्धति का सबसे बड़ा उदाहरण है : सरकार द्वारा वसूल किया जाने वाला कर। नागरिक की भूमिका में हमें अपनी सरकार को स्थानीय और राष्ट्रीय कर देना पड़ता है। सरकार उसके बदले में हमें विभिन्न सेवाएँ या सुविधाएँ उपलब्ध कराती है। हम जो राशि सरकार को देते हैं उसकी तुलना उसके द्वारा दी जाने वाली सेवाओं और सुविधाओं से नहीं की जा सकती। वस्तुत: सरकार द्वारा लोगों को मुहैया की जाने वाली सेवाओं के समग्र मूल्य का निर्धारण करना कठिन है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर नीचे खाली स्थान में दीजिए।
ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर मिलाइए।

1 आदान-प्रदान पर लगभग पाँच पंक्तियों में अपने विचार प्रकट कीजिए :

.....

.....

.....

.....

.....

2 पुनर्वितरण पर आधारित विनिमय के सिद्धांत पर लगभग सात पंक्तियों में अपने विचार प्रकट कीजिए :

.....

14.3.3 बाजार विनिमय

इसमें माँग और पूर्ति के नियम के मुताबिक वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है। बाजार विनिमय की प्रमुख विशेषता यह है कि वस्तुएँ और सेवाएँ पैसे से बेची और खरीदी जाती हैं। वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य माँग और पूर्ति के अवैयक्तिक **सिद्धांत से** निर्धारित होता है। पारस्परिक आदान-प्रदान और पुनर्वितरण वाली पद्धति में विनिमय करने वालों की सामाजिक एवं राजनैतिक भूमिका महत्वपूर्ण होती है पर बाजार विनिमय में नहीं बाजार विनिमय अवैयक्तिक है। उसमें विनिमय करने वाले की सामाजिक स्थिति का कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार बाजार विनिमय मूलतः शुद्ध आर्थिक विनिमय है। उसमें सामाजिक या राजनैतिक ध्येय आर्थिक ध्येय से कम महत्वपूर्ण है। इसलिए बाजार विनिमय को मुद्रा-विनिमय या वाणिज्य विनिमय के रूप में जाना जाता है। मुद्रा पर आधारित विनिमय पद्धति उस अर्थव्यवस्था में फलती-फूलती है जहाँ पूर्ति माँग से बढ़ जाती है। अन्य शब्दों में जहाँ खाद्यान्नों का उत्पादन खाद्यान्न पैदा करने वालों की आवश्यकता से अधिक हो जाता है। बाजार विनिमय इस पर निर्भर है कि कितने लोगों को किसी वस्तु या सेवा विशेष की आवश्यकता है और वे उसके लिए कितना पैसा खर्च कर सकते हैं। जब भी हम कुछ खरीदने या कुछ बेचने की बात करते हैं तो बाजार विनिमय से जुड़े ये शब्द हमारे सामने आते हैं : खरीदना, बेचना, छूट, मूल्य, पैसा, लागत, लाभ, नुकसान आदि। ये शब्द हमारी जटिल विपणि अर्थव्यवस्था की विविध लेन-देन कार्यवाहियों के विभिन्न पहलुओं को अभिव्यक्त करते हैं।

बाज़ार - विनिमय - 3

14.3.3.1 बाजार विनिमय की विशेषताएँ

1 खरीददार बेचने वाले के पास जाता है क्योंकि वह उससे अपनी आवश्यकता की चीजें खरीदना चाहता है। इसी प्रकार बेचने वाला अपनी चीजें बेचता है क्योंकि वह पैसा चाहता है जिससे वह अपनी आवश्यकता की चीजें खरीद सके और सेवाएँ या सुविधाएँ जुटा सके।

2 जब हम खरीददारी के लिए जाते हैं तो कम से कम पैसे में अधिक से अधिक वस्तुएँ खरीदना या सेवाएँ उपलब्ध करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु विशेष का मूल्य मांग और पूर्ति के आधार पर घट-बढ़ सकता है

3 बाजार विनिमय की तीसरी विशेषता है कि यह खरीदने और बेचने वाले का निर्धारण करता है। खरीदने वाला और बेचने वाला दोनों अपने सीमित संसाधनों से अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहते हैं इसलिए खरीददार ऐसा विक्रेता ढूंढता है जो उसे उसकी मनोवांछित वस्तु कम से कम दाम में दे सके और विक्रेता ऐसे ग्राहक की ताक में रहता है जो उसकी वस्तु के लिए उसे ज्यादा से ज्यादा पैसा दे सके। यहाँ यह जानने की आवश्यकता नहीं होती कि व्यक्ति कौन है। बाजार विनिमय में बेचने वाला और खरीदने वाला दोनों एक दूसरे के लिए अजनबी होते हैं। अतः यह हमारे आज के उस विशाल एवं जटिल समाज के लिए एकदम उपयुक्त है जहाँ अधिकांश लोग एक दूसरे को नहीं जानते। उदाहरण के लिए जब हम सुपर बाजार जाते हैं तो चीजें खरीदते समय हमारे लिए यह जानना आवश्यक नहीं कि सेल्स गर्ल कौन है या हमारी चीजें पैक करने वाला कौन है। इसी प्रकार बिजली का बिल चुकाते समय विद्युत बोर्ड के मैनेजर को व्यक्तिगत रूप से जानना जरूरी नहीं।

4 बाजार विनिमय में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य आपसी बातचीत से तय कर लिया जाता है। समय के प्रवाह में बाजार में प्रत्येक बिकाऊ वस्तु का मूल्य संबद्ध हो जाता है अर्थात् किसी एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के मूल्य पर निर्भर हो जाता है। पैसे से वस्तु की अन्तर्मूल्य स्थिति बहुत सरल हो जाती है। अन्य शब्दों में पैसा विनिमय का एक सुगम साधन है।

14.3.3.2 बैंक एवं विज्ञापन सेवाएँ

आधुनिक अर्थ व्यवस्था में बैंकों और विज्ञापनों का अपना प्रमुख स्थान है। इनका जाल देश भर में फैला है। इनकी सेवाएं उल्लेखनीय हैं। बैंक पूँजी निवेशक को पूँजी ही नहीं देते बल्कि उपभोक्ता के साथ लेन-देन भी करते हैं। उपभोक्ता अपना पैसा उनके पास सुरक्षित रख सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उनसे ऋण ले सकता है। वित्तीय लेन-देन में "बैंक-चैक" मुद्रा का एक उल्लेखनीय विकल्प है।

विज्ञापन अपने सीधे-सादे रूप में ये बताते हैं कि वस्तु विशेष कहाँ मिलेगी या कौन सी सेवा कहाँ उपलब्ध होगी। मूल्य भी प्रायः साथ दिया रहता है। स्पर्धाप्रधान वितरण पद्धति में उत्पादक, थोक व खुदरा व्यापारी और उपभोक्ता के लिए विज्ञापन एजेंसियाँ बहुत सहायक हैं। आज के भरे-पूरे समाज में ये एजेन्सियाँ अपने चमकीले-दमकीले युक्तियुक्त विज्ञापनों से उपभोक्ता को आकर्षित एवं प्रेरित करती हैं और बिक्री बढ़ाती हैं। उदाहरण के लिए एक विज्ञापन एजेन्सी माता-पिता और बच्चों की भावना का सर्वेक्षण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि काम करने वाले माता-पिता बच्चों को अकेला घर छोड़ने की गलती महसूस करते हुए उसकी क्षतिपूर्ति करना चाहते हैं। वह एक विज्ञापन तैयार करती है जिसमें माता-पिता क्षतिपूर्ति के रूप में बच्चे के लिए एक कम्पनी विशेष का चॉकलेट लेकर आते हैं। इस प्रकार उस चॉकलेट की बिक्री बढ़ती है क्योंकि विज्ञापन देखने के बाद कई माता-पिता अपने बच्चों के लिए वही चॉकलेट खरीदना चाहेंगे।

आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था कम से कम तीन ऐसे विशेष सिद्धान्तों से जुड़ी है जो सामान्यतः पुरानी अर्थव्यवस्था में दिखलाई नहीं पड़ते। ये हैं : आर्थिक दृष्टि से विशाल बाजार, अतिरेक (surplus) लाभ प्राप्ति का सतत् प्रयास और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुद्रीकरण दूसरी ओर पुरानी अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के लेन-देन में आदान-प्रदान और पुनर्वितरण जैसे अन्य सिद्धांत महत्वपूर्ण रहे हैं।

औद्योगिक अर्थव्यवस्था में उत्पादन की प्रौद्योगिक प्रक्रियाएँ बहुत जटिल हैं लेकिन वितरण प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि यह मुख्यतः विपणि सिद्धांत पर आधारित है। पुरानी अर्थव्यवस्थाओं में स्थिति विपरीत है वहां उत्पादन की तकनीकी प्रक्रिया के साथ-साथ वितरण पक्रिया भी बहुत पेचीदा है। सीधे-सादे व सरल समाज में श्रम का विभाजन आयु और लिंग पर निर्भर है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रत्येक परिवार के संदस्य मिलजुलकर समूचे समाज के कुल उत्पादन को नियंत्रित करते हैं। कृषक समाज में भी यही देखने को मिलता है। आप यहां किसी भी गाँव में चले जाइए, गाँव का गाँव एक ही गतिविधि में अर्थात् खेतीबाड़ी में जुड़ा दिखाई देगा। उनके काम करने के तरीके और औजार भी समान हैं। इस प्रकार कार्य प्रक्रिया सरल होने का मतलब यह नहीं कि विनिमय या वितरण पद्धति भी सरल होगी।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) नीचे रिक्त स्थान पर उत्तर लिखिए।
ख) **ईकाई के अंत में दिए गए अपने उत्तर मिलाइए**

1 बाजार विनिमय की परिभाषा दीजिए। बाजार विनिमय की कम से कम दो विशेषताएँ बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था से जुड़े तीन सिद्धांत कौन-से हैं? लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

14.4 सारांश

किसी भी समाज की आर्थिक पद्धति वहाँ की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से संबद्ध होती है जिसका प्रयोग वहाँ के लोग निजी व सामाजिक जरूरतों की पूर्ति हेतु वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय के लिए करते हैं। यह उत्पादन, वितरण और वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय को स्पष्ट करती है। उत्पादन के बाद वस्तुएँ वितरण पद्धति के आधार पर लोगों के पास पहुँचती है। एक समूह के सदस्यों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के बाँटने के लिए वितरण पद्धति के अपने कई नियम होते हैं। वितरण प्रायः आर्थिक विनिमय से प्रभावित होता है जो लोगों में वस्तुओं और सेवाओं के हस्तांतरण के लिए सांस्कृतिक नियमों का प्रतिनिधित्व करता है। विनिमय के तीन आधारभूत रूप हैं: पारस्परिक आदान-प्रदान, पुनर्वितरण और बाजार-विनिमय। पहली तरह के विनिमय में अर्थात् आदान-प्रदान में दो व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच अपनी भूमिका के मुताबिक दायित्वों के आधार पर वस्तुओं या सेवाओं का वितरण किया जाता है।

दूसरी तरह के विनिमय में अर्थात् पुनर्वितरण पद्धति में भूमिका के मुताबिक दायित्वों के आधार पर वस्तुओं या सेवाओं का केन्द्रीय रूप से संग्रह कर लोगों के एक समूह के बीच उनका वितरण होता है। तीसरी तरह के विनिमय में अर्थात् बाजार विनिमय में मूल्य, माँग और पूर्ति के आधार पर वस्तुओं अथवा सेवाओं का विनिमय होता है। प्रत्येक पद्धति के अपने नियम व सिद्धांत हैं, इसी कारण तीनों एक दूसरे से भिन्न हैं और इसी कारण वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय का विशेष अर्थ है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कई स्थानों पर विनिमय की ये तीनों की तीनों पद्धतियाँ प्रचलित हैं।

शब्दावली

वितरण पद्धति : जिसके द्वारा वस्तुओं और सेवाओं को ग्राहक तक पहुँचाया जाता है।
आर्थिक व्यवस्था : जिसके द्वारा वस्तुओं का उत्पादन, वितरण और उपभोग किया जाता है।
पारस्परिक आदान-प्रदान : पद्धति जिसमें वस्तुओं का लेन-देन होता है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

डी.एन. मजुमदार और टी.एन. मदन, 1976, *एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एंथ्रोपौलोजी*, बम्बई एशिया पब्लिशिंग हाउस।

एन.टी. स्मैलसर 1965, दि सोशियोलॉजी ऑफ इकनोमिक लाइफ, अई दिल्ली : प्रेन्टिस हॉल।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 आदान-प्रदान में दो व्यक्तियों या समूहों के बीच उनकी अपनी भूमिका के अनुरूप दायित्वों के आधार पर वस्तुओं या सेवाओं का विनिमय होता है। इसमें आप जो कुछ देते हैं उसके बदले में वापिस कुछ पाने की इच्छा आवश्यक नहीं जैसा कि विपणि विनिमय में होता है। उदाहरण के लिए माँ-बेटे में उपहारों का आदान-प्रदान।

2 पुनर्वितरण पद्धति का अर्थ है अपनी भूमिका के मुताबिक अपने दायित्वों के आधार पर केन्द्रीय रूप से वस्तुओं और सेवाओं का संग्रहण और जन-समूह के बीच उनका वितरण। पुनर्वितरण एक समाज के सदस्यों की तरफ से ऐच्छिक या अनैच्छिक हो सकता है। अनैच्छिक इसलिए क्योंकि संग्रह केन्द्र अपने एजेंटों द्वारा सत्ता को अपनी वस्तुएँ और सेवाएँ सौंपने के लिए लोगों को विवश कर सकता है।

बोध प्रश्न 2

1 बाजार विनिमय वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय है। माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार इसकी दो प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि इस पद्धति के अन्तर्गत वस्तुएँ और सेवाएँ पैसे से बेची और खरीदी जाती हैं और इनका मूल्य माँग व पूर्ति के अवैयक्तिक सिद्धांत से निश्चित होता है। इसमें लोग अधिक से अधिक वस्तुओं और सेवाओं के लिए कम से कम पैसा देकर लाभान्वित होने का प्रयत्न करते हैं।

2 आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था से जुड़े तीन सिद्धांत हैं: आर्थिक दृष्टि से विशाल बाजार, अतिरेक लाभ प्राप्ति की इच्छा और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुद्रीकरण।

इकाई 15 उपभोग का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 कुछ बुनियादी प्रश्न
15.3 उपभोग की प्रकृति
  15.3.1 उपभोग का उत्पादन के साथ संबंध
  15.3.2 उपभोग का सामाजिक पक्ष
15.4 अवधारणाओं की परिभाषा
  15.4.1 उपभोग का क्षेत्र
  15.4.2 उपभोग का स्तर
15.5 पूर्व-औद्योगिक-समाज में उपभोग का स्वरूप
  15.5.1 उपभोग के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष
  15.5.2 खाद्यान्न-उत्पादन और उपभोग में ऋतु के अनुसार रूपांतर
15.6 औद्योगिक समाजों में उपभोग
  15.6.1 औद्योगिक समाजों में उपभोग को प्रभावित करने वाले कारक
15.7 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर
अन्य संदर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित के बारे में वर्णन कर सकेंगे :

- समाज के आर्थिक संगठन के एक आयोग के रूप में उपभोग की संकल्पना ;
- उपभोग की प्रकृति ;
- उपभोग से संबद्ध विभिन्न संकल्पनाओं की परिभाषाओं की विस्तृत व्याख्या;
- औद्योगीकरण से पहले और औद्योगीकरण के बाद के समाजों में उपभोग की प्रकृति और स्वरूप के बारे में तुलनात्मक अध्ययन; तथा
- आज के औद्योगिक समाजों में उपभोग की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्व।

15.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम उपभोग की प्रकृति, उपभोग का सामाजिक पक्ष और उत्पादन के साथ उसके संबंध के बारे में कुछ मौलिक प्रश्नों पर चर्चा करेंगे। हम औद्योगीकरण से पहले और औद्योगीकरण के बाद के समाजों में उपभोग के स्वरूप की भी जाँच करेंगे। इसमें उन तत्वों का वर्णन भी शामिल किया गया है, जो प्रौद्योगिक रूप से विकसित समाजों में उपभोग को प्रभावित करते हैं।

15.2 कुछ बुनियादी प्रश्न

किसी भी मानव समाज के आर्थिक गठन का अध्ययन करते समय तीन बुनियादी प्रश्न पूछे जाते हैं। वे हैं :

1 मानव समाज द्वारा उत्पादित वस्तओं और सेवाओं की माँग क्यों की जाती है?

2 उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को सदस्यों में किस प्रकार वितरित किया जाता है?

3 वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन तथा वितरण कैसे होता है और कैसे उनका उपभोग किया जाता है। इस प्रक्रिया को नियंत्रित करने वाले व्यवहार का स्वरूप क्या है?

इन सभी प्रश्नों में निहित हैं—खाद्य पदार्थों तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन, वितरण, विनिमय, आवंटन, उपयोग, संग्रह और उपभोग। इस खंड की पिछली इकाइयों में पहले दो प्रश्नों का उत्तर दे दिया गया है तथा इस इकाई में अंतिम प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है। समाजशास्त्रियो ने उपभोक्ता और उपभोग की प्रक्रिया पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है। प्राचीन काल से ही उन्होंने आर्थिक चक्र अर्थात् उपभोग (खपत) की ओर रुचि दिखाने की अपेक्षा वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और विनिमय पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया। उपभोग को केवल ऊपरी तौर पर ही मान्यता प्रदान की गई। आदिम और आधुनिक समाजों में उपभोग का अर्थशास्त्र एक ऐसा विषय है, जिसकी ओर अभी हाल ही में समाजशास्त्रियों और समाज नृविज्ञानियों का ध्यान आकर्षित हुआ है।

15.3 उपभोग की प्रकृति

मानव के क्रियाकलापों में उपभोग एक मुख्य तत्व है। इसका संबंध जीवन-निर्वाह के लिए उपयोगी वस्तुओं और सेवाओं के प्रयोग के सभी चरणों से है। जब हम खाना खा रहे होते हैं, बिस्तर पर सो रहे होते हैं, डॉक्टर के पास जा रहे होते हैं या विद्यालय जाते हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि हम उपभोग कर रहे हैं। लेकिन उपभोग के अन्य पक्ष भी हैं। किसी वस्तु विशेष और सेवा विशेष का चुनना भी उपभोग की प्रक्रिया का एक अंग है। उपभोग की वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करना, लेन-देन में भागीदार बनना और उन्हें पाने के निर्णय लेना आदि कार्य भी इसमें शामिल होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि उत्पादन में उपभोग अंतर्निहित होता है, जैसे आपके पाठ्यक्रम की इस इकाई के उत्पादन में सफेद कागज की अनेक पत्रों की खपत हुई है या उनका प्रयोग किया गया है। इसी तरह उत्पादन कार्य में अपनी ऊर्जा शक्ति को बनाए रखने के लिए श्रमिक का भोजन करना भी उपभोग ही है।

15.3.1 उपभोग का उत्पादन के साथ संबंध

मानव समाजों में उपभोग एक आम बात है। कभी-कभी हमारी आर्थिक प्रणाली में वस्तुओं का उत्पादन करने के बाद उसकी बहुत बड़ी मात्रा नष्ट हो जाती है। ऐसा उपभोग-प्रक्रिया में कमजोरियों के कारण होता है। इस प्रकार के उपभोग के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को न केवल कम संतोष मिलता है, बल्कि इससे उत्पादन के संसाधनों का दुरुपयोग भी होता है।

जिस उपभोग से उपभोक्ताओं को संतोष नहीं मिलता, उससे समाज में ऐसे व्यक्ति पैदा होते हैं जिनमें ऊर्जा (शक्ति) की कमी होती है और उसके फलस्वरूप उनमें कार्य करने की इच्छा का अभाव होता है। जबकि उत्पादन की उस प्रक्रिया में, जिसमें उत्पादित वस्तुओं का क्षय नहीं होता, उपभोक्ताओं की अधिक संतोष मिलने की संभावना रहती है। इसके परिणामस्वरूप, अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ व्यक्ति उत्पन्न होंगे, जो समाज में उत्पादन प्रक्रिया में और अच्छी तरह से भाग ले सकेंगे। इस अर्थ में उपभोग का उत्पादन के साथ बहुत निकट का संपर्क है।

15.3.2 उपभोग का सामाजिक पक्ष

उपभोग का संबंध केवल व्यक्ति से ही नहीं है, वरन् इसका एक महत्वपूर्ण सामाजिक पक्ष भी है। उदाहरण के लिए, हम जिस किसी भी वस्तु का उपभोग करें, वह दूसरों के द्वारा किए गए उपभोग का परिणाम होता है। हम अक्सर दूसरों की नकल करते हैं, क्योंकि हमें कभी-कभी पता ही नहीं चल पाता कि हम किस वस्तु का उपभोग करें या फिर कभी-कभी हम अपने उपभोग में किन्हीं वस्तुओं के अभाव को जाहिर नहीं होने देना चाहते हैं। उपभोग की समस्या का संबंध समाज द्वारा निर्मित उत्पादों के अंतिम प्रयोजन से है और कितना उपभोग हुआ, इसका संबंध बचत से होता है? यह भी देखा जाता है कि यदि समाज में उपभोग जग-दिखावे के लिए हो तो उसका रूप क्या होता है? बचाई गई राशि का क्या और कैसे निवेश या संग्रह किया जाता है? उपभोग से जुड़े हुए ये बुनियादी मद्दे हैं।

खपत का स्वरूप : जग दिखावा

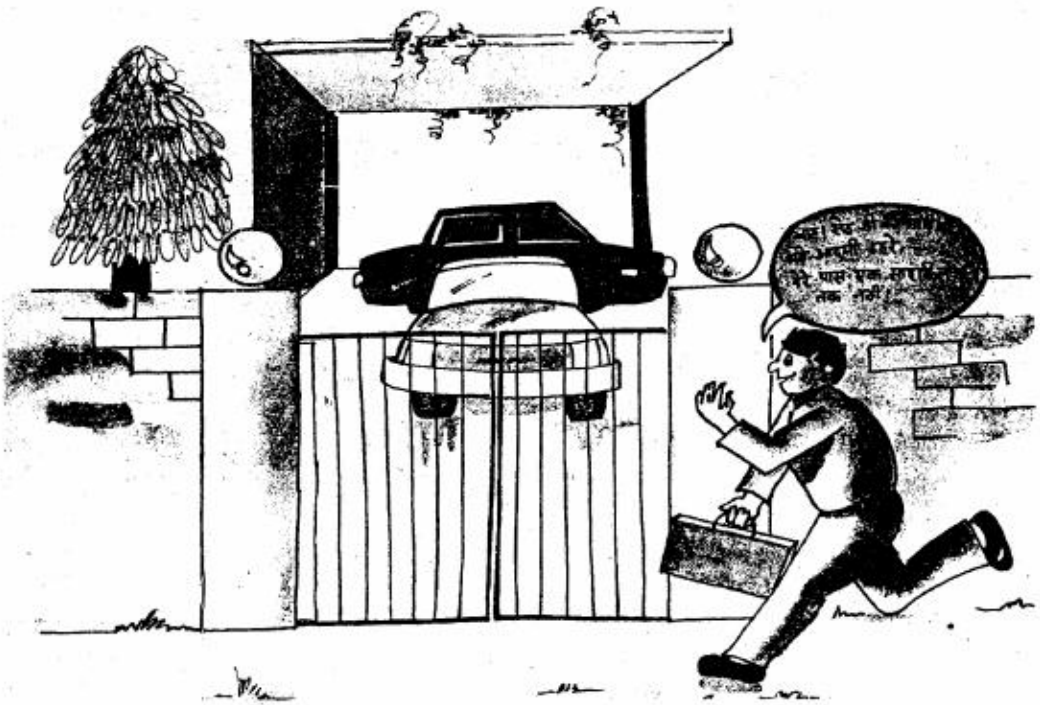

15.4 अवधारणाओं की परिभाषा

सामान्यत: उपभोक्ता को संतोष प्रदान करने के लिए वस्तुओं और सेवाओं के उपयोग का उपभोग (खपत) कहते हैं। उपभोग में एक तत्व चयन का होता है—किन्हीं विशेष वस्तुओं और सेवाओं का चयन। उपभोग में एक तत्व **उपयोग** का होता है—जीवन-निर्वाह के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग। उपभोग में एक तत्व **कुछ प्राप्त** करने का होता है—इसे हम संतोष या उपयोगिता कह सकते हैं। इस प्रकार, उपभोग में उपभोक्ता को संतोष या उपयोगिता प्रदान करने के लिए चुनी हुई वस्तुओं और सेवाओं का प्रयोग किया जाता है।

इस दृष्टि से उपभोग की तुलना उत्पादन से की जा सकती है—केवल उत्पादन की प्रकृति भिन्न होती है। जब उत्पादक कार्यों से उत्पादन वास्तविक वस्तुओं या सेवाओं के बराबर हो, तो उपभोग का उत्पादन भी संतोष की इकाई के बराबर होता है। **उपभोक्ता** की परिभाषा उस व्यक्तिगत मानव के रूप में की गई है, जो संतोष पाने के लिए वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करता है। प्राय: उपभोग की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं का चयन पारिवारिक इकाई के अंदर ही किया जाता हैं और चयन की उस रीति के अनुसार व्यक्तिगत सदस्य उपभोग करते हैं।

15.4.1 उपभोग का क्षेत्र

उपभोक्ताओं को बहुधा चार श्रेणियों में विभाजित किया जाता है (यद्यपि क्रय के प्रकार और आयतन के रूप में विविधता के आधार पर प्रत्येक का आगे और विभाजन भी किया जा सकता है)। ये हैं– (1) घर या परिवार, (2) राष्ट्रीय, राज्य और स्थानीय स्तर पर सरकारी एजेंसियाँ, (3) निर्माता और व्यापारिक प्रतिष्ठान, (4) अनेक गैर-लाभकारी संगठन जैसे स्वैच्छिक संस्थाएँ, निजी स्कूल, अस्पताल और धार्मिक तथा धर्मार्थ संगठन।

उपभोग के पट (Plane of Consumption) का वर्णन बाज़ार से खरीदी गई और वास्तव में उपभोग की गई वस्तुओं या सेवाओं की सूची द्वारा किया जाता है। **जीवन-स्तर** (Plane of living) का वर्णन सभी वस्तुओं, सेवाओं और वास्तव में उपभोग की गई या अनुभव की गई दशाओं की सूची द्वारा किया जाता है। यह ऐसी एकमात्र अवधारणा है, जिसमें जीवन में उपभोग की गई या अनुभव की गई सभी वस्तुएँ, बाजार से खरीदी गई वस्तुएँ और सेवाएँ तथा सार्वजनिक

सुविधाओं के प्रयोग की वस्तुएँ जैसे पार्क, स्कूल, आवास स्थान आदि, गैर-बाजारीय वस्तुएँ, सेवाएँ शामिल की जाती हैं।

15.4.2 उपभोग का स्तर (Level of Consumption)

उपभोग का स्तर का वर्णन बाजार से खरीदी गई और वास्तव में उपभोग की गई वस्तुओं और सेवाओं की संपूर्ण सूची द्वारा किया जाता है। उसे एक संख्या में व्यक्त किया जाता है, जो उपभोग के भिन्न-भिन्न स्तरों को श्रेणीबद्ध करने के लिए माध्यमान को बताता है।

जीवन स्तर का वर्णन उन सभी मदों के कुल योग से किया जाता है, जो जीवन-स्तर को बनाते हैं। यह एक संख्या या मूल्य में जीवन-स्तर की अभिव्यक्ति है।

उपभोग के मानदंड का वर्णन बाजार से खरीदी गई उन वस्तुओं और सेवाओं की सूची द्वारा किया जाता है, जिनके बारे में जनता यह सोचती है कि इनका उपभोग करना चाहिए। यह एक प्रतिमानक अवधारणा है, जिसमें क्या होना चाहिए का उल्लेख किया जाता है, जब उपभोग के पट (Plane) या स्तर (Level) में क्या है का वर्णन होता है।

जीवन के मानदंड का वर्णन उन वस्तुओं, सेवाओं और परिस्थितियों की सूची से किया जाता है, जिन्हें एक बार प्राप्त हुई तो बनाए रखने के लिए और खोई हुई को दुबारा प्राप्त करने के लिए व्यक्ति या वर्ग प्रयास करता है। यह भी एक प्रतिमानक अवधारणा है, जिसमें इस बात का वर्णन किया जाता है कि व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष का क्या विश्वास है कि वे किस प्रकार रहें।

सारांश यह है कि उपभोग के पट (Plane) की अपेक्षा जीवन के स्तर (Level) की अवधारणा अधिक व्यापक है। पट (Plane) और स्तर (Level) दोनों में वास्तव में उपभोग की गई वस्तुओं का ही उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार, उपभोग के मानदंड की अपेक्षा जीवन के मानदंड की अवधारणा अधिक व्यापक है, दोनों में मानदंड का अर्थ उपयोग की प्राप्त की जा चुकी भूमिका से है। जीवन के मानदंड को उस जीवन-स्तर के रूप में देखना चाहिए, जिसे लोग अपने स्तर की तरह बताएँ।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए निम्न स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1 किसी भी मानव समाज में आर्थिक संगठन के अध्ययन के बारे में कौन-कौन से बुनियादी प्रश्न है? दो उदाहरण प्रस्तुत कीजिए। अपना उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 सही उत्तर पर (√) का निशान लगाएँ।

i) उपभोग का संबंध जीवन-प्रक्रिया में उपयोग में आने वाली वस्तुओं या सेवाओं के सभी पक्षों से है।

हाँ नहीं

ii) हम प्रायः दूसरों की नकल करते हैं, क्योंकि जिन लोगों के साथ हम रहते हैं, उनमें हम स्वयं को विशिष्ट नहीं बनाना चाहते हैं, जैसे कि समाज में मुख्य वेश-भूषा धारण करना, न कि उल्टे-सीधे कपड़े पहनकर अपने को खास बनाना।

हाँ नहीं

iii) सभी मानव समाजों में उपभोग की प्रक्रिया नहीं होती है।

हाँ नहीं

3 लगभग तीन पंक्तियों में उपभोग की परिभाषा लिखिए।

.....

.....

15.5 पूर्व औद्योगिक समाज में उपभोग का स्वरूप

समाजशास्त्री और समाज-नृविज्ञानी विश्व की व्यवस्थाओं का वर्गीकरण पाँच प्रकार से करते हैं (i) शिकार खेलना और खाद्य पदार्थों का संग्रह करना, (ii) पशुपालन, (iii) बागवानी, (iv) कृषि और (v) कारखाना उद्योग। पहले चार प्रकारों में नाते-रिश्तेदारी के आधार पर उत्पादन और उपभोग, दोनों के लिए समूहों को संगठित किया जाता है और परिणामस्वरूप आर्थिक संगठन में दोनों कार्यों (उत्पादन+उपभोग) का विभाजन नहीं होता है अर्थात् उत्पादन और उपभोग, दोनों के लिए परिवार को मूल इकाई माना जाता है। औद्योगिक समाजों में, उत्पादन और उपभोग की इकाइयाँ अलग-अलग होती हैं, क्योंकि उनका संगठन भिन्न सिद्धांतों पर आधारित होता है। पूर्ण रूप से तैयार की गई वस्तुओं की प्रमुख खपत इकाई, अभी भी परिवार ही है। हालांकि अन्य संस्थाएं जैसे सरकार भी महत्वपूर्ण उपभोक्ता हैं। पहले चार प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में बाजार का महत्व कम होता है, लेकिन कारखाना-उद्योग के अन्तर्गत उत्पादन और उपभोग की इकाइयाँ बाजार के माध्यम से जुड़ी रहती हैं।

15.5.1 उपभोग के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष

औद्योगिकरण से पूर्व समाजों में जिस महत्वपूर्ण तत्व ने उपभोग के अध्ययन को कठिन बनाया वह है—मूल्य के आर्थिक मानदंड का अभाव, जिसके द्वारा विविध उद्देश्यों के लिए निर्धारित किए गए संसाधनों के मूल्य को आंका जाता है और उसके परिणामस्वरूप जनता के जीवन-स्तर का प्रभावी ढंग से वर्णन किया जाता है। खोजकर्त्ताओं ने अपने खोज-प्रयासों में वर्गीकरण की कुछ समस्याओं का उल्लेख किया है। ये खाद्य पदार्थों के घरेलू उपभोग की निश्चित मात्रा (कितना उपभोग में आया, कितना दे दिया गया है, कितना नष्ट हुआ और कितना सुरक्षित रखा गया) की गणना करते समय सामने आती हैं।

यदि हम उन परंपराओं की ओर देखें जिनमें गैर-औद्योगिक संस्कृतियों में वस्तुओं के उपभोग का निर्धारण किया जाता है तो हमें आश्चर्य की बातें मालूम होंगी। जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है खाद्य पदार्थ, जो खास मुद्दा प्रस्तुत करता है। जीवन की इस परम आवश्यक वस्तु के उपभोग पर भी इस धारणा का प्रभाव पड़ता है कि मानव-पोषण के लिए क्या उपयुक्त है और क्या उपयुक्त नहीं। वस्त्रों का भी इसी तरह तुलनात्मक चयन किया जाता है, न केवल उनके पहनावे की रीति में बल्कि स्त्री-पुरुष की वेश-भूषा के कपड़े भी भिन्न-भिन्न होते हैं। यह देखना सरल है कि वस्तुओं की उपलब्ध आपूर्ति (available supply) में से किस प्रकार मनमाना चयन होता है।

पोषण तथा व्यक्ति की रुचि के अतिरिक्त पदार्थों के उपभोग के स्वरूप के प्रश्न के साथ प्रतिष्ठा का तत्व भी जुड़ा होता है। इस बात का ध्यान रखे बिना कि निजी जीवन में क्या खाया जाता है, एक विशेष सामाजिक स्तर को बनाये रखने के लिए अतिथियों को भोजन अवश्य परोसा जाता है। यह शर्म की बात मानी जाती है कि अतिथि का स्वागत-सत्कार करने के लिए उसके आ जाने पर भोज्य पदार्थ लाने के लिए किसी को बाज़ार भेजा जाए। औद्योगीकरण से पूर्व वाले समाजों में प्रतिष्ठा पाने के लिए रीति-रिवाजों में वस्तुओं का उपयोग विशेषतौर पर अनुष्ठानों में उपभोग के लिए उपलब्ध खाद्य पदार्थों, संसाधनों का प्रयोग एक अत्यधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य सामाजिक तत्व माना जाता है।

15.5.2 खाद्यान्न उत्पादन और उपभोग में ऋतु के अनुसार रूपांतर

औद्योगीकरण से पूर्व संस्कृतियों में वर्ष की ऋतु के अनुसार और जिस क्षेत्र में लोग रहते हैं, उस क्षेत्र के अनुसार उनके आहार में परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार, यदि किसी सामाजिक समारोह के लिए किसी खाद्य पदार्थ को बचाने के लिए मुखिया कोई निर्णय लेता है तो उस खाद्य पदार्थ का उपयोग किया जाना प्रभावी ढंग से रोका जा सकता है।

अनेक कृषि प्रधान समाजों में अत्यधिक दुष्कर शारीरिक श्रम के समय खाद्य पदार्थों की घरेलू आपूर्ति निम्नतम होती है और जब कृषि-कार्य बहुत कम होता है तब उसकी आपूर्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में, यदि हम यह मानें कि शुष्क मौसम के आराम के महीनों की अपेक्षा वर्षा ऋतु में दुष्कर कृषि-श्रम को बनाए रखने के लिए अधिक आहार की आवश्यकता होती है तो स्पष्ट है कि खाद्य पदार्थों की उपलब्धता और खाद्य पदार्थों की आवश्यकता में अन्योन्याश्रित संबंध है।

किसानों को खाद्य पदार्थों के भंडारण की तकनीक मालूम है और वे कम खर्च करने और कम खाने

की अवधारणा से भी वाकिफ हैं। यह भी याद रखना चाहिए कि किसी समय विशेष में खाद्य पदार्थों की उपलब्धता की मात्रा में अंतर होने के अतिरिक्त, वर्ष के किसी विशेष मौसम में किए गए कार्य की मात्रा या अचानक अतिथियों के आने या गाँव में रिश्तेदारों द्वारा असंभावित माँग प्रस्तुत किए जाने का प्रभाव उपभोग की दर पर पड़ता है। खाद्य पदार्थों के संसाधनों की विविधता जीवन-निर्वाह की मूलभूत वस्तुओं के स्तर को अपेक्षाकृत स्थिर रखती है और ऋतु के अनुसार आपूर्ति में होने वाले उस परिवर्तन की पूर्ति करती है, जिसकी वजह से गंभीर समस्या उत्पन्न हो जाती है। ऐसा वहाँ होता है जहाँ किसी एक ही स्रोत पर निर्भर रहना पड़ता हो और प्रौद्योगिकी सरल हो।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए निम्न स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर मिलाइए।

1 समाजशास्त्रियो ने किस आधार पर विश्व की अर्थव्यवस्था को पाँच भागो में बाँटा है? इनके प्रकारों का उल्लेख केवल पाँच पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2 सही उत्तरों पर (√) का निशान लगाएँ।

i) शिकार खेलने और खाद्य पदार्थों का संग्रह करने, पशुपालन, बागवानी और कृषि प्रधान समाजों में उत्पादन और उपभोग दोनों की बुनियादी इकाई परिवार होता है।
हाँ नहीं

ii) औद्योगिक समाज में उत्पादन और उपभोग की इकाइयाँ अलग-अलग नहीं होतीं।
हाँ नहीं

iii) खाद्य पदार्थों के उपभोग का स्वरूप सामाजिक विविधता पर निर्भर करता है, जैसे पोषण के अतिरिक्त प्रतिष्ठा और जीवन-स्तर।
हाँ नहीं

iv) औद्योगिकरण से पूर्व की संस्कृतियों में लोगों का आहार पूरे वर्ष एक जैसा रहता है।
हाँ नहीं

15.6 औद्योगिक समाजों में उपभोग

औद्योगिक समाजों में आधुनिक जनता द्वारा उपभोग की जाने वाली अनेक वस्तुओं का उत्पादन घर पर नहीं किया जाता, और इन वस्तुओं को खरीदने के लिए परिवार के सदस्यों का ध्यान जीविका कमाने पर केंद्रित रहता है। खरीददारी की प्रक्रिया के माध्यम से औद्योगिक उत्पादन समाज के सदस्यों के पास पहुँचता है और उसमे उन्हें स्वास्थ्य, स्वामित्व और प्रसन्नता का स्वीकार्य स्तर प्राप्त होता है। यह प्रक्रिया रुपये का वस्तुओं और सेवाओं के साथ विनिमय को अभिव्यक्त करती है। इससे हमें उपभोग की समस्याएँ मालूम होती हैं। हम अपनी आय का संतुलन जीवन में अपेक्षित आवश्यक वस्तुओं और थोड़ा आराम के साथ बैठ पाने के लिए करते हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने व्यक्तिगत ऋण की सुविधाओं में सुधार किया है। बढ़ते हुए जीवन स्तर ने उत्पादन की मात्रा में एकदम वृद्धि कर दी है और जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है। नई वस्तुओं और सेवाओं की एक सूची तैयार हो गई है। इसमें स्वास्थ्य का नया मानदंड, बच्चों का पालन-पोषण, आराम, सुविधा, सफाई, यात्रा और रहन-सहन की विविधता शामिल है।

15.6.1 औद्योगिक समाजों में उपभोग को प्रभावित करने वाले कारक

उपयोग के स्वरूप का निर्धारण अनेक कारकों से होता है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में निम्नलिखित कारकों से उपभोग को समझा जा सकता है:

1) चयन में विविधता

आज उपभोक्ता के सामने चयन करने की समस्या है, जो पहले कभी नहीं थी। दूसरी ओर, उत्पादन इकाइयों को न केवल एक ही वस्तु के विरोधी प्रकारों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है, बल्कि उपभोक्ता के धन का अंश प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता के और अधिक व्यापक क्षेत्र में तथा वैकल्पिक वस्तुओं और सेवाओं के संपूर्ण क्षेत्र में प्रतियोगिता में उतरना पड़ता है।

2) आमदनी

उपभोक्ता की खरीदने की क्षमता उसकी धन शक्ति पर निर्भर करती है। उपभोक्ता को ऋण की सुविधा उपलब्ध होने पर उसकी विक्रय शक्ति में लचीलापन आ जाता है और उसका क्षेत्र व्यापक हो जाता है। किस्त और छोटे-छोटे ऋण की सुविधा उपलब्ध होने के कारण आम उपभोक्ता महंगी वस्तुएं खरीद सकता है।

3) परिवार का आकार

व्यय को संतुलित रखने में परिवार का आकार एक महत्वपूर्ण तत्व है। परिवार का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शहरी वातावरण में पारिवारिक इकाई का आकार छोटा हो रहा है और इस कारण से ग्रामीण जनता की तुलना में शहरी परिवारों के उपभोग के स्तर में वृद्धि हो रही है। हमारी शहरी संस्कृति की एक प्रवृत्ति यह है कि पुराने जमाने में बच्चों को आर्थिक संपदा की तरह पालने की अपेक्षा बच्चों के पालन-पोषण को प्रमुख आर्थिक परिव्यय के रूप में किया जाता है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक युग में माता-पिता बच्चों को सम्पत्ति के रूप में मानने की अपेक्षा उन्हें आर्थिक भार स्वरूप समझते हैं। बच्चों और अन्य उपभोक्ता वस्तुओं में सीधी प्रतियोगिता है। चूँकि मकान बनाने के लिए धन कम पड़ता है, इसलिए लोग छोटे मकानों में रहते हैं। बढ़ता हुआ जीवन-स्तर, पत्नी और पति के बीच समानता, बच्चों और माता-पिता के बीच विचारों के खुले आदान-प्रदान के कारण आय का समान वितरण करना संभव होने लगा है। आधुनिक परिवार में फुर्सत के समय की गतिविधियाँ बढ़ गई हैं। फुर्सत के समय की गतिविधियाँ आयु और लिंग के अनुसार अलग-अलग प्रकार की होती हैं। आधुनिक समाज में उनका वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसे—सिनेमा, थियेटर, क्लब, रेस्तराँ आदि। धीरे-धीरे रविवार की छुट्टी को सांसारिक कार्यों में लगाने की प्रवृत्ति ने धन खर्च करने के अवसर बढ़ा दिए हैं, जो पहले नहीं थे। वार्षिक छुट्टी मनाने की आदत भी बढ़ रही है।

4) वस्तुओं की उपलब्धता

आमदनी और परिवार की परिवर्तित आवश्यकताओं के अतिरिक्त जनता के रहने के स्थान या क्षेत्र भी उपभोग के स्वरूप पर भिन्न-भिन्न प्रकार का दबाव डालते हैं। वस्त्र, ईंधन, आवास और मोटरकार आदि जैसे मामलों में जलवायु का प्रभाव उपभोग पर पड़ता है। चूँकि उपभोग का मानदंड निजी होने की अपेक्षा सामाजिक अधिक होता है, इसलिए किसी समुदाय विशेष में सम्पत्ति का स्तर और वस्तुओं की उपलब्धता का उपभोक्ता पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, किसी बड़े शहर में एक व्यापारी की तुलना में किसान को उच्च स्तर की पोशाक धारण करना जरूरी नहीं लगता है, और व्यापारिक केन्द्र के चारों तरफ तरह-तरह की दुकानों के इर्द-गिर्द रहने वाले परिवार पर खर्च करने की प्रतियोगिता के कारण अनेक प्रकार की वस्तुएँ खरीदने का दबाव पड़ता है, जबकि छोटे-से बाजार के पास रहने वाले परिवार को ऐसा कुछ नहीं लगता। इस प्रकार अलग-अलग समूहों के लोगों को वस्तुओं की उपलब्धता के अंतर से उपभोक्ता के चयन के दायरे पर भी प्रभाव पड़ता है। फिर भी यह एक महत्वपूर्ण बात है कि भौगोलिक दृष्टि से सुदूरवर्ती या सामाजिक दृष्टि से अलग-थलग पड़े क्षेत्रों में, पीढ़ी पहले की तुलना में, आज अधिक मात्रा में वस्तुएँ उपलब्ध हैं।

5) क्रय-विक्रय की रीतियाँ

अधिक माल बेचने के दबाव ने विज्ञापन और ट्रेडमार्क जैसे व्यापारिक कार्यों का विकास करने की आवश्यकता को बढ़ा दिया है। उत्पादन में वृद्धि और फुटकर वितरण (retail distribution) के साथ-साथ विज्ञापन भी जारी किया जाता है। विज्ञापन के सामान्य लक्ष्य निम्नलिखित हैं:

i) उपभोक्ता को जानकारी देना
ii) उपभोक्ता द्वारा चीजों के खरीदने से झिझक समाप्त करना
iii) उपभोक्ता में नई वस्तुओं को अपनाने की भावना पैदा करना

iv) उपभोक्ता द्वारा चीजों के लिए माँग पैदा करना

इसके अतिरिक्त, वस्तुओं के विशेषीकरण और निर्माताओं में राष्ट्रीय बाजार में स्थान बनाने के प्रयास की बढ़ी हुई प्रतियोगिता ने अच्छी तरह से पैक की हुई और ट्रेडमार्क वाली वस्तुओं के प्रचार को सुविधाजनक बना दिया है। तद्नुसार; ट्रेडमार्क वाली वस्तुओं के मूल्य में धीरे-धीरे वृद्धि हुई है और चुनी हुई वस्तुओं के ट्रेडमार्क की संख्या में भी एकाएक वृद्धि हो गई है। इसी दौरान, उपभोक्ता का आकर्षण एक ट्रेडमार्क से दूसरे ट्रेडमार्क की ओर शीघ्रता से बदलता रहता है,और फुटकर विक्रेता की स्थिति इसलिए दयनीय हो जाती है क्योंकि उपभोक्ता अब एक ट्रेडमार्क विशेष के प्रति पहले जैसा निष्ठावान नहीं रहा है। स्टाइल, कीमत, किस्म और सुविधा में नित्यं परिवर्तन होता रहता है. क्योंकि रोज़ लाखों नागरिक खरीद-फरोक्त करते हैं।

6) उपभोक्ता की साक्षरता

वस्तुओं और सेवाओं की नई किस्मों में वृद्धि, घरेलू दस्तकारी की जानकारी की कमी, यांत्रिक उपकरणों की जटिलता में वृद्धि और बनावटी वस्तुओं का बाजार, उपभोक्ता पर खरीदने का नया दबाव और उपभोक्ता में नई तरह के तनाव—ये सब उपभोक्ता को साक्षर बनाने की नई मांग पैदा करते हैं। साक्षरता की इस समस्या में दो बातें शामिल हैं—वस्तुओं का ज्ञान और कोई उपभोक्ता कितना खर्च कर सकता है। उद्योग के साथ सरकार का बढ़ता हुआ सहयोग तथा उसके द्वारा जारी की गई छपी हुई एवं रेडियो सामग्री उपभोक्ता की आदतों को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ व्यावसायिक और लाभ न कमाने वाली एजेंसियाँ उपभोक्ता को ऐसी साक्षरता देने का कार्य करती हैं। उपभोक्ता शिक्षा के इस क्षेत्र में उपभोक्ता सहकारी समितियाँ भी कार्य करती हैं।

इस प्रकार, उपर्युक्त विश्लेषण का संबंध उपभोग की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले विशेष तत्वों से है। इनमें से किसी भी एक तत्व को उपभोक्ता के व्यवहार के प्रमुख कारण के रूप में अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे सभी पारिवारिक बजट बनाने की जटिल प्रणाली के अभिन्न अंग हैं। बजट का अध्ययन करने वालों ने कुछ हद तक स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार अलग-अलग परिवार अपनी-अपनी आय का वितरण करते हैं, हालांकि कुछ उपभोक्ताओं को अभी भी खरीदारी में आनंद आता है। परंतु देखने में आया है कि वैकल्पिक कार्यकलापों में विविधता आने के साथ-साथ, वस्तुओं की खरीद में श्रम के कारण पुरुष और स्त्री दोनों में ही खरीदारी के प्रति अरुचि बढ़ रही है। वे इसे यथा संभव सरल और जल्दी से खत्म हो जाने वाली प्रक्रिया बनाना चाहते हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए निम्न स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपना उत्तर मिलाइए।

1 आधुनिक समाजों में उपभोक्ता की समस्या का क्या अर्थ है? लगभग सात पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 उपभोग की दृष्टि से औद्योगिक समाज में विज्ञान, प्रौद्योगिकी, परिष्कृत यांत्रिकी आदि का क्या परिणाम हुआ है? लगभग पाँच पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3 औद्योगिक समाज में उपभोग पर किन-किन तत्वों का प्रभाव पड़ता है? उनमें से एक की व्याख्या लगभग सात पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15.7 सारांश

आर्थिक संगठनों की व्याख्या मानव के उस व्यवहार के रूप में की जा सकती है, जिनके माध्यम से वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और उपयोग होते हैं। गैर-औद्योगिक समाजों में, जिनमें उत्पादन और वितरण की तकनीक सरल होती है, उपभोग भी एक छोटे समूह में ही होता है। उनमें केवल उपभोग करने के लिए ही उत्पादन होता है। उनमें खाद्य पदार्थ, वस्त्र, आवास और अपनी रक्षा के उपकरण ही उपभोग की प्राथमिक वस्तुएँ हैं। जिन औद्योगिक समाजों में उत्पादन और वितरण की तकनीक जटिल होती है और बहुत बड़ी मात्रा में अतिरेक (surplus) का उत्पादन किया जाता है, उपभोग तंत्र भी जटिल हो जाता है। आधुनिक समाज में अनेक तत्व उपभोक्ता की आदतें बनाते हैं, इस इकाई में उनकी व्याख्या की गई है।

शब्दावली

जग-दिखावे के लिए (Conspicuous Consumption) : जब कोई उपभोक्ता दूसरे उपभोक्ता के प्रति प्रदर्शन करने के लिए एक या दो से अधिक कारें खरीदता है, ऐसे किसी भी उपभोग को जग-दिखावे के लिए उपभोग कहते हैं।

टैबू (Taboos) : आचरण पर रोक,– यदि इसे लागू किया जाए तो इससे मानव विश्व के कुछ या सभी संबंधी के लिए खतरा उत्पन्न हो जाएगा।

टोटेम (Totem) : यह एक प्रकार का प्राणी या पौधा या प्राकृतिक वस्तु या कोई घटना या इन में से किसी एक का प्रतीक है, जो मानव समूह की तुलना में उसी समाज के अन्य समूहों के विशिष्ट लक्षणों को महत्व प्रदान करता है।

लेन-देन (Transaction) : व्यापारिक प्रक्रिया में वस्तुओं और सेवाओं का आदान-प्रदान करना।

उपयोगिता : (Utilisation) : उपभोग की प्रक्रिया में वस्तुओं और सेवाओं का प्रयोग।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

क्लिफ्टन, जे.ए., (इडी) 1968, *इंट्रोडक्शन टू कलचरल एंथ्रोपोलॉजी*, हॉट्न मिफलिन कम्पनी, बोस्टन

काक्रेन, डब्ल्यू. डब्ल्यू., 1956, *दि इकॉनामिक्स ऑफ कंज़म्शन* , मैक्ग्रा-हिल, मैक्ग्रा हिल बुक कंपनी, न्यूयॉर्क

स्मेलसर. एन.जे., 1965, *दि सोशेलॉजी ऑफ इकॉनामिक लाइफ* , प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 मानव समाज के आर्थिक संगठन के अध्ययन से संबंधित निम्नलिखित दो मूलभूत प्रश्न हैं :

i) मानव समाज द्वारा अपेक्षित वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किस प्रकार किया जाता है?

ii) इन उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का सदस्यों में किस प्रकार आवंटन किया जाता है?

2 i) हाँ (भाग 15.3 से जाँचिए)
ii) हाँ (भाग 15.3.2 से जाँचिए)
iii) नहीं (भाग 15.3.1 से जाँचिए)

3 उपभोग की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि उपभोक्ता व्यक्ति की संतुष्टि के लिए वस्तुओं और सेवाओं का प्रयोग किया जाना उपभोग हैं।

बोध प्रश्न 2

1 समाजशास्त्रियों ने विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को जीवन-निर्वाह के आधार पर पांच भागों में विभाजित किया है–(1) शिकार करना या खाद्य पदार्थों का संग्रह करना; (2) पशुपालन; (3) बागवानी; (4) कृषि; (5) उद्योग।

2 i) हाँ (भाग 15.6 से जाँचिए)
ii) नहीं (भाग 15.6 से जाँचिए)
iii) हाँ (भाग 15.6.1 से जाँचिए)
iv) नहीं (भाग 15.6.2 से जाँचिए)

बोध प्रश्न 3

1 औद्योगिक समाज में जिन थोक वस्तुओं की खपत होती है, उनका उत्पादन घर से बाहर किया जाता है। इसलिए परिवार के सदस्य जीवन-निर्वाह के लिए उसे खरीदने पर विशेष ध्यान देते हैं। खरीद में उद्योग के विविध उत्पादनों पर ध्यान दिया जाता है। इन उत्पादनों से स्वास्थ्य के स्वीकार्य मानदंड, स्वामित्व और प्रसन्नता प्राप्त होते हैं। औद्योगिक समाज में वस्तुओं और सेवाओं के लिए धन के विनिमय की प्रक्रिया उपभोग से जुड़ी हुई हैं।

2 विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास से व्यवसाय में सुधार होने, ऋण सुविधाएँ, आदि प्राप्त होने के कारण अनेक उत्पादनों, वस्तुओं और सेवाओं को जीवन की आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें स्वास्थ्य के नए मानदंड और बच्चों के पालन-पोषण और सफाई शामिल हैं।

3 औद्योगिक समाज में उपभोग को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित तत्व हैं :
i) चुनने की सुविधा; ii) आय; iii) पारिवारिक तत्व; iv) वस्तुओं की उपलब्धता; v) व्यापारिक कार्य; vi) उपभोक्ता की साक्षरता। औद्योगिक समाज में परिवार का उपभोग पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इसमें परिवार के अधिकांश उपभोक्ता शामिल होते हैं। औद्योगिक समाज में परिवार के आकार और उपभोग के अनुपात के बीच सीधा संबंध होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(यह उन विद्यार्थियों के लिए है जो विस्तृत अध्ययन करना चाहते हैं।)

बोटोमार, टी. और गुड, पी. संस्करण, 1983 : *रीडिंग इन मार्कसिस्ट सोशोलॉजी*, क्लारैंडन प्रैस : ऑक्सफोर्ड

दुर्खाइम, इमाइल, 1947 : *दि डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसायटी*, दि फ्री प्रैस : न्यूयॉर्क

गोल्डथोर्प, जे.एच., लॉकवुड, डी, *दि एफ्लुऐंट वर्कर इन दि क्लास स्ट्रकचर*, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रैस : कैम्ब्रिज

बेकोफर, एफ. एण्ड प्लाट, जे. 1969 : मार्कोस, एच. 1972 : *वन डाइमेंशन मैन*, एबकाम : लंदन

मैरिल, आर.एस. 1968: *'टैक्नोलॉजी इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशॅल साइंसिज'*, 15:576-86, एडिटड बाय डेविड आई. सिल्स, दि मैकमिलन कं. एंड दि फ्री प्रैस : लंदन

ओगबर्न, डब्ल्यू. एफ. और निम्लाफ, एम.एफ. 1968 : *हैंडबुक ऑफ सोशोलॉजी*, 5 वां सं. राउटलैज एंड कैगन पॉल : लंदन

पोलानी, कार्ल एट एल (इडी) 1957 : *ट्रेड एंड मार्किट इन दि अर्ली इम्पायर्स : इकोनॉमिक्स इन हिस्ट्री एंड थियौरी*

प्रसाद, नरदेश्वर, 1973 : *मानव व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था*, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी : पटना

सिंह, रामराज, 1986 : *आदिवासी अर्थव्यवस्था के सांस्कृतिक आधार*, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी: पटना

स्मिथ, ए. 1921 : *इंक्वायरी इन टू दि नेचर एंड कॉजिज ऑफ दि वैल्थ ऑफ नेशन्स* (वॉ. 1 और 2) जी. बैल एण्ड संज: लंदन

वेबर, मैक्स 1958 : *दि प्रौटेस्टेंट ऐथिक एंड दि स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म*, चार्ल्स स्क्राइबर्स संज़ : न्यूयॉर्क

खंड

5

राजनीतिक प्रक्रियाएँ

इकाई 16

राज्यविहीन समाज 5

इकाई 17

परंपरागत समाजों में राज्य की संकल्पना 16

इकाई 18

आधुनिक समाज 24

इकाई 19

राज्य तथा अन्य संस्थाएँ 38

संदर्भ ग्रंथ सूची 51

विशेषज्ञ समिति

प्रो. त्रिलोकीनाथ मदान
इंस्टिट्यूट ऑफ इकॉनॉमिक ग्रोथ
नई दिल्ली

प्रो. आन्द्रे बेते
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. डी.एन. धनागरे
समाजशास्त्र विभाग
पूना विश्वविद्यालय
पुणे

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
7, अमेलिया अपार्टमेंट्स
माउंट कारमल रोड
बांद्रा, मुम्बई

प्रो. योगेन्द्र सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. ए. प्रभाकर बर्नवास (सलाहकार)
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ लेखक

डॉ. शोभिता जैन
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. त्रिभुवन कपूर
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. पी.के. बी. नैय्यर
केरल विश्वविद्यालय
त्रिवेन्द्रम

पाठ्यक्रम सम्पादक

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
मुम्बई

समाजशास्त्र संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. शोभिता जैन
डॉ. त्रिभुवन कपूर
कु. अर्चना सिंह
डॉ. देवल कुमार सिंह राव

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. बी.एन. कौल
प्रो. जी.एस. राव
कु. अनीता टपलू

अनुवाद

श्री राजेश वत्स
श्री मदन शर्मा
डॉ. ठाकुर दास

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. वी. रा. जगन्नाथन
श्री राकेश वत्स

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1998 (पुनः मुद्रित)

©इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989

ISBN-81-7091-372-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी के लिए विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली-110068 से सम्पर्क करें।

UGSY-01/174

खंड 5 राजनीतिक प्रक्रियाएँ

राजनीतिक प्रक्रियाओं में समाज में राजनीतिक निर्माण के सभी पक्ष आ जाते हैं। इसमें शक्ति और सत्ता का वितरण, विभिन्न प्रकार की राजनीतिक प्रणालियाँ और समाज में कानून और व्यवस्था को बनाने वाले अंग शामिल हैं। भिन्न-भिन्न समाजों की राजनीतिक प्रक्रियाएँ एक जैसी नहीं होती। इस खंड में आप राजनीतिक निर्माण के आधारभूत रूपों का अध्ययन करेंगे।

इकाई 16 में राजनीति और राजनीतिक संगठनों और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राज्यविहीन समाजों में राजनीतिक संस्थाओं के बारे में चर्चा की गयी है।

इकाई 17 में परंपरागत समाजों में राजनीतिक सत्ता के विभिन्न पदों की व्याख्या है।

इकाई 18 आधुनिक राष्ट्र राज्यों में, कुलीनतंत्र के विभिन्न प्रकारों के रूप में राजनीतिक संस्थाओं की परीक्षा की गयी है। इस में राजनीतिक संस्थाओं के प्रकार्यों पर भी प्रकाश डाला गया है।

इकाई 19 में राज्य के लक्षण बताते हुए इसका सरकारी और गैर सरकारी संगठनों के साथ कैसा संबंध होता है, इसकी जांच-पड़ताल की गयी है।

इकाई 16 राज्यविहीन समाज

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 राजनीति और राजनीतिक संगठन
16.3 राजनीतिक संगठन और राज्यविहीन समाज
16.3.1 राज्यविहीन समाजों से संबंधित सामग्री-स्रोत
16.3.2 राज्यविहीन समाजों के प्रकार
16.3.3 राजनीतिक नियंत्रण का आधार : नातेदारी की व्यवस्था
16.4 राज्यविहीन समाज के राजनीतिक सिद्धान्त
16.4.1 टोंगा समुदाय का उदाहरण
16.4.2 लोजी समुदाय का उदाहरण
16.5 भारत में राज्यविहीन जनजातियाँ
16.5.1 भारतीय जनजातियों में राजनीतिक संगठन
16.5.2 वंश परंपरा की व्यवस्था
16.5.3 संघर्ष को नियंत्रित करना
16.5.4 अपराध और दंड
16.6 राजनीतिक संस्थाएँ और समाज का विकास
16.6.1 समाज में सरल प्रकार की सरकार का उदय
16.6.2 सरल समाजों में धर्म का राजनीतिक पक्ष
16.7 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- राजनीति और राजनीतिक संगठनों की व्याख्या कर सकेंगे;
- राज्यविहीन समाजों में राजनीतिक संस्थाओं का विश्लेषण कर सकेंगे;
- राज्यविहीन समाजों के राजनीतिक सिद्धान्त बता सकेंगे; और
- भारत में राज्यविहीन जनजातियों के बारे में जान सकेंगे;

16.1 प्रस्तावना

"राजनीति प्रक्रियाओं" वाले खंड की यह पहली इकाई है। इस इकाई में आपको राजनीति और राजनीतिक संगठनों के बारे में जानकारी प्राप्त होगी। आपको ऐसे राज्यविहीन समाजों के बारे में बताया जाएगा जिनमें सामान्यतः सत्ता की केन्द्रीय व्यवस्था का अभाव होता है। इनमें राजनीतिक नियंत्रण के संदर्भ में नातेदारी के महत्व को दिखाया गया है। इसी इकाई में राज्यविहीन समाजों में मौजूदा राजनीतिक सिद्धान्तों की चर्चा तथा भारत की राज्यविहीन जनजातियों का वर्णन किया गया है। अंत में, राज्यविहीन समाजों में सरकार के उद्भव की चर्चा की गई है।

16.2 राजनीति और राजनीतिक संगठन

राजनीति का संबंध समाज में शक्ति के वितरण से होता है। राजनीतिक संस्थाओं से तात्पर्य क्षेत्र विशेष में मौजूद विशेष प्रकार के सामाजिक संबंधों से है। इस प्रकार हर समाज की राजनीतिक प्रक्रिया में क्षेत्र एक महत्वपूर्ण पक्ष होता है। क्षेत्रीय संरचना राजनीतिक संगठनों के अलावा अन्य प्रकार के संगठनों के लिए भी आधार प्रस्तुत करती है। इवान्स-प्रिचर्ड एवं फोर्टीस (1940) के अनुसार शारीरिक बल प्रयोग के माध्यम से प्रभुता स्थापित कर क्षेत्रीय सीमा विशेष में व्यवस्था स्थापित करना व बनाए रखना ही राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन का विषय है।

समाज की महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाओं में एक संस्था है — राज्य। इसे एक मानव समुदाय के रूप में देखा गया है जो क्षेत्र विशेष में कानूनी तौर पर बल प्रयोग करने का एकाधिकार रखती है। राज्य और सरकार में अंतर होता है — सरकार

राज्य का आदेश पालन करने वाली एजेंसी होती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रभुता (Sovereignty) सार्वजनिक मामलों में शक्ति तथा प्रभुता (Sovereignty) का संयोग और पारस्परिक संबंध ही राजनीतिक संगठन है।

आधुनिक जटिल समाजों में पुलिस और सेना के द्वारा सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखी जाती है। जो इसे तोड़ते हैं उन्हें कानून द्वारा दंड दिया जाता है। कानून एक ऐसा तरीका है जिसके माध्यम से राज्य सामाजिक नियंत्रण के कार्य सम्पन्न करता है।

विभिन्न समाजों में राजनीतिक संगठनों की लगातार वृद्धि होती रही है। जैसे-जैसे समाजों का विकास — सरल से पारंपरिक तथा आधुनिक-पूर्व पुरातन से आधुनिक औद्योगिक रूप में हुआ है, अन्य सभी सामाजिक संगठनों के साथ-साथ राजनीतिक संस्थाओं में भी काफी जटिलता आ गई है। ऐसे भी समाज हैं जिनमें केन्द्रीय सत्ता की कोई संकल्पना ही नहीं है। ऐसे समाजों को मानव विज्ञानियों द्वारा राज्यविहीन समाज की संज्ञा दी गयी है। इकाई 16 में ऐसे समाजों का वर्णन किया जा रहा है। कुछ अन्य प्रकार के समाज भी हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्ता और प्रशासन तंत्र होता है। इकाई 17 में ऐसे पारम्परिक/आधुनिक पूर्व समाजों का वर्णन किया जाएगा। इकाई 18 व 19 में आधुनिक समाजों में राजनीतिक संस्थाओं में विकसित हुए रूपों की चर्चा की जाएगी।

16.3 राजनीतिक संस्थाएँ और राज्यविहीन समाज

सरल समाजों की जनसंख्या आधुनिक समाजों की तुलना में काफी कम होती है। इन समाजों में कोई निश्चित राजनीतिक समुदाय नहीं होता। चूंकि इनमें आमने-सामने का संबंध रहता है। अतः इनमें सामाजिक नियंत्रण के लिए कोई औपचारिक एजेंसी नहीं होती। अब हम राज्यविहीन समाजों में राजनीतिक संगठन की चर्चा करेंगे। सभी राज्यविहीन समाजों में चाहे उनका संगठन कितना भी सरल क्यों न हो उनमें सामान्य रूप से क्षेत्रीय अधिकारों की संकल्पना रहती है। इन अधिकारों का पालन, आयु की संकल्पना द्वारा सामाजिक दंड तथा सामाजिक नियंत्रण के माध्यम से किया जाता है।

यहाँ यह बताना उचित होगा कि हम यहाँ अफ्रीकी समाजों के बारे में चर्चा कर रहे हैं। इन समाजों में विभिन्न प्रकार की राजनैतिक संस्थाएँ जैसे कि परिषद्, राजतंत्र, मुखिया आदि होती हैं। राज्यविहीन समाजों में शक्ति और प्राधिकार सामान्यतः समाज के विभिन्न वर्गों में बँटा होता है। नातेदारी और वंश परम्परा के संबंधों के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था बनाए रखी जाती है। राज्यविहीन समाजों की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

- ऐसे समाज जिसकी कोई निश्चित सीमा या स्थायी भौतिक सीमा नहीं होती।
- जिनमें मौखिक परम्पराओं का पालन किया जाता है और उनमें नौकरशाही नहीं होती।
- आम तौर पर ऐसे समाजों में एक ही व्यक्ति में प्रमुख धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ निहित होती हैं।
- इनमें कोई निश्चित विचारधारा नहीं होती। और
- इनकी अर्थव्यवस्था साधारण होती है।

16.3.1 राज्यविहीन समाजों से संबंधित सामग्री स्रोत वाली सूचना के स्रोत

गैर सरकारी सरलतम समाजों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के तीन स्रोत हैं। इन्हीं स्रोतों से हमारी सूचनाएँ ली गयी हैं।

- राज्यविहीन समाजों के बारे में पुरातत्व संबंधी प्रलेख
- धर्मप्रचारकों, यात्रियों तथा प्रशासकों द्वारा लिखा गया साहित्य तथा
- मानवविज्ञानिकों द्वारा लिखी गई लघुपुस्तिकाएँ (मोनोग्राफी)

राज्यविहीन समाजों के अध्ययन में पुरातात्विक रिकार्डों का अत्यधिक महत्व है। ऐसे सरल समाजों के बारे में रिकार्डों से पता चलता है कि वे हमेशा परिवर्तन, वृद्धि तथा विकास की प्रक्रिया में संलग्न रहते हैं। इससे पता चलता है कि कोई सरल समाज स्थिर नहीं होता — बल्कि इस प्रकार के सभी समाज गतिशील होते हैं।

राज्यविहीन समाजों के अध्ययन के लिए मानवविज्ञानियों ने धर्मप्रचारकों, यात्रियों और उपनिवेशी प्रशासकों द्वारा लिखित साहित्य का भी उपयोग किया है। मानवविज्ञानियों द्वारा राज्यविहीन समाजों पर लिखे गए मोनोग्राफों का भी महत्व कम नहीं है। इस इकाई में दिए गये सूचना के यही मुख्य स्रोत हैं।

16.3.2 राज्यविहीन समाजों के प्रकार

सामाजिक राजनीतिक संगठनों के आधार पर राज्यविहीन समाजों को चार प्रमुख प्रकारों में बांटा जा सकता है।
1) पहले प्रकार में वे समाज आते हैं जो शिकार तथा भोजन एकत्रित करके जीवन यापन करते हैं। इनमें सबसे बड़ी सामाजिक इकाई परिवारों के सहकर्मी वर्ग या नजदीकी रिश्तेदारी होती है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा औपचारिक वर्गीकरण नहीं होता। ऐसे समाज में कोई स्पष्ट राजनीतिक संगठन नहीं होता। इन परिवारों के वरिष्ठ सदस्यों के हाथ में सत्ता रहती है। लेकिन इस सत्ता का दायरा अत्यंत सीमित होता है। ऐसे समाज के कुछ उदाहरण दक्षिण अफ्रीका के "बुशमैन" और दक्षिण पूर्व एशिया की कुछ जनजातियाँ हैं।

2) दूसरे प्रकार के समाज के अंतर्गत वे समाज आते हैं जो ग्राम समुदायों से बने हुए होते हैं। इनमें परस्पर संबंध का आधार विभिन्न प्रकार की नातेदारी व्यवस्था और आर्थिक संबंध होता है। इनमें प्रशासन व्यवस्था के लिए औपचारिक रूप से परिषदें नियुक्त होती हैं। इन परिषदों की सदस्यता प्राप्ति का आधार विभिन्न समाजों में अलग-अलग होता है। सदस्यता-प्राप्ति का आधार या तो पुराने परिवार या प्रतिष्ठित परिवार से संबंधित या आर्थिक शक्ति के आधार पर सामाजिक रूप से प्रतिरुद्ध होना माना जाता है। इनमें हम राजनीतिक व्यवस्था का उद्भव देख सकते हैं। ऐसे समाजों के उदाहरण पश्चिम अफ्रीका की "इबो" और "याको" जनजातियाँ हैं।

3) तीसरे प्रकार के समाजों में राजनैतिक नियंत्रण आयु पर आधारित व्यवस्था पर निर्भर करता है। यह पूर्वी अफ्रीका के समाजों का विशिष्ट लक्षण है। इन समाजों में सत्ता समाज के बड़े बूढ़ों के हाथ में होती है। ऐसी जनजाति का उदाहरण अफ्रीका की "चेयन्ने" और "नुएर" जनजातियाँ हो सकती हैं।

4) अंत में चौथे प्रकार के समाज वे हैं जिनमें राजनीतिक सत्ता का वंशानुक्रमण के आधार पर उपयोग किया जाता है। वंशानुक्रम से तात्पर्य है — माता या पिता के वंश के आधार पर वंश निश्चित करना। ऐसे समाजों में कोई विशेष राजनीतिक पक्ष नहीं होता। इनमें कोई राजनीतिक मुखिया होता है किंतु समाज के बड़े-बूढ़े सीमित सत्ता का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार के समाज में विभिन्न वर्ग एक संतुलित विपक्ष की स्थिति में होते हैं। ऐसे समाजों के कुछ उदाहरण — दक्षिण सूडान की "नुएर" और "डिंका" जातियाँ हैं। इनके बारे में आगे बताया जाएगा।

16.3.3 राजनीतिक नियंत्रण का आधार : नातेदारी की व्यवस्था

ऐसे सरल समाजों के सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक संगठन में नातेदारी की व्यवस्था एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके प्रकार्य बहुत व्यापक होते हैं और राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं तथा इनके प्रकार्यों में काफी समानता होती है। यह समाज में व्यवस्था और संतुलन बनाए रखने का कार्य करती है। सरल समाजों में नातेदारी और क्षेत्रीयता के आधार पर संघर्ष या मेलमिलाप का सिद्धांत काम करता है। उदाहरण के लिए "नुएर" समाज कई भागों बँटा हुआ है। इस जनजाति का मुख्य भाग सबसे बड़ा है। इसके पास सबसे ज्यादा क्षेत्र है और सबसे छोटे भाग के पास सबसे कम क्षेत्र है। नुएर समाज का यह विभाजन केवल राजनीतिक या क्षेत्रीय आधार पर नहीं है बल्कि नातेदारी के वितरण के आधार पर है। ऐसे समाज में संघर्ष का परिणाम नातेदारी और वंश परंपरा के आधार पर मित्रता और विरोध के रूप में होता है।

सभी राज्यविहीन समाजों में, जहां समाज कई खंडों या भागों में बँटा होता है — उनमें क्षेत्र, रहने के स्थान, नातेदारी, वंश परंपरा, विरासत और विवाह के आधार पर मित्रता स्थापित होती है। इन समाजों में संघर्ष के परिणाम स्वरूप संबद्धता स्थापित होती है। उदाहरण के लिए संघर्ष की स्थिति में एक ही व्यक्ति से वंशानुगत रूप से सम्बद्ध उस वर्ग के सभी सदस्य उस व्यक्ति के शत्रु के वंश वालों के विरुद्ध एकजुट हो जाते हैं। शत्रु अपने वंश या दूसरे वंश का सदस्य हो सकता है। इस समाज के विभिन्न खंड एक दूसरे के साथ वास्तविक या सम्भावित शत्रुता या विरोध बनाए रखते हैं। इन समाजों में विरोध विशेष रूप से कुल-बैर के रूप मे प्रकट होता है। अगर किसी ने दूसरे वर्ग के किसी सदस्य की हत्या की है तो उस वर्ग के सदस्य हत्यारे को या उस वर्ग के किसी सदस्य को मार कर ही संतुष्ट होंगे। इसी को खून का बैर भी कह सकते हैं। इनमें परस्पर कुल विरोधों का समाधान विवाह संबंधों तथा माता के पक्ष की नातेदारी द्वारा होता है। अतः इस प्रकार के व्यक्ति उन विरोधी वर्गों में हमेशा मौजूद रहते हैं जो उनमें होने वाले झगड़ों के शांतिपूर्ण हल को खोजने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्यविहीन समाजों में नातेदारी के संबंध राजनीतिक भूमिकाएँ निभाते हैं। इनमें सजातीय और विजातीय विवाह के सिद्धांत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सजातीय विवाह से मतलब है अपने समुदाय में ही शादी करना और विजातीय विवाह से तात्पर्य है—अपने समुदाय से बाहर के सदस्य से शादी करना। संघर्ष की स्थिति में इन्हीं दो सिद्धान्तों के आधार पर सम्भावित मित्रों या समर्थकों का निर्णय होता है।

16.4 राज्यविहीन समाज के राजनीतिक सिद्धान्त

राज्यविहीन समाजों की संख्या काफी अधिक है और उनकी परम्पराओं में काफी अंतर है। फिर भी इनके द्वारा माने जाने वाले आधारभूत सिद्धांतो को पहचाना जा सकता है। ये सिद्धान्त सभी राज्यविहीन समाजों में देखे जा सकते हैं

- जब विभिन्न समूह एकबद्ध हो जाते है तो समाज भी एकबद्ध हो जाता है। आधार रूप में इनका वफादारी विभिन्न समूहों के प्रति होती है किंतु किसी सामूहिक उद्देश्य के लिए जैसे क्षेत्र की रक्षा के लिए या कुल बैर के समय ये इकट्ठे हो जाते हैं।
- सत्ता प्राप्त अधीनस्थ सदस्य स्वतंत्र हो जाते हैं। इस प्रकार वरिष्ठ सदस्यों द्वारा कनिष्ठ सदस्यों को शक्ति तब सौंपी जाती है जब वे राज्यविहीन समाज में खुद-ब-खुद शक्तिशाली बन जाते हैं।
- रहस्यात्मक या आध्यात्मिक प्रतीक भी राज्यविहीन समाजों में एकता लाते हैं। क्योंकि सारा समाज इन्हें पवित्र मानता है और इनकी रक्षा करता है।

16.4.1 टोंगा समुदाय का उदाहरण

अफ्रीकी जनजाति "टोंगा" का उदाहरण देखें। टोंगा जनजाति के लोग बाहरी हमलों से बचने के लिए छोटे-छोटे गांवों में

रहते हैं। शत्रु जनजाति के लोग भोजन तथा अन्य कीमती सामान चुराने के लिए उन पर हमला करते हैं। इस जनजाति में मुखिया के पास बहुत कम अधिकार होते हैं। राज्यविहीन समाजों का यह एक प्रमुख लक्षण है। "टोंगा" जनजाति मात संबंधी नातेदारी समूह से संबंध रखती है, जिसे (मुकोवा) कहते हैं।

ध्यान देने योग्य एक महत्वपूर्ण बात इन में यह है कि दो मुकोवा लोगों को विवाह संबंध नहीं जोड़ सकते। विजातीय विवाह का यह सिद्धांत विभिन्न प्रकार के संबंध और मित्रता स्थापित करने में मुख्य प्रक्रिया के रूप में कार्य करता है। टोंगा जनजाति का एक रोचक लक्षण यह है कि उनके कुल संबंध रिश्तेदारों के जोड़ों जैसे — दादा-दादी और पोता-पोती और चचेरे-ममेरे भाई बहनों के बीच परिहासात्मक संबंधों पर आधारित होते हैं। परिहासात्मक संबंध से तात्पर्य है कि आमोद-प्रमोद या हर्षोल्लास धार्मिक अनुष्ठान में बदल दिया जाता है। व्यक्ति आपस में समान्य बातचीत नहीं करते बल्कि उन्हें अनिवार्य रूप से हंसी मजाक करना होता है। यह संस्था बहुत महत्वपूर्ण मानी जाती है। टोंगा समुदाय में परिहास का राजनीतिक रूप से काफी महत्व है।

दूसरा कारण यह है कि एक ही गोत्र के लोगों में प्रेम के द्वारा मध्यस्थता के बिना ही समाज में सौभाग्यशाली मित्रता और नैतिकता के निर्णय उपलब्ध हो जाते हैं। यह इसलिए होता है क्योंकि परिहास के दौरान परामर्श और चेतावनी देना भी संभव होता है जोकि प्रेम पूर्ण बातचीत का एक अंग है।

16.4.2 लोज़ी समुदाय का उदाहरण

कुछ राज्यविहीन समाजों में ये ऐसी संस्थाएँ होती हैं जो समाज के सदस्यों के भोजन संबंधी अधिकारों की रक्षा करती हैं। क्योंकि ऐसे समाजों में सम्पत्ति और भोजन का संग्रह करने की संकल्पना ही नहीं होती इसलिए वितरण की समस्या हमेशा बनी रहती है। अफ्रीका के 'लोज़ी' समुदाय के लोगों में "कुफुंदा" नाम की एक संस्था होती है। कुछ दूसरी जनजातियों में भी ऐसी संस्था मिलती है — सरल शब्दों में इस का अर्थ "कानूनी चोरी" होता है। जनजाति का कोई भी व्यक्ति अपने समुदाय के किसी भी व्यक्ति से खाद्य पदार्थ या वस्तु ले सकता है या उसे अपने पास रख सकता है। इससे भूख की

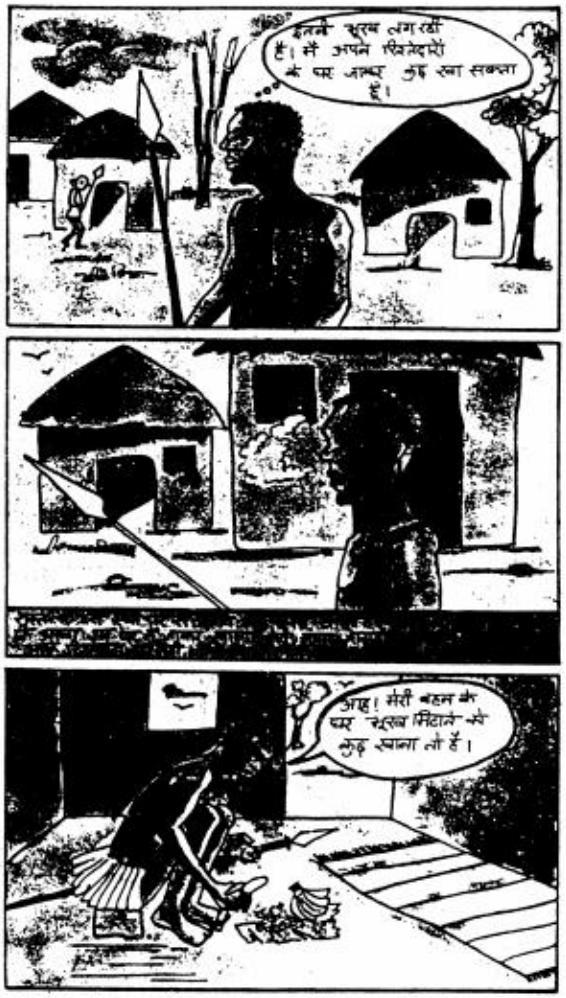

कफन्डा - विधिक अपराध

समस्या का समाधान होता है। इन जनजातियों में प्रत्येक सदस्य के लिए अपने भोजन को दूसरे सदस्यों से मिल बांटकर खाना आवश्यक होता है। यह "कुर्फुदा" या कानूनी चोरी एक प्रकार की राजनैतिक संस्था है और इसका समाज की आर्थिक संरचना और नातेदारी के लिए एक खास महत्व है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 राज्यविहीन समाज से क्या तात्पर्य है? पाँच पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 राज्यविहीन समाजों को सरल समाज भी कहा जाता है।

हाँ ☐ नहीं ☐

3 कुल बैर या खून का बैर एक प्रकार की पद्धति है जिसके द्वारा सदस्यों को रक्तदान करने के लिए प्रेरित किया जाता है।

हाँ ☐ नहीं ☐

4 राज्यविहीन समाजों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के ज्ञान के तीन स्रोत कौन से हैं?

.....

.....

.....

16.5 भारत में राज्यविहीन जनजातियाँ

इस खंड में आपको यह जानकारी मिलेगी कि भारत की राज्यविहीन जनजातियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं और भारतीय राष्ट्र के अंतर्गत किस प्रकार अपने रूप को संगठित करती हैं। इसी खंड में यह भी पता चलेगा कि आधुनिक भारत में कुछ जनजातियाँ राज्यविहीन समाज की श्रेणी में कैसे आती हैं। आप देखेंगे कि उनका जीवन काफी समृद्ध और जटिल होता है और वे व्यवस्था बनाए रखते हैं। समाज शास्त्रीय दृष्टि से उनके काम करने के तरीकों का अपना औचित्य होता है और काफी हद तक वे उनका पालन करते हैं। फिर भी यह मानना उचित नहीं होगा कि वे समय के साथ नहीं बदले हैं। वास्तव में वे काफी हद तक अपना आधुनिकीकरण कर चुके हैं और उनको विकम्पित करने की कोशिशें की जा रही हैं।

16.5.1 भारतीय जनजातियों में राजनीतिक संगठन

भारतीय जनजातियों में राजनीतिक संगठन निम्नलिखित बातों पर आधारित है:

1 कुल और वंश परम्परा
2 ग्राम इकाई और
3 गांवों के समूह

प्रत्येक कुल का एक समान पूर्वज होता है, जिससे उसकी वंश परम्परा का पता चलता है। समय के साथ प्रत्येक कुल कई वंशों में विभाजित हो जाता है। छोटे-छोटे भागों में वंश-विभाजन का राज्यविहीन समाजों में राजनीतिक संरचना के एक सिद्धांत के रूप में काफी महत्व होता है। भीलों में वंश संरचना पाँच-छः पीढ़ियों तक एक इकाई के रूप में चलती है।

16.5.2 वंश परंपरा की व्यवस्था

संथाल, ओरांव और भीलों में वंश परंपरा संबंधी व्यवस्था की राजनीतिक कार्य-पद्धति संघर्ष स्थिति में कैसी होती है इसे निम्नलिखित रेखाचित्र के माध्यम से समझाया जा सकता है।

चित्र - 1
राज्यविहीन समाजों में राजनीतिक कार्यपद्धति

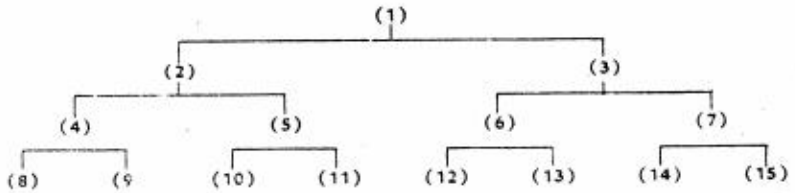

इस चित्र में सदस्य विभिन्न लीनियर्स के परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं।सभी का उदभव (1) से हुआ है। मुख्य रेखा (1) से (2) और (3) से नीचे की ओर जाती है और दो वंश परंपराओं को बनाती है। इसके बाद रेखाएं (4), (5), (6) और (7) में विभाजित की गई संख्या की पीढ़ी में वंश (8), (9), (10), (11), (12), (13), (14) और (15) में विभाजित की गई हैं जिसका कि नियंत्रित करने में इस संरचना का बहुत महत्व है।

अक्सर ऐसा होता है कि कहीं पर दो सदस्यों (8) और (9) में दुश्मनी हो जाती है। ऐसे स्थिति में (8) के सभी सदस्य (9) के सभी सदस्यों की आपस में दुश्मनी वंश परंपरा की अन्य सभी शाखाएं जैसे (4), (5), (10), (11),(12), आदि इस संघर्ष में यह भी सत्य है कि (12) और (13) की भी यही स्थिति है। इस प्रकार यह सामान्य सिद्धान्त सभी विभाजनों पर लागू है।

अब एक भिन्न स्थिति पर विस्तारपूर्वक विचार (8) ओर (9) के सदस्यों की (10) या (11) के सदस्यों से दुश्मनी होती है तो (8) और (9) के सभी सदस्यों को भी अलग और अपना एक समूह बना लेगें। इस प्रकार (10)और (11) के सदस्यों के विरूद्ध (8) और (9) के सदस्य भी एक साथ विरोध में आ जायेंगे।

यदि उच्च स्तर पर देखें कि यदि (4) और (5) का एक सदस्य या अधिक सदस्य (6) या (7) के सदस्यों से शत्रुता पर उतर आएं तो क्या होगा? ऐसी स्थिति में इनसे वंश परंपरा के आधार पर जुड़े हुए सदस्य एक जुट होकर उनसे लड़ने के लिए तैयार हो जाएंगे। इसका मतलब यह हुआ कि (8), (9), (10) और (11) के सभी वंशगत सदस्य (12), (13), (14) और (15) के सदस्यों के दुश्मन बन जाएंगे।

इससे भी ऊपर के स्तर पर यदि (2) और (3) के बीच में झगड़ा होता है तो उनसे संबंधित सभी सदस्य एक दूसरे के विरुद्ध हो जाएंगे। अंत मे यदि (1) किसी दूसरे दल का विरोधी होता है तो सारा दल एक जुट होकर लड़ने के लिए तैयार हो जाएगा।

जब लड़ाई समाप्त हो जाएगी तब सभी सदस्य चित्र में दी गयी पहले की स्थिति में आ जाएंगे। यह स्थिति न केवल भारत में बल्कि अन्यत्र भी कहीं है । जैसे अफ्रीका में नुएर जनजाति के बारे में एवान प्रिचर्ड ने अपने पुस्तक "द नुएर" (1950) में विस्तार से चर्चा की है।

जब लड़ाई समाप्त हो जाएगी तब सभी सदस्य चित्र में दी गयी पहले की स्थिति में आ जाएंगे। यह स्थिति न केवल भारत में बल्कि अन्यत्र भी कहीं है। जैसे अफ्रीका में — नुएर जनजाति के बारे में एवान प्रिचर्ड ने अपनी पुस्तक "द नुएर" (1950) में विस्तार से चर्चा की है।

16.5.3 संघर्ष को नियंत्रित करना

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि क्षेत्रीय अलगाव अपने से बड़े या विभिन्न पीढ़ी से संबंधित वंशों से संघर्ष की स्थितियों को रोकता है।

जनजातीय गांव एक सक्रिय राजनीतिक इकाई होता है। हम देखते हैं कि गांव की व्यवस्था बनाए रखने का काम निम्नलिखित के अधिकार में होता है :

- **ग्राम अधिकार और**
- **ग्राम प्रशासन**

राजनीतिक तंत्र अपने अधिकारियों के माध्यम से कार्य करता है। इन अधिकारियों के अलग-अलग जनजातियों में विभिन्न नाम होते हैं। छोटी जनजातियाँ (बिरहोर, जुआँग) में ये सारे कार्य एक ही व्यक्ति के हाथ में होते हैं। बड़ी जनजातियों (संथाल, भील) में सत्ता दो मुखियाओं के हाथ में रहती है। एक सांसारिक कार्य देखता है और दूसरा धार्मिक कार्य। इनके भी कई सहायक होते हैं।

शांति भंग करने और सामाजिक अपराधों से निपटने के लिए अधिकांश जनजातियों की अपनी "न्यायिक" व्यवस्था होती है। यह आमतौर पर ग्राम परिषद् या बुजुर्गों की सभा के रूप में होती है। उदाहरण के लिए मलेरों में गाँव के बुजुर्गों की परिषद की अध्यक्षता माझी करता है। गौरेत पब्लिक परोसीक्यूटर का कार्य करता है। माझी की ओर से गौरेत के द्वारा पंचायत बलाई जाती है।

सांध्यकालीन बैठकों में सदस्यों के व्यवहार पर अनौपचारिक नियंत्रण रखा जाता है। यहां की गयी आलोचनाएँ काफी तीखी और प्रभावपूर्ण होती हैं। व्यवहार को नियंत्रित रखने या ठीक करने में सार्वजनिक नापसंदगी प्रभावशाली ढंग से काम करती है। इसके अंतर्गत ऐसे सदस्य को साफ-साफ बता दिया जाता है कि यदि वह अलिखित जनजातीय कानूनों के बाहर जाएगा तो उसे क्या-क्या दंड भोगना पड़ेगा। संक्षेप में, सांध्यकालीन बैठकों का आयोजन सीमा का उल्लंघन करने वाले सदस्यों को ठीक करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार उनकी समस्या इतनी गम्भीर नहीं होती कि उन्हें सजा देनी पड़े।

16.5.4 अपराध और दंड

ऐसा कोई समाज नहीं होता जिसमें आपराधिक मामले न होते हों। इनके कारण समाज में गम्भीर असंतुलन पैदा हो जाता है। इन्हें सजा के द्वारा ठीक करना होता है।

आपराधिक मामले का निर्णय करने में सबूत के रूप में निम्नलिखित को माना जाता है।

- किसी पवित्र देवी के नाम पर ली गयी शपथ।
- जनजातीय प्रतिमानों के आधार पर सत्य परीक्षा।

मलेरों में जीवन की शपथ खाई जाती है। संदिग्ध व्यक्ति चाकू से किसी पवित्र स्थान को छूकर सत्य बोलने या मर जाने की कसम खाता है। इस स्थिति में समाज का व्यापक प्रभाव तथा व्यक्ति का अपना विश्वास उसे सही निर्णय पर ले आता है। नतीजा हमेशा सत्य और न्यायपूर्ण होता है।

सत्यपरीक्षा में लाल सुर्ख गरम कुल्हाड़ी को पकड़कर और खौलते तेल में अपना हाथ डालकर संदिग्ध व्यक्ति को अपनी बेगुनाही साबित करनी होती है। मलेरों में सबेली नाम की सत्यपरीक्षा होती है। जिसमें दोषी व्यक्ति को गरम लाल सुर्ख कुल्हाड़ी पकड़नी होती है। पोछ्राई सत्यपरीक्षा में कर्मकाण्डी चावल की शराब का प्रयोग किया जाता है। केवल निर्दोष व्यक्ति ही लाल सुर्ख कुल्हाड़ी को पकड़ने या कर्मकाण्डी शराब पीने के बाद सही सलामत बचा रह सकता है। दोषी या तो जल जाता है या जहर से मर जाता है। "शपथ" और सत्यपरीक्षा दोनों ही भयानक विकल्प हैं। ये दोषी द्वारा अपने आप को कानून के हवाले करने के स्वैच्छिक साधन हैं। दोषी को दिया जाने वाला अर्थदंड अपराध की गम्भीरता पर निर्भर करता है। सबसे गम्भीर सजा समाज से बहिष्कृत करने की होती है। कबीले के लोग ढोल बजाते हुए उसके घर को अपवित्र करते हैं, उसमें कूड़ा-करकट भरकर खराब कर देते हैं। और यहाँ तक कि उसे जला डालते हैं।

यह सब अपराध और अपराधी के प्रति उनकी नापसंदगी और नफरत का सूचक होता है। बहिष्कार की सजा ऐसे मामलों में दी जाती है जहां जुर्म बहुत ही गम्भीर हो और अपराधी व्यक्ति को समाज में अस्वीकार कर दिया गया हो। ऐसे अपराधों में निषिद्ध वर्गों के व्यक्तियों का विवाह करना भी शामिल होता है। ऐसे व्यक्ति का भी बहिष्कार किया जाता है जो उस कबीले की कुल देवी का अनादर करता है या उस पर आक्रमण करता है, उसे तोड़ता है या उस पर थूकता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान में अपना उत्तर लिखिए?

ख) इकाई के अंत में दिये गये-उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 राज्यविहीन समाजों में विखंडन और संयोजन की प्रक्रिया को संक्षेप में बताइए। अपने उत्तर में लगभग पांच पंक्तियों का प्रयोग कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 भारत की तीन राज्यविहीन जनजातियों के नाम लिखिए।

.....

.....

.....

3 अनौपचारिक नियंत्रण की पद्धति को संक्षेप में बताइए।

.....

.....

.....

4 सबेली नामक सत्यपरीक्षा में क्या व्यक्ति को मरने तक भूखा रखा जाता है?

हाँ ☐ नहीं ☐

5 बितन्हाहा (Bitkaha) एक संथाल देवता का नाम है।

हां ☐ नहीं ☐

16.6 राजनीतिक संस्थाएँ और समाज का विकास

शिकार द्वारा भोजन इकट्ठा करने वाले समाजों को छोटे शिकारी और बड़े शिकारी दो वर्गों में बांटा जा सकता है। छोटे शिकारी पूर्ण रूप से फल और कीड़े-मकोड़े इकट्ठा करके गुजारा करते हैं। ये पेड़ों की टहनियों और पत्तियों से बनी अस्थायी झौपड़ियों में रहते हैं। पालतू जानवरों में केवल कुत्ते को पालते हैं। बड़े शिकारी अधिक विकसित अवस्था में होते हैं और वे बड़े जानवरों का शिकार करते हैं। उनके मकान मजबूत होते हैं और वे घोड़ों को पालते हैं। उनमें क्षेत्र की भावना अधिक निश्चित होती है। वे पालतू जानवर रखते हैं और कताई, बुनाई और मिट्टी के बर्तन बनाने का काम करते हैं। इन समाजों में हम एक प्रकार की जटिल केन्द्रीय सत्ता का विकास देखते हैं। अब हम इस पक्ष पर विचार करेंगे। चित्र-2 में सरल समाज में विकास के स्तरों को दर्शाया गया है।

चित्र - 2
विकास के स्तर

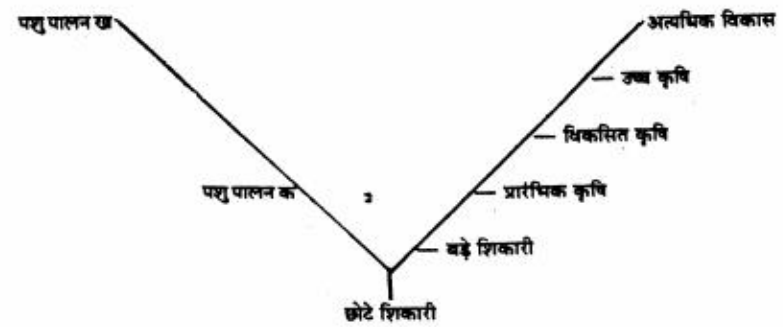

आप इन तीन महत्वपूर्ण तथ्यों पर ध्यान दीजिए :

- मानवविज्ञानियों से प्राप्त विवरण और पुरातत्व से प्राप्त सूचना में काफी समानता होती है।
- पशुपालन और कृषि विकास की अवस्थाएँ उत्तरोत्तर (एक के बाद एक) नहीं होतीं। ये बड़े शिकारियों की सामाजिक स्थिति के अनुसार विकास की विभिन्न दशाओं के रूप में और समकालिक होती हैं।
- एक स्थान पर रहकर और मिश्रित कृषि से ही बड़े पैमाने की सामाजिक व्यवस्था, राज्य निर्माण आदि का विकास सम्भव हो सका।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्यविहीन समाज शिकार और पशुपालन के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था को एक सीमा तक विकसित कर सकते हैं। इस सीमा से आगे वे नहीं जा सकते। इस विकास के परिणामस्वरूप क्या परिवर्तन होते हैं अब उन पर विचार करेंगे।

16.6.1 समाज में सरल प्रकार की सरकार का उदय

सबसे पहले हम यह देखते हैं कि प्रत्येक समुदाय में सरल प्रकार की सरकार का उदय होता है। छोटे शिकारियों में एक बहुत ही हल्की व्यवस्था रहती है लेकिन उच्च कृषि और पशुपालन के स्तरों पर सुनिश्चित व्यवस्था की स्थापना की जाती है।

दूसरे — सुनिश्चित व्यवस्था का दूसरे वर्गों में भी विस्तार होता है। छोटे शिकारियों में केवल पच्चीस प्रतिशत वर्ग में प्रारंभिक समुदाय परिवार और नातेदारी के वर्ग तक ही एक व्यवस्था सीमित रहती है। लगभग अस्सी प्रतिशत वर्ग के पास समुचित व्यवस्था और प्रशासनिक तंत्र होता है। अब कुछ रोचक तथ्यों पर ध्यान दिया जाए। हम देखते हैं कि कबीले के

सरदारों के पास जो सत्ता होती है वह रीति-रिवाजों के अंतर्गत प्राप्त सत्ता होती है। इस प्रकार की व्यवस्था में बुजुर्गों की परिषदें शामिल होती हैं। सभी को रीति-रिवाजों के नियमों को मानना होता है इसे पारंपरिक व्यवस्था (government by discussion) कहा जाता है। विधि संगठन में भी इस प्रकार का विकास स्पष्ट होता है। राज्यविहीन समाजों में नातेदारी झगड़ों को सुलझाती है। अफ्रीकी जनजाति "नुएर" की तरह उनमें कुल बैर या प्रथागत लड़ाई के रूप में बदला लेने और दंड देने का रिवाज मिलता है। हालांकि इस प्रकार से दंडित करने से व्यक्ति के दोष का कोई संबंध नहीं होता। क्षतिपूर्ति के कुछ ऐसे भी तरीके होते हैं जिनके अंतर्गत दोषी नातेदारों के वर्ग को दंडित करते हुए उन्हें समाज में वापस ले लिया जाता है। इसके बारे में पहले चर्चा की जा चुकी है।

पशुपालन व कृषि के सर्वोच्च स्तर वाले समाजों में लोक न्याय की परम्परा होती है। सामाजिक व्यवस्था पर आक्रमण के संबंध में यह नियमित रूप से होती है लेकिन छोट-छोटे झगड़ों के मामले में अनियमित। ऐसे मामलों में प्रचलित तरीके प्रयोग में लाये जाते हैं लेकिन यह अवश्य देखा जाता है कि वे सामाजिक रूप से विघटनकारी न हों। अधिक जटिल संबंधों में एक नियमित लोक न्याय की व्यवस्था होती है।

जैसे-जैसे राज्यविहीन समाज में परिवर्तन होता है वैसे ही कबीले से संबंध रखने वाले और प्रतीकात्मक अपराधों के लिए सुधारात्मक दंड व्यवस्था का स्थान दावों और प्रतिदावों वाली क्षतिपूरक दंड व्यवस्था ले लेती है। ऐसे में शपथ और सत्यपरीक्षा का प्रयोग कम से कम किया जाता है। शिकारियों और भोजन इकट्ठा करने वालों में मातृ-सत्तात्मक और पितृसत्तात्मक वंश परंपरा का सिद्धांत मुख्य होता है।

16.6.2 सरल समाजों में धन का राजनीतिक पक्ष

सरल समाजों में धर्म के दो प्रकार्य होते हैं। पहला पर्यावरण संबंधी प्रकार्य है — यह व्यक्ति की प्रकृति के साथ संबंध की व्याख्या करता है। यह बताता है कि उसे प्रकृति से किस प्रकार जुड़ना चाहिए। धर्म के सामाजिक और राजनीतिक प्रकार्य भी होते हैं। ये लोगों को एक दूसरे से बांधते हैं और सत्ता को अर्थ और वैधता प्रदान करते हैं। उच्च पशुपालक और कृषिपालक समाजों में सत्ता के काफी ऊँचे तरीके दिखाई देते हैं। ये धर्म सिद्धांत, संस्कार और पूजा के रूप में होते हैं। हालाँकि भौतिकता का धर्म से कोई सीधा संबंध नहीं होता फिर भी यह काफी बड़े पैमाने पर व्यवहार को नियमित करने की अपेक्षा रखती है जिसके अंतर्गत किया जाने और न किया जाने वाला व्यवहार भी शामिल होता है। सरल समाजों में धर्म व्यक्ति को उसके सभी कार्यों के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराता।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान में अपना उत्तर लिखिए।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 राज्यविहीन समाजों के कौन से तीन चरण होते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2 परिहासात्मक संबंध का मतलब है :— सही उत्तर पर निशान (✓) लगाएं।

1) हास्य लेखकों की सभा
2) मज़ाक प्रतियोगिता
3) एक प्रकार का संस्थागत व्यवहार
4) एक दूसरे का मज़का उड़ाना

3 छोटे शिकारी बड़े जानवरों का शिकार करते हैं।

हाँ ☐ नहीं ☐

4 राज्यविहीन समाजों में धर्म के कौन से प्रकार्य होते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

5 राज्यविहीन समाजों की शिक्षा पद्धति अच्छी होती है।

हाँ ☐ नहीं ☐

16.7 सारांश

हमने देखा है कि राज्यविहीन समाजों में कोई केंद्रीय सत्ता या शक्ति नहीं होती। इनमें कोई प्रशासनिक व्यवस्था भी नहीं होती। न ही न्यायिक संस्थाएँ होती हैं। इनमें धन-दौलत, पद, प्रतिष्ठा के आधार पर भेदभाव नहीं होता। इनके अंतर्गत अफ्रीका की नुएर और तालेंसी जनजातियाँ भी हैं। भारत की भील, और संथाल जनजातियाँ भी इन्हीं के अंतर्गत हैं।

इन सरकार विहीन समाजों में कानून व्यवस्था कैसे रखी जाती है? हम पिछले खंड में इसके बारे में पढ़ चुके हैं। विभिन्न क्षेत्रीय वर्गों के बीच राजनैतिक संबंधों का नियंत्रण खंडीय वंश परंपरा द्वारा होता है। इन संगठनों में राजनैतिक संगठन के रूप में नातेदारी का विशेष महत्व होता है। यह इसलिए होता है क्योंकि क्षेत्रीय वर्गों तथा वंश परंपरा के आधार पर वर्गों के बीच एक संबंध होता है।

ऐसे समाजों में राजनीतिक पद के साथ कोई आर्थिक अधिकार नहीं जुड़े होते। धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा प्रदान कर सकती है और राजनीतिक नेतृत्व प्राप्त करने में सहायता भी कर सकती है।

यह इसलिए संभव है क्योंकि राज्यविहीन समाजों में धन-दौलत ऊँचे पद के कारण प्राप्त होती है। पहले यह माना जाता था कि राज्यविहीन समाज ऐसे व्यक्तियों के नियंत्रण में होते थे जिनके पास पद-प्रतिष्ठा होती थी। उन्हें युद्ध में जीता जाता था और इससे उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। इस सिद्धांत को अब नहीं माना जाता। इसके अलावा इन समाजों में नियंत्रण करने वाली कोई संस्था, वर्ग या खंड नहीं होता। बल प्रयोग से विरोधी शक्तियों द्वारा बल प्रयोग की ही स्थिति पैदा होती है। ऐसे में सह-अस्तित्व एक महत्वपूर्ण तथ्य है — यदि कोई वर्ग दूसरे वर्ग को जीत लेता है तो वह उस पर राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश नहीं करता। चूंकि इसके लिए कोई प्रशासनिक सहायता नहीं मिलती, इसलिए वह ऐसा नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति या वर्ग सर्वशक्तिमान नहीं होता। प्रत्येक अलगाव के स्तर पर संतुलन के द्वारा स्थिरता बनाए रखी जाती है। सामाजिक व्यवस्था में अलग-अलग स्वार्थों के आधार पर भी स्थिरता होती है।

इसके अतिरिक्त, ऐसे समाज में समान प्रतीकों के द्वारा मूलभूत एकता, परस्पर संबद्धता (cohesion) स्थापित होती है। इन समस्त प्रतीकों में मिथक, मत-मतांतर, व्यक्तित्व, पवित्र स्थान आदि आते हैं। इन्हें चरम मूल्यों के रूप में माना जाता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्यविहीन समाजों में एक पक्की और प्रभावी आंतरिक सह-संबद्ध व्यवस्था होती है। ये समाज राज्यविहीन अवश्य होते हैं लेकिन इनमें कार्यकुशलता तत्वों वाले ऐसे किसी घटक का अभाव नहीं होता। ये समाज वस्तुतः पूरी तरह से विकसित राजनीतिक इकाइयाँ होती हैं और इन्हें पूर्ण विकसित ही माना जाना चाहिए।

शब्दावली

वंश : एक समान पूर्वजों वाला नातेदारी का समूह।

सजातीय विवाह : एक सामाजिक प्रथा जिसके अनुसार एक विशेष समूह में ही विवाह करने की अनुमति होती है।

विजातीय विवाह : एक सामाजिक प्रथा जिसके अनुसार एक विशेष समूह के बाहर ही विवाह करने की अनुमति होती है।

वंश परंपरा : माता या पिता की ओर से पूर्वजों की परंपरा पर आधारित वंश के भाग।

मातृसत्तात्मक : एक सामाजिक प्रथा जो नारी सत्ता और नारी अधिकार पर आधारित होती है।

मातृवंश : एक सामाजिक प्रथा जिसके अनुसार वंश मां के नाम पर चलता है।

पितृसत्तात्मक : एक सामाजिक प्रथा जो पुरुष सत्ता और पुरुष अधिकार पर आधारित होती है।

पितृवंश : एक सामाजिक प्रथा जिसके अनुसार वंश पिता के नाम पर चलता है।

अनुशस्ति : समाज द्वारा अनुमोदित कुछ विशेष पाबंदियाँ।

नातेदारी व्यवस्था : विवाहजन्य संबंध और रक्तजन्य संबंधों पर आधारित सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Evans-Pritchard, E.E., 1940. *The Nuer*, Oxford University Press : Oxford, Chapter IV

Gluckman, Max. 1965. *Politics, Law and Ritual in Tribal Society*, Basil Blackwell : Oxford, Chapters 3 and 4.

Vidyarthi, L.P. and Rai, B.K., (2nd Ed.) 1985. *The Tribal Culture of India,* Concept : Delhi Chapter 2 pp. 25 and Chapter 5, pp. 195-235.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 राज्यविहीन समाज की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। इसमें केवल मौखिक परंपराएँ होती हैं। आमतौर पर कोई एक व्यक्ति पूरे कबीले का सरदार होता है। आर्थिक रूप से ये समाज प्रारंभिक स्थिति में होते हैं।

2 हाँ।

3 नहीं।

4 1) पुरातत्व संबंधी रिकार्ड 2) धर्म प्रचारकों, यात्रियों और प्रशासकों द्वारा लिखा गया साहित्य
3) मानवविज्ञानियों द्वारा लिखित लघुपुस्तिकाएँ।

बोध प्रश्न 2

1 एक ही पूर्वज वाले राज्यविहीन समाजों में दूसरी या तीसरी पीढ़ी में चलकर किन्हीं कारणों से विखंडन हो जाता है। वे एक-दूसरे से विरोधी इकाइयों के रूप में व्यवहार करते हैं। लेकिन अन्य राज्यविहीन समाजों से संभावित खतरे की स्थिति में वे अपनी शक्तियों को आपस में मिलाकर एक हो जाते हैं।

2 1) संथाल 2) ओरांव 3) भील

3 सांध्य सभाओं के माध्यम से अनौपचारिक नियंत्रण स्थापित किया जाता है। इन सभाओं में की जाने वाली आलोचना बहुत ही तीखी और प्रभावशाली होती है। अनौपचारिक नियंत्रण का एक दूसरा तरीका सामाजिक सेवा का होता है।

4 नहीं।

5 नहीं।

बोध प्रश्न 3

1 क) प्रारंभिक कृषि
ख) विकसित कृषि
ग) सर्वाधिक विकसित कृषि

2 (3)

3 नहीं

4 धर्म का एक परिस्थितिगत प्रकार्य होता है।
दूसरा सामाजिक प्रकार्य भी होता है जो लोगों को एक रूप से जोड़े रखता है।

5 नहीं

इकाई 17 परंपरागत समाजों में राज्य की संकल्पना

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 राजनीतिक व्यवस्थाओं के रूप में परंपरागत समाज
17.3 राजनीतिक सत्ता की प्रकृति और क्षेत्र
  17.3.1 केंद्रीय सत्ता
  17.3.2 राजनीतिक सत्ता का क्षेत्र
    17.3.2.1 आनुवांशिक सत्ता
    17.3.2.2 सत्ता का प्रत्यायोजन (delegation) और वितरण
    17.3.2.3 शक्ति के संतुलन के रूप में सत्ता का प्रत्यायोजन
17.4 राजनीतिक सत्ता की वैधता का आधार
  17.4.1 प्रारंभिक राज्यों में वैधता
  17.4.2 विजित या अधीनस्थ राज्यों में वैधता
  17.4.3 मिथकों से प्राप्त वैधता
  17.4.4 लोगों द्वारा सत्ता को स्वीकारने के आधार
17.5 सत्ता के दुरुपयोग को रोकने वाली संस्थाएँ
17.6 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- राज्यविहीन परंपरागत और आधुनिक समाजों में उनकी राज्य व्यवस्था के आधार पर भेद कर सकेंगे;
- केंद्रीय सत्ता की प्रकृति और कार्यक्षेत्र के बारे में चर्चा कर सकेंगे;
- सत्ता को वैधता देने वाले आधारों का वर्णन कर सकेंगे; और
- ऐसी संस्थाओं का उल्लेख कर सकेंगे जो शासक को सत्ता का दुरुपयोग करने से रोकती हैं।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई का संबंध ऐसे समाजों में केंद्रीय सत्ता से है जो एक तरफ राज्यविहीन समाज और दूसरी तरफ सरकार और शासनाध्यक्ष से युक्त आधुनिक राज्य की दो धुरियों के बीच पड़ते हैं। ऐसे समाजों में आधुनिक राष्ट्र राज्यों में पायी जाने वाली विकसित राजनीतिक संस्थाओं का अभाव होता है, इसलिए इन्हें पारंपरिक या आधुनिक पूर्व समाज कहा जा सकता है। परंपरागत या आधुनिक पूर्व समाजों में हमें धर्म और कुछ सीमा तक नातेदारी की प्रधानता वाली स्थायी राजनीतिक व्यवस्थाएँ मिलती हैं।

परंपरागत समाजों के विभिन्न प्रकारों के संक्षिप्त विवरण के बाद इस इकाई में ऐसे राज्यों में राजनीतिक सत्ता के कार्यक्षेत्र की चर्चा की जाएगी। फिर उन आधारों की चर्चा होगी जिन पर यह सत्ता टिकी रहती है और अंत में राजनीतिक सत्ता पर लगने वाले अंकुशों की चर्चा की जाएगी।

17.2 राजनीतिक व्यवस्था के रूप में परंपरागत समाज

आधुनिक लोकतंत्रात्मक (democratic) और सर्वसत्तात्मक (totalitarian) राज्य तथा आदिम राज्यविहीन समाजों के मुकाबले में हमें ऐसे आधुनिक-पूर्व (pre-modern) समाज मिलते हैं जिनकी राजनीतिक परंपराओं से ही आधुनिक समाज के राजनीतिक विचारों और समस्याओं का जन्म हुआ है। इन परंपराओं के समझने से आधुनिक समाजों की जटिल राजनीतिक संस्थाओं की पृष्ठभूमि को समझना आसान हो जाएगा। इसी खंड की इकाई-18 में आधुनिक समाज में राज्य की चर्चा की जाएगी।

परंपरागत राज्य व्यवस्था के अंतर्गत कबीलों में पाए जाने वाले प्रारंभिक राज्य, नगर राज्य, नगर राज्यों पर आधारित साम्राज्य, सामंती राज्य और केंद्रीय नौकरशाही वाले एशियाई राज्य शामिल हैं। चूँकि एक इकाई में इन सभी प्रकार की राज्य व्यवस्थाओं की चर्चा करना संभव नहीं है, इसलिए हम समाजशास्त्रियों तथा नृतत्वशास्त्रियों द्वारा किए गए परंपरागत समाजों के मानव जातिपरक अध्ययनों के आधार पर इनकी राजनीतिक सत्ता के कुछ पक्षों के बारे में चर्चा करेंगे।

17.3 राजनीतिक सत्ता की प्रकृति और कार्यक्षेत्र

परंपरागत और आधुनिक-पूर्व समाजों की विभिन्न कोटियों की चर्चा के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें पाई जाने वाली राजनीतिक सत्ता की प्रकृति और कार्यक्षेत्र में काफी अंतर होता है। राजनीतिक सत्ता के केंद्रीयकरण में हमेशा अंतर केवल मात्रा का ही होता है। उदाहरण के लिए वंश परंपरा पर आधारित राज्यतंत्रों में कबीले का मुखिया केवल प्रतीक के रूप मे होता है जबकि राजनीतिक रूप से केंद्रीय जागीरों या राज्यों के राजनीतिक प्रमुख एक दूसरे से स्वतंत्र हो सकते हैं या सामंती व्यवस्था का अंग हो सकते हैं।

17.3.1 केंद्रीय सत्ता

अब हम केंद्रीय समझी जाने वाली राजनीतिक सत्ता की प्रकृति के बारे में विचार करें।

1) मात्रपदधारी (titular) मुखिया के रूप में मुख्य सत्ताधारी

अपने मुखिया में शक्ति के केंद्रीकरण को स्वीकार करते हुए एक जनजाति-समूह अपनी प्रौद्योगिकी में परिवर्तन किए बिना अधिक से अधिक उत्पादकता प्राप्त कर सकता है। विभक्त सामाजिक व्यवस्था के बावजूद, समूह की एकता और अस्मिता को अभिव्यक्त करने के लिए उसका अपना राजनीतिक मुखिया हो सकता है। सुरजीत सिंह (1987 : IX) का मत है — "मुखिया पद्धति कबीलों की व्यवस्था के उच्च-स्तरीय विकास का परिणाम है। धर्मनिरपेक्ष शक्ति के रूप में मुखिया अपने राज्य का प्रशासक हो सकता है या केवल नाममात्र का पदधारी। वह पूरे समूह का प्रतिनिधित्व करने वाला केवल प्रतीक मात्र हो सकता है, मात्र पदधारी या प्रतीकात्मक सत्ता का भी राजनीतिक महत्व काफी अधिक होता है।

ऐसे शासक को उसकी प्रजा काफी सम्मान देती है और उससे डरती भी है। उसे देवता के समान मानती है। राजनीतिक रूप से, राज्य का प्रतीकात्मक प्रमुख लौकिक सत्ता (secular power) के रूप में भी विकास कर सकता है। उदाहरण के लिए इवान्स प्रिचर्ड नील (1962) के अनुसार नदी के ऊपरी भाग में रहने वाले शिल्लुक समाज में राजा का राज्य तो था परंतु शासन नहीं। दूसरे शब्दों में वह केवल मात्र पदधारी मुखिया था। बाद में ब्रिटिश शासन के प्रभाव में आकर यह प्रतीकात्मक प्रधान की संस्था ऐसी धर्मनिरपेक्ष सत्ता के रूप में बदल गई जो राजनीतिक निर्णय भी लेती थी।

2) पवित्रता से युक्त लौकिक सत्ता

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रतीकात्मक प्रधान में वास्तविक राजनीतिक सत्ता निहित होने की संभावना है। राजा की लौकिक सत्ता को सामान्यतः पवित्रता से युक्त माना जाता है। भारतीय उदाहरण लीजिए, सुरजीत सिन्हा (1987 : XV-XVI) के शब्दों में "राजा अपने कुलदेवता के नाम पर न केवल राज्य करते थे बल्कि वे अपने सामाजिक व्यक्तित्व में भी उस देवता की पवित्रता की छवि से युक्त माने जाते थे।" लगभग पूरे विश्व में अधिकांश राजतंत्रों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। शासन करने वाले या राज परिवारों की दैवी उत्पत्ति के मिथक उन्हें राजनीतिक सत्ता संभालने के लिए उनके दावे को उचित ठहराते हैं।

3) राजा की आवश्यकता

सामान्य जनता से अपने स्तर को ऊपर उठाने के उद्देश्य से लौकिक सत्ता को न केवल औपचारिक अनुष्ठानों के द्वारा स्थापित किया जाता है बल्कि कुछ उदाहरणों में तो राजसी व्यक्ति को राजा की तरह प्राप्त करने की आवश्यकता इतनी बलवती हो जाती है कि राज परिवारों के सदस्यों का अपहरण करके उन्हें शासक बनने के लिए पाला जाता है। एल.के. महापात्रा (1987 : 1-50) ने लिखा है कि उड़ीसा के छोटे-छोटे रजवाड़े आस-पास के बड़े रजवाड़ों से अपने आपको इतना असुरक्षित महसूस करने लगे कि उन्हें राजा जैसी शक्ति की स्थापना करनी पड़ी। एक दंत कथा के अनुसार, 1200 ई. में खिजिंग मंडल के भाण्ज वंश के ज्योति भाण्ज को, क्योंझार की भुइयां जनजाति द्वारा उसके राजभवन से चुरा लिया गया। इससे पता चलता है कि उन्हें अपने शासक में पवित्रता के प्रभावमंडल की आवश्यकता थी। ऐसे राजाओं के उत्तराधिकारियों को अपने उद्भव से मिथकों के संबद्ध अनुष्ठानों या रीतियों का पालन करना पड़ता था।

4) राजनीतिक सत्ता के विस्तार का क्षेत्र एवं जनसंख्या से संबंध

राजनीतिक सत्ता की प्रकृति के आधारभूत घटक हैं — क्षेत्र और लोग। जिस क्षेत्र में रहने वाले लोग राजा की सत्ता को स्वीकार करते हैं — उतना ही उसे राजनीतिक सत्ता का क्षेत्र माना जाता है। किसी राजा की शक्ति का क्षेत्रीय पक्ष उसके

प्रशासनिक व न्यायिक मामलों की भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण करता है। राज्यविहीन समाजों के राजनीतिक संगठनों को छोड़कर अन्य सभी राज्यों का एक निश्चित क्षेत्र होता है।

भारत में क्षेत्र का निर्धारण सदैव विजय और सहयोग की शक्तियों के माध्यम से हुआ है। सर्वोच्च शासक के नियंत्रण से मुक्त होने के लिए, उसी राज्य के अंतर्गत अलग-अलग इकाइयों के द्वारा छोटे-छोटे भू-भागों पर अपने-अपने दावे प्रस्तुत किये जाते रहे हैं।

जनसांख्यिकी अर्थात् जनसंख्या का संख्यात्मक आकार (न कि क्षेत्रीय आकार) — राज्य में जटिलता पैदा करता है। फोर्टिस और एवान्स प्रिचर्ड (1940 : 7) हमें चेतावनी देते हैं कि जनसंख्या के आकार और जनसंख्या की सघनता को एक नहीं मानना चाहिए। दो अफ्रीकी जनजातियों के बारे में वे लिखते हैं — "यह माना जा सकता है कि तालेंसी की सघन तथा स्थायी बस्तियों से केंद्रीकृत सरकार का विकास हो तथा बैम्बा जनजाति के काफी दूर-दूर फैले तथा घुमंतु गाँव केंद्रीय शासन के लिए अनुपयुक्त हों। परंतु यथार्थतः दोनों में एकदम विपरीत स्थिति पाई जाती है।"

5) राज्य के केंद्रीकरण का अर्थव्यवस्था से संबंध

भारत में जनजातियों के राज्य और राज्य व्यवस्था के बारे में हुए शोध से ज्ञान होता है कि केंद्रीय एकसत्ता के विकास के और अतिरिक्त उत्पादन में महत्वपूर्ण संबंध है। अमलेंदु गुहा लिखते हैं — भारत में हल के प्रयोग से अतिरिक्त उत्पादन हुआ और इसीलिए यहाँ राजनीतिक व्यवस्था का भी विकसित रूप मिलता है। जितना अतिरिक्त उत्पादन हुआ, उतना ही विकसित राज्य हुआ।

दूसरी ओर अफ्रीका में हुए शोध के अनुसार देश के अधिकांश भागों में कठिनाई से गुजारा कर पाने की अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त उत्पादन की गुंजाइश ही नहीं थी। फोर्टिस और एवान्स प्रिचर्ड (1940 : 8) लिखते हैं "पद, हैसियत या व्यवस्था के आधार पर किये गये विभेद धन-दौलत के भेद से अलग होते हैं। ऐसे समाजों में राजनीतिक सत्ता को कर लगाने, लगान की वसूली करने और श्रम करवाने का आर्थिक अधिकार प्राप्त होता है। वास्तव में, आर्थिक विशेषाधिकारों के माध्यम से ही केंद्रीय सत्ता राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखती है।

17.3.2 राजनीतिक सत्ता का क्षेत्र

जितने क्षेत्र में कोई शासक अपनी प्रजा पर सत्ता का प्रयोग कर सकता है, वह उसकी राजनीतिक शक्ति के क्षेत्र को परिभाषित करता है। वास्तव में शक्ति के विस्तार की अपेक्षा उसका कार्यक्षेत्र ही किसी राज्य को अधिक या कम केंद्रीकृत बनाता है।

कभी-कभी कोई राजाध्यक्ष अपनी प्रजा से केवल आदर और मान्यता प्राप्त करता है। दूसरे उदाहरणों में शासक अपने मातहत जागीरदारों से कर वसूल कर सकता है या अपनी सत्ता को औपचारिक रूप से मनवा सकता है। पूर्वी भारत में उड़ीसा के सामंती राज्यों में राजा के द्वारा नियंत्रित क्षेत्र चारों तरफ से छोटी-छोटी वंश-परंपराओं (clan-lineage) पर आधारित इकाइयों से घिरा हुआ था। ये इकाइयाँ जागीरदारों के रूप में थी जो केंद्रीय सत्ता के अनुष्ठानों तथा अन्य समारोहों में भाग लेते थे। वे केंद्रीय सत्ता को प्रतीक रूप में स्वीकार करते थे। ऊपर केंद्रीय सत्ता का विस्तार या उन पर प्रयोग की जाने वाली राजनीतिक शक्ति न के बराबर थी।

केंद्रीय सत्ता के विस्तार क्षेत्र को जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जनता के जीवन के कौन-कौन से पक्ष राजनीतिक शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। यदि व्यक्तियों को बल प्रयोग या हिंसा करने की खुली छूट हो तो इससे यह पता चलता है कि केंद्रीय सत्ता का क्षेत्र कम से कम है। दूसरी ओर, यदि राजनीतिक प्रधान काफी शक्तिशाली होगा तो वह बल का प्रयोग नहीं करने देगा। दूसरे शब्दों में, लोग कानून को अपने हाथ में नहीं ले सकेंगे।

नील नदी के ऊपरी भागों में रहने वाले शिल्लुक समाज में राजा की शक्ति न्यूनतम होती है। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि उनके बीच में "कुल बैर या खूनी बैर (blood-feud) चलता रहता है और इस संबंध में राजा कुछ नहीं कर सकता। दूसरी तरफ, अधिकांश सामंती राज्य व्यवस्थाओं में नर हत्या को राज्य द्वारा दंडनीय अपराध माना जाता है।

17.3.2.1 आनुवांशिक सत्ता

केंद्रीकृत सत्ता के क्षेत्र के बारे में उसके व्यापक या सीमित होने के संदर्भ में भी चर्चा की जा सकती है। कुछ राज्य व्यवस्थाओं में शासक की सत्ता काफी व्यापक होती है — उसमें लोगों के जीवन के सभी पक्ष आ जाते हैं। मैक्स वेबर (1964) ने इस प्रकार की सत्ता को आनुवांशिक सत्ता कहा है, जिसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार की सत्ता का क्षेत्र स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं होता है। बल्कि राजा अपनी प्रजा की सभी प्रकार से देखभाल करता है। वह प्रजा को अपने बच्चों की तरह पालता है और उनकी रक्षा करता है। एल.के. महापात्रा (1987 : 5) लिखते हैं — "सबसे बड़ी रानी या पटरानी से जनजाति के लोग काफी स्नेह करते थे और उसे माँ की तरह आदर देते थे और वह उन्हें अपने बच्चों की तरह मानती थी "कभी-कभी आधुनिक संदर्भ में भी शासक और शासित दोनों के बीच इसी प्रकार के संबंध पाये जाते हैं।

छोटे आकार के राज्यों में शासक का अपनी प्रजा से सीधा और व्यक्तिगत संबंध होता है। शासक द्वारा दी जाने वाली सुरक्षा के बदले में प्रजा शासक को खाद्य सामग्री या अन्य सामान देती है। इस प्रकार दोनों पक्ष परस्पर निर्भरता की स्थिति का अनुभव करते हैं। जिन राज्य व्यवस्थाओं में इस प्रकार के व्यक्तिगत या पितृवत् (paternalistic) संबंध पाये जाते हैं, उनमें राजनीतिक सत्ता काफी व्यापक होती है।

17.3.2.2 सत्ता का प्रत्यायोजन (delegation) और वितरण

सत्ता के व्यापक विस्तार के क्षेत्र वाले राज्यों में हम सत्ता के प्रत्यायोजन की व्यवस्था देख सकते हैं। शासक निरंकुश (absolute) दिखाई देते हुए भी अपनी सत्ता का वितरण दूसरे लोगों में कर सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था सत्ता को पिरामिड रूपी बनाकर प्रस्तुत करती है — अर्थात् इसमें राजा सबसे ऊपर होता है और कई प्रकार से अधीनस्थ अधिकारी क्रमानुसार नीचे होते हैं। सरकारी पदानुक्रम में प्रत्येक व्यक्ति अपने से उच्च अधिकारी के मातहत काम करता है। आर.के. साहा (1987 : 214-41) के अनुसार "18वीं शताब्दी में, मणिपुर की मयते जनजाति में, राज्य निर्माण के पहले चरण में राजकीय सेवाओं को विभिन्न कोटियों में संस्थाबद्ध किया गया था — फामदो (प्रतिष्ठित पद), लालुप (भृत्येतर सेवाएँ), लाँइपाँट (मृत्योचित सेवा)। इस व्यवस्था में विभिन्न कर्मचारियों के द्वारा किये जाने वाले प्रकार्यों में स्पष्ट वर्गीकरण है। इस तरह का राज्य के कर्मचारियों में शक्ति का प्रत्यायोजन दो रूपों में देखा जा सकता है —

क) शासक के रिश्तेदारों में सत्ता का प्रत्यायोजन

आम तौर पर शासक अपने नातेदारों को उच्च पदों के लिए चुनता है। मणिपुर राज्य की मैयते जनजाति का उदाहरण देते हुए आर.के. साहा (1987 : 222) लिखते हैं — प्रतिष्ठा वाले पदों के तीनों स्तरों पर कार्य करने के लिए राजवंश के वरिष्ठ लोगों को भर्ती किया जाता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में शासन एक प्रकार का पारिवारिक मामला होता था। अफ्रीका से कुछ दक्षिणी बांतु राज्यों, जैसे स्वाज़ी का उदाहरण ले सकते हैं जहाँ इसी प्रकार की व्यवस्था है। (देखिये कूपर 1947)।

ख) वफ़ादार लोगों में सत्ता का प्रत्यायोजन

बहुत से राज्यों में शासकों के रिश्तेदारों को प्रतिस्पर्धी माना जाता है और इस प्रकार उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। उनको शासक की सत्ता में भाग लेने के लिए नहीं बुलाया जा सकता क्योंकि भय होता है कि वे षड्यंत्र करके उसकी सारी सत्ता को हड़प लेंगे। अतः सत्ता या शक्ति का वितरण विश्वसनीय या वफादार मित्रों के बीच किया जाता है। इसमें शासक के प्रति व्यक्तिगत वफादारी को अधिक महत्व दिया जाता है। राजा द्वारा वफादारी का पुरस्कार उसकी सत्ता में भागीदारी के रूप में दिया जाता है। यह अवश्य है कि सत्ता को रिश्तेदारों के बीच न बांटकर वफादारों के बीच बांटने से इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि उनके अधीनस्थ सरदार या जागीरदार अधिक शक्तिशाली होकर शासक को सत्ता से हटा नहीं देंगे।

17.3.2.3 शक्ति के संतुलन के रूप में सत्ता का प्रत्यायोजन

केंद्रीय सत्ता की शक्ति को कई संस्थाओं, जैसे राजतंत्र के लिए वंशगत उत्तराधिकार, रिश्तेदारों के बीच शक्ति का वितरण तथा राज्यपद के प्रति अलौकिक मान्यताओं के द्वारा मजबूत किया जाता है। अन्य संस्थाएँ, जैसे कि राज परिषद्, वफादार पुरोहित, रानी माँ की परिषद् आदि, राजा पर प्रतिबंध लगाने का काम करती हैं।

एक बार केंद्रीय सत्ता और क्षेत्रीय सरदारों के बीच शक्ति का वितरण हो जाने के बाद संतुलन प्रक्रिया काम करने लगती है। यदि कोई शासक निरंकुश हो जाता है तो उसके अधीनस्थ सरदार जागीरदार उससे अलग हो सकते हैं। दूसरी ओर यदि अधीनस्थ सरदार अधिक शक्तिशाली हो जाता है तो राजा या तो उसे हटा सकता है या दूसरे अधीनस्थ सरदारों की मदद से उसकी शक्ति को दबा सकता है। अपने सभी जागीरदारों को अपने नियंत्रण में रखने के लिए शासक उनको एक-दूसरे का विरोधी भी बना सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षेत्रीय सरदारों के बीच शक्ति का वितरण केवल एक प्रशासनिक प्रक्रिया नहीं है। इसका संबंध सरकार की व्यवस्था प्रक्रिया में विभिन्न वर्गों के हितों के प्रतिनिधित्व से भी है। या दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सत्ता और उत्तरदायित्व के बीच हमेशा संतुलन रहता है। सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं में संवैधानिक व्यवस्था के रूप में संतुलन स्थापित किया जाता है। भले ही यथार्थ में शक्ति का दुरुपयोग भी होता हो। इस प्रकार परंपरागत समाजों में प्रत्येक केंद्रीय सत्ता को इन संतुलन प्रक्रियाओं की शक्तियों का सामना करना होता है। यही इसकी प्रकृति और कार्यक्षेत्र को निश्चित करते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर सेग अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. राजनीतिक सत्ता के विस्तार को कैसे निश्चित किया जा सकता है? दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

2 राजा अपनी शक्तियों का प्रत्यायोजन (delegation) किन लोगों को करता है? दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

17.4 राजनीतिक सत्ता की वैधता का आधार

राजनीतिक सत्ता के आधार के प्रश्न पर चर्चा करते हुए राज्य निर्माण की प्रक्रिया को भी देखें कि राज्य का विकास आंतरिक प्रगति के फलस्वरूप हुआ है या बाह्य राज्य व्यवस्था के संपर्क से हुआ है। इस प्रकार की जाँच इस प्रश्न को ऐतिहासिक आयाम देती है। नृविज्ञान में उपलब्ध सामग्री से हमें दोनों प्रकार के राज्य निर्माण की प्रक्रिया का ज्ञान होता है।

आंतरिक रूप से विकसित राज्य बिना किसी बाहरी प्रभाव के आंतरिक विकास प्रक्रिया के परिणाम होते हैं। इन्हें प्रारंभिक राज्य की संज्ञा भी दी जाती है। बाह्य प्रभावों से निर्मित राजतंत्र विजय के आधार पर खड़े होते हैं। उनका निर्माण प्राचीन काल से चली आ रही या उनके क्षेत्र के बाहर की व्यवस्थाओं के फलस्वरूप होता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है — उड़ीसा के कुछ जनजातीय समूहों में, जिनमें केंद्रीय सत्ता का अभाव था, राजपद के विचार को ही नहीं बल्कि राजा को ही चुराने का अत्यधिक उग्र कदम उठाया गया। ताउथाल (1956) बताते हैं कि किस प्रकार पश्चिमी उगांडा के अलूर लोगों ने शांतिपूर्ण उपायों के माध्यम से विकेंद्रित जनजातीय समूहों के बीच केंद्रीय सत्ता की स्थापना की।

17.4.1 प्रारंभिक राज्यों में वैधता

आंतरिक विकास प्रक्रिया पर आधारित राज्य के अंतर्गत समाज में एक प्रकार की समरूपता दिखाई पड़ती है जो विजित प्रकार (conquest type) के राज्यों में नहीं होती। मणिपुर राज्य के मैयते राज्य की निर्माण प्रक्रिया के बारे में बताते हुए आर.के. साहा (1987) लिखते हैं, — मैयते राज्य मणिपुर घाटी के जनजातीय समूहों के बीच परस्पर युद्धों का परिणाम प्रतीत होता है। इसे प्रारंभिक राज्य के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। प्रारंभिक राज्य में शक्ति की वैधता के आधार की जड़ें देसी परंपराओं में निहित होती हैं। ऐसे समाज में राजनीतिक संबंधों को एक आम संरचनात्मक सिद्धांत के रूप में देखा जाता है। यह सिद्धांत एक वंशीय नातेदारी हो सकता है। अथवा राज्य के सैनिक और राजनीतिक समूह एक-दूसरे के साथ मिलते हुए भी आंतरिक मामलों में स्वतंत्र रह सकते हैं।

17.4.2 विजित-प्रकार या अधीनस्थ राज्यों में वैधता

विजित-प्रकार के राज्य, जिन्हें अधीनस्थ (secondary) राज्य भी कहा जाता है, शक्तिशाली लोगों के द्वारा छोटी राजनीतिक इकाइयों को जीतने के फलस्वरूप पैदा होते हैं। यह विजय वास्तविक युद्ध के रूप में भी हो सकती है। दूसरी ओर, जब पड़ोसी राज्यों की राजनीतिक संस्थाएँ किसी क्षेत्र में राज्य निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं तब विजय के बिना ही, एक अधीनस्थ राज्य का उदय होता है।

प्रायः बाह्य राजनीतिक संस्थाएँ विजित समूहों पर थोपी जाती हैं। कई बार, विदेशी राजनीतिक परंपराओं का थोपना केवल ऊपरी या सतही होता है और विजित जनता अपनी पुरानी राजनीतिक व्यवस्था बनाए रखती है।

कई स्थितियों में नातेदारी पर आधारित किसान समाजों (उदाहरण के तौर पर भारतीय गाँव) के सामुदायिक संबंध विदेशी सरकार से जुड़े सामंती प्रकार के राजनीतिक संबंधों से एकदम विपरीत होते हैं। ऐसी स्थिति में केंद्रीय सत्ता कानूनी तौर पर केवल करों की वसूली करने और लोक निर्माण कार्य करने का अधिकार ही रख पाती हैं। ऐसी हालत में अधीनस्थ इकाइयाँ अवसर मिलने पर अलग होने की संभावना रखती हैं। भारतीय इतिहास का कोई भी विद्यार्थी भारत में राजनीतिक एकता के विकास में इन प्रक्रियाओं को देख सकता है। भारत को राजनीतिक इकाई के रूप में एक करने के लिए समय-समय पर हिन्दू साम्राज्यों, मुस्लिम वंशों तथा ब्रिटिश औपनिवेशिक शक्तियों के द्वारा प्रयास किये गये। भारतीय इतिहास के संपूर्ण विस्तार में केंद्रीय सत्ता को छोटी राजनीतिक इकाइयाँ हमेशा ललकारती रही हैं। (विटफोगेल 1957 : 98) ने लिखा है कि वास्तव में एशियाई समाजों में राजनीतिक शक्ति को वैधता प्राप्त करने के लिए धार्मिक विधिता (sanction) को भी साथ जोड़ना पड़ा है। वैध राजनीतिक सत्ता का भारतीय आदर्श राजपुरोहित से विचार विमर्श करके राज्य करने वाले राजा का ही रहा है।

इसके बाद, राजनीतिक संगठन और प्रक्रिया में दो स्तरों के तत्व भी सम्मिलित होते हैं। पहले स्तर पर, आधारभूत राजनीतिक एकता के अभाव में, केंद्रीय सत्ता केवल कर वसूलने और लोक निर्माण कार्यों को करने का काम करती है। दूसरे स्तर पर,

चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य

पारंपरिक समाज में राज्य

अधीनस्थ राज्यों की एकता स्थानीय समुदाय की सदस्यता के आधार पर टिकी रहती है। भारत का उदाहरण देखें तो स्पष्ट है कि भले ही लोगों पर कालांतर में कितने ही तरह की राजनीतिक व्यवस्थाएँ थोपी गई लेकिन उनके लिए समाज की एकता के स्थायी कारक जाति व्यवस्था और धर्म बने रहे हैं। आम तौर पर लोग भी दोनों स्तरों के विरोध और संघर्ष के प्रति सजग होते हैं। यही कारक लोगों की विचारधारा को प्रभावित करते हैं जिसके अनुसार वे अपने जीवन के अनेक पहलुओं में राजनीतिक शक्ति को स्वीकार करते हैं।

17.4.3 मिथकों से प्राप्त वैधता

सभी राजनीतिक प्रणालियों के उद्भव की अपनी कहानियाँ होती हैं। ऐसे मिथक मूल रूप से समाज की अभिवृत्तियों और मूल्यों के प्रतिबिंब होते हैं। राजनीतिक सत्ता की प्रणाली की उत्पत्ति के बारे में प्राप्त कहानियों को "मिथक आधारित संहिता" के रूप में माना जा सकता है।

सामान्यतया मिथक शासक वर्ग के दैवी उद्भव के बारे में बताते हैं। ऐसे मिथकों के प्रभाव से मौजूदा राजनीतिक सत्ता को वैधता प्राप्त होती है। स्तरीकरण की बद्ध व्यवस्था (closed system) जैसे जाति व्यवस्था में पुरोहित की राजनीतिक भूमिका को धार्मिक समर्थन की आवश्यकता थी। भारत में विधि (law) की पुस्तकें पुरोहित वर्ग द्वारा तैयार की गई थी और यहाँ विधि का सदा ही धार्मिक आधार रहा है।

यही नहीं, बल्कि सुरजीत सिन्हा (1987) के अनुसार, भारतीय समाज में किसी भी अन्य लक्षण की तुलना में जाति व्यवस्था की विचारधारा ने जनजातीय क्षेत्रों में राज्य निर्माण का एक विस्तृत आधार प्रस्तुत किया है। यह कहा जा सकता है कि भारत में तथा इसी तरह बाइजैंटियम में, इंका साम्राज्य और प्राचीन मिस्र में पुरोहित वर्ग की राजनीतिक भूमिका ने राजनीतिक विचारधारा को प्रभावित किया है और धर्म ने इस प्रक्रिया को न्यायोचित ठहराया है।

17.4.4 लोगों द्वारा सत्ता को स्वीकारने के आधार

मैक्स वेबर (1964) उन आधारों की चर्चा करते हैं जिनके अनुसार लोग सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, सत्ता तीन प्रकार की होती है। (1) पारंपरिक, (2) करिश्माती और (3) तार्किक विधि सम्मत। अधिकांश आधुनिक-पूर्व राजनीतिक व्यवस्थाओं में सत्ता को पारंपरिक आधार पर स्वीकार किया जाता है। जब लोग किसी शासक को नेतृत्व के व्यक्तिगत गुणों के कारण स्वीकार करते हैं और उसके व्यक्तिगत आकर्षण की वजह से उसके प्रति खिंचते हैं तब उसे करिश्माती

या चमत्कारिक सत्ता कहा जाता है। जब ऐसी सत्ता काफी समय तक जारी रह कर संस्थात्मक रूप ले लेती है तब वह पारंपरिक सत्ता का अविभाज्य अंग बन जाती है।

वेबर ने अंतिम प्रकार की सत्ता को तार्किक वैध (rational-legal) सत्ता कहा है। यह इस परिकल्पना पर आधारित होती है कि लोगों को शासित होने और विधि सम्मत व्यवस्था के अनुसार शासित होने की आवश्यकता महसूस होती है। पूर्व-साक्षर समाजों में बहुत सी लोकोक्तियाँ और मिथक व्यवस्थित जीवन के प्रति विश्वास रखने की अभिवृत्ति को दिखाते हैं। साक्षर समाजों में सरकार और उसकी व्यवस्था उपयोगिता के बारे में विधि की पुस्तकों में काफी चर्चा होती है। लोग अक्सर राजनीतिक संबंधों के महत्व की उपयोगितावादी और व्यावहारिक प्रकार्यों के रूप में चर्चा करते हैं।

17.5 सत्ता के दुरुपयोग को रोकने वाली संस्थाएँ

राजतंत्र का अनुरक्षण संवैधानिक सिद्धांतों के पालन करने पर निर्भर रहता है। राजा की शक्तियाँ असीम लग सकती हैं, लेकिन व्यवहार में, उनके विभिन्न घटक अलग-अलग कार्यालयों के माध्यम से काम करते हैं। इन सभी का परस्पर सहयोग राजा को अपनी प्रजा पर शासन करने में सहायक होता है। इस प्रकार यह जानना आवश्यक हो जाता है कि क्यों राजा के लिए ऐसी सामाजिक संस्थाओं की अवहेलना करना कठिन होता है जो केंद्रीय सत्ता को रोकती या नियंत्रित करती हैं। इसका यह मतलब नहीं कि निरंकुश राजा नहीं होते। वास्तव में, कई राजनीतिक व्यवस्थाओं का इतिहास ऐसे शासकों से भरा हुआ है। उस अर्थ में कोई संविधान राजा को तानाशाह बनने से नहीं रोक सकता। साथ ही, कई पारंपरिक समाजों में सुविकसित प्रक्रियाओं के माध्यम से निरंकुशता की प्रवृत्तियों पर रोक लगाई जाती है। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

1) पितृ सत्तात्मक या मातृ सत्तात्मक सिद्धांतों के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था में एक शासक से दूसरे शासक को सत्ता तो उत्तराधिकार के आधार पर या मतदान या जनमत के द्वारा मिलती है। जब प्रजा राजा के किसी एक पुत्र को उत्तराधिकारी चुनती है तब प्रदत्त (ascribed) और अर्जित (achieved) दोनों कसौटियों को एक साथ मिलाकर निर्णय लिया जाता है। दूसरी तरफ, उचित व्यवहार के नियमों का पालन न करने के भयंकर परिणाम भुगतने पड़ते हैं। कछार में डिमासा राज्य निर्माण के बारे में अपने लेख में जे.बी. भट्टाचार्य (1987 : 190) लिखते हैं कि गोविंद नारायण (1813-30) अपने बड़े भाई की विधवा से विवाह करने के कारण अलोकप्रिय हो गया। इसकी अनुमति न तो कछार में, न हिन्दू और न ही डिमासा शासन ने दी थी। इसी वजह से इस शासक को गद्दी से हटा दिया गया और जब अंग्रेजों ने इसे पुनः गद्दी पर बिठाया तो उसकी हत्या कर दी गयी। इस प्रकार कछार में डिमासा शासन की समाप्ति तक हो गई।

2) नए राजा को शपथ ग्रहण समारोह तथा उसके दिये जाने वाले पार्षदों के उपदेश नये शासक को उचित आचरण करने के लिए मार्ग दर्शक का काम करते हैं। उदाहरण के लिए बूसिया यह बताते हैं कि राज्यारोहण के अवसर पर किस प्रकार अशांति जन जाति के सरदार को पार्षदों द्वारा उपदेश दिया जाता था। जनजाति समाजों में पार्षदों द्वारा राजा को फटकारना और यहां तक कि उसको जुर्माना करना सामान्य माना जाता था। यह जानकारी काफी दिलचस्प मालूम होती है कि उत्तरी भारत में औपनिवेशिक-पूर्व जैन्तिया राज्य में राजा की भूमिका उसकी प्रजा की आंखों में काफी तुच्छ समझी जाती थी। राजा के पद को काफी अवहेलना से देखा जाता था और इसे इतना तुच्छ माना जाता था कि कोई सामान्य व्यक्ति उस पद पर रहना नहीं चाहता था (देखें पाकेम 1987 : 287)।

3) प्रजा को अधीनस्थ कर्मचारियों के विरुद्ध अपील करने का भी अधिकार होता था। बहुत से मुसलमान शासक अपने राजमहल के दरवाजे पर एक घंटी लटकवा देते थे ताकि कोई भी व्यक्ति किसी समय भी राजा से न्याय प्राप्त करने के लिए उसे बजा सके।

जिन प्रक्रियाओं के द्वारा शासकों को अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने से रोका जाता है उन पर विचार करने के बाद हमारे लिए यह भी जानना आवश्यक हो जाता है कि तब क्या होता जब कोई शासक इन सामाजिक संस्थाओं की ओर ध्यान ही नहीं देता और अपनी सत्ता का दुरुपयोग करता ही है। जो दक्षिण अफ्रीका के जुलू (zulu) शासक शाका और उसके अत्याचारी शासन की कहानी जानते हैं वे यह भी जानते होंगे कि किस प्रकार उसके शासन की अलोकप्रियता ने उसके भाई को शासक की हत्या करने के लिए प्रेरित किया। अत्याचारी राजनीतिक सत्ता से बचने के लिए निम्नलिखित संस्थाओं को क्रियान्वित किया जा सकता है।

क) लोग स्थान विशेष छोड़ कर दूसरे क्षेत्र में वर्तमान शासक की सीमा से बाहर चले जाने का निर्णय ले सकते हैं।

ख) जिस अधीनस्थ अधिकारी ने प्रत्यायोजित शक्ति का दुरुपयोग किया हो, उसे पद से हटाया जा सकता है।

ग) राजा को जादूगरी या असंतुष्ट लोगों द्वारा उसकी हत्या का डर दिखाया जा सकता है।

घ) अंत में, निरंकुश शासक की असहनीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह भी हो सकता है। ऐसा विद्रोह सामान्यता बगावत के रूप में होता है जिसमें अत्याचारी के स्थान पर न्यायप्रिय शासक को गद्दी पर बिठाया जाता है। चूंकि समाज के आधारभूत मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं आता इसलिए इस विद्रोह को क्रांति नहीं माना जा सकता। यह केवल विधि सम्मत सत्ता की पुनर्स्थापना ही होती है।

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) तीन पंक्तियों में प्रारंभिक तथा अधीनस्थ राज्य की परिभाषा लिखिए।

.....

.....

.....

2) विद्रोह और क्रांति का अंतर दो पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

17.6 सारांश

इस इकाई में हमने पारंपरिक और आधुनिक-पूर्व समाजों में राजनीतिक सत्ता के मुख्य पक्षों की चर्चा की है। हमने केंद्रीय सत्ता के प्रतीकात्मक और लौकिक (secular) पक्ष पर विचार किया है और क्षेत्र, जनसंख्या और अर्थव्यवस्था के संदर्भ में इसके विस्तार और कार्यक्षेत्र का वर्णन किया है। इसके बाद हमने उन आधारों की चर्चा की जिन पर सत्ता को स्वीकारा जाता है और अंत में उन संस्थाओं का उल्लेख किया है जो राजनीतिक सत्ता को उसकी शक्तियों का दुरुपयोग करने से रोकती हैं।

पारंपरिक समाजों में राज्य के ये आधार आधुनिक संदर्भ में राजनीतिक प्रक्रियाओं पर रोशनी डालते हैं। आजकल हमारा जीवन समस्याओं के राजनीतिकरण से पूरी तरह आच्छादित है और इस प्रक्रिया को पूरी तरह से समझने के लिए, यह इकाई हमें अपने ज्ञान को व्यवस्थित करने के लिए कुछ अवधारणाएँ प्रदान करती है।

शब्दावली

वंश : ऐसे लोगों का समूह जिनके पूर्वज एक ही रहे हों।

वंश परंपरा : ऐसे लोगों का समूह जिनके पूर्वजों का ज्ञान हो।

सामंत : जमींदारों और किसानों के संबंधों पर आधारित राज्यतंत्र, जो जमींदारों द्वारा जमीन हथियाने के फलस्वरूप पैदा होता है।

पदमात्र धारी मुखिया : ऐसे पदमात्र धारी मुखिया जो अपने पद संबंधी कार्य करने की शक्ति के बिना पद धारण किये हों।

जनसांख्यिकी : समुदायों की संख्या को बताने वाले जीन, जन्म व मृत्यु संबंधी आंकड़े।

असामी वर्ग : पट्टे पर ली गई भूमि को जोतने वाले मातहत किसान।

खूनी बैर : दो जनजातियों या वंशजों के बीच खूनी बैर जिसमें खून का बदला खून से लिया जाता है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Beattie, J., 1964. *Other Cultures : Aims and Methods and Achievements in Social Anthropology*, Cohen and West : London ch. 9, PP. 139-64.

Bottomore, T.B., 1972. *Sociology : A guide to Problems and Literature*, Vintage Books: New York ch. 9, PP. 151-67.

Mair, L., 1985. *An Introduction to Social Anthropology :* (second edition and impression) oxford University Press : New Delhi chs. 7 and 8, PP. 109-138.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 राजनीतिक सत्ता का क्षेत्र विस्तार उस सीमा तक माना जाता है जहां तक यह लोगों के जीवन को नियंत्रित करती है।
2 राजा अपनी शक्तियों का प्रत्यायोजन या तो अपने नातेदारों के बीच या वफादार लोगों के बीच करता है।

बोध प्रश्न 2

1 प्रारंभिक राज्य का बाहरी प्रभाव के बिना अंदर से विकास होता है। अधीनस्थ राज्य विजय के द्वारा बनता है या बाह्य राजनीतिक प्रणालियों के द्वारा प्रभावित होकर बनता है।
2 विद्रोह (बगावत) में अत्याचारी शासक या सत्ता को हटाकर उसके स्थान पर न्यायप्रिय और विधिसम्मत सत्ता को स्थापित किया जाता है जबकि क्रांति में समाज के मूलभूत मूल्यों को चुनौती दी जाती है और उन्हें बदला जाता है।

इकाई 18 आधुनिक समाज

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 आधुनिक समाज
18.3 आधुनिक समाज में राजनीतिक प्रणाली
18.4 राजनीतिक प्रणाली के तत्व
  18.4.1 विचारधारा
  18.4.2 संरचना और अल्पतंत्र
18.5 राजनीतिक प्रणाली के कार्य
  18.5.1 राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती
  18.5.2 हित अभिव्यक्ति
    18.5.2.1 संस्थागत लाभकारी समूह
    18.5.2.2 संगठनात्मक लाभकारी समूह
    18.5.2.3 असंगठनात्मक लाभकारी समूह
    18.5.2.4 अनियमित लाभकारी समूह
  18.5.3 हित संघनन
  18.5.4 राजनीतिक संचार
  18.5.5 सरकारी कार्य
18.6 राजनीतिक प्रक्रियाएँ
18.7 वैधता का आधार
  18.7.1 पारंपरिक और प्राधिकार
  18.7.2 विधि पूर्ण-तर्क संगत प्राधिकार
  18.7.3 आधुनिक राजनीतिक प्रणाली की वैधता
18.8 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

यह इकाई आधुनिक समाज की राजनीतिक प्रक्रियाओं से संबंधित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- एक आधुनिक समाज का वर्णन कर सकेंगे;
- राजनीतिक आधुनिकीकरण के बारे में बता सकेंगे;
- आधुनिक समाज की राजनीतिक प्रणाली पर विचार-विमर्श कर सकेंगे; और
- राजनीतिक प्रणाली के प्रमुख अवयवों का विश्लेषण कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

आधुनिक समाज की राजनीतिक प्रणाली बहुत ही जटिल है। इस प्रणाली का विस्तार से वर्णन करने के लिए इसमें समाज और राज्यतंत्र से संबंधित विभिन्न मुद्दों को शामिल करना आवश्यक है।

यहाँ इस इकाई में विशेष रूप से आधुनिक समाज और आधुनिक समाज में राजनीतिक प्रणाली पर ध्यान केंद्रित किया गया है। एक राजनीतिक प्रणाली में कुछ एक महत्वपूर्ण तत्वों का समावेश होता है। इन तत्वों पर विचार करते हुए यह इकाई विचारधारा, राजनीतिक प्रणाली की संरचना और उसके प्रकार्य, राजनीतिक प्रक्रियाएँ और राजनीतिक प्रणाली की वैधता के आधार को प्रमुख रूप से उजागर करती है। राजनीतिक प्रणाली के ढाँचे पर विचार-विमर्श करते हुए यह इकाई उस प्रणाली के विभिन्न रूपों का वर्णन करती है, जैसे परंपरागत अल्पतंत्र, सर्वसत्ताधिकार अल्पतंत्र, आधुनिकता की ओर अग्रसर अल्पतंत्र, संरक्षात्मक प्रजातंत्र (Tutelary democracies) और राजनीतिक प्रजातंत्र। राजनीतिक प्रणाली के कार्यों पर विचार-विमर्श के प्रमुख क्षेत्र, राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती, हित अभिव्यक्ति, संस्थागत लाभकारी समूह, संगठनात्मक लाभकारी समूह, असंगठनात्मक लाभकारी समूह, एनोमिक अनियमित हित समूह, हित संघनन, राजनीतिक संपर्क और सरकार के कार्य रहे हैं। इस इकाई के अंतर्गत पारंपरिक प्राधिकार, प्रभावी प्राधिकार, वैध तार्किक प्राधिकार

और आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों की वैधता भी शामिल है। अंत में यह इकाई आधुनिकीकरण के आर्थिक और सामाजिक सूचकों तथा राजनीतिक प्रणाली के तत्वों का सार भी प्रस्तुत करती है।

18.2 आधुनिक समाज

इस भाग में हम आधुनिक समाज में राजनीतिक प्रणाली और राजनीतिक प्रक्रिया की चर्चा करेंगे। एक आधुनिक समाज की परिभाषा उस समाज के रूप में की जा सकती है जहाँ प्रतिव्यक्ति आय अपेक्षाकृत अधिक हो, साक्षरता, शहरीकरण और औद्योगीकरण का स्तर ऊंचा हो, पर्याप्त भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता हो, व्यापक एवं तीव्र जन-संचार माध्यम हो और सामाजिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं में नागरिकों का व्यापक सहयोग हो। आधुनिकीकरण के स्तर को मापने के लिए कुछ विद्वानों ने इसमें कुछ और बातें जोड़ दी हैं। ये हैं — जीवन सूचक गुणता, प्रतिव्यक्ति डाक्टरों और अस्पताल में बिस्तरों की उपलब्धता, सड़कों की लंबाई, वाहनों की संख्या, बिजली की खपत आदि।

एक देश द्वारा उपर्युक्त बातों के संबंध में प्राप्त स्थिति के आधार पर कोई भी व्यक्ति देश के आधुनिकीकरण की सीमा निर्धारित कर सकता है। इन्हीं सूचकों का प्रयोग करते हुए कोई भी व्यक्ति आधुनिकीकरण के पैमाने पर क्रमबद्ध देशों की एक सूची तैयार करके यह बता सकता है कि भारत एक दूसरे देश, उदाहरण के लिये बंगला देश की तुलना में अधिक आधुनिक है या कम।

विश्व के विकासशील देशों में आधुनिकीकरण के विचार का गहरा असर हुआ है। यहाँ तक कि कुछ पारंपरिक समाजों ने भी, जैसे अरब देशों ने विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिकीकरण करना आरंभ कर दिया है। उन्होंने अपनी सेनाओं का आधुनिकीकरण कर दिया है और बड़े पैमाने पर औद्योगिकीकरण शुरू कर दिया है। यहाँ तक कि जनजातीय समाजों में भी उपभोग की आधुनिक वस्तुएँ और कृषि की आधुनिक प्रौद्योगिकी लोकप्रिय बन चुकी है। आधुनिकीकरण के संदर्भ में याद रखने वाली एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि दूसरे क्षेत्रों में आधुनिकीकरण हो रहा हो तो किसी एक क्षेत्र को अधिक समय तक उससे वंचित नहीं रखा जा सकता। इसका निश्चित रूप से सामाजिक प्रणाली पर बुरा असर पड़ सकता है। अतः जब किसी एक समाज में आधुनिकीकरण होता है तो अनिवार्य रूप से उसके राजनीतिक ढाँचे को भी आधुनिक होना पड़ता है। उदाहरण के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण के फलस्वरूप राज्य के विभिन्न भागों में पारंपरिक संयुक्त परिवार प्रथा में परिवर्तन आये हैं। पुनः इसी आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप 70 के दशक में शक्ति के बँटवारे को लेकर नेपाल में व्यापक आन्दोलन चला था। इस आन्दोलन ने राजा के परंपरा से चले आ रहे वंशानुगत सत्ता के अधिकार को चुनौती दी थी। इसी आन्दोलन की बदौलत राष्ट्रीय पंचायत का उद्भव हुआ था, जिसने जनता के प्रतिनिधियों को काफी हद तक शक्ति प्रदान की। वास्तव में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने सभी समाजों के राजनीतिक विकास को प्रभावित किया है। राज्य पर आधुनिकीकरण ने गहरा प्रभाव डाला है और आंतरिक तथा बाह्य दोनों स्तरों पर कारोबार के प्रभावी संचालन में राज्य ने इसे एक उपयोगी हथियार के रूप में पाया है।

18.3 आधुनिक समाज में राजनीतिक प्रणाली

राजनीति शास्त्र के अध्ययन के प्रति पारंपरिक दृष्टिकोण में "राज्य" प्रमुख था। इस अर्थ में राजनीति शास्त्र राज्य से संबंधित कार्यकलापों का एक सेट है। मैक्स वेबर के अनुसार राज्य एक वह मानव समुदाय है जो एक निश्चित क्षेत्र के भीतर भौतिक शक्ति का वैध प्रयोग करने के एकाधिकार का सफल दावा करता है। अतः राजनीति शास्त्र का अर्थ राज्यों के बीच अथवा एक राज्य में कई समूहों के बीच शक्ति का हिस्सेदार बनने या शक्ति के वितरण को प्रभावित करने की दिशा में किये गये प्रयास से है। लेकिन यह परिभाषा उन समाजों की राजनीतिक प्रक्रिया को परिभाषित नहीं कर सकती है, जो कि प्रत्यक्षतः राज्य-विहीन हैं या जहाँ क्रांति के माध्यम से अथवा सैनिक बल द्वारा सत्ता प्राप्त करने वाला कोई भी शासक अपनी इस कार्यवाई और स्थिति के औचित्य के लिए अभी संघर्ष करता है। अतः राजनीति शास्त्र के लेखक उन विभिन्न ऐजेंसियों और उनके बीच परस्पर संबंध, जिसका अध्ययन पहले कोरे राज नीतिशब्द के अंतर्गत किया जाता है, अब उन पर चर्चा करने के लिए "राज्य" शब्द की बजाए "राजनीतिक" प्रणाली शब्द का उपयोग करना पसंद करते हैं। इस अर्थ में राजनीतिक प्रणाली को सामान्य सामाजिक प्रणाली के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। समाज की अन्य उप-व्यवस्थाओं के विपरीत राजनीतिक उप-प्रणाली की विशेषता यह है कि इसमें उसके नागरिकों और संगठनों के ऊपर जबरन बल प्रयोग का एकाधिकार होता है। अतः राजनीतिक प्रणाली किसी भी नागरिक को सामान्य हित में व्यवहार करने के लिए मजबूर कर सकती है। ऐसे बल प्रयोग करने की स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसा करना उचित है या नहीं। किसी एक व्यक्ति या समूह द्वारा संपूर्ण समाज पर जबरन बल प्रयोग उचित हो भी सकता है और नहीं भी। इसी प्रकार बहुवादी समाजों में राज्य के पास बल का एकाधिकार एक विवादग्रस्त प्रश्न बना हुआ है और स्वैच्छिक संगठनों ने राज्य द्वारा मनमाने और एकाधिकार रूप से प्रयोग किये गये बल के विरूद्ध चुनौती दे दी है।

इस अर्थ में राजनीतिक प्रणाली ऐसी संरचनाओं, कार्यों एवं कारोबार की एक प्रणाली है जो एक पहचान-योग्य और स्वतंत्र

सामाजिक प्रणाली में व्यक्तियों और व्यक्तियों के समूहों को नियंत्रित करती है। विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों के बीच कारोबार भी इसके अंतर्गत आ जाता है।

एक आधुनिक राजनीतिक प्रणाली की विशेषता यह है कि उसके शासकीय और गैर-शासकीय ढाँचे में उच्च स्तरीय विभिन्नता, सुस्पष्टता और कार्यात्मक विशिष्टता होती है। एक आधुनिक राजनीतिक प्रणाली में इन उप-प्रणालियों में से प्रत्येक प्रणाली सौंपी गई भूमिका को निभाती है और पारस्परिक विनियामक यंत्र (Mutually regulative mechanism) के रूप में कार्य करती है। चूँकि विभिन्न समाजों में आधुनिकीकरण की उपलब्धि का स्तर भिन्न-भिन्न होता है, अतः यह इन समाजों के राजनीतिक विकास में प्रतिबिंबित होता है।

हमने आधुनिक समाज और इस समाज की राजनीतिक प्रणाली की कई विशेषताओं की यहाँ चर्चा की है। हमें आशा है कि आपने आधुनिक समाज और राजनीतिक प्रणाली को समझ लिया होगा। नीचे दिये गये प्रश्नों को हल करके आप इसकी स्वयं जाँच कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) आधुनिक समाज का क्या अर्थ है? अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजनीतिक प्रणाली का क्या अर्थ है? अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) आधुनिक राजनीतिक प्रणाली की विशेषता यह है कि इसमें बहुत भिन्नता है।

हाँ ☐ नहीं ☐

4) राजनीतिक प्रणाली समाज की एक उप-प्रणाली नहीं है।

हाँ ☐ नहीं ☐

18.4 राजनीतिक प्रणाली के तत्व

एक आधुनिक समाज की राजनीतिक प्रणाली का सबसे अच्छा वर्णन (1) विचारधारा, (2) संरचना, (3) कार्य, (4) प्रक्रिया, और (5) वैधता के आधार के संदर्भ में किया जा सकता है।

18.4.1 विचारधारा (Ideology)

विचारधारा की परिभाषा ऐसे विश्वासों और प्रतीकों की एक एकीकृत प्रणाली के रूप में की जा सकती है जिसकी अपील उसके अनुयायियों के लिए उनके युक्तिसंगत और उद्देश्यमूलक अर्थ से भिन्न हो। इसमें अनुयायियों को भावनाओं में बहा ले जाने की शक्ति होती है। अनुयायियों द्वारा इसे आस्था का एक अनुच्छेद माना जाता है। सामान्य रूप से किसी एक राजनीतिक प्रणाली और विशेषकर उस प्रणाली के अंतर्गत राजनीतिक दलों की अपनी ही विचारधाराएँ हो सकती हैं, जो कि सदस्यों को राष्ट्र या दल के लक्ष्यों और साधनों से अवगत कराती हैं। इसका आशय यह हुआ कि अनुयायी न केवल बिना प्रश्न किए उन लक्ष्यों को स्वीकार करते हैं बल्कि सभी प्रकार के खतरों के बावजूद उन साधनों को स्वीकार करने के

लिए वचनबद्ध होते हैं। किसी भी विचारधारा और उसके लक्ष्यों व साधनों के आंतरिकीकरण की मात्रा व्यक्ति के राजनीतिक समाजीकरण और दल की अपने सदस्यों को अनुशासनबद्ध करने की क्षमता पर निर्भर करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी विचारधारा को समझने के स्तर में भिन्नता होती है। इसे किस स्तर तक समाहृत किया जाता है यह दल के सदस्यों के राजनीतिक वातावरण और इस बात पर निर्भर करता है कि दल इसे कितना महत्वपूर्ण समझता है।

विचारधारा का राजनीतिक, आर्थिक या धार्मिक आधार हो सकता है। कभी-कभी जातीय और सांस्कृतिक तत्व भी विचारधारा के आधार बन सकते हैं। लोकतंत्र एक राजनीतिक विचारधारा है जबकि साम्यवाद एक आर्थिक विचारधारा और धर्मतंत्रवाद एक धार्मिक विचारधारा हैं। लेकिन उनमें से किसी के भी बारे में नहीं कहा जा सकता कि इसकी केवल एक ही सीमा या क्षेत्र है। चूँकि राजनीति, अर्थशास्त्र और धर्म बहुत से क्षेत्रों में एक-दूसरे के ऊपर छा जाते हैं, और ऐसा विशेषकर उन विकासशील समाजों में होता है जहाँ संबंधों में भारी बिखराव है, अतः वहाँ राजनीतिक विचारधारा पर आर्थिक और धार्मिक विचाराधाराओं का प्रभाव हो जाता है। यही स्थिति आर्थिक और धार्मिक विचारधाराओं के संबंध में भी है। लोकतंत्र जैसी विचारधारा सभी नागरिकों के कल्याण की अपेक्षा करेगी (एक आर्थिक विचारधारा), एक बहु-धर्म समाज में यह धर्म-निरपेक्षता की भी अपेक्षा करेगी। साम्यवाद एक ऐसी विचारधारा का सर्वोत्तम उदाहरण है, जो राजनीतिक और अन्य क्षेत्रों को भी अपने में समाहित कर लेता है। यह धर्म के विरुद्ध है और कम से कम शुरू में सर्वएकाधिकार सामाजिक यह ढाँचे की अपेक्षा करता है।

आधुनिक राजनीतिक प्रणाली की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि गैर-राजनीतिक तत्व और मसले बड़ी मात्रा में राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश कर गये हैं। इस प्रकार भारत सहित विश्व के कई राजनीतिक दलों की विचारधाराओं पर जातीय, धार्मिक और क्षेत्रीय विचारों का असर पड़ने लगा है। अनेक देशों में धार्मिक कट्टरवाद ने भी अपने पनपने के लिए अच्छा वातावरण बना लिया है। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये राजनीतिक दलों की एक और प्रवृत्ति आतंकवादी तरीकों को और कई मामलों में आतंकवाद को अपनाने की है। इस प्रकार विश्व के अधिकांश देशों में राजनीतिक प्रक्रिया में अधिकाधिक पद्धतियाँ बनती जा रही हैं।

राजनीतिक विचारधारा के रूप में धार्मिक कट्टरवाद और अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आतंकवाद के उदय होने से राज्य के सामाजिक, आर्थिक आधार के नष्ट होने और राजनीतिक आधुनिकीकरण की अनिश्चितता की संभावना बढ़ गयी है। उदाहरण के लिए भारत में आतंकवाद द्वारा समर्थित धार्मिक रूढ़िवाद (जैसे कि पंजाब की घटनाएँ) और जातीय तथा भाषाई आंदोलनों से (जैसे उत्तरी बंगाल और असम के कई हिस्सों में) लोकतंत्र के लिए गंभीर खतरा पैदा हो गया है। बहु-जातीय समाजों में प्रमुख जातीय समूहों से संबद्ध राजनीतिक बुद्धिजीवी अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए जातीयता को एक आसान विचारधारा समझ रहे हैं।

18.4.2 संरचना और अल्पतंत्र (Structure and Oligarchy)

राजनीतिक प्रणाली का दूसरा तत्व उसकी संरचना है। किसी भी समाज की राजनीतिक संरचना अपने समकालीन शासक वर्ग की विचारधारा से निश्चित रूप से प्रभावित होती है। दूसरी ओर शासक वर्ग की विचारधारा पर सामाजिक ढाँचे, मूल्यों और समाज के विकास का प्रभाव पड़ेगा। वास्तव में सामाजिक संरचना और मूल्य एक-दूसरे को बल प्रदान करते हैं और विकास को प्रभावित करते हैं। पारंपरिक सामाजिक संरचना और सत्तावादी मूल्य साथ-साथ चलते हैं। निःसंदेह कुछ समाजों में क्रम-परिवर्तन होता भी है लेकिन यह अपवाद स्वरूप है। कई मामलों में सामाजिक संरचना और मूल्यों ने विकास में रुकावटें पहुँचाई हैं। कम से कम उन्होंने विकास की गति को तो धीमा कर ही दिया है। और कुछ देशों में आधुनिकीकरण के प्रयासों को रोक ही दिया है राजनीतिक दृष्टिकोण से उन्होंने समाजों की राजनीतिक संस्कृति और अपने राजनीतिक प्रबुद्ध वर्ग के अभि-विन्यास (Orientation) को बदल दिया है। दूसरी ओर उन्होंने समाजों की राजनीतिक प्रणालियों को प्रभावित किया है। यह याद रखा जाए कि जब हम अल्प तंत्र की बात करते हैं तो कोई समय-सीमा नहीं होती है। यह छोटा सत्ताधारी अल्प तंत्र अनिश्चित काल तक चल सकता है।

राजनीतिक संस्कृति और राजनीतिक प्रबुद्ध वर्ग के अभि-विन्यास के आधार पर, राजनीतिक संरचनाओं को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा गया है :

1) पारंपरिक अल्पतंत्र
2) सर्वसत्ताधारी अल्पतंत्र
3) आधुनिकता की ओर अग्रसर अल्पतंत्र
4) संरक्षात्मक प्रजातंत्र
5) राजनीतिक प्रजातंत्र

1) पारंपरिक अल्पतंत्र (Traditional Oligar :hy)

इसका स्वरूप प्रायः राजतंत्र और राजवंश का होता है और यह किसी संविधान की बजाए रिवाजों पर आधारित होता है। शासक वर्ग और नौकरशाही की भर्ती पारिवारिक संबंध या हैसियत के आधार पर की जाती है। शासक का लक्ष्य होता है कि वह उस प्रणाली को स्थिरता प्रदान करे और उसे बनाए रखे । अपने ही हित में यह आधुनिकीकरण की योजनाओं को चला सकता है, जैसे सेना और नौकरशाही का आधुनिकीकरण और यहाँ तक कि कल्याण कार्यक्रम की शुरुआत भी कर सकता है – लेकिन उसका मुख्य उद्देश्य राजशाही शासन को बनाए रखना होता है।

2) सर्वसत्ताधारी अल्पतंत्र (Totalitarian Oligarchy)

इस व्यवस्था में राजतंत्र पूर्ण रूप से समाज पर हावी रहता है। प्रबुद्ध शासक वर्ग के हाथों में शक्ति का बड़ी मात्रा में जमाव हो जाता है और सामाजिक गतिशीलता बहुत अधिक होती है। चीनी और रूसी शासन प्रणाली इसके उदाहरण हैं।

3) आधुनिकता की ओर अग्रसर अल्पतंत्र (Modernising Oligarchy)

इस प्रकार की व्यवस्था में राजनीतिक कार्य एक शासक वर्ग और नौकरशाही के हाथ में आ जाते हैं। इसमें प्रतियोगी राजनीतिक दलों का अभाव होता है। संघों और लाभकारी समूहों के कार्य बहुत ही सीमित हो जाते हैं। सरकार का मीडिया पर नियंत्रण होता है। शासक सामान्यतः प्रबुद्ध वर्ग के विकास और आधुनिकीकरण के प्रति वचनबद्ध होता है। कुछ लैटिन अमरीकी राज्य आधुनिक अल्पतंत्र के उदाहरण हैं।

4) संरक्षात्मक प्रजातंत्र (Tutelary Democracies)

इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह है कि इसने प्रजातंत्र के औपचारिक मानदंडों, जैसे विश्वव्यापी मताधिकार, संस्था बनाने और भाषण देने की स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के संरचनात्मक स्वरूपों को स्वीकार कर लिया है। किंतु इस व्यवस्था में कार्यपालिका तथा नौकरशाही के हाथों में शक्ति का केंद्रीकरण हो जाता है। विधान मंडल अपेक्षाकृत शक्तिहीन हो जाता है और न्यायपालिका हस्तक्षेप से हमेशा मुक्त नहीं रहती। कार्यपालिका प्रजातंत्र की स्थापना केवल अलग-अलग हिस्सों में करना चाहती है। आमतौर पर धारणा यह होती है कि लोग प्रजातांत्रिक प्रणाली के लायक नहीं होते हैं, अन्यथा राजनीतिक प्रणाली रास्ते से हट सकती है। और इससे अस्थिरता हो जाएगी। 1988 के अंत तक पाकिस्तान इसका अच्छा उदाहरण था।

5) राजनीतिक प्रजातंत्र (Political Democracies)

ये वे प्रणालियाँ हैं जो स्व-शासित कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका के साथ कार्य करती हैं। राजनीतिक दल और मीडिया स्वतंत्र और प्रतिस्पर्धात्मक होते हैं। इस प्रणाली में आत्म-शासित हित समूह और दबाव समूह होते हैं। इसके उदाहरण अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन हैं। भारत जैसे कुछ विकासशील देशों की राजनीतिक प्रणालियाँ ऐसे उदाहरण हैं जो इस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

जैसा कि पहले बताया गया है, पाँचों राजनीतिक प्रणालियों की राजनीतिक संरचनाओं में पर्याप्त भिन्नता होती है। केवल राजनीतिक प्रजातंत्र में ही राज्य के तीनों अंगों अर्थात् कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका के पास स्वायत्तता होती है और राजनीतिक दल एवं मीडिया स्वतंत्र और प्रतिस्पर्धात्मक होते हैं। अधिकांश मामलों में एक लिखित संविधान होता है जो इन निकायों की शक्तियों और कर्त्तव्यों को निर्दिष्ट करता है। अन्य सभी राजनीतिक प्रणालियों में या तो इन निकायों के पास स्वायत्तता नहीं होती और जहाँ होती भी है वहाँ उसे पूर्ण रूप से सीमित कर दिया जाता है। गैर-सरकारी ढाँचों को भी शासकों की इच्छानुसार चलना होता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) राजनीतिक प्रणाली के प्रमुख तत्वों का संक्षेप में वर्णन करें। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजनीतिक संरचनाओं के प्रमुख वर्गों के नाम बताएँ :

(1)
(2)
(3)
(4)
(5)

3) प्रजातंत्र में कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका स्वायत होती है।

हाँ ☐ नहीं ☐

4) पारंपरिक अल्पतंत्र में पदाधिकारियों का चयन उनकी योग्यता के आधार पर किया जाता है।

हाँ ☐ नहीं ☐

5) भारत एक संरचनात्मक प्रजातंत्र का उदाहरण है।

हाँ ☐ नहीं ☐

18.5 राजनीतिक प्रणाली के कार्य

अंतर्गामी कार्य

क) राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती
ख) हित अभिव्यक्ति
ग) हित संघनन
घ) राजनीतिक संचार

निर्गत कार्य

क) नियमों का निर्माण
ख) नियमों को लागू करना
ग) नियमों का अधि-निर्णयन

वास्तव में, (अंतर्गामी) कार्यों के पहले सेट की व्यवस्था गैर-सरकारी उप-प्रणालियों द्वारा की जाती है और (निर्गत) कार्यों के दूसरे सेट की व्यवस्था सरकारी उप-प्रणालियों द्वारा की जाती है।

18.5.1 राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती

राजनीतिक समाजीकरण व्यक्ति को राजनीतिक संस्कृति में शामिल करने की प्रक्रिया को कहा जाता है। यह सामान्य समाजीकरण का एक हिस्सा है किंतु इसका केन्द्र-बिन्दु और उद्देश्य भिन्न होता है। सामान्य समाजीकरण के विपरीत जिसकी शुरुआत बच्चों के जन्म लेते ही शुरू हो जाती है राजनीतिक समाजीकरण बचपन के बाद शुरू होता है। राजनीतिक समाजीकरण के दो मुख्य भाग हैं। पहला राजनीतिक व्यवहार और मामलों से संबंधित सामान्य मूल्यों और मानदंडों का समावेश करना और दूसरा, व्यक्ति को किसी विशेष राजनीतिक दल में प्रवेश कराना और उसे दल की विचारधारा तथा कार्रवाई कार्यक्रम से अवगत कराना।

पहला, काम सामान्य शिक्षा प्रणाली और राज्य के अन्य अभिकरणों द्वारा किया जाता है। और दूसरा अलग-अलग राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है। लोकतांत्रिक देशों और लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाने की ओर प्रयासरत देशों में राजनीतिक समाजीकरण के दोनों भाग अलग-अलग हैं। राजनीतिक समाजीकरण के पहले भाग का उद्देश्य राजनीतिक प्रक्रिया की सामान्य समझ-बूझ और नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्यों की जानकारी हासिल करना है और यह जानना है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं। जबकि दूसरे भाग के मामले में एक दल से दूसरे दल के बीच लक्ष्यों और साधनों की दृष्टि से अंतर हो सकता है। अल्पतंत्रों में समाजीकरण के अभिकरण यदि एक जैसे नहीं तो कमोबेश एक समान होते हैं। शासन करने वाला प्रबुद्ध वर्ग आम जनता की राजनीतिक शिक्षा को इस प्रकार की दिशा देगा कि उस (प्रबुद्ध वर्ग) का वर्चस्व और प्रभाव आम जनता पर बना रहे। शासन करने वाले प्रबुद्ध वर्ग की यह प्रवृत्ति उसके अपने हित में है। इस प्रकार जो सिद्धांत प्रस्तुत किया जाएगा उसमें इस प्रबुद्ध शासक वर्ग की अच्छी छवि दिखाई जाएगी।

राजनीतिक समाजीकरण का दूसरा पहलू वह समाजीकरण है जो गैर-राजनीतिक उप-प्रणालियों में होता है और जो राजनीति में बार-बार हस्तक्षेप करता है। ये जातीय, धार्मिक, भाषायी और अन्य विशेष संघ और संगठन हैं जो सदस्यों के संवेदनशील विचारों के साथ खिलवाड़ करके अपनी विचारधारा को थोपने के लिए राजनीति में प्रवेश कर जाते हैं या प्रवेश करने का प्रयास करते हैं। वास्तव में ये एक समाज के सुगम राजनीतिक विकास में खतरा पैदा कर देते हैं लेकिन जहाँ तक ये सारे विश्व में प्रसिद्धि पा रहे हैं, इन्हें मान्यता देनी पड़ेगी। विकासशील समाजों में यह प्रवृत्ति और भी अधिक है जहाँ चतुर राजनीतिज्ञों द्वारा आम जनता की सहानुभूति लेने के लिए उनका इस्तेमाल किया जा रहा है।

राजनीतिक भर्ती का अर्थ है राजनीतिक क्षेत्रों और राजनीतिक भूमिकाओं मे भर्ती। एक आधुनिक राजनीतिक प्रणाली में सभी नागरिक राजनीतिक प्रक्रिया से जुड़े होते हैं। और यदि वे किसी भी राजनीतिक दल के सक्रिय कार्यकर्ता न भी हों, तब भी राजनीतिक दलों और सरकार के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण विकसित करने के कारण उनकी इन प्रवृत्ति का प्रभाव उनके मतदान संबंधी निर्णय पर भी पड़ेगा, अतः इसका अर्थ यह हुआ कि उनका राजनीतिक समाजीकरण हो चुका है। राजनीतिक प्रणाली के अल्पतंत्र प्रकार में, चुनाव प्रक्रिया मात्र औपचारिक होती है लेकिन तब भी नागरिकों को राजनीति से प्रेरित होकर निर्वाचन की औपचारिकताओं से गुजरना होता है। इस प्रकार जब एक समाज में लगभग सभी व्यक्तियों का राजनीतिक समाजीकरण हो जाता है तब राजनीतिक भूमिकाओं और प्राधिकरणों में वास्तविक भर्ती केवल उन्हीं व्यक्तियों की की जाएगी जो इसके उपयुक्त होंगे। यह अवश्यमभावी है क्योंकि सामान्य समाजीकरण भी ऐसी पद्धतियों का अनुसरण करता है।

चुनाव अभियान

राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने वालों के लिए सामाजिक सुधार व्यापक और संकुचित हो सकता है। अरब देशों में यह आधार संकुचित, पितृसत्तात्मक और अल्पतंत्रीय है, जबकि भारत में यह व्यापक और प्रतिस्पर्धात्मक है।

पहले वर्ग में नेताओं की नियुक्ति उन सामाजिक समूहों में से मनोनयन के मानदंड द्वारा की जाती है जो ऐतिहासिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली हों (जैसे धनी कुलीन वर्ग के परिवार, कबीले या श्रेणियाँ)। अन्य वर्गों के लोग जैसे असैनिक कर्मचारी, सैनिक अधिकारी और पेशेवर तथा व्यावसायिक क्षेत्र के लोग शहरी शिक्षित वर्ग से आ सकते हैं। पितृसत्तात्मक समाजों में पेशेवर और व्यावसायिक प्रबुद्ध वर्ग और अन्य आधुनिक समूह प्रायः इसमें सहभागी नहीं होते हैं लेकिन आधुनिकीकरण का अनुसरण करने वाले बहुसंख्यक लोग राजनीतिक क्षेत्र में प्रतियोगी बन जाते हैं। सामाजिक वातावरण में जो बदलाव आ रहा है उससे ये समूह पारंपरिक समूहों को पीछे धकेलकर अवश्य ही आगे आ जायेंगे।

व्यापक आधार वाले समाजों की विशेषता यह है कि वहाँ राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा होती है लेकिन प्रायः शहरी, शिक्षित मध्यम-वर्ग के लोग ही राजनीति की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते हैं और राजनीतिक दलों में भर्ती के लिए यही व्यक्ति संभावित अपेक्षाओं के अनुरूप हो सकते हैं। सामाजिक गतिशीलता, जो प्रतिस्पर्धा का और सामाजिक परिवर्तन का एक हिस्सा है, अवश्य ही संतुलन को बिगाड़ सकती है ताकि गैर-मध्यम वर्ग के लोगों के लिए राजनीति में प्रवेश पाना संभव हो सके।

18.5.2 हित अभिव्यक्ति

हित अभिव्यक्ति का तात्पर्य राजनीतिक प्रणाली में अपने स्वार्थ को अभिव्यक्त करना है ताकि इसे सरकार के ध्यान में लाया जा सके। अंततः सभी राजनीतिक प्रणालियों में नागरिकों की आवश्यकताओं और समस्याओं की देखभाल राज्य द्वारा की जाती है। आधुनिक समाजों के जटिल और अंतः आश्रित स्वरूप के कारण व्यक्तियों की छोटी-मोटी समस्याओं का प्रभाव भी बहुत अधिक हो सकता है और अन्यत्र स्थित अभिकरण द्वारा उनके समाधान की आवश्यकता पड़ सकती है। व्यक्ति की अधिकांश समस्याएँ उसके नियंत्रण से बाहर होती हैं और इनके समाधान के लिए उसे राज्य की सहायता की ज़रूरत होती है। हो सकता है कि ये समस्याएँ राजनीतिक न हों लेकिन उनके समाधान के लिए राजनीतिक (शासकीय) कार्रवाई

की जरूरत पड़ सकती है। तथापि, जिस ज़रूरत पर ध्यान दिया जाना है उसकी अभिव्यक्ति ज़रूरी होती है। प्रायः व्यक्तिगत मांगों की ओर निर्णय लेने वाले अभिकरणों का ध्यान दिलाना कठिन होता है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति सामूहिक रूप से की जाती है, अतः एक जैसी समस्याओं वाले लोग एकजुट हो जाते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार के आधार पर उन्हें इस प्रकार विभाजित किया जाता है : संस्थागत लाभकारी समूह, संगठनात्मक लाभकारी समूह, असंगठनात्मक लाभकारी समूह और आर्थिक समूह।

18.5.2.1 संस्थागत लाभकारी समूह

ये विधिवत् रूप से गठित स्थिर और संरचनात्मक रूप से संस्थात्मक होते हैं जैसे कि चर्च, नौकरशाही, सेना और विधानपालिका। यद्यपि उनके शासकीय कार्य स्पष्ट होते हैं, फिर भी वे या उनमें से कोई भी सक्रिय समूह, सुधार या सामाजिक न्याय के मुद्दे को उठा सकता है। और अपने औपचारिक ढांचे का उपयोग अपने विचारों की सुनवाई के लिए कर सकता है चाहे वह उनके निर्देशित कार्यों की श्रेणी में न आता हो। कई विकासशील देशों में नौकरशाही में प्रबुद्ध वर्ग या सेना पीड़ित वर्ग के मुद्दे को उठा सकती है।

18.5.2.2 संगठनात्मक लाभकारी समूह

इनके उदाहरण हैं, मजदूर संघ, प्रबंधकों, व्यापारियों और व्यवसायिकों के संगठन तथा जातीय, सांस्कृतिक और धार्मिक समूह या नागरिक समूह, युवा संठन आदि जैसे गैर-आर्थिक कार्य-कलापों के लिए संगठित विभिन्न अभिकरण, जिनके अपने हित और मांगों को रखने और अन्य राजनीतिक संरचनाओं जैसे राजनीतिक दलों, विधानपालिकाओं, नौकरशाही आदि तक अपनी मांगें पहुंचाने के लिए अपनी संगठित कार्य-विधियाँ होती हैं। कई विकासशील देशों में, इनमें से कई संस्थाओं का राजनीतिक झुकाव होता है और उनमें से कुछ एक जैसे मज़दूर संघ और युवा संगठन वास्तव में राजनीतिक दलों के श्रमिक मोर्चा, युवा मोर्चा तक भी हो सकते हैं। तथापि, इन संस्थाओं या संगठनों की खास विशेषता यह होती है कि उनके निश्चित लक्ष्य और साधन होते हैं तथा स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट सीमा होती है जो उनके सदस्यों को गैर-सदस्यों और अन्य व्यक्तियों से अलग करती है।

18.5.2.3 असंगठनात्मक लाभकारी समूह

ये वे समूह हैं जो औपचारिक रूप से स्थापित नहीं हैं लेकिन अपनी जाति, धर्म या पारिवारिक स्थिति के कारण महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए किसी शुल्क की वसूली की विधि या किसी सरकारी नियम आदि को बदलने जैसे किसी समस्या के बारे में किसी सरकारी अधिकारी या मंत्री को मिलने के लिए एक अनौपचारिक प्रतिनिधिमंडल का गठन किया जा सकता है। यह जरूरी नहीं है कि हित की अभिव्यक्ति एक प्रतिनिधिमंडल द्वारा ही हो। यह संभव है कि किसी औपचारिक या अनौपचारिक संगठन में, उस समूह का वक्ता बैठक में (या, जहाँ उसे इस प्रयोजन के लिए खासकर आमंत्रित किया गया हो) मंत्री या सरकारी अधिकारी के समक्ष अपनी शिकायतों या ज़रूरतों को रख सकता है। बहरहाल इन अवसरों पर मांगों की अभिव्यक्ति की जा सकती है।

18.5.2.4 अनियमित लाभकारी समूह

ये वे समूह हैं जिनका गठन स्वतः भी हो जाता है और ये अपेक्षाकृत अस्थिर और अल्पकालिक होते हैं जैसे कि किसी दंगे या प्रदर्शन में। यहां हम उग्र राजनीतिक प्रदर्शन — बल-प्रदर्शन, राजनीतिक दलों और उनके अग्रणी संठनों की रैलियों और रूट मार्च को शामिल नहीं कर रहे हैं। यहाँ हमारे सामने वे समूह हैं जिनका गठन तदर्थ आधार पर होता है और जो अभिव्यक्ति के अन्य तरीकों को अप्रभावी समझते हैं। कभी-कभी वे लम्बी अवधि तक रह सकते हैं और संस्था का रूप धारण कर सकते हैं।

18.5.3 हित संघनन

हित संघनन का अर्थ यह है कि विभिन्न हितों के समूहों द्वारा अभिव्यक्त मांगों की छटनी करके उन्हें एकत्र करना। हित अभिव्यक्त संघनन की प्राप्ति सामान्य नीतियों का निर्माण करके की जा सकती है जिनमें विभिन्न हितों को मिला दिया जाता है, समाहित किया जाता है या ध्यान में रखा जाता है। यह राजनीतिक दलों या सत्तारूढ़ प्रबुद्ध वर्ग अथवा सरकार के किसी अन्य अभिकरण द्वारा किया जा सकता है। हित अभिव्यक्ति संबंधी अभिकरण अपने इन हितों को मिला सकते हैं और नीति निर्धारकों के समक्ष पेश कर सकते हैं। इसका उदाहरण समाज में औरतों की निम्न स्थिति के संबंध में महिला संगठनों और अन्य संघों द्वारा उठाए गए मुद्दों के संदर्भ द्वारा दिया जा सकता है। इन संगठनों पर दबाव डाला गया कि वह औरतों के विकास के लिए नीतियाँ बनाएं। सरकार ने भी इन मुद्दों की अहमियत को समझते हुए औरतों के विकास के लिए नेशनल प्रास्पेक्टिव प्लान बनाया है। उन समाजों में जहाँ राजनीतिक कार्य इतने स्पष्ट रूप से विभाजित न हों, वहाँ हितों की अभिव्यक्ति और उनका समुच्चय प्रायः एक ही जगह हो सकता है। ऐसा कार्यों के पर्याप्त रूप से विशिष्टीकरण नहीं होने से होता है। जैसे ही राजनीतिक कार्यों का विकास होता है, संघनन और अभिव्यक्ति के कार्य भी अलग-अलग हो जाते हैं। आधुनिक समाजों में, राष्ट्रीय स्तर पर संस्थाएँ, स्थानीय यूनिटों की मांगों को एकत्र कर प्राधिकार प्राप्त निकायों के विचारार्थ प्रस्तुत करती हैं। यहाँ ये शीर्षस्थ निकाय हित अभिव्यक्ति तथा हित संघनन निकाय के रूप में भी कार्य करती हैं। लेकिन यहाँ यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि दोनों कार्य अलग-अलग हैं। पहला है हित की अभिव्यक्ति करना और दूसरा है कार्यान्वयन के रूप में विभिन्न हितों को एक जगह मिलाना।

वास्तव में, समुच्चय कार्यों का निष्पादन एक राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत अन्य प्रणालियों द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार संस्थाएँ और संगठन अपनी मांगों की अभिव्यक्ति करने के साथ-साथ एक संगठित रूप में उन्हें सम्मिलित कर सकते हैं और उन राजनीतिक तंत्रों को सौंप सकते हैं जहाँ राजनीतिक दल सुसंगठित है और सही ढंग से कार्य कर रहे हैं। वे व्यक्तियों और समूहों की मांगें भी उठाते हैं और अपने घोषणा-पत्र में इन्हें शामिल करते हैं। वैकल्पिक रूप में, ऐसी राजनीतिक प्रणाली में, ऐसी संस्थाएँ जिनकी एक या अन्य राजनीतिक दलों से सहानुभूति होती है, अपनी मांगों को अमल में लाने के लिए एक-दूसरे की मांगों को सम्मिलित करेंगी। ऐसा उस स्थिति में और भी अधिक होता है जब संस्थाएँ सरकार द्वारा अपनी मांगों को मनवाने में कठिनाई अनुभव करती हों। हमारे देश में ऐसे कई उदाहरण हैं। प्रत्यक्षतः कई स्वतंत्र मज़दूर संघ सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के श्रमिक मोर्चे के साथ संबद्ध हो जाते हैं। कुछ मज़दूर संघ जिनका अपना ही राजनीतिक झुकाव होता है, वे सत्तारूढ़ दल के पास जाते हैं। राजनीतिक प्रणाली में हित संघनन एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह भिन्न-भिन्न किन्तु अधिकांश मामलों में विरोधी मांग समूहों को ऐसे एकल अथवा अलग-अलग सेटों में श्रेणीबद्ध और संगठित करने में असमर्थ बनाता है जो व्यावहारिक हों और यदि राजनीतिक प्राधिकारी उन्हें गंभीरतापूर्वक लें तो आसानी से उन्हें कार्यान्वित किया जा सके। बहु-दलीय प्रणालियों में जहाँ दलों के बीच प्रतिस्पर्धा होती है सभी महत्वपूर्ण मांगों पर ध्यान देना सभी का उद्देश्य हो जाता है।

किसी भी राजनीतिक प्रणाली में जहाँ प्रभुत्वशाली दल हों और छोटे-छोटे विपक्षी दल हों, वहां हित संघनन एक कठिन कार्य है। कठिनाई उस समय होती है जब दल में एक कठोर पारंपरिक तत्व हो क्योंकि यह तत्व अवश्य ही आधुनिकीकरण के सभी प्रयासों का विरोध करेगा। ऐसी ही स्थिति उस हालत में भी होगी जब पारंपरिक तत्व कमजोर हों या उसका अस्तित्व न हो किन्तु उस समाज में विजातीय लोग हों। इस प्रकार, ऐसी जनसंख्या वाला समाज, जो जातीय, भाषागत और सांप्रदायिक आधार पर विभाजित हो, अलग-अलग समूहों के हितों को एकत्र करने में प्रमुख राजनीतिक दल के सामने एक बड़ी समस्या पैदा कर देता है। उस स्थिति में दल की एकता खतरे में पड़ सकती है। इसके परिणामस्वरूप दल के अंदर विघटन पैदा हो सकता है और नये दलों का निर्माण हो सकता है। इसके बावजूद भी समुच्चय हितों की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। दूसरी ओर इससे दूसरी उप-प्रणाली (अर्थात् नौकरशाही) के हाथ मजबूत हो जाएंगे, जिससे ऐसे समूह अपने हितों के लिए सहायता मांगेंगे।

18.5.4 राजनीतिक संचार

संचार किसी भी सामाजिक प्रणाली का जीवन रक्त होता है। संचार के माध्यम से ही अंतः वैयक्तिक संबंध और बौद्धिक-जनमानस संबंध स्थापित किये जा सकते हैं। किसी भी राजनीतिक प्रणाली में यह इतना ही महत्वपूर्ण है क्योंकि सभी प्रकार के राजनीतिक कार्य-समाजीकरण, भर्ती, अभिव्यक्ति, समुच्चय और संपूर्ण विधान-निर्माण, प्रवर्तन और अधिनिर्णयन की प्रक्रिया इस पर आधारित है। सूचना, जो किसी भी तर्क-संगत कार्रवाई का एक अनिवार्य साधन है, संचार के माध्यम से ही उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त, संचार माध्यमों के कारण ही राजनीतिक प्रणाली प्रभावशाली और जिम्मेदार ढंग से कार्य कर सकती है।

एक स्व-शासित, तटस्थ और पूर्णरूप से प्रभावी संचार प्रणाली सक्रिय एवं प्रभावी मतदाता और नागरिकता के विकास और अनुरक्षण के लिए अनिवार्य है। यह एक परिपक्व प्रजातंत्र में ही संभव है। विकासशील देशों में कई संचार माध्यमों खासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया (रेडियो और टेलीविजन) पर सरकार का नियंत्रण होगा। इन देशों में प्रेस पर लाभकारी समूहों का नियंत्रण होगा और इस प्रकार इनसे प्राप्त होने वाली सूचना चयनात्मक और निहित स्वार्थ पर आधारित होगी। साक्षरता का निम्न स्तर और परिवहन के कम साधन होने के कारण जहाँ एक ओर समाचार पत्रों और अन्य मुद्रण मीडिय का प्रसार सीमित होगा वहाँ दूसरी ओर गरीबी के कारण रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से भी संचार का प्रसार प्रतिबंधित हो जाएगा। कई आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों में राजनीतिक दल अपने अनुयायियों को शिक्षित और सूचित करने की दृष्टि से अपने समाचार पत्र निकालते हैं लेकिन उनसे प्रसारित सूचना चयनात्मक होती है।

आधुनिक समाज में भी जहाँ जन-संपर्क माध्यम का प्रसार काफी व्यापक है, व्यक्ति से व्यक्ति का संपर्क बहुत ही महत्वपूर्ण है। विकासशील समाजों में राय निर्माता और प्रबुद्ध-वर्ग उपलब्ध सूचना की छान-बीन करने और अपेक्षित सूचना अन्य अनुगामियों तक पहुंचाने में अच्छी खासी प्रसिद्धि पा लेते हैं। यह एक कारण है कि भारत सरकार के परिवार कल्याण कार्यक्रम को सहायता पहुँचाने के लिए सरकार नेताओं की राय की मांग करती है। विकासशील देशों में राजनीतिक दलों ने ग्रामीण जन-मानस (जो निरक्षर हैं और जन-संपर्क मीडिया से दूर हैं) तक पहुँचने के लिए व्यक्ति-से-व्यक्ति के संपर्क का साधन अपनाया है। आधुनिक समाजों में राजनीतिक सूचना जो सरकार से लोगों तक पहुंचती है, मात्रा में उस सूचना से काफी अधिक होती है जिसका प्रवाह नागरिकों से सरकार की ओर हो रहा है। इस प्रकार सरकार संचार नेटवर्क का व्यापक उपयोग करती है चाहे यह सरकार द्वारा नियंत्रित इलेक्ट्रॉनिक मीडिया हो, या समाचार पत्र हों अथवा नौकरशाही के माध्यम से परिपत्रों और आदेशों के रूप में भेजे गये सरकारी पत्र हों। सभी प्रकार के मीडिया के द्वारा प्रसारित संचार की एक विशेषता यह है कि संदेश के गलत होने की बड़ी संभावना रहती है। यद्यपि शिक्षित जनता और प्रभावशाली मीडिया काफी हद तक इस त्रुटि को दूर कर सकते हैं, लेकिन नेताओं की राय की मौजूदगी और प्रबुद्ध वर्ग तथा जन-मानस के बीच का अंतर संचार की विषय-वस्तु को काफी हद तक तोड़-मरोड़ सकता है।

18.5.5 सरकारी कार्य

सरकारी कार्यों को तीन मुख्य कार्यों में बाँटा जा सकता है जिनके अंतर्गत आधुनिक सरकारों के सभी कार्य आ जाते हैं। ये हैं — नियमों का निर्माण नियमों का प्रवर्तन और नियम अधि–निर्णयन।

आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों की एक खास विशेषता यह है कि सरकारी कार्यों को अलग-अलग हिस्सों में बाँटने और अलग-अलग अभिकरणों को सौंपने की प्रवृत्ति बढ़ गई है इस प्रकार नियमों का निर्माण अधिकांश रूप से विधानपालिका द्वारा किया जाता है और अंशतः कार्यपालिका द्वारा, जबकि नियमों को कार्यपालिका द्वारा नौकरशाही की मदद से लागू किया जाता है। नियमों का अधिनिर्णयन न्यायपालिका द्वारा किया जाता है, जो कि आधुनिक देशों में कार्यपालिका और विधानपालिका से स्वतंत्र होती है। तथापि, दो ऐसे तत्व हैं जो इस स्थिति में अंतर पैदा करते हैं। अति आधुनिक समाजों में, सरकारी कार्यों की औपचारिक और अनौपचारिक व्यवस्था में काफी अंतर है। जब कि औपचारिक व्यवस्था देश के संविधान में निहित होती है, लेकिन वास्तविक व्यवहार में इसका बहुत कम ध्यान रखा जाता है। यह वास्तव में किसी देश की राजनीतिक संस्कृति और सरकार के स्वरूप पर निर्भर करता है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए

ख) इकाई के अन्त में दिये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए

1) संक्षेप में एक राजनीतिक प्रणाली के प्रमुख कार्यों का वर्णन करें। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) राजनीतिक प्रणाली के प्रमुख लाभकारी समूहों के नाम बताएँ?

क)

ख)

ग)

घ)

3) राजनीतिक समाजीकरण, किसी व्यक्ति को समाज की राजनीतिक प्रणाली में शामिल करने की प्रक्रिया है।

हाँ ☐ नहीं ☐

4) जैसे ही कोई बच्चा जन्म लेता है उसका राजनीतिक समाजीकरण शुरू हो जाता है।

हाँ ☐ नहीं ☐

5) सरकार के कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

18.6 राजनीतिक प्रक्रियाएँ

किसी भी राजनीतिक प्रणाली के भीतर और राजनीतिक प्रणालियों के बीच जो कार्य-कलाप चलते हैं उन्हें राजनीतिक प्रक्रियाएँ कहा जा सकता है। इनमें व्यक्तियों और शासन-प्रणाली के अंतर्गत समूहों, अर्थात् कार्यपालिका, विधानपालिका, न्यायपालिका, नौकरशाही, राजनीतिक दल, संचार मीडिया और राज्य के भीतर अन्य अभिकरणों के बीच परस्पर कार्यवाहियाँ भी शामिल होती हैं। ऐसे लाभकारी समूह जिनके कार्य-कलापों का राजनीतिक निर्णयों पर प्रभाव पड़ता है, राजनीतिक प्रणाली के अंग होते हैं। राजनीतिक ढांचे के स्वरूप के आधार पर इन प्रक्रियाओं में भिन्नता होगी। उदाहरण के लिए राजनीतिक प्रजातंत्र में, कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होगी। कानून निर्माण की जिम्मेदारी विधानपालिका की होगी न्यायालय कार्यपालिका या सत्तारूढ़ दल के हस्तक्षेप के बिना कार्य करते रहेंगे। वहाँ राजनीतिक दल और जन-संपर्क

मीडिया काफी स्वतंत्रता से कार्य करेंगे। इनका दखल समाज में काफी गहरा हो सकता है। दूसरी ओर एक नियंत्रित या निर्देशित प्रजातंत्र में वह स्वतंत्रता जो पूर्ण प्रजातंत्र के अंतर्गत विद्यमान होती है, उपलब्ध नहीं होगी। यहाँ भिन्न-भिन्न अधिकरण हो सकते हैं लेकिन ये सत्तारूढ़ प्रबुद्ध वर्ग या बहुधा एक-मात्र शासक द्वारा नियंत्रित होंगे और उसकी इच्छानुकूल कार्य करेंगे। तीन प्रकार के अल्पतंत्र भी अलग-अलग राजनीतिक प्रक्रियाओं को दर्शाते हैं। उदाहरण के लिए किसी भी सर्वसत्तात्मक राज्य में कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका के कार्यों में विशेष अंतर नहीं होगा। ये सभी सत्तारूढ़ दल या व्यक्ति के हाथ में एकीकृत हो जाते हैं।

18.7 वैधता के आधार

शक्ति का जोर-जबरदस्ती से उपयोग करना किसी भी राज्य की एक खास विशेषता होती है। इसका अर्थ यह है कि राज्य अपने प्राधिकार को मनवाने और यहाँ तक कि गलती करने वाले सदस्यों को कैद और मृत्यु दंड की सजा देने के लिए अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले व्यक्तियों और संगठनों पर जोर-जबरदस्ती करने के लिए शक्तियाँ ग्रहण कर लेता है। राज्य के प्राधिकार के सामने व्यक्तियों और संगठनों को झुकना होता है। यहाँ राज्य अंतिम प्राधिकारी बन जाता है। यह सदस्यों को कोई भी सजा दे सकता है । राज्य एक समग्र सत्ताधिकारी हो जाता है। अन्यथा नागरिक कानूनी रूप से या नैतिक दृष्टि से भी उनके प्राधिकार को मानने के लिए तैयार नहीं होंगे। सत्ता का उपयोग करने वाले सभी इस बात को जानते हैं और इसलिए अपनी शक्ति को विधिवत् बनाने के लिए उत्सुक रहते हैं।

मैक्स वेबर के अनुसार सत्ता के प्राधिकार को विधि-सम्मत बनाने के लिए तीन तरीके हैं। ये हैं (1) पारंपरिक (2) चमत्कारिक और (3) विधिपूर्ण तर्कसंगत

18.7.1 पारंपरिक और प्राधिकार

इस प्राधिकार की स्वीकृति रिवाज और प्रथा के आधार पर मिलती है। यह प्राधिकार आरंभ से ही था और अभी तक किसी ने इसे चुनौती नहीं दी है। बच्चों के ऊपर माता-पिता का प्राधिकार और प्रजा के ऊपर राजा का प्राधिकार ऐसे ही दावे पर टिका रहा है।

चमत्कारिक प्राधिकार : यह शब्द कुछ नेताओं की अपने अनुयायियों को आकर्षित करने वाली चमत्कारिक एक असाधारण शक्ति से लिया गया है। इन अनुयायियों के अनुसार उनके नेताओं के पास ऐसी शक्ति होती है जिसके द्वारा वह उन्हें विकट स्थिति से उभार लेता है और वे जो चाहते हैं वह उन्हें देने की स्थिति में होता है वे उसे अपना रक्षक मानते हैं। किसी भी नेता को समर्पित यह असाधारण शक्ति या जिसका वह दावा करता है, वास्तविक या काल्पनिक हो सकती है लेकिन उसके अनुयायियों के लिए यह वास्तविक होती है। उसके अनुयायी बिना कोई प्रश्न किये उसके प्राधिकार को मानते हैं। महात्मा गांधी और नेपोलियन ऐसे ही शक्ति वाले राजनीतिक नेता थे।

18.7.2 विधिपूर्ण - तर्कसंगत

विधिपूर्ण-तर्कसंगत प्राधिकार कानून पर आधारित होता है। जो व्यक्ति इस प्राधिकार का इस्तेमाल करता है उसकी नियुक्ति संबंधित पद पर नियमों के अनुसार की जाती है और इससे उसे उस पद से संबंधित सभी प्रकार की शक्तियाँ मिल जाती हैं। किसी भी देश का राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री जो सुस्थापित संवैधानिक तरीकों से सत्ता प्राप्त करता है, उस देश का वैसे शासक होता है और वहां की प्रजा उसे वैध शासक मानती है। चूँकि नियम विनियम औचित्य पर आधारित होते हैं, इसलिए वे तर्कसंगत होते हैं। वास्तव में कानून तर्कसंगत का प्रतिरूप माना गया है।

18.7.3 आधुनिक राजनीतिक प्रणाली की वैधता

आधुनिक राजनीतिक प्रणालियाँ विधिपूर्ण-तर्कसंगत प्राधिकार के आधार पर कार्य करती हैं। इस प्रणाली के अंतर्गत सभी अंग स्पष्ट रूप से स्थापित नियमों के आधार पर कार्य करते हैं और पदाधिकारियों को उन सभी कार्यों का निष्पादन को होता है जो उन्हें सौंपे जाते हैं। इस कार्रवाई से प्रभावित लोगों को कानूनी तौर पर उनकी आज्ञा माननी होती है। यदि किसी को कोई शिकायत होती है कि अमुक अधिकारी ने निरंकुश तौर पर या अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर कार्य किया है तो उसके लिए कानूनी और संवैधानिक उपाय है, अर्थात् वह किसी न्यायालय में जा सकता है। लेकिन यदि न्यायालय से निर्णय दे कि संबंधित अधिकारी सही है तो उसे वह निर्णय मानना पड़ता है।

आधुनिक राजनीतिक प्रणाली में ऐसे उदाहरण हैं जहाँ व्यक्ति क्रांति या तख्ता पलट कर सत्ता में आये हैं। कानून के अंतर्गत इन तरीकों की अनुमति नहीं है और इन तरीकों का उपयोग करके जो व्यक्ति सत्ता में आते हैं, उन्हें वैध शासक नहीं माना जा सकता है। अतः ये व्यक्ति अपनी स्थिति को विधि-सम्मत बनाने के लिए चिन्तित रहते हैं। वे या तो अपने को चमत्कारक शक्ति के द्वारा उनका रक्षक होने का दावा कर सकते हैं और यदि वह लोगों को विश्वसनीय न लगे तो वे वैध तरीकों से सत्ता में आने के लिए चुनाव में खड़े होने की पेश-कश कर सकते हैं। कालान्तर में, इनमें से कोई भी नेता सत्ता धारक करने के लिए अपने दावे को विधि सम्मत बनाए बिना अपने को सुरक्षित नहीं पा सकता है।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए

1) सत्ताधिकार को विधि-सम्मत बनाने संबंधी आधार के बारे में संक्षेप वर्णन करें। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2) आधुनिक राजनीतिक प्रणाली की वैधता के आधार के बारे में संक्षेप में वर्णन करें। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) आधुनिक प्रजातंत्र में कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

हाँ ☐ नहीं ☐

4) किसी नेता का चमत्कारिक प्राधिकार पारंपरिक नियमों और विनियमों से प्राप्त होता है।

हाँ ☐ नहीं ☐

5) विधिपूर्ण-तर्कसंगत प्राधिकार कानून पर आधारित होता है।

हाँ ☐ नहीं ☐

18.8 सारांश

आधुनिक समाज के विशेष लक्षण हैं उच्च प्रति व्यक्ति आय और उच्च साक्षरता दर। इस समाज में उच्च दर का शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता है। इसमें जन-संपर्क का भी सघन जाल होता है और सामाजिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं में नागरिकों का व्यापक सहयोग रहता है जैसे ही किसी समाज का आधुनिकीकरण होता है उस समाज का राजनीतिक ढाँचा आधुनिक होता जाता है।

चूँकि राजनीतिक प्रणाली, सामाजिक प्रणाली की ही उप-प्रणाली होती है, अतः इसके विशिष्ट ढाँचे और कार्य होते हैं जिनका लक्ष्य अभिज्ञेय और स्वतंत्र सामाजिक प्रणाली में व्यक्तियों या उनके समूहों का नियंत्रण करना होता है। आधुनिक राजनीतिक प्रणाली की विशेषता है उच्च स्तर की विभिन्नता, प्रभावशीलता और शासकीय तथा गैर-शासकीय संरचनाओं की कार्यात्मक विशिष्टता।

एक राजनीतिक प्रणाली के तत्व हैं, विचारधारा, संरचना, कार्य, प्रक्रिया और वैधता का आधार। विचारधारा एक राजनीतिक प्रणाली है जो लक्ष्य और साधनों को परिभाषित करती है। किसी भी समाज का राजनीतिक ढाँचा उसमें प्रचलित विचारधारा से प्रभावित होता है। तथापि, राजनीतिक संस्कृति और राजनीतिक प्रबुद्धवर्ग के पूर्वाभिमुखीकरण के आधार पर, किसी भी समाज का राजनीतिक ढाँचा इनमें से किसी भी प्रकार का हो सकता है: जैसे पारंपरिक अल्पतंत्र आधुनिकी अल्पतंत्र, संरक्षात्मक प्रजातंत्र और राजनीतिक प्रजातंत्र।

किसी भी राजनीतिक प्रणाली को इन प्रणालियों के रख-रखाव के लिए कुछ कार्यों का निष्पादन करना पड़ता है। एक राजनीतिक प्रणाली के प्रमुख कार्य हैं, राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती, हित अभिव्यक्ति, हित संघनन, राजनीतिक संचार, नियमों का निर्माण, नियम लागू करना और नियमों का अधि-निर्णयन।

राजनीतिक प्रणालियों के बीच और उनकी आपस की परस्पर-क्रिया द्वारा जो राजनीतिक प्रणालियाँ उभरती हैं वे राजनीतिक प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग होती हैं। राजनीतिक ढाँचों के स्वरूप के आधार पर इन प्रक्रियाओं में वास्तव में भिन्नता होती है।

सत्ताधिकार की वैधता के तीन प्रकार हैं (1) पारंपरिक, (2) चमत्कारिक और (3) विधिपूर्ण-तर्कसंगत।

आधुनिक राजनीतिक प्रणाली विधि-सम्मत, तर्कसंगत प्राधिकार पर आधारित होती है। यहाँ लोग सुस्थापित नियमों और कानूनों के आधार पर सरकार के पद धारण करते हैं और अपने कार्यों का निष्पादन करते हैं।

शब्दावली

एनोमिक : आदर्श-हीन और कानून-रहित एक सामाजिक स्थिति।

प्राधिकार : किसी व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों पर अपना प्रभाव डालने की वैध क्षमता। यह वैधता पारंपरिक, तर्कसंगत-विधिपूर्ण और चमत्कारिक प्राधिकार से प्राप्त की जा सकती है।

विशिष्ट-वर्ग : वे लोग जो अपनी गतिविधि के क्षेत्र — सामाजिक आर्थिक, धार्मिक आदि के क्षेत्र में आगे निकल गये हैं।

तख्ता पलटना : ऐसा शासन जिसमें सत्ता गैर-कानूनी/सैनिक बल से प्राप्त की जाती है। सत्ता हथियाने में हिंसा हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती।

चमत्कार : नेताओं की ऐसी आसाधारण शक्ति जिससे वे अपने अनुयायियों को वशीभूत कर देते हैं।

लाभकारी समूह : ऐसे समूह जिनका गठन उसके सदस्यों के आम हितों की प्राप्ति के लिए किया गया हो।

विचारधारा : विश्वास और प्रतीक की वह प्रणाली जिसका अनुयायियों पर असर पड़े।

आधुनिकीकरण : उच्च प्रति व्यक्ति आय, उच्च साक्षरता दर, शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, सामाजिक गतिशीलता, जनसंचार का व्यापक जाल और नागरिकों का सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं आदि में व्यापक सहयोग द्वारा आधुनिक राष्ट्र की मिश्रित विशेषताओं को प्राप्त करने की प्रक्रिया।

शक्ति : दूसरों पर अपने प्रभाव को डालने की क्षमता।

संरचना : व्यक्तियों, समूहों, संस्थानों और संगठनों के बीच संबंधों का जाल।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Kornblum, William, 1988. *Sociology in a Changing World*, New York : Holt, Rinehart and Winston Inc. Ch. 16 *Political Institutions* pp. 437-464.

Macionis, John, J. 1987. *Sociology*, Prentice-Hall Inc. New Jersey : Ch. 16 *Politics and Government* pp. 447-479; and Ch. 17 *The Economy and Work*, pp. 481-514.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) आधुनिक समाज की परिभाषा उस समाज के रूप में की जा सकती है जिसमें प्रति व्यक्ति आय अपेक्षाकृत अधिक हो। इसमें उच्च दर की साक्षरता, शहरीकरण, औद्योगिकीकरण, भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता होती है। इसमें जनसंचार का क्षेत्र व्यापक होता है और सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं में नागरिकों का भारी सहयोग रहता है।

2) राजनीतिक प्रणाली सामाजिक प्रणाली की एक उप-प्रणाली होती है और इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें नागरिकों और संगठनों के ऊपर जोर-जबरदस्ती की शक्तियाँ निहित हो जाती हैं। एक राजनीतिक प्रणाली का लक्ष्य अभिज्ञेय और स्वतंत्र सामाजिक प्रणाली में व्यक्तियों और समूहों का नियंत्रण करना होता है।

3) हाँ

4) नहीं।

बोध प्रश्न 2

1) किसी भी राजनीतिक प्रणाली के प्रमुख तत्व हैं 1) विचारधारा, 2) संरचना, 3) कार्य, 4) प्रक्रिया, और 5) वैधता का आधार। इन तत्वों का एक विशिष्ट राजनीतिक प्रणाली के अनुरूप संगत अर्थ होता है।

2) 1) पारंपरिक अल्पतंत्र;
   2) सर्वसत्तात्मक अल्पतंत्र;
   3) आधुनिकता की ओर अग्रसर अल्पतंत्र;

4) संरक्षात्मक प्रजातंत्र; और
5) राजनीतिक प्रजातंत्र

3) हाँ

4) नहीं

5) नहीं

बोध प्रश्न 3

1) एक राजनीतिक प्रणाली द्वारा किये जाने वाले कार्य इस प्रकार हो सकते हैं: राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती, हित अभिव्यक्ति, हित संघनन, राजनीतिक संचार, नियमों का निर्माण, नियमों का प्रवर्तन और नियमों का अधि-निर्णयन।
2) क) संस्थागत लाभकारी समूह,
   ख) संगठनात्मक लाभकारी समूह,
   ग) असंगठनात्मक लाभकारी समूह, और
   घ) अनियमित लाभकारी समूह,

3) हाँ

4) नहीं

5) नियम निर्माण, नियम प्रवर्तन और नियम अधि-निर्णयन एक सरकार के प्रमुख कार्य हैं। नियमों के निर्माण के लिए विधानपालिका होती है जबकि नियमों का प्रवर्तन और नियमों का अधि-निर्णयन कार्यपालिका और न्यायपालिका द्वारा किया जाता है।

बोध प्रश्न 4

1) प्राधिकार की वैधता के तीन मुख्य आधार हैं : पारंपरिक आधार, चमत्कारिक प्रभाव का आधार और तर्कसंगत विधि का आधार। पारंपरिक आधार की स्वीकृति रिवाज और प्रथा के आधार पर दी जाती है। चमत्कारिक प्रभाव का आधार नेतृत्व के असाधारण गुण के द्वारा होता है, जब कि तर्कसंगत विधि का आधार देश के कानून पर आधारित होता है।

2) आधुनिक राजनीतिक प्रणाली तर्कसंगत विधि-प्रणाली के आधार पर कार्य करती है। सरकारी कार्यालयों में सभी व्यक्ति स्थापित नियमों के आधार पर अपने कर्त्तव्यों का निष्पादन करते हैं। भारत तर्कसंगत विधि प्राधिकार का एक उदाहरण है।

3) हाँ

4) नहीं

5) हाँ

इकाई 19 राज्य तथा अन्य संस्थाएँ

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 राज्य
  19.2.1 जनसंख्या
  19.2.2 क्षेत्र
  19.2.3 सरकार
  19.2.4 प्रभुसत्ता
19.3 राज्य और सरकार
19.4 राज्य और समाज
19.5 राज्य और अन्य संघ
19.6 राज्य और राष्ट्र
19.7 राजनीतिक व्यवस्था में संस्थाएँ
  19.7.1 सरकारी संगठन
    19.7.1.1 विधानपालिका
    19.7.1.2 कार्यपालिका
    19.7.1.3 न्यायपालिका
    19.7.1.4 नौकरशाही
  19.7.2 गैर-सरकारी संगठन
    19.7.2.1 राजनीतिक दल
    19.7.2.2 हितबद्ध समूह
    19.7.2.3 प्रेस
19.8 व्यक्ति और राज्य
19.9 लोकतंत्र और व्यक्ति
19.10 सारांश
  शब्दावली
  कुछ उपयोगी पुस्तकें
  बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में राज्य तथा समाज की अन्य संस्थाओं की चर्चा की गयी है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- राज्य की व्याख्या कर सकेंगे;
- राज्य और समाज की अन्य संस्थाओं के अंतःसंबंधों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- राजनीतिक व्यवस्था की मुख्य संस्थाओं के बारे में बता सकेंगे; तथा
- राज्य और लोकतंत्र में व्यक्ति की स्थिति पर प्रकाश डाल सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

इस इकाई में राज्य तथा राजनीतिक व्यवस्था में शामिल अन्य संस्थाओं की चर्चा की जाएगी। इन संस्थाओं में सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाएँ शामिल हैं। सरकारी संस्थाओं में कार्यपालिका, विधानपालिका, न्यायपालिका तथा नौकरशाही (Bureaucracy) को तथा गैर सरकारी संस्थाओं में राजनीतिक दलों, हितबद्ध समूहों (Interest groups) तथा प्रेस को लिया गया है। प्रेस को राजनीतिक व्यवस्था के एक भाग के रूप में इसलिए शामिल किया गया है क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था के दूसरे तत्वों को अपनी भूमिका से यह बहुत प्रभावित करती है। इसके अलावा इस इकाई में राज्य तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्यक्ति की भूमिका पर भी विचार किया गया है।

19.2 राज्य

राजनीतिक समाजशास्त्री उन उप-व्यवस्थाओं को भी, जिनका राज्य के साथ सीधा संबंध नहीं है, राज्य में शामिल करने

लिए "राज्य" की जगह "राजनीतिक व्यवस्था" शब्द का इस्तेमाल करना अधिक उचित समझते हैं। फिर भी, राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण करते समय, राज्य को सर्वोच्च स्थान देना सही है, क्योंकि समाज में केवल राज्य के पास ही सर्वोच्च शक्ति (Coercive power) होती है। राजनीतिक शास्त्र में राज्य शब्द का अर्थ इसके आम प्रचलित अर्थ से भिन्न होता है। सामान्य बातचीत में राज्य शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। जैसे "उत्तर प्रदेश एक राज्य है" या हम "राज्य सहायता" की बात करते हैं। वास्तव में उत्तर प्रदेश उस अर्थ में राज्य नहीं है, जिस अर्थ में हम इस का इस्तेमाल कर रहे हैं। इसी प्रकार जब हम "राज्य सहायता" की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य राज्य से न हो कर सरकार से होता है।

राजनीतिक वैज्ञानिक राज्य शब्द की किसी एक सर्वमान्य परिभाषा पर सहमत नहीं होते। अतः हम यहाँ राज्य की कुछ विभिन्न परिभाषाओं की चर्चा करेंगे ताकि राज्य की सभी विशेषताएँ पता चल जाएँ। यूनानी दार्शनिकों ने राज्य को एक ऐसी प्राकृतिक और अनिवार्य संस्था माना है जो राजनीतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की आवश्यकताओं के फलस्वरूप बनी है। मार्क्सवादियों की दृष्टि में राज्य शासक वर्ग के हाथों में शोषण का एक उपकरण होता है। समाजशास्त्रियों के अनुसार राज्य एक ऐसा संघ है जो सरकार द्वारा बनाए और लागू किये गये कानूनों के द्वारा सीमाबद्ध समुदायों में, सामाजिक व्यवस्था की सार्वभौमिक बाहरी स्थितियों को कायम रखता है।

राज्य को एक ऐसे समाज के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो सरकार और शासितों में बँटा होता है और जिसमें राज्य एक निश्चित भूभाग में अन्य सभी संस्थाओं पर अपना अधिकार रखता है। कुछ अन्य राजनीतिक विज्ञानियों का मानना है कि राज्य ऐसे लोगों को कहा जाता है जो कानून के लिए एक निश्चित क्षेत्र में संगठित होते हैं।

एक स्वतंत्र राज्य के निम्नलिखित लक्षण होते हैं। इसमें रहने वाला समुदाय राजनीतिक उद्देश्य के लिए स्थायी रूप से इसमें निवास करता है, इसके पास एक निश्चित भूभाग होता है, और यह बाहरी नियंत्रण से मुक्त होता है। राज्य के सभी स्वीकृत तत्वों को ध्यान में रखते हुए राज्य की एक निश्चित परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि "राज्य कम या अधिक ऐसे लोगों का समुदाय होता है जो एक निश्चित क्षेत्र में स्थायी रूप से रहता है, जो बाह्य नियंत्रण से मुक्त होता है, और जिसकी एक संगठित सरकार होती है; जिसकी आज्ञा का पालन अधिकांश लोगों द्वारा किया जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से राज्य के निम्नलिखित आवश्यक तत्व उभर कर सामने आते हैं। (क) जनसंख्या, (ख) क्षेत्र, (ग) सरकार, तथा (घ) प्रभुसत्ता। आइये संक्षेप में इन तत्वों का विश्लेषण करें।

19.2.1 जनसंख्या

राज्य का अभ्युदय मनुष्य की समूह में रहने की सहज वृत्ति तथा राजनीतिक बोध के फलस्वरूप हुआ। राज्य जीवन की कुछ ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अस्तित्व में आता है और बाद में एक अच्छे और व्यवस्थित जीवन के लिए अपना अस्तित्व बनाए रखता है। अर्थात् एक राज्य के लिए लोगों का होना पहली शर्त है। बिना लोगों के, कोई भी राज्य जीवित नहीं रह सकता। फिर भी, एक अकेला परिवार या कुछ परिवारों के एक समूह से राज्य नहीं बन सकता। एक राज्य के लिए कम-से-कम इतने पर्याप्त लोगों का होना आवश्यक है, जिनके लिए राज्य का अर्थ और महत्ता हो और उन्हें लगे कि उनके लिए एक राज्य होना चाहिए। 100 करोड़ से ऊपर की आबादी वाला चीन और लगभग एक लाख की आबादी वाला मालदीव दोनों ही राज्य हैं। अधिक जनसंख्या वाले राज्य कम जनसंख्या वाले राज्यों की अपेक्षा राजनीतिक रूप से कुछ अधिक लाभ में रहते हैं।

19.2.2 क्षेत्र

कुछ विद्वानों का मत है कि एक राज्य के लिए क्षेत्र का होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है अर्थात क्षेत्र एक राज्य का अनिवार्य तत्व नहीं है। इन विद्वानों के अनुसार खानाबदोश समुदाय के लोगों के पास राजनीतिक व्यवस्था तो होती है किंतु भोजन की तलाश में उन्हें जगह-जगह घूमना पड़ता है। और वे किसी एक निश्चित स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रह सकते। फिर भी इन विद्वानों के विपरीत अधिकांश विद्वानों का मत है कि एक राज्य के पास एक ऐसा निश्चित स्थायी क्षेत्र होना आवश्यक है जिसे सीमाबद्ध किया जा सके। वर्तमान में, विश्व में ऐसा कोई भी राज्य नहीं है जिसके पास क्षेत्र न हो और न ही कोई ऐसा क्षेत्र है जो किसी राज्य का भाग न हो। यदि किसी राज्य के पास कोई निश्चित क्षेत्र न हो तो वह राज्य न तो अपने लोगों को पहचान सकता है और न ही शासन कर सकता है। क्षेत्र न होने से, वह अन्य राष्ट्रों के साथ अपने संबंध भी बनाए नहीं रख सकता।

राज्य के पास अपने क्षेत्र का होना इसलिए भी जरूरी है कि राज्य को अपनी देखभाल के लिए राजस्व की जरूरत होती है। बिना किसी आर्थिक आधार के यह राजस्व प्राप्त नहीं किया जा सकता। और राज्य की सत्ता में यह आर्थिक आधार क्षेत्र (भूमि और पानी) ही प्रदान करता है। दूसरी बात यह है कि राज्य अपने लोगों पर अपनी सत्ता उसी स्थिति में बनाए रख सकता है जब वे सब किसी एक निश्चित क्षेत्र में स्थायी रूप से रहते हों। क्षेत्र का होना इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यह अपने भीतर रहने वाली जनसंख्या को निश्चित करता है। इसी प्रकार क्षेत्र किसी राज्य की भौतिक सीमाएँ भी निर्धारित करता है। यह बात बिलकुल प्रमाणित है कि भारत सरकार अपने राज्य के क्षेत्र से बाहर रहने वाले लोगों पर उनके राज्य की सहायता के बिना किसी भी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं रख सकती। इसलिए राज्य के लिए एक निश्चित

क्षेत्र का होना अनिवार्य शर्त है। जनसंख्या के संदर्भ में क्षेत्र को देखें तो इस बात के लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि एक राज्य के पास कम-से-कम कितना क्षेत्र होना चाहिए। यह कम या अधिक हो सकता है। विश्व में सोवियत रूस जैसा राज्य भी है जिसके पास 12.4 मिलियन वर्ग किलोमीटर क्षेत्र है और मालदीव जैसा छोटा राज्य भी है जिसके पास केवल कुछेक सौ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र ही है। छोटे राज्यों के पक्ष में कभी-कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि वह राज्यों की अपेक्षा छोटे राज्यों में लोकतंत्र अधिक सफल रहता है उदाहरण के रूप में प्रत्यक्ष लोकतंत्र के घर स्वीट्जरलैंड की बात की जाती है। किंतु यातायात एवं संचार माध्यमों में हुई तीव्र प्रगति ने यह संभव बना दिया है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था वाली सरकार बड़े राज्यों में कुशलता से कार्य कर सके। छोटे राज्यों की तुलना में बड़े राज्य व्यापक प्राकृतिक संसाधनों एवं स्रोतों का लाभ उठा सकता है। विशेषकर उस समय जब एक समय के बाद स्रोत सूख जाते हैं।

19.2.3 सरकार

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि आम बातचीत में राज्य और सरकार को एक दूसरे के अर्थ में इस्तेमाल के लिया जाता है। वास्तव में सरकार राज्य की एक एजेंसी होती है जो राज्य की इच्छा को पूरा करने के लिए अस्तित्व में आती है। सरकार के बिना राज्य कार्य नहीं कर सकता। एक राज्य के होने का अर्थ ही है कि वह लोगों को जीवन के लिए एक कार्यप्रणाली या व्यवस्था प्रदान करता है। राज्य यह कार्य सरकार के द्वारा करता है। अतः सरकार के बिना एक राज्य कल्पना नहीं की जा सकती।

19.2.4 प्रभुसत्ता

प्रभुसत्ता का अर्थ है सर्वोच्च शक्ति। राज्य की पहचान का यह विशिष्ट लक्षण है कि उसके पास अपने क्षेत्र में सभी लोगों और संस्थाओं पर सर्वोच्च शक्ति होती है। राज्य की इस शक्ति को कोई चुनौती नहीं दे सकता। इसी शक्ति के द्वारा ये अन्य प्रभुता संपन्न राज्यों के साथ संबंध स्थापित करता है। अंतर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार कोई भी राज्य किसी दूसरे राज्य पर कोई अंकुश नहीं लगा सकता। वस्तुतः इस बात पर सभी विद्वान एकमत हैं कि प्रभुसत्ता राज्य की एक विलक्षण विशेषता

अब तक हुई चर्चा से यह बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो गयी है कि एक राज्य के लिए उन चार तत्वों का होना अनिवार्य है, जिनकी हमने ऊपर चर्चा की है। यदि इनमें से एक तत्व भी निकाल दिया जाए तो राज्य नहीं बन सकता।

अब तक हम राज्य के विभिन्न लक्षणों की चर्चा कर चुके हैं। हमें आशा है कि आप इन्हें समझ चुके होंगे। नीचे दिये गये बोध प्रश्न को हल करके आप इस बात की स्वयं जाँच कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) एक राज्य के कौन-कौन से आवश्यक तत्व होते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या प्रभुसत्ता का होना एक राज्य के लिए अनिवार्य है? कारण बताते हुए अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखिये

.....

.....

.....

.....

.....

3) क्या उत्तर प्रदेश एक राज्य है? सही उत्तर पर निशान लगाइये।

हाँ ☐ नहीं ☐

4) क्या एक सरकार का अपने क्षेत्र से बाहर की जनता पर भी नियंत्रण होता है? सही उत्तर पर निशान लगाइये

हाँ ☐ नहीं ☐

19.3 राज्य और सरकार

आप पढ़ चुके है कि आम बातचीत में राज्य और सरकार शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के लिए किया जाता है। किंतु ये दोनों शब्द किसी भी अर्थ में एक नहीं है। राज्य के बिना भी सरकार हो सकती है जैसा कि तथाकथित राज्यविहीन समाजों में देखने को मिलता है। ऐतिहासिक रूप से परिवार राज्य से पहले अस्तित्व में आया। एक सरकार राज्य के बिना अस्तित्व में रह सकती है किंतु एक राज्य सरकार के बिना नहीं बन सकता। सरकार राज्य का एक अनिवार्य तत्व है। इस का निर्माण राज्य के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए होता है। एक सरकार के बिना, राज्य की जनसंख्या अव्यवस्थित, असंगठित एवं अराजक लोगों की एक ऐसी भीड़ होगी जिसके पास सामूहिक कार्य-कलाप के कोई साधन नहीं होंगे। सरकार राज्य की इच्छा को मूर्त रूप देने वाला उपकरण होता है। इस प्रयोजन के लिए राज्य के पास प्रभुसत्ता होती है। सरकार के कई प्रकार हो सकते हैं जैसे लोकतांत्रिक सरकार, अधिनायकवादी सरकार आदि। और इसके भिन्न-भिन्न उद्देश्य हो सकते हैं जैसे साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, कल्याणकारी राज्य आदि।

राज्य और सरकार के बीच जो अंतर है उसे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है :

1 राज्य अमूर्त होता है किंतु सरकार राज्य का एक तत्व है।
2 राज्य सर्वोच्च होता है किंतु सरकार राज्य का एक तत्व है।
3 राज्य कमोबेश स्थायी होता है किंतु सरकार बदल सकती है।
4 राज्य के सभी जगह एक ही लक्षण होते हैं किंतु सरकारें विभिन्न प्रकार की होती हैं और भिन्न-भिन्न राज्यों में सरकार का रूप भिन्न हो सकता है।
5 राज्य की सत्ता मौलिक और असीमित होती है किंतु सरकार की सत्ता संविधान द्वारा प्राप्त की जाती है और संविधान द्वारा निर्धारित होती है। प्रभुसत्ता राज्य का लक्षण होता है न कि सरकार का।

19.4 राज्य और सरकार

राज्य वह एजेंसी है जो समाज में राजनीतिक प्रकार्य संपन्न करती है। इसलिए राज्य समाज की एक उपव्यवस्था (subsystem) है। समाज में अन्य एजेंसियों द्वारा किये जाने वाले कार्यों से राजनीतिक प्रकार्य भिन्न होता है किंतु प्रकार्यात्मक रूप से उन कार्यों से जुड़ा हुआ होता है। इसलिए जब समाज का संबंध विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं से होता है जैसे खाद्य उपलब्ध कराने वाले कार्य, अन्य आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति, परिवार और इससे संबंधित समाजीकरण की आवश्यकताएँ, भावात्मक और इससे जुड़ी हुई एकीकरण की आवश्यकता, सुरक्षा और इससे संबंधित राजनीतिक आवश्यकताएँ, तब राज्य इन सब आवशायक्ताओं की लगातार निर्बाध और संतोषजनक पूर्ति की गारंटी प्रदान करता है। राज्य ये सब कार्य अपनी सर्वोच्च शक्ति के इस्तेमाल द्वारा करता है। इसी शक्ति के द्वारा राज्य अपने क्षेत्र के सभी व्यक्तियों, संस्थाओं, समुदायों और एजेंसियों पर इस बात की नज़र रखता है कि वे समाज द्वारा सौंपे गये कार्यों को ठीक ढंग से पूरा करें।

इसके अलावा राज्य बाहरी हस्तक्षेपों से अपने नागरिकों को सुरक्षित रखता है। राज्य को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने हितों को आगे भी बढ़ाना होता है। इसके लिए राज्य के पास प्रभुसत्ता के रूप में अतिरिक्त शक्ति है, जो समाज के पास नहीं है। वास्तव में प्रभुसत्ता का होना ही राज्य को समाज से अलगाता है और इसी के फलस्वरूप राज्य के पास समाज के सदस्यों पर शासन करने का अधिकार प्राप्त होता है। यह संभव है कि एक राज्य की क्षेत्रीय सीमा और जनसंख्या समाज की सीमा और जनसंख्या को काटने लगे जैसाकि आज विश्व के अधिकांश देशों में हो रहा है जैसे इंग्लैंड और फ्रांस में।

19.5 राज्य और अन्य संस्थाएँ

राज्य और उन दूसरी संस्थाओं में भी अंतर होता है जो राज्य के क्षेत्र में कार्यरत होती हैं। ये दूसरी संस्थाएँ राज्य में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाती हैं। अपनी-अपनी जगह पर ये संस्थाएँ बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। और राज्य अपनी सर्वोच्च शक्ति के द्वारा इन्हे नियंत्रित करता है, क्रियान्वित करता है तथा आवश्यकता पड़ने पर समाप्त भी कर सकता है। फिर भी, कुछ राज्यों में ये संस्थाएँ इतनी शक्तिशाली बन गयी हैं कि राज्य की निरंकुश शक्ति के इस्तेमाल पर, एक सीमा तक अंकुश लगाने का कार्य भी करती हैं। इन संस्थाओं का मत है कि राज्य भी उनकी तरह केवल एक संस्था है और सभी संस्थाओं में इसे सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। इस तर्क को राजनीतिक अनेकवाद (Political pluralism) कहा जाता है। ब्रिटेन और अमेरिका में, जहाँ लोकतंत्र काफी हद तक परिपक्व हो चुका है, अनेकवाद राज्य की स्वेच्छाचारी शक्ति प्रयोग के लिए एक दृढ़ चुनौती बन गया है। इन संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली चुनौती के फलस्वरूप बहुत से कुलीन तंत्रीय सरकारों वाले राज्य अपने यहाँ संस्थाओं के विकास को प्रोत्साहित नहीं करते। विशेष कर ऐसी स्थिति में, जब ये संस्थाएँ हितबद्ध समूह बन रही हों। फिर भी, यह बात तो अनेकवादियों द्वारा भी मान ली गयी है कि राज्य के पास सर्वोच्च शक्ति है और यह रहनी भी चाहिए क्योंकि इसी के कारण ये संस्थाएँ सुचारु रूप से कार्य कर सकती हैं और आपसी झगड़ों को निपटा

सकती हैं। बहुराष्ट्र संगठनों के अस्तित्व में आने के समय, विदेशों में इन की गतिविधियों को आगे बढ़ाने के लिए राज्य की सहायता बहुत शिद्दत से महसूस की गयी।

19.6 राज्य और राष्ट्र

राज्य और राष्ट्र की धारणाओं में अंतर करना भी आवश्यक है। राष्ट्र शब्द अंग्रेजी के "नेशन" शब्द का अनुवाद है। नेशन शब्द लेटिन भाषा के शब्द "नेशो" (Natio) से बना है, जिसका अर्थ होता है — जन्म या पैदा होना। इसका यह अर्थ हुआ कि राष्ट्र उन लोगों को कहा जाता है, जो सामूहिक वंश के उत्तराधिकारी हों। राष्ट्र के जातीय लक्षण या विशेषताएँ राष्ट्र की बहुत सी परिभाषाओं में देखी जा सकती हैं। एक राष्ट्र को जातीय एकता की एक ऐसी जनसंख्या के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो भौगोलिक रूप से एक्यबद्ध क्षेत्र में रहती हो। जातीय एकता से हमारा तात्पर्य लोगों की उस एकता से है जो एक जैसे रीति-रिवाजों तथा पाप-पुण्य की एक जैसी चेतना से बनी हो। वास्तव में, एक राष्ट्र में लोग जातीयता, भाषा या धर्म के कारण आपस में इतने नहीं बंधे होते, जितने मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक कारणों से बंधे होते हैं। कहा जा सकता है लोगों में एकता की चेतना ही राष्ट्र होती है। एक बार यह चेतना प्राप्त कर लेने पर जातीय विभिन्नताओं का महत्व घट जाता है। स्वीट्जरलैंड इस बात का प्रमाण है जहां तीन जातीय समूह साथ-साथ रहते हैं।

अब हम राज्य और राष्ट्र के बीच के अंतर की पड़ताल कर सकते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात से एक राष्ट्र का सिद्धांत अथवा आत्मसंकल्प के आधार पर राज्यों का निर्माण व्यवहारिक राजनीति बन गयी है। नये राष्ट्र-राज्यों का निर्माण हुआ तथा राष्ट्र और राज्य को एक दूसरे के अर्थ में स्वीकार किया जाने लगा। आज भी हम देखते हैं कि देशों को राष्ट्र कह कर संबोधित किया जाता है जब कि इन्हें राज्य कहा जाना चाहिए न कि राष्ट्र। संयुक्त राष्ट्र संघ प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों का एक संघ है न कि राष्ट्रों का। एक राज्य निम्नलिखित मुद्दों पर एक राष्ट्र से भिन्न होता है:

1) राज्य, एक निश्चित क्षेत्र में व्यवस्था के लिए संगठित लोगों को कहा जाता है, जबकि राष्ट्र ऐसे लोगों को कहा जात है जो मनोवैज्ञानिक रूप से आपस में बँधे होते हैं।

2) राज्यत्व (Statehood) वस्तुनिष्ठ (objective) होता है जबकि राष्ट्रत्व (Nationhood) व्यक्तिनिष्ठ (subjective) होता है।

3) राज्यत्व कानून के द्वारा लागू किया एक कर्तव्य है, जबकि राष्ट्रत्व चेतना की एक विशेष स्थिति है, एक आध्यात्मिक अधिकार (spiritual possession) है।

4) एक राज्य में केवल एक राष्ट्र भी हो सकता है (जैसे रुमानिया, अलबेनिया, फ्रांस) और कई राष्ट्र भी हो सकते हैं (जैसे सोवियत यूनियन, भारत, कैनेडा)। इन्हीं कारणों से एक राष्ट्र दो या दो से अधिक राज्यों में विभाजित हो सकता है (जैसे पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी, उत्तरी कोरिया और दक्षिण कोरिया, पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ चीन और रिपब्लिक ऑफ चीन)।

राष्ट्र शब्द से संबंध रखने वाले दो शब्द और हैं राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद। राष्ट्रीयता उन लोगों में, आपस में जुड़े होने की आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक भावना को कहा जाता है, जिन की जाति, वंश, भाषा, परंपरा या इतिहास तथा राजनीतिक आकांक्षाएँ एक समान होती हैं। अर्थात् राष्ट्रीयता एकत्र रूप से महसूसने-सोचने तथा जीने का एक तरीका है। राष्ट्रीयता और राष्ट्रत्व पैदा करने वाली विशेषताओं पर आधारित लोगों में एकता की भावना का विकास ही राष्ट्रवाद होता है। राष्ट्रवाद, एक राष्ट्र में, लोगों में राष्ट्रीय पहचान पैदा करके उन्हें एक दूसरे के समीप लाता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राष्ट्र की धारणा के आधार पर बने राज्य अधिक व्यवहार्य (viable) या सफल होंगे किन्तु अनेक राष्ट्र राज्यों (Pluri-national) में अपनी सफलताओं से यह भी सिद्ध किया है कि राष्ट्रीयता राज्य की शक्ति का केवल एक पक्ष है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 राज्य और सरकार में कौन-सी आधारभूत भिन्नताएं होती हैं? अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखिये।

.....

.....

.....

.....

2 क्या राजनीतिक अनेकवाद की दृष्टि में केवल राज्य ही महत्वपूर्ण संस्था है?

हाँ ☐ नहीं ☐

3 क्या आत्मसंकल्प का अर्थ नागरिक के आत्मविकास का अधिकार होता है?

हाँ ☐ नहीं ☐

4 क्या संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व के केवल प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों का एक संघ है?

हाँ ☐ नहीं ☐

19.7 राजनीतिक व्यवस्था में संस्थाएँ

इस शीर्षक के अंतर्गत हम उन दो प्रकार की संस्थाओं की चर्चा करेंगे, जो आधुनिक समाजों में राज्य को कार्य करने के योग्य बनाती है। ये संस्थाएँ हैं :

क) सरकारी संगठन
ख) गैर-सरकारी संगठन

क) सरकारी संगठन
- कार्यपालिका
- विधानपालिका
- न्यायपालिका
- नौकरशाही

ख) गैर-सरकारी संगठन
- राजनीतिक दल
- हितबद्ध समूह
- प्रेस

19.7.1 सरकारी संगठन

सत्ता का बंटवारा जितने व्यक्तियों में होता है, उसी आधार पर यह कहा जाता है कि शासन एक व्यक्ति के द्वारा किया जा रहा है अथवा अनेक व्यक्तियों के द्वारा किया जा रहा है। केवल एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता होने पर उसे राजतंत्र, तानाशाही या अधिनायकवाद कहा जाता है। और यदि सत्ता अनेक व्यक्तियों के हाथ में हो तो उस शासन के कई रूप हो सकते हैं। यदि सत्ता कुछ लोगों के हाथों में ही हो तो उसे कुलीनतंत्र कहा जाता है। और यदि यह बहुत से लोगों के हाथों में हो तो उसे लोकतंत्र कहा जाता है। लोकतंत्र के भी भिन्न-भिन्न रूप होते हैं जैसे संसदीय लोकतंत्र या अध्यक्षात्मक लोकतंत्र। संसदीय लोकतंत्र का अर्थ है कि राज्य में संसद सर्वोच्च है। ब्रिटेन और भारत में संसदीय लोकतंत्र है। वास्तव में भारत में संसदीय लोकतंत्र का विचार ब्रिटेन से ही लिया गया है। अध्यक्षात्मक लोकतंत्र वह होता है जहाँ सर्वोच्च शक्ति राष्ट्रपति के हाथ में होती है और वह विधानपालिका के प्रति जवाबदेह नहीं होता। अध्यक्षात्मक लोकतंत्र का उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है। भारत में प्रधान मंत्री संघीय मंत्रीमंडल का प्रधान होता है और उसे संसद के बहुमत से हटाया जा सकता है। अमेरिका में, राष्ट्रपति को कांग्रेस (अमेरिका की संसद का नाम) नहीं हटा सकती। इसके अलावा लोकतंत्रात्मक सरकार एक दूसरे आधार पर भिन्न-भिन्न होती है। यह आधार है एकात्मक लोकतंत्र का और संघात्मक लोकतंत्र का। एकात्मक प्रकार का लोकतंत्र वहाँ होता है जहाँ सारी शक्ति केन्द्र सरकार के हाथों में होती है और स्थानीय सत्ता बिलकुल नहीं होती (जैसे श्री लंका में)। और संघात्मक प्रकार के लोकतंत्र में स्थानीय सरकारों के हाथों में भी कुछ सीमा तक सत्ता वितरित की जाती है (जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत)।

19.7.1.1 विधानपालिका

विधानपालिका सरकार के तीन प्रमुख अंगों में से एक है। यह राज्य कानून बनाने वाली संस्था है। संसदीय लोकतंत्र में, विधानपालिका के पास किसी कानून को बनाने या रद्द करने की असीमित शक्ति होती है। किन्तु अध्यक्षात्मक लोकतंत्र में अथवा राज्यतंत्र या तानाशाही सरकार में कानून बनाने या रद्द करने की विधानपालिका की शक्ति सीमित होती है। यहाँ तक कि ऐसे लोकतंत्रों में भी जहाँ कानून बनाने की विधानपालिका की सर्वोच्च शक्ति संविधान द्वारा सुरक्षित होती है, सत्ताधारी

वर्ग कई तरीकों से इसकी सर्वोच्चता को नज़रअंदाज करके, अप्रत्यक्ष स्रोतों से अपने कानून लागू कर लेता है।

संरचना और स्वरूप के आधार पर विधानपालिकाएँ कई प्रकार की होती हैं। दो मुख्य प्रकार हैं — एक सदन वाली और द्विसदन वाली विधानपालिका। उन राज्यों में जहाँ विधानपालिका केवल एक सदन वाली होती है, वहाँ कानून बनाने वाला सदन भी एक ही होता है (जैसे नार्वे, इज़राइल)। दो सदनों वाली विधानपालिका में दो सदन होते हैं, जिन्हें आमतौर पर असैम्बली (निचला सदन) और कौंसिल (ऊपरी सदन) कहा जाता है। भारत समेत विश्व के अधिकांश राज्यों में दो सदनों वाली व्यवस्था है। भारत में निचले सदन को लोक सभा और ऊपरी सदन को राज्य सभा कहा जाता है। इंग्लैंड में हाउस ऑफ कामन्स (House of Commons) और हाउस हॉफ लार्ड्स (House of Lords) कहा जाता है। भारत और इंग्लैंड दोनों में, दोनों सदनों का मिला-जुला रूप संसद (Parliament) है। संयुक्त राज्य अमेरिका में निचले सदन को हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स (House of Representatives) और ऊपरी सदन को सीनेट (Senat) कहा जाता है तथा दोनों को मिला कर कांग्रेस कहा जाता है। भारत में, अधिकांश राज्यों में द्विसदनीय व्यवस्था है (जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार)। किन्तु कई अन्य राज्यों में केवल एक सदन ही है (जैसे केरल, आंध्र प्रदेश)। वहाँ जहाँ केवल एक ही सदन होता है, इसे विधान सभा कहा जाता है, और जहाँ दोनों सदन होते हैं, वहाँ दूसरे सदन को विधान परिषद कहा जाता है।

अलग-अलग राज्यों में विधानपालिका की रचना भी भिन्न-भिन्न होती है। कुछ राज्यों में, जहाँ तानाशाही होती है, विधानपालिका के सभी या अधिकांश सदस्य सत्ताधारी या तानाशाह द्वारा नामांकित किये जाते हैं। कभी-कभी ऊपरी सदन के सदस्यों का चुनाव निचले सदन के सदस्यों द्वारा किया जाता है। निचले सदन के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुने जाते हैं। भारत में, निचले सदन (लोक सभा) के सदस्यों का चुनाव सीधे जनता द्वारा किया जाता है। और राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव राज्य की विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है। इंग्लैंड में ऊपरी सदन (Upper House) में कुलीनवंश के सदस्य होते हैं (सिर्फ चर्च अधिकारियों को छोड़ कर)। अमेरिका में कांग्रेस के दोनों सदनों के सदस्यों का प्रत्यक्ष चुनाव होता है।

जब कानून बनाने के लिए दो सदन हों, तब ऊपरी सदन निचले सदन की तुलना में कम शक्तिशाली होगा (अमेरिका को छोड़कर)। इंग्लैंड और भारत दोनों में, ऊपरी सदन के पास बहुत सीमित शक्ति है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि विधानपालिका का मुख्य कार्य कानून बनाना है, तथापि विश्व के लगभग सभी देशों में विधानपालिका को कानून बनाने के अलावा वित्तीय एवं न्यायिक कार्य भी करने पड़ते हैं। जैसा कि हम सभी जानते हैं, सरकार का वार्षिक बजट इसे ही पास करना होता है। विधानपालिका का बहुत अधिक समय सरकार के कार्यों की व्याख्या में बीतता है।

19.7.1.2 कार्यपालिका

यह सरकार का एक दूसरा अंग है। कार्यपालिका शब्द का इस्तेमाल उन तमाम सरकारी अफसरों के लिए किया जाता है, जिन का काम विधानपालिका द्वारा पारित कानूनों को क्रियात्मक रूप देना है। किंतु कार्यपालिका का कार्य सिर्फ़ कानून को लागू करना ही नहीं है। योजनाओं को बनाना और कार्यक्रमों के द्वारा उन्हें लागू करना भी कार्यपालिका की ही ज़िम्मेदारी है। इन सभी कार्यों के कारण कार्यपालिका काफी शक्तिशाली हो जाती है और इसी के परिणामस्वरूप, बहुत से विधायक कार्यकारियों की छत्रछाया का सहारा लेते हैं।

कार्यपालिका एक व्यक्ति की भी हो सकती है जैसे कोई अधिनायक या राजा या बहुत से व्यक्तियों की भी हो सकती है जैसे परिषद् या केबिनेट। फिर भी, दूसरी स्थिति में भी, जब कार्यपालिका बहुत से व्यक्तियों से बनी हो, (परिषद्) कार्यपालिका उसी व्यक्ति के द्वारा जानी जाती है, जो परिषद का मुखिया होता है, जैसे राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री या चेयरमैन आदि।

कार्यपालिका से संबंधित एक महत्वपूर्ण प्रश्न इसकी नियुक्ति के तरीके के बारे में है। निम्नलिखित तरीकों से मुख्य कार्यपालक सत्ता में आता है।

1) वंश का सिद्धांत : इस तरीके से राजा सत्ता में आते हैं। आधुनिक समय में बहुत कम राजा राज्यों के अध्यक्ष हैं और जो हैं भी उनके पास भी शासन करने की बहुत सीमित शक्ति है। बहुत प्रसिद्ध वंशागत राजाओं में इंग्लैंड की रानी संयुक्त अरब गणराज्य का राजा, नेपाल का राजा और थाइलैंड का राजा है।

2) चुनाव : भारत के राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री दोनों चुनाव द्वारा चुने जाते हैं। इसी प्रकार अमेरिका, फ्रांस के राष्ट्रपति भी चुनाव द्वारा ही चुने जाते हैं। कहने का अर्थ है कि विश्व के अधिकांश लोकतंत्रीय राज्यों में चुनाव द्वारा ही राष्ट्राध्यक्षों का चुनाव होता है। चुने हुए कार्यपालक केवल सीमित अवधि के लिए शासन करते हैं, किन्तु कुछ कार्यपालक चुने जाने के बाद अपनी शासन सत्ता को स्थायी बनाने की कोशिश भी करते हैं।

न्यायपालिका विधानपालिका द्वारा बनाये गये कानूनों को लागू करती है। न्यायपालिका में न्यायालयों का श्रेणीबद्ध संगठन होता है। प्रायः निचले स्तर पर न्यायालयों की दो समानांतर व्यवस्थाएँ होती हैं — दीवानी न्यायालय (Civil Court) और फौज़दारी अदालत या दंड न्यायालय (Criminal Court)। सर्वोच्च न्यायालय को प्रायः सुप्रीम कोर्ट कहा जाता है। इंग्लैंड में, इसे प्रिवी कौंसिल कहा जाता है। भारत में, राज्य के स्तर पर सब से बड़ी अदालत को उच्च न्यायालय कहा जाता है। निचले स्तर पर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट कोर्ट (जिला दण्ड नायक न्यायालय) होते हैं।

निचले स्तर के न्यायालयों के पास मौलिक न्यायाधिकार होते हैं जबकि उच्च स्तर के न्यायालयों के पास निचले न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध की गयी अपीलें सुनने का अधिकार होता है। भारत में उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में दोनों प्रकार के आवेदन या याचिकाएँ (मौलिक और अपील वाली) दाखिल की जा सकती हैं। इनके पास संवैधानिक मामलों पर विचार करने की भी शक्ति है।

लोकतांत्रिक सरकारों में न्यायालय सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त होते हैं। एक बार नियुक्त किये गये न्यायाधीशों को बहुत ही संकट वाली, स्थितियों को छोड़कर हटाया नहीं जा सकता। ऐसा केवल न्यायालयों की स्वतंत्रता को सब तरह के बाहरी हमलों से मुक्त रखने के लिए किया जाता है। एकाधिकारवादी राज्यों में, न्यायालय कार्यपालिका का उसी प्रकार अंग होता है, जैसे विधानपालिका होती है, और उसे भी अधिनायक की आज्ञा का पालन करना पड़ता है।

19.7.1.4 नौकरशाही

नौकरशाही कार्यपालिका का एक हाथ कहा जा सकता है। आधुनिक समय में, राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं। बहुत से कार्य (जैसे योजना और कार्यक्रम बनाना) ही अत्यधिक तकनीकी हो गये हैं। ऐसी स्थितियों में, कार्यपालिका समझ और कुशलता के अभाव में अपनी भूमिका प्रभावकारी ढंग से नहीं निभा सकती। इस कमी को दूर करने के लिए लोकसेवा का गठन किया गया है। आधुनिक राज्यों में, लोकसेवा का चयन आधुनिक तरीकों से किया जाता है। अधिकारियों की नियुक्ति से प्रायः निष्पक्ष एजेंसी द्वारा, जिसे लोकसेवा आयोग कहा जाता है, प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर इस प्रकार की जाती है कि नौकरी के लिए अत्यधिक उपयुक्त व्यक्ति ही चुना जाए। अधिकारियों के लिए व्यापक कार्य निर्देश बनाये जाते हैं। यह सारी व्यवस्था उच्च व्यावसायिक (Highly Professionalised) हो जाती है। इस व्यवस्था को नौकरशाही कहा जाता है जो नौकरशाहों द्वारा शासित होती है। नौकरशाह कार्यपालिका के मात्र नौकर नहीं होते। बहुत से मामलों में, वे अपने सीमित क्षेत्रों में कार्यपालिका के प्रकार्यों को पूरा करते हैं। एक आम नागरिक की निगाह में सामान्यतः नौकरशाह बहुत शक्ति रखने वाला व्यक्ति होता है। बहुत से राज्यों में जैसे फ्रांस में कार्यपालिका में की जाने वाली नियुक्तियाँ उच्च नौकरशाहों द्वारा की जाती हैं ताकि दोनों के बीच का अंतर कम दिखाई दे। नीतियाँ बनाने और कार्यक्रम को लागू रखने में नौकरशाही की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जिसके फलस्वरूप इसे राजनीतिक व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग माना जाने लगा है।

19.7.2 गैर-सरकारी संगठन

गैर-सरकारी संगठनों में हम ने राजनीतिक दल, हितबद्ध समूह और प्रेस तीन महत्वपूर्ण इकाइयों को शामिल किया गया है। आइये इन इकाइयों पर विस्तार से चर्चा करें।

19.7.2.1 राजनीतिक दल

राजनीतिक दल नागरिकों के ऐसे संगठित समूह होते हैं, जिनकी सार्वजनिक मुद्दों पर एक राय होती है और जो राजनीतिक इकायों के रूप में सक्रिय रहते हैं। ये राजनीतिक पार्टियाँ जिन नीतियों और कार्यक्रमों की पक्षधर होती हैं, उन्हें लागू करने के लिए सरकार का नियंत्रण अपने हाथों में लेना चाहती हैं। एक राजनीतिक पार्टी कुछ नीतियों एवं कार्यक्रमों के आधार गैर संगठित एक ऐसी व्यवस्था होती है जो संवैधानिक तरीकों से सरकार की निर्धारक (Determinant) बनने का प्रयत्न करती है। एक लोकतांत्रिक सरकार ठीक ढंग से काम करे इसके लिए राजनीतिक पार्टियों का होना अनिवार्य है। जनता गैर सरकार के बीच में ये दल मध्यस्थ का काम करते हैं। इनके माध्यम से व्यक्ति और समूह इस बात का ध्यान रखते कि राजनीतिक सत्ता का सही इस्तेमाल हो और राजनीतिक सुरक्षा बनी रहे। वे लोगों को राजनैतिक रूप से शिक्षित करते और उन्हें राजनीति में अपनी भूमिका के बारे में चेतन करते हैं। ये वे एजेंसी है जो जनता और सरकार या विपक्ष में जनता के प्रतिनिधियों के बीच बराबर संबंध बनाए रखती हैं।

विचारधारा के आधार पर राजनीतिक दलों में भिन्नता हो सकती है फलस्वरूप उनके साधन और उद्देश्यों में भी भिन्नता हो सकती है। सभी राजनीतिक दलों को व्यापक रूप से आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार मुख्यतः दो वर्गों में बाँट दिया जाता है वाम पंथी दल और दक्षिण पंथी दल। दक्षिण पंथी दल यथा स्थिति के पक्षधर होते हैं। जबकि मार्क्सवादी दल क्रांतिकारी

और परिवर्तनकारी होते हैं। यूरोप के बहुत से देशों में ऐसे मध्यम मार्गी दल भी हैं जो न तो वामपंथी हैं और न ही दक्षिण पंथी। अब तो धार्मिक तत्ववाद भी राजनीतिक दलों में प्रवेश कर गया है। विश्व में बहुत से राज्य धार्मिक कट्टरवाद में फंसे हुए हैं (जैसे ईरान)। भारत में भी सभी समुदायों (हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख) में धार्मिक कट्टरवाद दिनोंदिन जोर पकड़ता जा रहा है।

राजनीतिक व्यवस्था का यह भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है कि एक राज्य में इसके राजनीतिक दल सक्रिय हैं। ऐसे राज्य भी हैं जहाँ केवल एक ही राजनीतिक दल है (जैसे रूस) और कई राज्यों में कई-कई राजनीतिक दल हैं। कई राज्यों में केवल दो ही राजनीतिक दल हैं (जैसे ब्रिटेन और अमेरिका)। कई राजनीतिक दलों के होने से राजनीतिक व्यवस्था में कोई गंभीर समस्या पैदा नहीं होती तथापि यदि केवल दो दल ही हों तो लोकतंत्र अधिक सफलता से और सुचारु रूप से कार्य करता है। बहुत से दल वाले राज्यों में राजनीतिक तालमेल सम्मिलित होने लगा है। एक जैसे विचारधारा वाले दल एक जैसे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संयुक्त मोर्चा बनाने का फैसला कर सकते हैं। बहुदलीय व्यवस्था में जहाँ कई दलों की मिली-जुली सरकार बनती है, वहाँ राजनीतिक अस्थिरता की अधिक संभावना होती है क्योंकि कोई भी दल कभी भी, किसी भी आधार पर सरकार को सहयोग देना बंद करके विपक्ष में शामिल हो जाता है। सहयोग बंद करने के अवसर उस स्थिति में बहुत अधिक होते हैं जब दल किसी विचारधारा के प्रति नहीं बल्कि व्यक्ति और व्यक्ति प्रमुख के प्रति निष्ठावान होते हैं। इस बात का बेहतरीन उदाहरण चार्ल्स डी मुले के पहले का फ्रांस है। चार्ल्स डी मुले से पहले फ्रांस में मंत्री आये दिन दल बदलते रहते थे। इस बात का वर्तमान उदाहरण इटली है।

भारत में, बहुदलीय व्यवस्था है। कुछ राज्यों में संयुक्त मंत्रीमंडल है। केंद्र में मंत्रीमंडल नहीं है। क्योंकि अखिल भारतीय कांग्रेस के पास संसद में पर्याप्त बहुमत है। किंतु महाराष्ट्र और हरियाणा जैसे कुछ राज्यों में कांग्रेस कई धड़ों में विभाजित है। और प्रत्येक धड़े का अलग-अलग नेता है। इन राज्यों में विधानपालिका के सदस्यों द्वारा निष्ठा परिवर्तन बहुत आम बात है फलस्वरूप मंत्रीमंडल बहुत अस्थिर हो गये हैं।

ऐसे देश भी हैं जहाँ केवल एक ही राजनीतिक दल है जैसे रूस। वास्तव में मार्क्सवादी देश और गैर-मार्क्सवादी तानाशाही देश किसी भी विपक्ष को सहन नहीं करते। उनके यहाँ केवल एक ही राजनीतिक दल होता है। पाकिस्तान में हाल ही तक केवल एक ही राजनीतिक दल था और दूसरे सभी दलों को बहुत रुकावटों और अवरोधों का सामना करना पड़ता था। लोकतंत्र के अस्तित्व और विकास के लिए बहुदलीय व्यवस्था का होना मूलभूत आवश्कता है। लोकतंत्र के लिए ये दल सुरक्षा का काम करते हैं। नागरिकों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए आपस में चुनौतीपूर्ण होड़ तथा एक-दूसरे पर नियंत्रण रखते हुए एक प्रकार से ये दल लोकतंत्र के लिए सुरक्षा का काम करते हैं। यदि केवल एक ही दल हो तो वह लोगों की आवश्यकताओं को नजरअंदाज कर जाता है और अपनी शक्ति का निरंकुश इस्तेमाल कर सकता है। अन्य दलों का सत्ताधारी दल पर न तो कोई अंकुश होगा और न ही इसे किसी भी प्रकार के विपक्ष का सामना करना पड़ेगा।

एक देश की राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे लोगों को राजनीतिक व्यवहार की शिक्षा देते हैं, लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को समझ कर उन्हें पूरा करने के लिए पार्टी प्रोग्राम (Manifesto) के रूप में लोगों के सामने पेश करते हैं। और लोगों की आवश्यकताओं और मांगों को सरकार के सामने रखते हैं तथा चुने गये जनप्रतिनिधियों और जनता के बीच एक सम्बद्ध सूत्र का काम करते हैं। नागरिक अपनी पसंद की पार्टी चुनते हैं और अधिक महत्वाकांक्षी नागरिक पार्टी को अपनी राजनीतिक आकांक्षाएँ पूरी करने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

19.7.2.2 हितबद्ध समूह

ये ऐसे संघ या समूह होते हैं जिनके उद्देश्य राजनीतिक दलों के उद्देश्यों से भिन्न होते हैं। कभी-कभी इन समूहों के सदस्य राजनीतिक दलों में चले जाते हैं किन्तु ऐसा व्यक्तिगत लाभ या आकांक्षा की दृष्टि से अधिक होता है न कि दल की विचारधारा या दल के कार्यक्रम के रूढ़िवादी हो जाने के कारण। हितबद्ध समूहों का आधार आर्थिक, जातिगत, भाषागत, धार्मिक, क्षेत्रीयता या और भी कुछ हो सकता है। कभी-कभी ये समूह राजनीतिक दलों में बदल जाते हैं या सत्ताधारी सरकार के कुछ सदस्यों को अपने पक्ष में करके सरकार पर अपनी मांगों को पूरा करने के लिए दबाव डाल सकते हैं। ऐसी स्थिति में, ऐसा समूह दबाव डालने वाला समूह कहलाता है। विधानपालिका में, इस समूह के दोस्त या पक्षधर एक अस्थायी या स्थायी समूह बना कर इनकी मांगों को एक लॉबी के रूप में संगठित कर सकते हैं। विधानपालिका में बने ऐसे समूह को दबाव डालने वाली लॉबी कहा जाता है।

द फेडरेशन ऑफ इंडियन चेम्बर ऑफ कामर्स एंड इंडस्ट्री (FICCI) और द आल इंडिया चेम्बर ऑफ कामर्स एंड इंडस्ट्री (AIMA) हितबद्ध समूह के उदाहरण, हैं। ऐसे समय में, जब सरकार संसद में कोई बिल प्रस्तुत करती है अथवा बजट पेश करती है तो ये हितबद्ध समूह अपने प्रभाव का इस्तेमाल करते हैं और संसद सदस्यों में अपनी लॉबी बना कर सरकार पर बिल को संशोधित करने का, वापिस लेने का अर्थात् मनचाहा दबाव डलवाते हैं। हितबद्ध समूह और दबाव समूह अपनी मांगे मनवाने के लिए कई प्रकार के तरीके अपना कर सरकार पर अपना दबाव डालते हैं। इन तरीकों में प्रत्यक्ष कारवाई जैसे बायकाट, आवश्यक सेवाओं को रोकना, विरोध में दुकानें-संस्थान बंद करना और हड़ताल, सड़कों पर जुलूस निकालना आदि शामिल है। फिर भी, सफलता की संभावना के अनुसार ही तरीका चुना जाता है। सरकार जो भी नीतियाँ बनाती है उसमें हितबद्ध समूह एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

जनसंचार माध्यमों में से हमने केवल प्रेस को ही अपनी चर्चा में शामिल किया है और रेडियो, टेलीविजन को छोड़ दिया है क्योंकि लगभग सभी देशों में इन पर सरकारी नियंत्रण होता है। कुछ तानाशाही देशों में प्रेस पर भी सरकार का नियंत्रण होता है। कम्बोडेश, प्रेस राजनीतिक पार्टियों की एक महत्वपूर्ण साथी बन चुकी है। लोकतंत्र की मज़बूत सुरक्षा के लिए प्रेस का स्वतंत्र होना जरूरी है। वास्तव में एक स्वतंत्र प्रेस वास्तविक लोकतंत्र का पर्याय बन गयी है। प्रेस के माध्यम से नागरिक जान पाते हैं कि देश में वास्तव में क्या हो रहा है, विशेष रूप से सरकार के बारे में कि वह उनके लिए क्या करती है और क्या नहीं करती है। इस तरह से, प्रेस सत्ताधारी दल और सरकार के प्रति लोगों के दृष्टिकोण और व्यवहार का निर्माण करती है और अगले चुनाव में लोगों के पक्ष या विपक्ष को दर्शाती है।

एक राजनीतिक दल के लिए अपने कार्यक्रमों के प्रचार के लिए प्रेस एक अनिवार्य माध्यम है। प्रेस का भी अपना कोई राजनीतिक झुकाव हो सकता है, और प्रत्येक समाचार पत्र किसी एक विचारधारा या दल का हिमायती बन जाता है, क्योंकि सभी राजनीतिक दलों को अपने संचार का माध्यम स्थापित करने की स्वतंत्रता है। इसलिए इसका इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। कोई भी स्थिति हो, राज्य में राजनीतिक विकास और राजनीतिक गतिविधियों के बारे में प्रेस द्वारा लोगों को सही जानकारी मिलती है।

गैर-सरकारी संस्थाएं

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए
ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 राजनीतिक व्यवस्था की मुख्य संस्थाएँ कौन-कौन-सी होती हैं। पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2 संघात्मक लोकतंत्र में संसद सर्वोच्च होती है।
हाँ ☐ नहीं ☐

3 विधानपालिका के दो मुख्य प्रकारों के उदाहरण सहित नाम बताइये।

.....

.....

4 बहुदलीय व्यवस्था अनिवार्य होती है : (सही उत्तर पर निशान लगाइये)
(क) लोकतंत्र में [ ]
(ख) तानाशाही में [ ]

5 कम्यूनिस्ट देशों में विपक्षी दलों को सहन नहीं किया जाता।
हाँ ☐ नहीं ☐

6 स्वतंत्र प्रेस लोकतंत्र के लिए खतरा होती है।
हाँ ☐ नहीं ☐

19.8 व्यक्ति और राज्य

कुछ राजनीतिक लेखकों का विचार था कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए होता है। इस मत को फॉसिज़्म और नाज़ीवाद से भी शह मिली। इटली में मुसौलिनी और जर्मनी में हिटलर ने इस मत को उचित ठहराया। लेकिन प्राचीन समय से ही, इस मत के विपरीत एक दूसरा विचार भी रहा है। इस मत के अनुसार राज्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अस्तित्व में आया है और जीवन को बेहतर बनाए रखने के लिए आज भी इसकी ज़रूरत है। आधुनिक कल्याणकारी सिद्धांतों ने इस मत को स्वीकार किया है। सभी सरकारों के घोषित उद्देश्य अपने नागरिकों का कल्याण करना है। राज्य का उत्तरदायित्व है व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करना और बदले में व्यक्ति का भी यह उत्तरदायित्व है कि वह राज्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझे और राज्य को अपना कार्य सुचारु रूप से चलाने में मदद करे। अतः राज्य और व्यक्ति का संबंध दुतरफा है। एक आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य एक व्यक्ति को निम्नलिखित अधिकार देता है: जीने का अधिकार, आजादी, सम्पत्ति का अधिकार (एक सीमित मात्रा में), बोलने की आजादी और धर्म का अधिकार, समानता का अधिकार, शिक्षा प्राप्त करने और रोज़ी-रोटी कमाने का अधिकार। इन अधिकारों को "मौलिक आधार" भी कहा जाता है और ये संविधान में शामिल किये जाते हैं। भारतीय संविधान में "मौलिक अधिकारों" पर एक पृथक अध्याय है। इन अधिकारों के बदले में एक व्यक्ति के राज्य के प्रति निम्नलिखित कर्त्तव्य बनते हैं: (1) कानून की आज्ञा मानने का कर्त्तव्य, (2) कर अदा करना और सब से महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है, (3) राज्य के प्रति निष्ठावन रहना।

19.9 लोकतंत्र और व्यक्ति

हम एक लोकतांत्रिक राज्य में रहते हैं अतः हमारे लिए यह जानना अनिवार्य है कि लोकतंत्र हमें क्या देता है। हममें से बहुत लोगों की लोकतंत्र को स्वतः स्थायी मानने की प्रवृत्ति है, और हम में से बहुत कम लोग इस बात को समझते हैं कि लोकतंत्र सरकार का एक ऐसा प्रकार है जो तभी तक कायम रह सकता है जब तक इसके नागरिक चेतन और सावधान हों। लोकतंत्र को भीड़ तंत्र (भीड़ द्वारा शासन) या तानाशाही (एक व्यक्ति द्वारा शासन) से बहुत खतरा रहता है। इन दोनों ही खतरों में, कानून के शासन को (जो कि लोकतंत्र की पहचान है,) बहुमत के आतंक से (भीड़ तंत्र) या एक व्यक्ति के शासन द्वारा (तानाशाही) बदल दिया जाता है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि लोकतंत्र के दो अतिवादी प्रकारों को दूर रखा जाए। और यह उसी हालात में संभव है जबकि नागरिक सचेत और चौकन्ने हों। सचेत होने का अर्थ है—कि नागरिक राजनीतिक प्रक्रिया में हिस्सा लें, विशेष कर वोट डालने के अपने अधिकार के प्रति सचेत हों, विपक्ष को तथा विपक्षी दृष्टिकोण, विचारों के प्रति सहमत न होते हुए भी उन्हें सुनने की शक्ति हो, अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति सचेत हों, अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का ईमानदारी से पालन करते हों और किसी भी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए असंवैधानिक तथा ऐसे दूसरे किसी तरीकों को इस्तेमाल न करें। इन सारी बातों को "नागरिक के उत्तरदायित्व" कहा जा सकता है। लोकतंत्र जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिए शासन होता है। लोकतंत्र में रहने वाले सभी लोगों को यह हमेशा याद रखना चाहिए कि यदि अपने उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं और लोकतंत्र कायम रखना चाहते हैं तो उन्हें ईमानदारी से लोकतंत्र के नियमों पर निगाह रखनी चाहिए।

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1 एक आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य नागरिकों को कौन-कौन से मौलिक अधिकार देता है? पांच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

2 लोकतंत्र में नागरिक के कौन-कौन से नागरिक उत्तरदायित्व होते हैं? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

3 लोकतंत्र की सुरक्षा के लिए आवश्यक है:

क) सचेत नागरिकता [ ]
ख) दृढ़ सैनिक शक्ति [ ]
ग) दृढ़ कार्यपालिका [ ]
घ) सचेत नौकरशाही [ ]

(सही उत्तर पर निशान लगाइये)

4 लोकतंत्र में एक नागरिक को ज्ञान होना चाहिए:

क) केवल अधिकारों का [ ]
ख) केवल कर्त्तव्यों का [ ]
ग) अधिकारों एवं कर्त्तव्यों दोनों का [ ]
घ) इन में से किसी का भी नहीं [ ]

(सही उत्तर पर निशान लगाइये)

19.10 सारांश

राज्य एक विशिष्ट सामाजिक संगठन है। राज्य को कम या अधिक लोगों के एक ऐसे समुदाय के रूप में परिभाषित किया गया है जो एक निश्चित जगह पर स्थायी रूप से निवास करता हो। राज्य बाहरी नियंत्रण से स्वतंत्र होता है। इसकी एक सरकार होती है जिसके प्रति अधिकांश नागरिक आज्ञाकारी रहते हैं। राजनीतिक वैज्ञानिकों ने राज्य के निम्नलिखित तत्व माने हैं: जनसंख्या, क्षेत्र, सरकार तथा प्रभुसत्ता। वास्तव में प्रभुसत्ता राज्य को निर्णायक शक्ति प्रदान करती है।

सरकार राज्य का एक अनिवार्य तत्व है। सरकार ही राज्य के हर कार्य को मूर्त रूप देती है। यद्यपि सरकार और राज्य को एक दूसरे के अर्थ में प्रयुक्त कर दिया जाता है तथापि इनमें पर्याप्त अंतर है। (1) सरकार मूर्त होती है जबकि राज्य एक धारणा है। (2) राज्य सर्वोच्च होता है जबकि सरकार राज्य का केवल एक तत्व है। (3) राज्य स्थायी होता है, जबकि सरकार अस्थायी होता है। (4) राज्य की शक्ति असीमित होती है जबकि सरकार की शक्ति सीमित होती है। (5) राज्य का स्वरूप सब जगह एक ही होता है जबकि सरकार के कई रूप हो सकते हैं। राज्य राजनीतिक प्रकार्यों को समाज की राजनीतिक उप-व्यवस्था के रूप में पूरा करता है। लोक कल्याण और दूसरे कार्यों को करने वाले समाज में कुछ दूसरे संगठन भी होते हैं। यद्यपि राजनीतिक अनेकवादियों के अनुसार राज्य समाज के अन्य संघों की तरह केवल एक संघ है तथापि राज्य अपनी प्रभुसत्ता शक्ति के कारण एक विशिष्ट संगठन बन जाता है।

प्रथम विश्व युद्ध के समय स्वतंत्र राज्य की राष्ट्र, राष्ट्रीयता और आत्मसंकल्प का महत्वपूर्ण अर्थ और वास्तविकता रही

है। राष्ट्रवाद, एक जैसी विशेषताओं पर आधारित लोगों का राष्ट्रत्व और राष्ट्रीयता में सहयोग देने की एक जैसी भावना का विकास है।

राज्य अपने कार्यों को दो प्रकार के संगठनों द्वारा पूरा करता है। (1) सरकारी संगठन जैसे कार्यपालिका, विधानपालिका, न्यायपालिका तथा नौकरशाही (2) गैर-सरकारी एजेंसियाँ जैसे राजनीतिक दल, हितबद्ध समूह और प्रेस। ये संगठन वास्तव में अपने विशेष क्षेत्रों में विभिन्न कार्य करते हैं।

राज्य और व्यक्ति का संबंध विश्व में सब जगह एक जैसा नहीं है क्योंकि जगह-जगह सरकार के विभिन्न रूप हैं। एक आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य अपने नागरिकों को निम्नलिखित मौलिक अधिकार प्रदान करता है जैसे जीने का अधिकार, सम्पत्ति, आजादी, अभिव्यक्ति, समानता तथा शिक्षा का अधिकार। इसके बदले में नागरिकों को भी राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है जैसे कानून मानना, कर अदा करना, राज्य के प्रति निष्ठावान रहना, वोट देने के अधिकार का इस्तेमाल करना, किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए असंवैधानिक साधनों का प्रयोग न करना, आदि। नागरिकों से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति जानकार हों।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Kornblum, William, 1988. *Sociology in Changing World:* New York : Holt, Rinchart and Winston. Inc. Ch. 16 *"Political Institutions"* pp. 450-456.

Smith R.W. and Preston F.W. 1977. *Sociology An Introduction:* New York: St. Martin's Press, Part 3 Chapter II *"Politics and Economics"*, pp. 261-279

शब्दावली

मौलिक अधिकार: राज्य द्वारा नागरिकों को दिये जाने वाले विशेष अधिकार। इनमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता आदि शामिल है।

राष्ट्रवाद: कुछ समान आधारों पर लोगों में एकता की भावना का विकास राष्ट्रत्व और राष्ट्रीयता को पैदा करता है। ये आधार हैं—धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, भाषागत, सांस्कृतिक आदि।

राजनीतिक अनेकवाद: राजनीतिक चिंतकों का ऐसा समूह जिसका यह मत है कि समाज में अनेक सामाजिक संगठन हैं और राज्य भी उनमें से केवल एक संगठन है।

प्रभुसत्ता: व्यक्तियों और संगठनों पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 क) जनसंख्या ख) क्षेत्र ग) सरकार और घ) प्रभुसत्ता

2 जी हाँ। यह राज्य को सर्वोच्च शक्ति प्रदान करती है जिससे राज्य अपने निश्चित क्षेत्र में व्यक्तियों तथा संस्थाओं पर इसका इस्तेमाल करता है। पुनः यह अपने संबंधों को दूसरे प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के साथ स्थापित करता है और किसी भी बाहरी हस्तक्षेप को टालते हुए अपनी स्वयं की नीति निर्धारित करता है।

3 नहीं

4 नहीं

बोध प्रश्न 2

1 राज्य एक धारणा है जबकि सरकार मूर्त होती है। राज्य सर्वोच्च होता है जबकि सरकार राज्य का केवल एक तत्व है सभी राज्यों के तत्व सम्मान होते हैं किंतु सरकारें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। राज्य स्थायी होता है किंतु सरकार बदल सकती है। राज्य की शक्ति असीमित होती है किंतु सरकार की शक्ति सीमित होती है।

2 हाँ

3 हाँ

4 हाँ

बोध प्रश्न 3

1 कार्यपालिका, विधानपालिका, न्यायपालिका, नौकरशाही राज्य के महत्वपूर्ण सरकारी संगठन होते हैं। इनके अलावा कई गैर-सरकारी संस्थाएँ भी होती हैं जैसे राजनीतिक दल, लाभकारी समूह और प्रेस।

2 हाँ

3 अ) एक सदनीय ब) द्विसदनीय

4 लोकतंत्र

5 हाँ

6 नहीं

बोध प्रश्न 4

1) जीने का अधिकार, आजादी का अधिकार और सम्पत्ति का अधिकार (सीमित), अभिव्यक्ति का अधिकार, किसी भी धर्म को मानने का अधिकार, समानता का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, और नौकरी करने का अधिकार।

2) कानून की आज्ञा मानना, कर अदा करना, राज्य के प्रति निष्ठावान होना, वोट देने के अधिकार का प्रयोग करना, विपक्ष को सहन करना, अधिकारों का प्रयोग करना और कर्तव्यों का पालन करना तथा किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए असंवैधानिक तरीके न अपनाना।

3) अ) चौकस नागरिकता या नागरिकों को सचेत रहना।

4) ब) अधिकार और कर्तव्य दोनों ही।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(उन विद्यार्थियों के लिए जो अतिरिक्त अध्ययन करना चाहते हैं)

Bhattacharjee, J.B., 1987. Dimasa State Formation in Cachar. In S.Sinha (ed.) *Tribal Politics and State System in Pre-colonial Eastern and North Eastern India*. K.P. Bagchi and Company: Calcutta. (pp. 177-212).

Busia, K.A., 1951. *The Position of the Chief in the Modern Political System of Ashanti*. : London.

Evans-Pritchard, E.E., 1940. *The Nuer*. Oxford University Press : Oxford.

Evans-Pritchard, E.E., 1962. *Essays in Social Anthropology*. Oxford University Press : Oxford (Ch. 4,).

Fortes, M., and Evans-Pritchard, E.E., (ed.), 1940. *African Political Systems*. Oxford University Press : London (Introduction, pp. 1-24)

Gluckman, Max., 1965. *Politics Law and Ritual in Tribal Society*. Basil Blackwell : Oxford (Chapters 3 and 4).

Guha, A., 1987. The Ahom Political Systems : An Enquiry into State Formation in Medieval Assam : 1228-1800. In S. Sinha (ed.), *Tribal Politics and State System in Pre-colonial Eastern and North Eastern India*. K.P. Bagchi and Company : Calcutta (pp. 143-176)

Johnson A.W., and Earle T., 1987. *The Evolution of Human Societies*. Stanford University Press : Stanford (Ch. 12, pp. 271-301 Ch. 13, pp. 302-312).

Kornblum, William, 1988. *Sociology in a Changing World*. Holt Rinchart and Winston Inc., New York. (Ch. 16, pp. 437-467).

Kuper, H., 1947. *An African Aristocracy : Rank among the Swazi*.

Macionis John, J., 1987. *Sociology*. Prentice-Hall Inc. : New Jersy. (Ch. 16, pp. 447-479, and Ch. 17, pp. 481-514).

Mahapatra, L.K., 1987. Ex-princely States of Orissa : Mayurbhanj, Keonjhar and Bonai. In S. Sinha (ed.), *Tribal Politics and State System in Pre-colonial Eastern and North Eastern India*. K.P. Bagchi and Company : Calcutta [pp. 1-50 (b)].

Pakem, B., 1987. State Formation in Pre-colonial Jaintia. In S. Sinha (ed.) *Tribal Politics and State System in Pre-colonial Eastern and North Eastern India*. K.P.Bagchi and Company : Calcutta (pp. 243-260).

Saha, R.K., 1987. State Formation among the Meitei in Manipur. In S. Sinha (ed.), *Tribal Politics and State System in Pre-colonial Eastern and North Eastern India*. K.P. Bagchi and Company : Calcutta (pp. 213-242).

Sinha, S., (ed.), 1987. *Tribal Politics and States System in Pre-colonial Eastern and North Eastern India*. K.P. Bagchi and Co. : Calcutta (Introduction pp. ix - xxvi, Ch. 1, pp. 1-50 (b), Ch. 4, 5, 6, 7, (pp. 143-260).

Southall, A., 1956. *Alur Society*. Oxford University Press : London. (Introduction pp. 1-24).

Vidyarthi, L.P., and Rai, B.K., 1985. *The Tribal Culture of India*. Concept : Delhi (Chapter 2, pp. 25-92, Ch. 5. pp. 195-235, Ch. 12 pp. 411-453, Ch. 13, pp. 454 - 474).

Weber, Max. 1964. *The Theory of Social and Economic Orgnisation* (Eng. Trans.) Freee Press : New York (Ch. 3).

Notes

खंड
6
संस्कृति तथा धर्म

इकाई 20
धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ 5

इकाई 21
संस्कृति-I 18

इकाई 22
संस्कृति-II 29

इकाई 23
मूल्य 43

इकाई 24
प्रतिमान 55

संदर्भ ग्रंथ सूची 64

विशेषज्ञ समिति

प्रो. त्रिलोकी नाथ मदान
इन्स्टिट्यूट ऑफ इकनॉमिक ग्रोथ
नई दिल्ली

प्रो. डी.एन. धनागरे
समाजशास्त्र विभाग
पूना विश्वविद्यालय
पूणे

प्रो. योगेन्द्र सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. आन्द्रे बेते
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
7, अमेलिया अपार्टमेंट्स
माउंट कारमल रोड
बांद्रा, मुम्बई

प्रो. ए. प्रभाकर बर्नवास (सलाहकार)
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ लेखक

प्रो. इन्द्र देव
रविशंकर विश्वविद्यालय
रायपुर

प्रो. ए.आर. मोमिन
मुम्बई विश्वविद्यालय
मुम्बई

प्रो. बी.एन. सरस्वती
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र
नई दिल्ली

डा. सी.एन. वेणुगोपाल
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम सम्पादक

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
मुम्बई

समाजशास्त्र संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

डॉ. शोभिता जैन
डॉ. त्रिभुवन कपूर
डॉ. अर्चना सिंह
डॉ. देवल कुमार सिंह राय

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. बी.एन. कौल
प्रो. जी.एम. राय
क. अनीता टपलू

अनुवाद

श्री सच्चिदानन्द शर्मा
नई दिल्ली

डॉ. भारत भूषण
नई दिल्ली

श्री रामेश्वर दत्त अत्रि
नई दिल्ली

डॉ. (श्रीमती) सुषमा लोहिया
नई दिल्ली

श्रीमती महेन्द्री गोगवाग
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. बी.रा. जगन्नाथन
श्री राकेश वत्स

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1998 (पुनः मुद्रित)

©इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989

ISBN-81-7091-370-5

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी के लिए विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली-110068 से सम्पर्क करें।

UGSY-01/226

खंड 6 : संस्कृति तथा धर्म

व्यापक रूप से संस्कृति शब्द पर विचार करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि इसके अंतर्गत सभी मानवीय कार्यकलापों तथा तत्जन्य कार्यों का समावेश हो जाता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी आगे संचरित होते रहते हैं। यह संचरण आनुवंशिक संचरण से बिल्कुल अलग है। सभी मानवीय समाजों की अपनी-अपनी संस्कृतियाँ होती हैं जिनमें पर्यावरण, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा परिवेश आदि के अनुसार भिन्नता होती है।

मानव जाति की अलौकिक नियंत्रण शक्ति में जो आस्था है, उसी का नाम धर्म है। यह आस्था एक इष्टदेव में या अनेक देवी देवताओं के रूप में किसी में भी हो सकती है। सभी समाजों में धर्म संस्कृति का एक अंग है।

इस खंड में हम संस्कृति और धर्म के मुख्य पहलुओं पर विचार करने के साथ-साथ समाज के साथ उनके संबंध का भी विश्लेषण करेंगे।

इकाई 20 में धर्म के विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है। इस में धर्म के सरल और जटिल रूपों का विश्लेषण किया गया है। इकाई 21 में संस्कृति की विशेषताएँ बताते हुए इसकी भूमिका तथा लक्षणों पर विचार किया गया है। हमने यहाँ पर मानव प्रकृति तथा जीव-विज्ञान के संबंधों पर भी चर्चा की है। इकाई संख्या 22 में संस्कृति और पर्यावरण, संस्कृति और समाज तथा संस्कृति और भाषा के संबंधों पर विचार किया गया है। समाज में संस्कृति की रचना तथा संस्कृति की विभिन्नता पर हमने यहाँ पर विचार किया है। इकाई 23 में समाज विज्ञानों में मूल्यों की संकल्पना पर विचार कर यह बताया गया है कि मूल्य और मानकों में क्या अंतर है। इस इकाई में यह भी स्पष्ट किया गया है कि व्यक्तित्व तथा सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्थाओं से यह किस प्रकार संबंधित है। अंत में, इकाई 24 में मानकों के स्वरूप के बारे में बताया गया है। यहाँ पर मानकों तथा लोकनीति एवं लोकाचार आदि जैसी सादृश्य संकल्पनाओं का भी विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

इकाई 20 धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 धर्म : सामाजिक संगठन का एक भाग
  20.2.1 धर्म और समाज
  20.2.2 धर्म और आस्था
  20.2.3 आस्था और धार्मिक जीवन के बीच संबंध
20.3 धर्म के विभिन्न सांस्कृतिक रूप
  20.3.1 धर्म का सरल रूप
    20.3.1.1 धर्म के रूपों के बारे में विभिन्न प्रकार के स्पष्टीकरण
  20.3.2 धर्म का जटिल रूप
    20.3.2.1 बौद्धमत एक उदाहरण
  20.3.3 धर्म का मिश्रित रूप
    20.3.3.1 हिन्दू धर्म और जाति प्रथा
    20.3.3.2 धर्म, कर्म और मोक्ष की धारणाएँ
20.4 धर्म और सामाजिक परिवर्तन
  20.4.1 सरल से जटिल रूप
  20.4.2 जटिल से सरल रूप
  20.4.3 अनेक रूपों का मिश्रण
  20.4.4 संप्रदाय तथा उपासना
  20.4.5 धर्म परिवर्तन
20.5 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- धर्म का अर्थ बता सकेंगे,
- धर्म का सामाजिक संगठन के भाग के रूप में तथा आस्था की संकल्पना के साथ संबंध के रूप में विश्लेषण कर सकेंगे,
- धर्म के सरल, जटिल तथा मिश्रित रूपों की व्याख्या कर सकेंगे, और
- समाज में धर्म के बदलते हुए पक्षों की जाँच कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

इस इकाई को पढ़ने से आपको इस बात की जानकारी हो जायेगी कि धर्म का अर्थ क्या है और किस प्रकार धर्म विभिन्न तरीकों से समाज को प्रभावित करता है तथा सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होता है। इस इकाई में आप धर्म के निषेधात्मक पहलुओं जैसे अंधविश्वास, धर्मांधता इत्यादि के बारे में भी पढ़ेंगे। इसके अलावा सांस्कृतिक दृष्टि से धर्म के विरोधी रूपों जैसे सरल रूप, जटिल रूप और मिश्रित रूपों की भी जानकारी दी गयी है।

इस प्रकार इस इकाई में आप धर्म के परिवर्तनशील पहलुओं की पूरी जानकारी प्राप्त करेंगे।

20.2 धर्म : सामाजिक संगठन का एक भाग

मानव अस्तित्व के बारे में जो अनेक विश्वास तथा विचारधाराएँ हैं, धर्म उससे जुड़ा हुआ है।

धर्म मानव जाति के पर्यावरण और जीवन में आसानी से समझ न आने वाले तत्वों के प्रति, मानव

की प्रतिक्रिया है। अधिकांश धर्म मानव के अतीन्द्रिय और अलौकिक शक्ति को समझने के प्रयासों से संबंधित है। धर्म मुख्यत: समाज से संबंधित है और लगभग सभी समाजों में पाया जाता है।

अंग्रेज़ी में धर्म के लिए "रिलिजन" शब्द का प्रयोग किया जाता है। "रिलिजन" शब्द की व्युत्पति लेटिन शब्द (रेल, इगियो) (rel, egeo) से हुई है जो कि धातु लेग (leg) से, जिसका अर्थ इकट्ठा करना, गिनना या अवलोकन करना है या धातु "लिग" (lig) से लिया गया है जिसका अर्थ जोड़ना है। इस प्रकार पहले भाव का अर्थ हुआ विश्वास करना और दैवी संचार के संकेतों का अवलोकन करना। इसका दूसरा भाव हुआ आवश्यक कार्यों का निष्पादन, जो मानव और अलौकिक शक्ति का परस्पर संबंध स्थापित करते हैं। अत: "रिलिजन" शब्द का अर्थ हुआ वे विश्वास और कर्मकांड जो सभी धर्मों के मूल तत्व हैं। (मजुमदार, डी. एन. और मदान, टी. एन. 1956:151)।

20.2.1 धर्म और समाज

धर्म को मानव के सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के उस पक्ष के रूप में भी देखा जाता है जिसमें मानव की उदात्त आकांक्षाएँ होती हैं। यह समाज की नियामक संरचना का आधार स्तम्भ है। यह समाज की सभी नैतिक मान्यताओं, मूल्यों और आचार की मर्यादा रखता है। इस प्रकार यह समाज में सार्वजनिक व्यवस्था का आधार है और सभी नर-नारियों के लिए अन्त:चेतना का उद्गम है। यह मानव में श्रेष्ठ गुणों का संचार कर उसे सभ्य बनाता है। लेकिन साथ ही, मानव को आगे बढ़ने में यह उसके सामने बाधाएँ भी उपस्थित करता है। मनुष्य जाति पर इसका सबसे बुरा प्रभाव यह देखने में आया है कि यह मनुष्य को कट्टरपंथी, असहिष्णु, अज्ञानी, अंधविश्वासी और रूढ़िवादी बना देता है। (ओ. डेअ. टी. एफ. 1966:2)

समाज के सदस्यों को एक सूत्रबद्ध करने के लिए धर्म सबसे दृढ़ सूत्र है। परंतु इसके कारण ही धार्मिक युद्ध तथा सांप्रदायिक तनाव भी पैदा हुए हैं। फिर भी, हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि समाज में सांप्रदायिक तनाव के कारणों में, अधार्मिक मामले और ऐसे स्वार्थों के टकराव भी होते हैं जिनका धर्म से कोई संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए भारतीय समाज में होने वाले सांप्रदायिक तनावों को देखा जा सकता है।

अधिकांश लोग धर्म को विश्वव्यापी मानते हुए इसे समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था मानते हैं। परंतु मार्क्सवादी विचारकों की दृष्टि में धर्म समाज का आवश्यक अंग नहीं है।

कार्ल मार्क्स के शब्दों में "धर्म दलित वर्ग की आह है, निर्दयी विश्व की भावना है और निष्प्राण स्थितियों की आत्मा है। यह जनता के लिए अफीम का काम करता है।" उनका विश्वास था कि धर्म का विश्वास शोषित लोगों के दिमाग में गरीबी और शोषण का उत्पीड़न सहने के लिए अफीम के रूप में काम करता है। अत: मानव समाज को तब तक इसकी आवश्यकता रहती है जब तक कि वह समाज के उच्च वर्ग द्वारा दलित और शोषित होता रहता है। समाजवादी समाज में इसकी कोई आवश्यकता नहीं होगी और यही सामाजिक विकास का अंतिम चरण होगा।

20.2.2 धर्म और आस्था

सभी धर्मों के मूल में आस्था की संकल्पना होती है। इस दृष्टि से धर्म, आस्था का बाह्य रूप है जो मानव समाज को उनके मूल लौकिक और लोकोत्तर जीवन से बाँधे रखता है। आस्था के कारण ही मानव अन्य जीवधारियों से भिन्न है। निश्चित रूप से यह व्यक्ति-निष्ठ और निजी मामला है। हम एक दूसरे के विश्वासों का आदर करते हैं। इससे हमें व्यापक मानवीय आधार प्राप्त होता है। इस प्रकार हम सबको एक सूत्र में बाँधे रखने के कारण आस्था, तर्क से अधिक महत्वपूर्ण है।

प्राचीन भारतीय चिंतनधारा के अनुसार "आस्था ही आदमी को बनाती है : जैसी आस्था वैसा व्यक्ति" (भगवद् गीता)। बुद्ध धर्म के ग्रंथों में आस्था को मानव की पाँच कार्य शक्तियों में से एक माना गया है। (अन्य कार्य शक्तियाँ हैं ऊर्जा, मननशीलता, एकाग्रता और पूर्ण ज्ञान)। आर. पाणिकर के अनुसार आस्था मूलधार है और सभी मानव संबंध उसमें निहित हैं। यह एक प्रकार की प्रेमावस्था भी है। अपनी आस्था के माध्यम से आस्थावान अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है और नास्तिक के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार मानव अपने दैनिक जीवन में एक सूत्रबद्ध हो जाता है।

20.2.3 आस्था और धार्मिक जीवन के बीच संबंध

बाइबल में दिये गये एक रूपका का उपयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि आस्था वह पुल है जो

लौकिक का अलौकिक के साथ संबंध स्थापित करता है और बाह्य ज्ञान को आंतरिक ज्ञान के साथ जोड़ता है। परंतु यह किस प्रकार होता है? आइये इस पर विचार करें।

सभी परम्परागत संगठनों द्वारा अपनी आस्था का संचार इस प्रकार किया जाता है, जिससे सम्बन्धित व्यक्तियों पर उसका तत्काल प्रभाव पड़ता है और लौकिक जीवन से हटकर अलौकिक जीवन के प्रति उनका ध्यान लगने लगता है। यह एक वास्तविकता का रूप धारण कर लेता है। यह किस प्रकार होता है यह नीचे दी गई एक उल्टी त्रिभुज से स्पष्ट किया जा सकता है। (चित्र 1)

क) अलौकिक मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करता है,
ख) लौकिक तत्व का प्रतिनिधित्व करता है, और
ग) मानवीय अनुक्रिया या आचार मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करता है,
घ) धर्म के लिए है।

ख को ग के साथ तथा ग को क के साथ जो जोड़ता है, वह धर्म है।

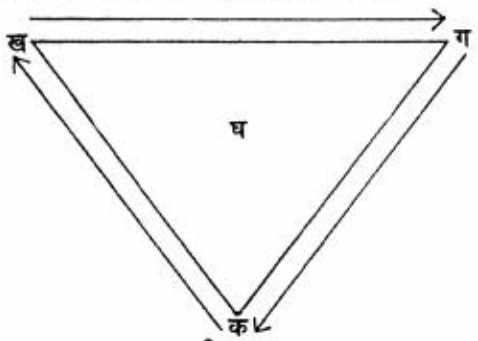

चित्र 1

आइये, इस त्रिभुज का महत्व आगे और विस्तार से बताएँ (चित्र 2)।

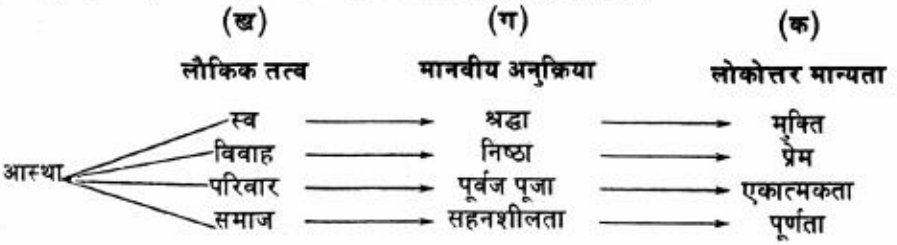

चित्र 2

स्व, विवाह, परिवार और समाज, सामाजिक जीवन के आधारभूत अंग है। ये आस्था के माध्यम से मानवीय अनुक्रिया और अलौकिक मान्यता के अनुरूप होते हैं। गहन आस्था वाला व्यक्ति (स्व) जीवन के प्रति आस्था को जगाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह सभी कष्टों से मुक्त हो जाता है। आस्थावान विवाहित व्यक्ति निष्ठावान होता है और यह प्रेम की उत्कृष्ट अवस्था है। एक आस्थावान व्यक्ति अपने परिवार के न केवल जीवित व्यक्ति के प्रति अपितु मृत व्यक्तियों के प्रति भी कर्तव्यनिष्ठ होता है। अतः पूर्वज की पूजा भी अलौकिक से एकात्मक सम्बन्ध स्थापित करना ही होता है। उसमें वैचारिक सहिष्णुता का भी आविर्भाव हो जाता है जिससे समाज में शांति रहती है और सम्बन्धित व्यक्ति भी मोक्ष की उच्चतम अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यदि आप अपने अनुभवों को याद करें और अपनी परम्परा के कथनों पर विचार करें तो आपको मालूम होगा कि मैंने जो कुछ कहा उसमें कोई भी नई बात नहीं है। धार्मिक जीवन की इस प्रकार की व्याख्या सभी धर्मों में उपलब्ध है। यह दूसरी बात है कि सभी का रूप अलग-अलग है। पर सभी इस बात पर एक मत हैं कि आस्था सभी धर्मों का मूलाधार है। दूसरे शब्दों में आस्था रूपी धागा सभी प्रकार के धार्मिक संगठनों को एक सूत्र में पिरोए रखता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान को अपने उत्तर के लिए उपयोग में लाएँ।
ख) अपने उत्तर की तुलना, इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से करें।

1 लगभग तीन पंक्तियों में धर्म की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

2 धर्म के निषेधात्मक पहलू क्या हैं? उदाहरण दीजिए। लगभग तीन पंक्तियों का उपयोग करें।

3 किस प्रकार आस्था सभी धर्मों का केन्द्र बिन्दु है। लगभग तीन पंक्तियों में विवरण दें।

20.3 धर्म के विभिन्न सांस्कृतिक रूप

देश-काल के अनुसार मानव संस्कृति ने अनेक धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार धर्म के विभिन्न रूप हैं। व्यापक रूप से हम उन्हें तीन वर्गों में बांट सकते हैं : (1) धर्म का सामान्य रूप, (2) धर्म का जटिल रूप, (3) धर्म का मिश्रित रूप। सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर वर्ग (2) का उद्भव वर्ग (1) से हुआ, परन्तु यह विकास दिशाहीन नहीं होता। यह विकास विपरीत दिशा में भी हो सकता है और जैसा कि (3) में बताया गया है, यह दोनों के मिश्रण के रूप में भी हो सकता है। इकाई के इस भाग में, आप धर्म के तीनों रूपों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

20.3.1 धर्म का सरल रूप

प्रत्येक समाज के अपने कुछ खास मिथक (पौराणिक कथाएँ) होते हैं। मिथक विश्वासों को सामान्य रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास पहुँचाते हैं। अतः समाज चाहे सामान्य हो या आधुनिक सभी लोग इन विश्वासों को मानते हैं। बहरहाल, इनके बारे में अलौकिकता की भावना प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती है। कुछ समाजों की अलौकिकता के विश्वास में भूत-प्रेत और मृत आत्माएँ भी होती हैं जबकि अन्य इसे निर्वैयक्तिक शक्ति के रूप में विश्व में सर्वत्र व्याप्त मानते हैं। कुछ लोगों के मतानुसार यह अलौकिक महाशक्ति देवी-देवताओं के रूप में या सामान्य देवता के रूप में भी प्रकट होती है। (ओप सिट-1956, पृष्ठ 152)

धर्म के सरल रूप की, धर्म के जटिल रूप से अलग पहचान की जा सकती है। सरल रूप में कुछ महत्वपूर्ण विशिष्ट विशेषताएँ पाई जाती हैं। धर्म के सरल रूप की ये विशिष्ट विशेषताएँ निम्न प्रकार से हैं।

1) धर्म का पुरातन स्वरूप अनादि है अर्थात् इसकी कोई समय अवधि नहीं है। यह जीवन ईश्वर प्रदत है। विश्वास किया जाता है कि जब से पृथ्वी पर मानव का आर्विभाव हुआ तब से यह विद्यमान है।
2) इसकी कोई समय अवधि नहीं, अतः इसका कोई संस्थापक नहीं है और न मानव द्वारा इसे कोई औपचारिक रूप प्रदान किया गया है।
3) धर्म के इस स्वरूप में विश्वास और कर्मकांड की विधि की जानकारी, मौखिक रूप से एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को दी जाती है।
4) इसमें धार्मिक अनुभव के साथ सौंदर्य बोध भी है। इनमें, धार्मिक अनुष्ठानों और त्यौहारों के अवसरों पर सामूहिक रूप से भाग लिया जाता है।
5) यह निश्चित रूप से विवरणात्मक है, अनुभव की वस्तु है। इसका स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता है। यह आस्था में विश्वास की प्रतीति है और इसकी व्याख्या करने या इस पर दार्शनिक वाद-विवाद करने या द्वन्द्वात्मक तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं

धर्म के सरल रूप में धर्म के जटिल रूप की तरह दार्शनिक रूप देने की प्रवृति नहीं है। धर्म का व्यावहारिक पक्ष तथा तंत्र-मंत्र इसमें विद्यमान है। अतः इस प्रकार के धर्मों का कोई धर्म ग्रंथ या पवित्र पुस्तक उपलब्ध नहीं है।

इमाइल दुर्खिम के अनुसार "जिस प्रकार पेड़ का एक आंतरिक चक्र होता है जो छिपा रहता है और बाहरी चक्र स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, उसी प्रकार धर्म का सरल रूप धर्म का आंतरिक चक्र या रूप है और जटिल रूप बाह्य चक्र या बाहरी रूप।" उनके अनुसार, आदिम समाज के अलौकिक चिंतन में दो तत्व विद्यमान होते हैं। इनमें से एक तत्व परम पावन है और दूसरा लौकिक। यह परमपावन तत्व ही है जिसे दुर्खिम ने धर्म कहा है। लौकिक तत्व को उन्होंने तंत्र-मंत्र या आदिम विज्ञान कहा है। दुर्खिम की इस परिभाषा के विपरीत मलीनोवस्की ने धर्म और तंत्र-मंत्र को परमपावन तत्व कहा है और विज्ञान को लौकिक अंग माना है।

20.3.1.1 धर्म के रूपों के बारे में विभिन्न प्रकार के स्पष्टीकरण

विभिन्न सामाजिक संगठनों में अलौकिक तत्व के बारे में जो अनेक अवधारणाएँ हैं उनकी जाँच करना विकासवादी नृवैज्ञानिकों के लिए एक बहुत ही दिलचस्प विषय रहा है। आदिम समाजों में धार्मिक विश्वासों, तथा इन के उदय को व्याख्यापित करने का सर्वप्रथम प्रयास, ई.बी. टेलर द्वारा किया गया। उन्होंने जीव-वाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया, जो जीव तत्व में विश्वास रखता है। अतः वे इसे जीववाद कहते हैं। उनका कहना है कि धर्म के अस्तित्व में आने के अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु जीव में विश्वास सबसे महत्वपूर्ण है।

धर्म के सरल रूप के विकास में टेलर ने निम्नलिखित क्रम से परिकल्पना की है,

1) **जीववाद** : जीव, भूत, पिशाच, राक्षस, देवता या इसी प्रकार का अन्य कोई चमत्कार।
2) **निम्न-जीववाद** : नीति निरपेक्ष है, अर्थात् मृत्यु के बाद जीव (आत्मा) ऐसी स्थिति में बना रहता है जिसमें जीवन के बाद मृत्यु से इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
3) **उच्च जीववाद** : "प्रतिफल सिद्धांत" पर आधारित है, अर्थात् जीवन काल के आधार पर जीव को पुरस्कार या दंड दिये जाते हैं।

टेलर के विरोधियों के अनुसार धर्म के इतिहास में जीववाद काफी बाद में विकसित हुआ। वस्तुतः जीववाद वह विश्वास है जिसके अनुसार प्रकृति में विद्यमान प्रत्येक वस्तु में जीवन है और वह जीव-धारी है। अन्य चिंतकों के साथ-साथ प्रीयूस और मैक्स मुल्लर जैसे लोगों ने भी इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

मारेट के द्वारा प्रतिपादित प्राणवाद का मूल रूप "मानावाद" है। यह सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि आदिम जाति का समस्त धार्मिक जीवन उनकी कतिपय समझ में न आने वाली व्यक्ति निरपेक्ष, अभौतिक तथा सर्वव्यापी अलौकिक शक्ति में विश्वास है। यह शक्ति विश्व में गोचर अथवा अगोचर सभी पदार्थों में विद्यमान है। यह मानव की इंद्रियों की पहुँच से बाहर है। परंतु यह भौतिक शक्ति या किसी ऐसी अन्य उत्कृष्ट शक्ति के रूप में मानव के आसपास के पदार्थों में प्रकट होती है, जिसकी मनुष्य अपने आप में कल्पना कर सकता है। यह किस मात्रा में किसी व्यक्ति या पदार्थ में विद्यमान है, इसकी तीव्रता में अंतर हो सकता है परंतु प्रत्येक अवस्था में वह एक समान है। इस प्रकार के विश्वासों के लिए मेलेन सियन्स ने "माना" शब्द का प्रयोग किया है। मेरेट ने उसे "प्राणवाद" या "मानावाद" कहा है (ओप. सिट. 1956 : पृष्ठ 156)।

बिहार सिंहभूमि के "होस" में इसी प्रकार का धार्मिक विश्वास प्रचलित है, जिसे प्रसिद्ध समाज शास्त्री डी. एन. मजुमदार ने बोंगावाद कहा है। ये लोग "बोंगा" सिद्धांत पर विश्वास करते हैं जो पेड़ों, प्राकृतिक पदार्थों और साइकिल जैसे मानव निर्मित वस्तुओं आदि में भी विद्यमान है। यह अस्पष्ट लौकिक शक्ति की विश्व व्यापकता है जो विश्वासकर्ताओं के अनुसार सभी प्रकार की ऊर्जाओं का कारण है।

फ्रेजर के अनुसार, जीवन का मुख्य संकट झेलने के लिए धर्म और तंत्र-मंत्र दो रास्तें हैं। आदिम समाज में मनुष्य ने जीवन की वास्तविकताओं को झेलने के दो तरीके निकाले थे। एक तरीका तंत्र-मंत्र (जादू-टोना) का है। इसमें विश्वास करने वाले अलौकिक शक्ति के माध्यम से कार्य सिद्ध करते हैं।

दूसरा तरीका, अलौकिक शक्तियों का सेवक बनकर उसकी पूजा करना है। यही धर्म कहलाता है। परन्तु फ्रेजर के मतानुसार, धर्म के सरल रूप के रूप में तंत्र-मंत्र और धर्म आदिम समाज में भी विद्यमान था। विज्ञान का आखिरी चरण तंत्र-मंत्र की तरह कारण और प्रभाव पर निर्भर करता

है। परन्तु तंत्र-मंत्र के विपरीत यह वास्तविक अन्योन्याश्रय पर निर्भर है, जिसका सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार तंत्र-मंत्र, धर्म और विज्ञान समाज में एक ही वास्तविकता के तीन चरण है।

20.3.2 धर्म का जटिल रूप

धर्म के इस रूप की मुख्यतया निम्नलिखित विशेषताएँ हैं। ये धर्म के सरल रूप से मूलतः भिन्न हैं:

1) इसका अपना इतिहास है। अतः इसके मूल का पता लगाया जा सकता है।
2) यह संस्थापित धर्म है। संस्थापक अलौकिक (ईश्वरीय) शक्तियों से सम्पन्न है, उसे ईश्वर का अवतार, ईश्वर का पुत्र, या ईश्वर का संदेशवाहक माना जाता है। संस्थापक को भक्त मुक्तिदाता मानते हैं।
3) इसके विश्वास और धार्मिक कृत्य संहिताबद्ध तथा पुस्तक के रूप में उपलब्ध हैं। धार्मिक पुस्तकों को परम पवित्र माना जाता है और यह भी माना जाता है कि उनमें ईश्वर या उसके प्रतिनिधि के पवित्र शब्द हैं और देवता के रूप में उनकी पूजा की जाती है।
4) धर्म के इस रूप में बहुत ज्यादा व्यक्तिवाद है। धार्मिक चमत्कार के व्यक्तिगत अनुभव पर इसमें बल दिया जाता है। संस्थापक के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द आस्था संगठित है।
5) यह धर्म का बहुत ही उच्च बौद्धिक स्वरूप है। इसमें अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, जिनमें इनके भक्तों को विश्वास कर उनका अनुसरण करना होता है। विद्वतापूर्ण तार्किक विकास के साथ इनमें नये सिद्धान्त जोड़े जाते रहे हैं। नये भाष्यकार उसी आध्यात्मिक परम्परा में होते हैं। इसके परिणामस्वरूप अनेक पंथों और सम्प्रदायों का निर्माण होता है। इस सिद्धान्तवादी प्रणाली को चलाए रखने तथा खास सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए धर्म विशेषज्ञों, प्रचारकों और साधुओं का एक वर्ग होता है जो अपना समस्त जीवन इस कार्य के लिए समर्पित कर देते हैं।

जटिल धर्म की मुख्य विशेषताएँ आगे और विस्तार से बताने के लिए हम आपको बुद्ध धर्म का उदाहरण देते हैं।

धार्मिक विश्वास

20.3.2.1 बौद्ध मत : एक उदाहरण

बुद्ध धर्म की कुछ निम्नलिखित विशेषताओं के कारण इस धर्म को, धर्म के जटिल रूप के वर्ग में रखा गया है। ये हैं :

1) **ऐतिहासिक रूप से उदय :** ई.पू. 4थी से 5वीं शताब्दी में बुद्ध ने सबसे पहले सारनाथ में (वाराणसी के पास) दीक्षा दी।
2) **संस्थापक :** कपिलवस्तु (नेपाल) के राजा सुद्धोधन और रानी माया देवी का पुत्र, सिद्धार्थ गौतम या साक्य मुनि बुद्ध।
3) **मुख्य सिद्धांत :** मुख्य पंथ या आठ नियमों वाला पंथ : सही दृष्टिकोण, सही सिद्धांत, सही भाषण, सही कार्य, सही आजीविका, सही प्रयत्न, सही चिंतन और सही साधना। निर्वाण का उद्देश्य जीवन के आवागमन के बंधनों से मुक्ति है। जो लोग आठ नियमों वाले पथ पर बढ़ना चाहते हैं उन्हें तीन की शरण में जाना होगा, अर्थात्, बुद्ध, धर्म और संघ।
4) **उल्लेखनीय विशेषताएँ :** भौतिकवादी अजीवीय सिद्धांत (मानव का निर्माण भौतिक तत्वों से होता है और मृत्यु होने पर वे सब बिखर जाते हैं और कुछ भी शेष नहीं रहता) नास्तिकता, ईश्वर का सिद्धांत वाला धर्म (उन देवताओं की पूजा जो बुद्ध से छोटे हैं), शून्यवाद, नश्वरता का सिद्धांत, त्याग, अन्य सांसरिक साधनाओं का धर्म।
5) **संप्रदाय :** मुख्य विभाग (1) थेरावड़ा या हीनयान अरहात मूर्ति के साथ। कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से आगे बढ़े व्यक्तियों द्वारा मुक्ति पर बल, मुख्य संकेंद्रण श्रीलंका, बर्मा, थाइलैंड, महायान बोधिसत्व मूर्ति के साथ। सभी द्वारा ज्ञानप्राप्ति से मुक्ति पर बल, चाहे गृहस्थी हो या एकान्तवासी। महायान या तांत्रिक लामावाद आगे कदम्पा, काम्यूपा, सक्यापा और निंगमापा के रूप में आगे और उपविभक्त है। काम्यूपा सम्प्रदाय "इसके दो अन्य नोरपा और जोनानपा रूपों सहित" अर्ध सुधारवादी समझे जाते हैं, ये मुख्यतः तिब्बत और भारत में हिमालय क्षेत्र विशेषकर लद्दाख, लाहौल-स्पिति और अरुणांचल प्रदेश में रहते हैं।
6) **धर्म ग्रंथ :** सबसे महत्वपूर्ण है : आरंभिक काल के **धम्मपद त्रिपिटिक**, तथा महायानियों के अनेक धर्म ग्रंथ जिन्हें तनजुर कहते हैं।

20.3.3 धर्म का मिश्रित रूप

धर्म के इस रूप में सरल तथा जटिल धर्म के इन दोनों रूपों के मिले-जुले तत्व मिलते हैं। इस धर्म में बौद्धिक स्पष्टीकरण है, परंतु इसका कोई इतिहास नहीं है। इस प्रकार के धर्म का सर्वोत्तम उदाहरण हिन्दू धर्म है, जिसे परंपरागत रूप में सनातन धर्म कहा जाता है।

हिन्दू धर्म, धर्म के मिश्रित रूप वाला धर्म है और इस्लाम, बुद्ध धर्म या ईसाई धर्म की तरह इसका कोई ऐतिहासिक मूल नहीं है। इसका कोई संस्थापक नहीं है और इसके स्रोत देशकाल की परिधि से बाहर है। धर्म के जटिल रूपों की तरह इसमें ईसाई धर्म या इस्लाम की तरह कोई संगठित अधिकारिक सामाजिक व्यवस्था नहीं है। इसके विभिन्न सम्प्रदाय भी बंधनयुक्त हैं। यद्यपि उनकी स्थापना भी ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म या किसी अन्य ऐतिहासिक धर्म की तरह ही है लेकिन उनकी अपनी कोई स्वशासन व्यवस्था नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी सीमाएँ निर्धारित करता है पर सब मिलकर सनातन हिन्दू धर्म के अंतर्गत आते हैं। सनातन हिन्दू धर्म और उसके सम्प्रदाय जिस आधार पर परस्पर जुड़े हुए हैं वह "एक और अनेक" के सिद्धांत पर आधारित हैं।

20.3.3.1 हिन्दू धर्म और जाति प्रथा

जाति व्यवस्था से हटकर हिन्दू धर्म को नहीं समझा जा सकता। इसमें ईसाई धर्म की तरह कोई संगठित याजक वर्ग (क्लेर्जी) या धार्मिक व्यवस्था नहीं है। इसलिए जाति प्रथा समाज में व्यवस्था बनाए रखने के साधन के रूप में काम करती है। इस प्रथा की प्रमाणिकता मनुस्मृति से होती है। जाति प्रथा के अन्तर्गत लगभग 3000 जातियाँ आती हैं जो विवाह पद्धति, खाने पीने की आदतों, भाषायी विभिन्नताओं के कारण एक दूसरे से अलग हैं।

भारतीय जाति प्रथा में मूलतः चार वर्ण थे। परंतु प्रादेशिक, भाषाई तथा व्यावसायिक कारणों से इसमें अनेक वंशानुगत भेद आ गये जिन्हें जाति के नाम से जाना जाने लगा। प्रत्येक जाति के अपने विश्वास और अपनी कर्मकांड पद्धति है। ये विभिन्नताएँ, पारिवारिक संस्कारों (विवाह अंत्येष्टि, आदि) के अवसर पर देखी जा सकती हैं।

व्यवहार के लिए हिन्दुओं के दो मार्ग-दर्शक हैं : धर्मसूत्र और गृहसूत्र। ये वेदों के भाग हैं। इनमें धार्मिक कृत्यों के नियम और प्रक्रियाएँ बताई गयी हैं। गृहसूत्र में विभिन्न जातिया की अनेक विशिष्ट विशेषताओं का समावेश है। अतः पारिवारिक संस्कारों के संबंध में गृहसूत्र में विस्तार से

बताया गया है। बहुत से अनुष्ठान मौखिक रूप से ही स्मृति में सुरक्षित रहते हैं। ये लिखित रूप में नहीं हैं। अनौपचारिक कृत्यों का भंडार महिलाओं के पास सुरक्षित होता है। पुरोहित द्वारा मंत्रोच्चारण के अलावा, परिवार के बड़े-बूढ़े, विशेषकर महिलाएँ, नवजात शिशु, नवविवाहित दंपति और परिवार के मृत सदस्य के लिए धार्मिक संस्कार करती हैं। इस प्रकार हिन्दू धर्म की प्रथाओं में औपचारिक और अनौपचारिक संस्कारों का समावेश हो जाता है। औपचारिक संस्कारों के निर्माण में जाति एक मुख्य स्रोत के रूप में काम करती है।

20.3.3.2 धर्म, कर्म और मोक्ष की धारणाएँ

हिन्दुओं, बौद्धों और जैनियों के लिए **धर्म, कर्म** और **मोक्ष** की अवधारणाएँ बहुत महत्व रखती हैं। धर्म सामाजिक और ब्रह्माण्ड की व्यवस्था में संतुलन लाता है। सामान्य शब्दों में यह न्याय और निष्पक्ष व्यवहार का प्रतीक है। व्यक्ति और समूह दोनों के लिए यह सामाजिक-धार्मिक सिद्धांत बताने वाला मार्गदर्शक है। हिन्दू धर्म के चार मुख्य सिद्धांतों में यह पहला है। अन्य सिद्धांत हैं, **अर्थ, काम** और **मोक्ष**। अर्थ और काम की प्राप्ति का तात्पर्य है भौतिक तथा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति। दोनों को एक साथ **पुरुषार्थ** कहा जाता है।

ये चार सिद्धांत प्रत्येक मनुष्य के मार्ग दर्शक सिद्धांत हैं। सामाजिक स्तर पर किसी भी प्रकार के असंतुलन से अधर्म पैदा होता है। अथवा सामाजिक व्यवस्था में अव्यवस्था पैदा होती है। पुराणों के दानव वे शक्तियाँ हैं, जो अधर्म पैदा करती हैं। अधर्म के विनाश के लिए देवता या देवियाँ पृथ्वी पर अवतरित होती हैं। अक्सर ये मानव के रूप में आते हैं और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना करते हैं।

मनुष्य व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप से जो कार्य करता है कर्म उसका प्रतिफल है। यह कार्यों के अनुसार बुरा या भला कैसा भी हो सकता है। मनुष्य जन्म-मरण के लंबे चक्र से गुजरता है जिसमें वह कर्म का संचय करता है। इस जन्म में मनुष्य जिस हालत में है अच्छा, बुरा या अमीर, गरीब—यह सब उसके पिछले जन्म में किये गये कार्यों का फल है। यदि मनुष्य पिछले जन्म में अच्छे कर्म कर के पुण्य का संचय करता है तो वह इस जीवन में सुख शांति प्राप्त करता है। परंतु यदि वह बुरे कर्म कर पाप का संचय करता है तो वह इसके परिणामस्वरूप इस जीवन में दुःख उठाता है। कर्म भाग्यवाद नहीं है। प्रत्येक मनुष्य कर्म के द्वारा अपना भाग्योदय कर सकता है। कर्म सिद्धांत की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि व्यक्ति अपने दुःख के लिए देवताओं, अंधविश्वास या समाज को दोषी नहीं ठहरा सकता। अपनी वर्तमान स्थिति के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है।

मोक्ष या मुक्ति का अर्थ है जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा। हिन्दू, बौद्ध और जैन कर्म में दृढ़ विश्वास रखते हैं। सामान्यतया कर्म के बंधनों से छुटकारा पाने तथा जन्म और मरण के चक्र से छुटकारा पाकर मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करने के लिए बौद्ध और जैन साधु अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कठोर तपस्या करते हैं।

अतः लोगों को कर्म के लिए प्रोत्साहित करने के लिए धर्म, कर्म और मोक्ष के गतिशील सिद्धान्त को ठीक प्रकार समझना आवश्यक है। इसलिए भगवद्गीता में कृष्ण अर्जुन को दृढ़ता से कर्तव्य पालन करने की सलाह देते हैं। जाति प्रथा में सभी जातियों, उच्च या निम्न सबके कर्तव्य निश्चित हैं। निर्धारित तरीके से कर्तव्य पालन करते हुए व्यक्तियों को अगले चक्र में अच्छा पुनर्जन्म प्राप्त होता है। अतः यदि नीच जाति के लोग अपना कार्य ठीक प्रकार से करते हैं तो उन्हें अच्छा मानव माना जाता है। महाभारत में एक नीच जाति के शिकारी का उल्लेख है जो अपनी जीवन-चर्या पर गर्व करता था और उसे अपने कृत्यों में कोई दोष नहीं दिखाई देता था। उच्चजाति के सदस्यों पर भी आचार और धार्मिक मानक लागू होते थे। उच्च या निम्न किसी भी जाति में जन्म हुआ हो सभी लोगों को जाति के नियमों और पद्धतियों का पालन करना पड़ता था। अन्यथा उन्हें इस जीवन या आगामी जीवन में कष्ट भोगना पड़ता था। इस प्रकार हिन्दू धर्म के इस उदाहरण में हम धर्म का सरल रूप तथा धर्म का जटिल रूप दोनों का मिला-जुला रूप देखते हैं। दार्शनिक चिंतन पर आधारित होने के कारण यह जटिल है। इसके धर्म ग्रंथ जैसे वेद, उपनिषद्, भगवत् गीता आदि बहुत ही परिष्कृत ग्रंथ हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान को अपने उत्तर के लिए उपयोग में **लाएँ।**

ख) अपने उत्तर की तुलना इस इकाई के अंत में दिये गये **उत्तर से**

1 सही स्थान पर (√) निशान लगाएँ।

i) **धर्म का** सरल रूप ऐतिहासिक और **सृजनात्मक है।**

हाँ ☐ नहीं ☐

2) जीववाद सरल धर्म का रूप है।
हाँ ☐ नहीं ☐

3) धर्म के सरल रूप का कोई विस्तृत दार्शनिक आधार नहीं है।
हाँ ☐ नहीं ☐

4) धर्म के जटिल रूप का कोई आरंभ काल नहीं है।
हाँ ☐ नहीं ☐

5) विश्वास और कर्मकांडों का ज्ञान धर्म के जटिल रूप में संहिताबद्ध और पुस्तकों में लिखित है।
हाँ ☐ नहीं ☐

20.4 धर्म और सामाजिक परिवर्तन

जीवित वस्तु के लिए परिवर्तन बहुत ही आवश्यक है। जीवित धर्म को विकसित होना चाहिए, आगे बढ़ना चाहिए और उसमें परिवर्तन आना चाहिए। धर्म का कोई भी रूप स्थिर नहीं रह सकता। कुछ मामलों में यह परिवर्तन आहिस्ता और मामूली हो सकता है और अन्य मामलों में तेज और काफी बड़ा। प्रत्येक धर्म इस बात का दावा करता है कि उसका सिद्धान्त पहला, सर्वोच्च, मूल और शाश्वत है। अतः समय के साथ कुछ तत्वों में परिवर्तन करना भी अपेक्षित होता है। धर्म में परिवर्तन की तुलना उगते हुए वृक्ष से की जा सकती है। मृत शाखाएँ टूटकर गिर जाती हैं और उसी वृक्ष पर उनके स्थान पर नई कोपलें निकल आती हैं। परन्तु धर्म में परिवर्तन नितान्त अलग प्रक्रिया है। इसमें पुराने रूप की अस्वीकृति और नए रूप की स्वीकृति निहित है। तकनीकी दृष्टि से इसे परिवर्तन कहते हैं।

व्यापक रूप से धर्म में तीन प्रकार का परिवर्तन आता है :
1) सरल से जटिल 2) जटिल से सरल 3) स्वरूपों का मिश्रण

20.4.1 सरल से जटिल रूप

आदिवासियों के धर्म के सरल रूप में धर्म के जटिल रूप के संपर्क में आने से कई नये तत्वों का समावेश हुआ है। छोटा नागपुर क्षेत्र में शनैःशनैः वैष्णव धर्म के प्रचार से इस क्षेत्र में रह रही ओरांव आदिम जाति ने अपनी परंपरागत आस्था का पुनर्गठन करना शुरू कर दिया। इसके निम्नलिखित प्रतिफल हुए:

1) ओरांव आदिम जाति के लोगों की अपनी प्राचीन प्रेतात्माओं की शक्ति में आस्था समाप्त हो गई।
2) कुछ प्रेतात्माओं जैसे पितर आत्माओं और कुल आत्माओं को उनकी अपकारी (दुष्ट) भावना से मुक्ति मिल गई और वे साधारण हिताधिकारी (शुभचिंतक) मानी जाने लगीं।
3) पुण्य आत्मा की मूल संकल्पना देवकुल में परिवर्तित हो गई, जिसमें विभिन्न स्तर की अलौकिक शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए अनेक धार्मिक संस्कारों, समारोहों, कार्यों और प्रेक्षणों ने स्थान ले लिया।
4) ओरांव आदिम जाति के लोगों ने उच्च आध्यात्मिक जीवन की आकांक्षा के कारण अपने ऊपर अनेक प्रतिबंध लगा दिये हैं। जैसे पेय या तर्पण के लिए प्रेतात्मा के मद्य का उपयोग (spiritual liquors) और खाद्य या बलि के लिए मुरगा, सूअर और बैल के वध को बंद करना।
5) मंदिर और गुरु या आध्यात्मिक मार्गदर्शक की संस्था तथा कुल देवता को आराध्य देवता के रूप में स्वीकार कर लिया है।
6) धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में होने लगी। कुछ भूइपत भगत बनकर, कुछ नेमहा भगत, कुछ विष्णु भगत और कुछ ताना भगत हो गये।

मणिपुर के मैतई धर्म पर वैष्णव धर्म का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। तीन स्पष्ट चरणों में मणिपुर में वैष्णव धर्म का प्रवेश हुआ। निम्बार्क सम्प्रदाय से संबंधित प्रथम दूत का मणिपुर में 1704 में प्रवेश हुआ। इसके बाद 18वीं शताब्दी की दूसरी तिमाही में रामानन्दी सम्प्रदाय वहाँ पहुँचा। अंत में चैतन्य सम्प्रदाय ने इन दोनों सम्प्रदायों को अपने में समेट लिया। धर्म के पुराने और नये रूपों में उल्लेखनीय सहअस्तित्व रहा, इसे इस उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है।

1) लई नाम से पहचाने जाने वाले कुल देवताओं का अस्तित्व समाप्त हो गया। घरों में लई की

पूजा होती रही, परंतु लई के सार्वजनिक रूप की स्थिति जो सारे मैतई समाज की सामान्य सामाजिक सम्पति थी, नगण्य हो गई।

2) परम्परागत देवताओं के साथ नये ब्राह्मण देवताओं की पहचान होने लगी। मैत्तई देवी पंथोबी की दुर्गा और नोगपोक निगथौ की शिव के रूप में पहचान होने लगी।
3) परंपरागत लई की पूजा ब्राह्मण कर्मकांड के अनुसार होने लगी। उदाहरण के लिए पशुबलि के स्थान पर रक्तहीन फलों की बलि दी जाने लगी।
4) वैष्णव देवताओं की पूजा विकसित होकर और भी घनिष्ठ हो गई। श्री गोविन्द के गोपालक रूप में कृष्ण मुख्य देवता बन गया। इसने उन्हें गाय की सुरक्षा का प्रबल समर्थक बना दिया।
5) राधा सम्प्रदाय का विकास रासलीला का सूत्रपात, कृष्ण और गोपियों के मधुर संबंधों की स्थापना हुई। इसके परिणामस्वरूप बहुत सुंदर धार्मिक नृत्यों का विकास हुआ।
6) भगवत पुराण तथा महाभारत को पढ़ना तथा संकीर्तन करना।
7) ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित शुद्धिकरण के संस्कारों पर बल देना और अतिनैतिक यौन आचार की शिक्षा।

20.4.2 जटिल से सरल रूप

धर्म के जटिल रूप, खास कर धार्मिक अनुष्ठानों और समारोहों के सरलीकरण करने के भी उदाहरण हैं। जैसे वैदिक धार्मिक अनुष्ठान जटिल होने के साथ खर्चीले भी हैं और आम आदमी की पहुँच से बाहर हैं। इनको करने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है, और संस्कृत का ज्ञान होना भी आवश्यक है। अतः वैदिक अनुष्ठानों के विरोध में बुद्ध धर्म का अभ्युदय हुआ और बुद्ध ने बहुत सरल तरीका बताया। उन्होंने बोलचाल की भाषा में प्रवचन दिये और आठ सूत्री उत्तम पंथ निर्धारित किया। यह दूसरी बात है कि बाद में उनके शिष्यों, खासकर महायानियों ने जटिल धर्म का तांत्रिक रूप अपना लिया। बाद में 19वीं शताब्दी में ब्रह्म समाज ने पुनः ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म के जटिल रूप को सरल करने का प्रयत्न किया। परन्तु इसका प्रभाव बंगाल तक ही सीमित रहा। आर्य समाज ने भी इसी प्रकार का साहसिक कार्य किया। इसने पौराणिक कर्म-कांड को अस्वीकार कर वैदिक हवन प्रथा शुरु कर इसे सरल रूप प्रदान किया। आर्य समाज का प्रभाव अभी भी पश्चिमी भारत में काफी ज्यादा है।

20.4.3 अनेक रूपों का मिश्रण

एक से अधिक धार्मिक रूपों के मिश्रण से नये धार्मिक संगठनों का अभ्युदय हुआ। सूफीमत इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसका अभ्युदय पारसी जरदुश्त धर्म और अरब के इस्लाम धर्म के मेल से हुआ। इसमे अनादि अनन्त से जीव की एकात्मकता और ईश्वर का व्यक्ति से घनिष्ठ संबंध स्थापित किया गया है। अरब के मुसलमान कुल देवता (personal god) में विश्वास करते हैं। उनका यह भी मत है कि मानव तथा विश्व ईश्वर के केवल दो कार्य मात्र हैं जो ईश्वर की कृपा पर निर्भर हैं। सूफियों का मत ईसाई भावना से मिलता-जुलता है जो "ईसूमसीह हमारे अंदर है" वाक्य में निहित है। भारत में फारस के विजेता यहाँ से अपने साथ रहस्यवाद और सूफियों की आध्यात्मिकता ले गये।

सिख धर्म, कबीर पंथ और इसी प्रकार के अनेक संत सम्प्रदाय वास्तव में सनातन हिन्दू धर्म के ही भाग हैं, जिन्हें बुद्ध धर्म और सूफी मत ने काफी प्रभावित और परिवर्तित किया है। धर्म के इन रूपों का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति न होकर व्यक्ति को मोक्ष प्रदान करना है जिसे बुद्ध धर्म में निर्वाण कहा गया है। इनमें कोई कुल देवता भी नहीं है। अधिकांश मध्यकालीन धर्मों में ईश्वर से एकाकार होने की सूफी भवना पूर्णतः प्रतिष्ठित है।

सिख धर्म के अंतिम गुरु गुरुगोविन्दसिंह देवी-दुर्गा के परम भक्त थे। उन्होंने खालसा धर्म की स्थापना की जिसमें अपने शिष्यों को एक सेना के रूप में संगठित किया और प्रत्येक को सिंह नाम से प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि उनका "ग्रंथ साहिब" हर दृष्टि से उनका मार्गदर्शन करेगा। ग्रंथ साहिब में वस्तुतः मध्यकालीन भारत के हिन्दू संतों द्वारा गाये गये भक्तिगीत हैं। इसमें शेख बाबा फरीद द्वारा रचित एक सौ बयालिस छन्द भी हैं। बाबा फरीद बहुत बड़े सूफी संत थे जिन्होंने सिख धर्म के यशस्वी संस्थापक नानक के साथ बारह साल से भी अधिक समय तक भ्रमण किया।

राजस्थान के बिशनोइयों का दावा है कि उनके धार्मिक संगठन के उनतीस सिद्धांतों में बीस हिन्दू धर्म से और नौ मुसलमान धर्म से लिये गये हैं। इस प्रकार उनके संगठन का नाम बिशनोई (बिस-बीस + नौ) पड़ा।

20.4.4 सम्प्रदाय तथा उपासना

सम्प्रदायों को धर्म रूपी वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ कहा जा सकता है। धर्म में जो स्वीकार्य नहीं होता, उसी की प्रतिक्रिया के रूप में ये सम्प्रदाय बनते हैं। वस्तुतः किसी भी धर्म में विरोधी आंदोलन के रूप में सम्प्रदाय अस्तित्व में आते हैं। "कैथोलिक क्रिश्चयनिटी" का एक सम्प्रदाय "प्रोटेस्टेंट क्रिश्चयनिटी" है, उसी प्रकार जैसे कि जैन धर्म, बुद्ध धर्म आदि हिन्दू धर्म के सम्प्रदाय हैं।

अक्सर सम्प्रदाय मुख्य धर्म के बहुत से विश्वासों और मान्यताओं को अस्वीकार कर देते हैं और उसके स्थान पर उन विश्वासों और प्रथाओं को अपनाते हैं जो उस सम्प्रदाय के बाहर के व्यक्तियों को असामान्य लगती हैं। अधिकांश सम्प्रदायों में सदस्य के लिए सबसे कठोर नियम यह है कि वह इसके सत्संगों में आए। सदस्यता का अर्थ है कि व्यक्ति सम्प्रदाय के प्रति पूर्णतः निष्ठावान रहे। यह सिद्धांत सदस्यों के जीवन में प्रमुखता ग्रहण कर लेता है।

उपासना धर्म का एक अन्य पहलू है जो कि सम्प्रदाय की तरह धर्म से अलग नहीं होता बल्कि यह धर्म का एक अंग है। यह भावनाओं, दृष्टिकोणों और संबंधों के कारण पैदा होता है और अपने आप में इस का एक उद्देश्य होता है। उदाहरण के लिये देवी के उपासकों या कृष्ण के उपासकों को लिया जा सकता है, जिन में विश्वास रखने वालों की एक बड़ी संख्या है, जो अपने लिये भक्ति गीत वगैरह गाते हैं। और इन का अनुसरण करते हैं।

सम्प्रदाय और उपासना धर्म के प्रक्रियात्मक पहलू है। सम्प्रदाय अधिक संगठित और स्पष्ट है, जबकि उपासना धर्म में विभिन्न भावनाओं की छोटी-छोटी अभिव्यक्तियाँ हैं।

20.4.5 धर्म परिवर्तन

सभी प्रकार की शिक्षा और दीक्षा का मुख्य उद्देश्य धर्म परिवर्तन करना है। आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने की यह एक प्रक्रिया है। प्रोटेस्टेंट धर्म शास्त्र में इसे "आत्मा का पुनर्जन्म" कहा जाता है। धर्म की प्रकृति का पता लगाने में बाह्य या आंतरिक रूप से आस्था को निरंतर चुनौती मिलती रहती है। परंतु व्यावहारिक रूप में अनुभव की व्यक्तिगत स्वतंत्रता शायद ही मिल पाती हो। मुनष्य एक किसी खास धार्मिक परंपरा में जन्म लेता है जिसके निर्धारित तौर-तरीकों का उसे अनुसरण करना पड़ता है। अथवा वह विरासत में मिले तौर तरीकों को छोड़कर अन्य निर्धारित तरीकों को अपना सकता है। दोनों ही मामलों में उसे आस्था की खोज नहीं करनी पड़ती। धार्मिक मिशनरी अन्य लोगों को अपने धर्म में परिवर्तित करने की इच्छुक रहती हैं। ईसाई चर्च का सबसे बड़ा काम सारे विश्व में अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करना है। और सभी देशों में अपने शिष्य बनाना है। इस्लाम का भी यही उद्देश्य है। लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने को बुरा या अनैतिक नहीं माना जाता। मिशनरियों का यह विश्वास है कि उनका धर्म, ईश्वर द्वारा प्रदत्त सर्वश्रेष्ठ धर्म है और उनका यह कर्तव्य है कि जो लोग इस धर्म से बाहर हैं उन्हें इस धर्म में दीक्षित किया जाए। और जब यह पवित्र उद्देश्य सफल नहीं होता, तब दबाव डाला जाता है ताकि उस धर्म के मानने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी हो। वास्तव में यह वास्तविक धर्म परिवर्तन के अलावा कुछ भी नहीं है। बहुत से हिन्दुओं ने विभिन्न स्थितियों में इस्लाम धर्म ग्रहण किया। केरल के मोपाला मछली पकड़ने वालों ने सर्वप्रथम भारत में इस्लाम धर्म स्वीकार किया था। सूफी संतों और अन्य धार्मिक फकीरों या दरवेशों ने काफी संख्या में हिन्दुओं को मुस्लिम धर्म में दीक्षित किया। मुसलमान शासक भी धर्म परिवर्तन में सहायक थे। कई बार उन्होंने बल का भी प्रयोग किया। ईसाई धर्म में लोगों को दीक्षित करने का कार्य बहुधा मिशनरियों द्वारा ही किया जाता था। भारत में मुख्य रूप से जनजाति लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया गया। केरल में ही पहली बार भारतीयों को ईसाई बनाया गया। परंपराएँ समाप्त नहीं होतीं। अधिकांश ईसाई और इस्लाम धर्म ग्रहण करने वाले अपनी कुछ पुरानी ऐसी प्रथाओं और विश्वासों का अनुसरण करते आ रहे हैं जो कि उनके नये धर्म के विरुद्ध है। यह वे खुल कर या छुपकर दोनों तरह से करते हैं। नवदीक्षित धर्म वाले चाहते हैं कि नवदीक्षित नई परंपराओं को अपनाएँ परंतु इस संबंध में वे कुछ नहीं कर सकते। इस्लाम और ईसाईयों की तरह बौद्ध भी लोगों का धर्म परिवर्तन करते हैं। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से कहा है कि वे अपने विरोधियों को अपने पंथ का अनुगामी बनाएं। यह कार्य वे तर्क देकर न करें। बल्कि आध्यात्मिकता (sublime) में उनकी आस्था कम करके करें।

सनातन हिन्दू धर्म, धर्म परिवर्तन में विश्वास नहीं करता, क्योंकि उनका विश्वास है कि उस सर्वशक्तिमान ईश्वर को प्राप्त करने के अनेक पथ हैं। प्रत्येक समान रूप से सही और अनुसरण करने योग्य है। आर्य समाज के धर्म परिवर्तन के सिद्धान्त को कट्टर सनातनियों ने कभी स्वीकार नहीं किया।

20.5 सारांश

इस इकाई में हमने धर्म के अर्थ के बारे में चर्चा की है। धर्म और आस्था किस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित है यह भी हमने बताया है। धर्म के सामाजिक स्वरूप को प्रमुख रूप से स्पष्ट किया गया है। धर्म के निषेधात्मक पहलुओं का भी उल्लेख किया गया है। इस इकाई में धर्म के सांस्कृतिक दृष्टि से विरोधी रूपों को सरल रूप, जटिल रूप तथा मिश्रित रूप के रूप में स्पष्ट किया गया है। इस इकाई में धर्म और सामाजिक परिवर्तन पर भी चर्चा की गयी है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।
ख) अपने उत्तर की इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से तुलना करें।

निम्नलिखित वाक्यों में खाली स्थानों को भरें:

1) आदिम जाति के धर्म के सरल रूप का ..... धर्म के ..... रूप के साथ ..... होने पर उसमें नए तत्वों का समावेश हो गया।
2) मणिपुर के मैतई धर्म पर ..... का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।
3) बुद्ध धर्म का अभ्युदय ..... कर्मकाण्ड के विरोध में हुआ जो जटिल होने के साथ आम आदमी की पहुँच से बाहर भी था।
4) सम्प्रदाय और उपासना धर्म के ..... पहलू को बताते हैं।
5) प्रोटेस्टेंट धर्म-ग्रंथों में धर्म परिवर्तन को ..... का जन्म बताया गया है।

शब्दावली

अनादिकाल : जिसके प्रारम्भ का कोई इतिहास न हो।

द्वन्द्वात्मक : दर्शन में सच्चाई का पता लगाने के लिए प्रश्न और उत्तर के रूप में तार्किक चर्चा।

मूर्तरूप : शामिल करना, साकार करना।

भ्रातृभाव : मित्र बनाने के लिए लोगों से सहयोग करना।

नियामक : सामाजिक व्यवस्था का वह भाग जो समाज के मानकों से सम्बन्धित है। जैसे यह करो, यह न करो।

अफीम : जो चीज नशा करे या मद्य जैसा प्रभाव डाले। यह खाने वाले को सुला देती है।

उदात्त भावना : जो भावनाएँ मनुष्य को उच्च या चरम अवस्था में पहुँचा दें।

ऐहिक : जो सांसारिक हो। आध्यात्मिक या निरपेक्ष तत्व के विरुद्ध।

धर्म विज्ञान : धर्म का अध्ययन।

अनुभवातीत : लोकोत्तर कोई चीज जो अलग से विद्यमान हो या जड़ विश्व की सीमाओं के अन्तर्गत न हो।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

1) मजुमदार, डी. एन. और मदान, टी. एन. 1956, *एन इन्ट्रोडॅक्शन टु सोशल एंथ्रोलोजी :* एशिया पब्लिशिंग हाउस : बम्बई—कलकत्ता।
2) ओ. डेय, थोमस, एफ. 1966, *द सोशियॉलाजी आफ रिलिजन,* प्रेंटिस हाल, इंक ..... इंगलेवुड क्लिफस : न्यू जेरसी।
3) प्रभु. पी.एन. 1971, *हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन,* पापुलर प्रकाशन : बम्बई।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) धर्म आस्था के संगठन का नाम है। यह मानव के विश्वासों और प्रथाओं से संबंधित है।
2) धर्म के निषेधात्मक पहलू ये हैं कि कई बार यह समाज की प्रगति के पथ पर बाधक बन जाता है। यह कट्टरपंथी अज्ञान और अंधविश्वासों को भी जन्म देता है।

3) सभी धर्मों का केंद्र बिंदु आस्था है। यह मनुष्य मात्र को उसके लौकिक और अलौकिक (अनुभवातीत) मूल से जोड़ता है। यह आस्था ही है जो मनुष्य को सभी अन्य प्राणियों से पृथक करती है।

बोध प्रश्न 2

1 1) नहीं (उपभाग 20.3.1 देखें)
2) हाँ (उपभाग 20.3.1.1 देखें)
3) हाँ (उपभाग 20.3.1 देखें)
4) नहीं (उपभाग 20.3.2 देखें)
5) हाँ (उपभाग 20.3.2 देखें)

बोध प्रश्न 3

1 1) सम्पर्क, जटिल
2) वैष्णव धर्म
3) वैदिक
4) प्रक्रिया संबंधी
5) जीव (आत्मा)

इकाई 21 संस्कृति-I

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 संस्कृति की विशेषताएँ
  21.2.1 संस्कृति की भूमिका
  21.2.2 संस्कृति के अभिलक्षण
21.3 संस्कृति और मानव स्वभाव
  21.3.1 मनुष्य और दूसरे प्राणी
  21.3.2 मानव की अनन्यता (uniqueness)
21.4 संस्कृति और जीव-विज्ञान
  21.4.1 संस्कृति और भूख मिटाने के तरीके
  21.4.2 निषिद्ध भोजन और अनुष्ठान
  21.4.3 यौन तुष्टि का स्वरूप
  21.4.4 स्वास्थ्य और बीमारी के संदर्भ में संस्कृति की भूमिका
  21.4.5 संस्कृति और यौन भूमिकाएँ
  21.4.6 संस्कृति और प्रजाति (नस्ल)
21.5 सारांश
  शब्दावली
  कुछ उपयोगी पुस्तकें
  बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आप बता सकेंगे कि :

- मानव-विज्ञान और समाजशास्त्र के संदर्भ में संस्कृति की अवधारणा क्या है,
- संस्कृति विशिष्टत: एक मानवीय घटना है जो मनुष्य की अपनी ही विशिष्ट प्रकृति में निहित हैं, और
- संस्कृति जैविकीय प्रक्रिया से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है।

21.1 प्रस्तावना

यदि आप कभी चिड़ियाघर या सरकस में गये हों तो वहाँ आपने बंदरों और वन मानुषों (चिपैंजी) के व्यवहार को देखा हो तो निश्चय ही आप उनके और अपने व्यवहार और चेष्टाओं में समानता देखकर स्तब्ध रह गये होंगे। आप में से कुछ लोगों ने बड़े आश्चर्य के साथ यह भी अनुभव किया होगा कि हम ठीक इन जानवरों की तरह ही हैं या इनसे कुछ अधिक विकसित प्राणी हैं।

हाल ही के कुछ वर्षों में विज्ञान की कई शाखाओं ने प्राणियों के व्यवहार पर ध्यान दिया है। बड़े पैमाने पर किये गये अनुसंधानों और जाँचों के परिणामस्वरूप अब हम यह बात काफी हद तक समझ गये हैं कि हम में और दूसरे प्राणियों में किन-किन बातों में समानताएँ हैं और किन-किन बातों में भिन्नताएँ हैं। संस्कृति की अवधारणा ने मनुष्य की बहुविध प्रकृति और उसके व्यवहार के बारे में, विशेषत: अन्य प्राणियों के व्यवहार के संदर्भ में, हमारे ज्ञान को बहुत अधिक बढ़ाया है। संस्कृति की इस अवधारणा ने मानव जाति की मूलभूत जैविकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के विविध तरीकों को समझने में भी हमारी बहुत अधिक सहायता की है। संस्कृति की इस अवधारणा से हमें अपनी मनुष्य जाति के विभिन्न समुदाओं और समूहों में पाई जाने वाली विभिन्नताओं की भी जानकारी मिलती है। इससे यह भी पता चलता है किस प्रकार ये विभिन्नताएँ बनी रहती हैं और कैसे ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचती हैं।

संस्कृति एक और बात में हमारी बहुत अधिक सहायक है। यह हमारे सामने मानव जाति के

संबंध में सही दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है और इस तरह हमारी बौद्धिक दृष्टि का विस्तार करती है। इसके द्वारा हमें पूर्वाग्रहों के चक्र से तथा वर्गगत भावना से मुक्ति मिलती है और हमारी अंतश्चेतना परिष्कृत होती है।

21.2 संस्कृति की विशेषताएँ

कभी-कभी हम किसी व्यक्ति को "बहुत अधिक सुसंस्कृत व्यक्ति" कहते हैं तब हमारा मतलब यह होता है कि उस व्यक्ति में कुछ ऐसी बातें हैं जो उसे दूसरों से अलग करती हैं जैसे—उसका बोलने का तरीका, उसका आचार-व्यवहार, उसकी साहित्य, संगीत या चित्रकला आदि में रुचि। यहाँ संस्कृति से अभिप्राय उस व्यक्ति की कुछ निजी विशेषताओं से है। लेकिन समाज विज्ञान में संस्कृति शब्द का न तो इस अर्थ में प्रयोग होता है और न ही ऐसा अर्थ समझा जाता है।

सामान्य बातचीत में हम कभी-कभी "संस्कृति" शब्द का प्रयोग किसी समारोह या सांध्यकालीन मनोरंजन कार्यक्रम के लिए करते हैं। इसे "सांस्कृतिक समारोह" कहा जाता है। यहाँ संस्कृति का अभिप्राय "सौंदर्य बोध" से है जिसके अंतर्गत नृत्य, संगीत, नाटक आदि ललित कलाएँ आती हैं यह भी संस्कृति शब्द के तकनीकी अर्थ से भिन्न है।

मानव विज्ञान और समाजशास्त्र में संस्कृति शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में होता है। यहाँ इसका अभिप्राय मानव जाति के रहन-सहन, आचार-विचार, भावनाएँ, विश्वास और विचारों के समग्र रूप से है। यह उन सभी बातों की ओर संकेत करती है जिन्हें मनुष्य ने सामाजिक प्राणी होने के नाते उपार्जित किया है।

21.2.1 संस्कृति की भूमिका

संस्कृति के दो विशिष्ट पहलू हैं जो आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक ओर तो वह मनुष्य की प्रवीणता या कुशलता को बताता है। इसे अच्छी तरह समझने के लिए मनुष्य की कुछ उन विशेषताओं को समझना जरुरी है जो केवल मनुष्य में ही पायी जाती हैं। ये अनन्य विशेषताएँ हैं—मनुष्य में विचार या तर्क करने की क्षमता और कल्पना शक्ति का होना, आत्मज्ञान और आत्माभिव्यक्ति की क्षमता तथा प्रतीकों द्वारा संप्रेषण यानी भाषा व्यवहार क्षमता का होना।

दूसरी ओर संस्कृति ने मनुष्य की क्षमताओं और संभावनांओं को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। संस्कृति के कारण ही मनुष्य विकास की प्रक्रिया में जीवित रह सका। मनुष्य में परस्पर सहयोग की भावना, अपने आसपास की वनस्पतियों का अपने भोजन आदि के लिए उपयोग, अपनी आवश्यकता के अनुरूप जानवरों को पालतू बनाना, आग की खोज और उसका उपयोग, औजारों और उपकरणों का निर्माण, भाषा का आविष्कार और उसका व्यवहार आदि बातों ने मनुष्य को अपने प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल ढालने में बड़ी मदद की। आधुनिक विज्ञानियों के विचार में अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्यों ने अपनी विकास प्रक्रिया में अधिक सक्रिय भूमिका निभाई है।

मनुष्यों को आपसी सहयोग के कारण जंगली जानवरों और बाहरी खतरों से सुरक्षा मिली। आपसी सहयोग से सामूहिक क्रियाकलाप के रूप में वे जंगली जानवरों का शिकार करने लगे। पेड़ पौधों को अपने लिए उपयोगी बनाकर और जानवरों को पालतू बनाकर उन्होंने अपने जीवन को और अधिक सुविधापूर्ण बना लिया। औजारों और उपकरणों के इस्तेमाल से भोजन इकट्ठा करने और मछली मारने और शिकार करने में सुविधा हो गई। आग की खोज और उसके इस्तेमाल ने उन्हें जंगली जानवरों से सुरक्षा प्रदान की। भाषा के द्वारा वे अपने अनुभवों और कौशलों का आदान-प्रदान कर सके और उन्हें भविष्य के लिए सँजो कर रख सके। यदि संस्कृति न होती हो संभवतः मनुष्य विकास की लंबी और कठिन प्रक्रिया में नष्ट हो गया होता।

21.2.2 संस्कृति के अभिलक्षण

संस्कृति विभिन्न तत्वों का एक समग्र रूप है। किसी समाज के लोगों के क्रिया-कलाप, शिल्प कृतियाँ, आचार-विचार और (धार्मिक) विश्वास उनकी ऐसी विशेषताएँ हैं जो परस्पर एक दूसरे से जुड़ी होती हैं।

संस्कृति शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक सामान्य अर्थ में और दूसरा विशिष्ट अर्थ में। सामान्य अर्थ में संस्कृति को उन विशेषताओं का समग्र रूप कह सकते हैं जो केवल मनुष्य में

पायी जाती हैं। प्राणिजगत में दूसरा कोई ऐसा प्राणी नहीं है जिनमें ये विशेषताएँ हों। जब संस्कृति का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया जाता है तो इसका यह अभिप्राय होता है कि किसी समुदाय या समूह का रहन-सहन, रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार का समग्र रूप। उदाहरण के लिए हम चीनी संस्कृति, एस्कीमो संस्कृति, हिंदू संस्कृति आदि का प्रयोग करते हैं।

निम्नलिखित अभिलक्षणों से संस्कृति की विशेषताओं को अभिव्यक्त किया जा सकता है :

1 किसी एक समाज या समुदाय के लोगों की सांस्कृतिक विशेषताएँ समान होती हैं। कहने का मतलब यह है कि संस्कृति किसी व्यक्ति के विश्वासों या क्रिया-कलापों को नहीं बताती बल्कि ऐसे लोगों के समूहों का प्रतिनिधित्व करती है जो संगठित समुदाय के रूप में होते हैं। संस्कृति का स्वरूप व्यक्तिगत न होकर सामाजिक है।

2 मानव समाज एक दूसरे के साथ आपसी संपर्क और व्यवहार द्वारा संस्कृति को सीखता और उपार्जित करता है। कोई व्यक्ति अपने माता-पिता या अपने समूह की विशेषताओं को दो प्रकार से उपार्जित करता है। एक तो वह अपने माता-पिता के रूप-रंग आदि शारीरिक विशेषताओं को ग्रहण करता है। ऐसी ही कुछ विशेषताएँ हैं—त्वचा का रंग, कद-काठ, बालों की बनावट, आँखों का रंग आदि। इन्हें वह आनुवंशिक (Genetic) अंतरण द्वारा प्राप्त करता है, इस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता। दूसरे वह अपने माता-पिता से और उनके द्वारा अपने समूह से उनके विचारों, मनोवृत्तियों, भाषा, व्यवहार आदि को उपार्जित करता है। इन्हें वह सास्कृतिक अंतरण द्वारा प्राप्त करता है।

ऊपर दिये गये विवरण से यह मालूम होता है कि विभिन्न वर्गों और समुदायों के बीच भाषा, (धार्मिक) विश्वास, रीति-रिवाज और अनुष्ठान आदि की दृष्टि से जो भिन्नताएँ है इन्हें केवल शारीरिक या प्रजातिगत भिन्नताएँ नहीं माना जा सकता जो आनुवंशिक रूप से वंशगत होती हैं अपितु इनकी व्याख्या अपने पूर्वजों या पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण में सीखी हुई या उपार्जित सांस्कृतिक भिन्नताओं के रूप में करनी होगी।

3 व्यक्ति संस्कृति को केवल सामाजिक संदर्भ में ही नहीं सीखता और उपार्जित करता अपितु यह सांकेतिक प्रतीकों के संप्रेषण या भाषा के विधान द्वारा संचित की जाती है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती है। दूसरे शब्दों में कोई समाज या समुदाय लंबे अरसे तक अपने अनुभवों, ज्ञान और कौशल को जमा करता रहता है। समाज के सभी सदस्य इसका लाभ उठाते हैं और बाद में इसे आने वाली पीढ़ी को दे देते हैं।

21.3 संस्कृति और मानव स्वभाव

आपने अभी यह पढ़ा कि संस्कृति का मतलब उन कुछ विशेषताओं की अभिव्यक्ति से है जो केवल मनुष्य में ही पायी जाती हैं। अन्य प्राणियों के व्यवहार और मनुष्य के व्यवहार के तुलनात्मक अध्ययन से मानव प्रकृति के उन अनोखे आयामों को सामने लाया जा सकता है जो केवल मनुष्य में ही पाये जाते हैं। हाल ही के कुछ सालों में शरीर क्रियात्मक मनोविज्ञान (physiological psychology), तंत्रिका-शरीर क्रिया विज्ञान (neuro physiology), प्राणिआचार शास्त्र (ethology) जंगली जानवरों के व्यवहार के अध्ययन से संबंधित और समाजशास्त्र (जानवर और मनुष्यों के व्यवहार के तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन से संबंधित) ने हमें जानवरों के स्वभाव के बारे में बहुमूल्य जानकारी दी है। अब हम ज्यादा अच्छी तरह यह बता सकते हैं कि मनुष्य और अन्य प्राणियों के व्यवहार में कौन-कौन सी समानताएँ पायी जाती हैं और ऐसी कौन सी बातें हैं जो केवल मनुष्यों में पायी जाती हैं।

21.3.1 मनुष्य और दूसरे प्राणी

कुछ समय पहले तक यह समझा जाता था कि जानवर कुछ भी नहीं सीख सकते और न ही वे औजारों आदि का इस्तेमाल कर सकते हैं, वे पहले से किसी बात की योजना नहीं बना सकते और उनमें चीजों को गिनने की क्षमता भी नहीं होती। जानवरों के बारे में आधुनिक अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जानवरों की किस चीज को सीखने की क्षमता के बारे में इन धारणाओं का कोई आधार नहीं है।

जानवरों को प्रशिक्षण करने वालों और चिड़िया घर के जानवरों के पालकों को यह बात बहुत समय से मालूम है कि जानवरों में नयी बातों को सीखने की क्षमता होती है। आपने यदि तोता

मैना जैसे पक्षियों को घर में पाला हो तो इस बात पर अवश्य ध्यान दिया होगा। जानवरों और पक्षियों पर अनुसंधान से यह पता चला है कि इन प्राणियों की बहुत सी ज़ातियाँ विशिष्ट प्रकार के व्यवहार को सीख सकती हैं। उदाहरण के तौर पर किसी पक्षी का बच्चा अपनी जाति के पक्षियों के गाने के तरीके को पहले साल में ही सीख लेता है। वनमानुष (चिंपैंजी) का बच्चा अपनी माँ से जंगल के जहरीले फलों को पहचानना सीख जाता है।

पक्षियों की कई जातियों में दिशा का ज्ञान और पहले से योजना बनाने की उल्लेखनीय क्षमता होती है। यह बात, पक्षियों की हर साल एक खास मौसम में दूर देशों में उड़ान से पता चलती है। जब आर्कटिक की सर्द जमा देने वाली ठंड असह्य हो जाती है तो साइबेरिया के सारस पक्षी हजारों मील की दूरी पार करके बंबई के पास आ जाते हैं जहाँ का मौसम उनके लिए सुहावना होता है। फिर जैसे ही ठंड कम होती है वे अपने घरों को लौट जाते हैं।

बंदर, लंगूर जैसे कुछ अधिक विकसित जानवर कुछ अनगढ़ औजार बना सकते हैं और उनका इस्तेमाल कर सकते हैं। जंगलों में वनमानुष दीमक खाते हैं। ये दीमकें पेड़ों के तने कोष्ठकों में होती है जहाँ वनमानुष का हाथ नहीं पहुँच सकता। ऐसे मौके पर वह पेड़ की टहनी तोड़ कर पेड़ के खोखले भाग में डाल देता है और कुछ देर इंतजार करता है। जब दीमकें टहनी पर चिपक जाती हैं तो वह टहनी को खींच कर बाहर निकाल लेता है और दीमकों को खा जाता है।

आस्ट्रेलिया में इम्यू नामक एक जानवर पाया जाता है जो बड़े-बड़े अंडे देता है। ऑस्ट्रेलियाई बाज इन अंड़ों का बहुत शौकीन होता है। वह इम्यू को अंडों से दूर खदेड़ देता है और अपने पंजों में एक पत्थर पकड़ कर कुछ ऊपर उड़ता है और पत्थर को अंडों पर गिरा देता है और जब अंडे टूट जाते हैं तो वह उन पर झपटा मारकर उनके भीतर का हिस्सा खा जाता है।

मनुष्य और वनमानुष के गुण सूत्रों (क्रोमोसोम्स) की संख्या और आकार में, उन दोनों के रक्त की प्रोटीनों में और आनुवंशिक सामग्री डी एन ए (DNA) की संरचना में अद्‌भुत समानता है। जानवरों के आचार-व्यवहार का अध्ययन करने वाली महिला जेन गुडवाल ने तंजानिया के प्राकृतिक वातावरण में वनमानुषों के व्यवहार का अध्ययन किया। उसने वनमानुष और मनुष्य के व्यवहार में उल्लेखनीय समानताएँ देखीं। उसने देखा कि मनुष्यों की तरह वनमानुषों का बचपन भी लंबा होता है। उनका पारिवारिक स्नेह संबंध बहुत घनिष्ठ होता है। वे अनगढ़ औजार बना सकते हैं और उनका इस्तेमाल भी कर सकते हैं। वे साथ मिलकर शिकार करते हैं। जेन ने उनमें चेष्टाओं और चेहरे के हाव-भाव द्वारा विचारों के संप्रेषण और अभिव्यक्ति में भी समानता पायी।

21.3.2 मानव की अनन्यता (Uniqueness)

कुछ दृष्टियों से मनुष्य प्राणिजगत का ही एक हिस्सा है क्योंकि कुछ जैविकीय और शरीर क्रियात्मक (Physiological) प्रक्रियाएँ मनुष्य और अन्य प्राणियों में एक जैसी होती हैं। ऐसा होते हुए भी मनुष्य प्राणियों की अन्य प्रजातियों से निम्नलिखित बातों में अलग है। इसलिए प्राणिजगत में उनका विशेष स्थान है।

1) सामान्य प्राणियों में भूख, प्यार और कामाचार आदि मूलभूत जैव वृत्तियाँ सहज आवेगों द्वारा निर्धारित होती हैं। ये वृत्तियाँ मनुष्य में लगभग समाप्त हो गई हैं। इसलिए भूख, प्यास आदि जैविक आवश्यकताओं की तुष्टि भी संस्कृति द्वारा नियंत्रित होती है। अन्य प्राणियों की अपने पर्यावरण से प्रतिक्रिया लगभग सुनिश्चित और एक सी होती है। इसके विपरीत मनुष्य की पर्यावरण से प्रतिक्रिया काफी लचीली और भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है।
2) यद्यपि प्राणियों की कुछ प्रजातियाँ (Species) अनगढ़ औजार बनाती हैं और उनका इस्तेमाल करती हैं लेकिन मनुष्य उनसे कहीं बढ़िया औजार बना सकता है। जानवर औजार का निर्माण और इस्तेमाल तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए करते हैं, ज्यों ही उनका उपयोग समाप्त हो जाता है वे उन्हें फेंक देते हैं। इसके विपरीत आदमी अपनी भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाता है।

इसके अलावा आदमी सांस्कृतिक प्रभाव के कारण अपने हथियार और औजार बनाने के अनुभवों को संचित करता रहता है और उन्हें आने वाली पीढ़ियों को देता जाता है। इस प्रकार हजारों सालों के अनुभवों के कारण आदमी की हथियार और औजार बनाने की क्षमता में निरंतर सुधार होता गया है।

3) मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसकी मादा पूरे साल संभोग कर सकती है जिसका मनुष्य के वैवाहिक और सामाजिक व्यवहार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।
4) दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मानव-शिशु शरीरिक दृष्टि से और भावनात्मक दृष्टि से अपनी माँ

पर कहीं अधिक लंबे अरसे तक आश्रित रहता है इस कारण मनुष्य समाज में मां और बच्चे के बीच तथा अन्य संबंधियों के साथ संबंधों में घनिष्ठता पाई जाती है।

5) मनुष्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो दूसरे प्राणियों में नहीं पाई जाती। इन्हें "प्रजाति विशिष्ट" (specie specific) विशेषता कहते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क कुछ विशेष क्षेत्रों में विकसित हुआ है जैसे—हाथों और वाक् शक्ति पर नियंत्रण के क्षेत्र में तथा दूरदर्शिता और योजना बनाने की क्षमता के क्षेत्र में। मस्तिष्क में नियंत्रण का कार्य ललाटिका (फ्रंटल) और पूर्व ललाटिका पालि (प्री फ्रंटल लोब्स) में होता है। इसके द्वारा वह भविष्य में किये जाने वाले कामों के बारे में सोच सकता है और आगे की योजना बना सकता है। ललाटिका और पूर्व ललाटिका पालि मस्तक के सामने के हिस्से में होते हैं।
6) मनुष्य अनिवार्यतः प्रतीकों का प्रयोग करने वाला प्राणी है। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसमें आत्म-ज्ञान या आत्म-चिंतन करने की क्षमता है। उसमें अपने आप को जानने और सोच विचार करने की योग्यता पाई जाती है। मनुष्य में बुद्धि के द्वारा तर्क करने और कल्पना करने की भी योग्यता है। इसके द्वारा वह संकल्पनाओं, अर्थों और मूल्यों का सृजन करता है जिनका सार्वभौमिक महत्व है। अपने प्रतीकात्मक स्वभाव के कारण मनुष्य अपने निकटवर्ती वातावरण पर जिसका कि वह अंग है, हावी हो जाता है।
7) मनुष्यों में प्रतीकों के माध्यम से संप्रेषण की या भाषा की अद्भुत क्षमता है। मनुष्य में वाक्तंत्रियों के विकास के कारण तथा मस्तिष्क में बोलने और सुनने के केंद्रों के पास-पास स्थित होने के कारण भाषा का उद्भव संभव हुआ।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान पर प्रश्नों के उत्तर लिखिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिए उत्तरों से अपने उत्तर की जाँच कीजिए।

1 संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ बताइए। (अपना उत्तर सात पंक्तियों में लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 मनुष्य की अनन्यता के कुछ उदाहरण लिखिए। (उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

21.4 संस्कृति और जीव विज्ञान

मनुष्य में अन्य प्राणियों की तरह भूख, प्यास, कामवासना आदि आधारभूत जैविक आवेग पाये जाते हैं। इन आवेगों की तुष्टि की आवश्यकता होती है परंतु मनुष्यों और अन्य प्राणियों द्वारा किस प्रकार इन आवेगों की तुष्टि की जाती है इसमें दोनों में बहुत अंतर पाया जाता है। प्राणियों में मूलभूत जैविक आवश्यकताओं की तुष्टि सहज अंतः प्रेरणा से होती है जबकि मनुष्यों में इसकी पूर्ति संस्कृति द्वारा नियमित की जाती है।

21.4.1 संस्कृति और भूख मिटाने के तरीके

दुनिया के अलग-अलग हिस्सों के मानव समुदायों और वर्गों में किस प्रकार भूख की जैविक वृत्ति

को तृप्त किया जाता है इस बारे में बहुत अधिक भिन्नता दिखाई देती है। दक्षिणी अफ्रीका के गर्म, रेतीले, कालाहारी रेगिस्तान में रहने वाले बुशमैन जंगली पौधे, कीड़े, टिड्डियाँ, बिच्छू, सोन चिड़िया और शुतुर्मुग खाकर भूख मिटाते हैं, आर्कटिक की शून्य डिग्री सेंटीग्रेड से भी नीचे जमा देने वाली ठंड में एस्कीमो दरियाई घोड़े का मांस और चरबी खाकर पेट भरते हैं, स्कैंडेनेविया के लैपलैंडवासी लोग रेंडियर का दूध पीकर और मांस खाकर क्षुधा निवारण करते हैं, बंगाल की खाड़ी में स्थित अंडमान द्वीप समूह के लोग फल और कंदमूल इकट्ठा करके तथा मछलियाँ पकड़ कर और जानवरों का शिकार करके गुज़ारा करते हैं, मलेशिया के सीमैंग शिकारी लोग रताल् (भालू), छोटे रसीले फल (बैरी) कंदमूल और गिरियाँ (नट्स) खाते हैं। इसके साथ ही वे गिलहरियों, बंदरों या छिपकली प्रजाति के प्राणियों का मांस खाकर पेट पालते हैं, आस्ट्रेलिया के आदिवासी कंगारुओं का शिकार करते हैं और उनका मांस बड़े स्वाद से खाते हैं।

21.4.2 निषिद्ध भोजन और अनुष्ठान

किसी समाज या समुदाय के लिए किस प्रकार का भोजन खाने के योग्य है और किन-किन चीजों को उन्हें नहीं खाना चाहिए, इस बात को संस्कृति निर्धारित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि एक समाज जिन चीजों को खाना पसंद करता है उसी चीज का दूसरा समाज निषेध करता है। एक कहावत भी है कि एक आदमी का खाना दूसरे के लिए जहर होता है। यह बात सांस्कृतिक दृष्टि से बिल्कुल सही है। यहूदियों और मुसलमानों के लिए सूअर का मांस अभक्ष्य है लेकिन उसी मांस को ईसाई लोग बड़े स्वाद से खाते हैं। पूर्वी अफ्रीका के बागांडा लोगों के लिए दूध और दूध की बनी वस्तुएँ विलास की सामग्री हैं लेकिन पश्चिमी अफ्रीका और चीन के लोग इसे अभक्ष्य मानते हैं और इसे खाने से उनका जी मचलने लगता है। न्यूगिनी और एरिजोना के निवासी नवाहों और अपाचे जाति के लोगों को मछली से मतली आने लगती है और वे उसे मनुष्यों के लिए खाने योग्य चीज नहीं समझते। नए जमाने के ज्यादातर लोग कुत्ते के मांस को अभक्ष्य मानते हैं परन्तु उसे मेक्सिको के इंडियन और भारत की कुछ जातियों के लोग खूब स्वाद से खाते हैं। अमरीकी इंडियन कुछ ही समय पहले तक टमाटरों को विषैली चीज समझते थे और उसे खाने से इन्कार करते थे। जापान में कुछ खास तरह की मछलियों को बहुत स्वादिष्ट माना जाता है और उन्हें वे कच्ची ही खा जाते हैं। अफ्रीका के कई भागों में कच्चा मांस खाने का प्रचलन है।

भारतीय समाज में कई तरह के निरामिष और सामिष भोजन का साथ-साथ प्रचलन है। इस प्रकार आप देखेंगे कि दक्षिण भारत और गुजरात में ऐसे कट्टर शाकाहारी लोग हैं जो मांस, अंडा और मछली खाना अच्छा नहीं समझते। यहाँ ऐसे कट्टरपंथी जैनी लोग भी हैं जो कंदमूल भी नहीं खाते। महाराष्ट्र में बूढ़ी ब्राह्मण औरतों या किसी भी आयु वर्ग की विधवा औरतों के लिए प्याज और लहसुन खाना भी मना है।

कई संस्कृतियों में ऐसा विधान है कि अमुक प्रकार के खाने में अमुक प्रकार का खाना मिलाकर नहीं खाया जा सकता है, जैसे—कट्टर यहूदी लोग मांस और दूध से बनी चीजें एक साथ खाने में नहीं खाते। श्रद्धालु मुसलमान मछली खाने के बाद दूध से बनी चीजें खाने से बचते हैं। एस्कीमों लोग जमीन पर पाये जाने वाले जानवरों से प्राप्त होने वाले खाद्य पदार्थों से समुद्री पदार्थों को अलग रखते हैं।

खाने के साथ कुछ अनुष्ठान भी प्रायः जुड़े रहते है, उदाहरणार्थ, भारत में खाने से पहले स्नान करने का विधान है और इसके साथ ही स्नान के बाद साफ कपड़े पहनने का विधान है। व्यक्ति को अनुष्ठान के साथ स्वच्छ स्थान पर ही बैठना चाहिए। जो निम्न वर्ग के लोगों के स्पर्श से अपवित्र न हो। नैपाली ब्राह्मण बिना सिले कपड़े पहनकर ही भोजन कर सकते हैं।

भारत में खान-पान में अनुष्ठान संबंधी शुद्धता और प्रदूषण आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि दूध जैसे कुछ पदार्थों में शुद्धता सहज रूप में होती हैं। अन्य खाने की चीजों को तलकर शुद्ध किया जाता है। या तेल में तले हुए पदार्थों में दूषित होने की संभावना कम रहती है। ऐसे तले हुए खाने को "पक्का" खाना कहते हैं इसकी तुलना में दूसरा खाना "कच्चा" खाना होता है जिसे पानी से बनाया जाता है। इसे उत्तर भारत के उच्च जाति के लोग नीची जाति के लोगों के हाथ से परसने पर भी खा सकते हैं। उत्तर भारत में मिट्टी के बर्तनों में खाना पकाना या खाना अनुष्ठान के तौर पर अधिक स्वच्छ माना जाता है, लेकिन दक्षिण भारत में कभी भी ब्राह्मण मिट्टी के बर्तन में खाना नहीं खाते क्योंकि इसे वहाँ शुद्ध नहीं माना जाता।

कई संस्कृतियों में व्रत और उपवास रखने का विधान है। श्रद्धालु यहूदी हर बृहस्पतिवार और सोमवार को उपवास रखते हैं। इसके अलावा यौम किपूर (प्रायश्चित) के दिन वे 24 घंटे उपवास रखते हैं। प्राचीन ईसाई पतावलंबी लेंट का त्यौहार मनाते थे जो चालीस दिन चलता था। रमजान

खान-पान का अंतर

के महीने में मुसलमान पूरा महीना रोजा (उपवास) रखते हैं। हिंदू धर्म में व्रतों को पुण्य देने वाला समझा जाता है। वे सभी मंगलमय अवसरों पर व्रत और उपवास रखते हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उपवास का अभिप्राय प्रतीक के रूप में यह है कि हम अपनी भूख और प्यास की जैविक वृत्ति को दमन करना सीखें।

21.4.3 यौन तुष्टि का स्वरूप

मानव समाज के विभिन्न वर्गों में यौन वासना की तुष्टि के अनगिनत तरीके हैं। सभी संस्कृतियों ने स्त्री-पुरुषों के यौन संबंधों को विवाह नामक संस्था से नियमित किया है। इसके अलावा सभी संस्कृतियों में कुछ निकट संबंधियों में वैवाहिक संबंध स्थापित करने पर प्रतिबंध भी है। ऐसा प्रतिबंध एक सार्वभौम सांस्कृतिक आविष्कार है जिसे समाज में कामचार को नियमित करने के लिए लागू किया गया। कुछ वैवाहिक संबंधों पर प्रतिबंध या नियमन के भिन्न-भिन्न संस्कृतियों या समाजों में अलग-अलग नियम हैं उदाहरणार्थ—उत्तर भारत में चचेरे और ममेरे भाई-बहनों में विवाह संबंध नहीं हो सकता, जबकि दक्षिण भारत में ऐसे विवाह संबंधों का विधान है। दक्षिण भारत की कुछ जातियों में बड़ी बहन की लड़की की शादी बहन के छोटे भाई यानी छोटे मामा के साथ होती है, लेकिन उत्तर भारत में ऐसे विवाह संबंध नहीं हो सकते।

इसके अलावा कई संस्कृतियों में सजातीय (अंतर्विवाह) विवाह की प्रथा है। वहाँ एक जाति के लोग अपनी रिश्तेदारी, गोत्र या वंश परंपरा में ही विवाह कर सकते हैं। दूसरी ओर कुछ वर्गों में अपने वर्ग या जाति से बाहर ही विवाह की व्यवस्था है। वहाँ कोई व्यक्ति अपने गोत्र, संबंधियों को छोड़कर अन्यत्र विवाह कर सकता है। उत्तर भारत के कुछ भागों में अपने गाँव से बाहर ही शादी करने का विधान है। इसके अंतर्गत किसी लड़के या लड़की की शादी गाँव के बाहर किसी दूसरे गाँव की लड़की या लड़के से ही हो सकती है। इसे बहिर्विवाह कह सकते हैं।

विवाह के साथी या साथियों के निर्धारण के संबंध में भी समाज के विभिन्न वर्गों में भिन्नता दिखाई देती है। अफ्रीका, चीन, मलेशिया, पॉलिनेशिया तथा उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के जनजातीय समुदायों में बहु पत्नी प्रथा का प्रचलन है। इनमें पति की एक से अधिक पत्नियाँ हो सकती हैं। ऐसा कहा जाता है कि युगांडा के राजा एमतेस्सा की 7000 पत्नियाँ थी। ट्रोब्रिएंड द्वीप वासियों में प्रायः एक पत्नी प्रथा है लेकिन उनके सरदार की साठ तक पत्नियाँ हो सकती हैं। कई स्थानों पर बहु पति प्रथा का भी प्रचलन है। पॉलिनेशिया के मार्क्विसन्स क्षेत्र में, भारत के नीलगिरि पर्वत के टोडा और कोटा जनजातियों में, श्रीलंका के कैंडी वासियों में, हिंदचीन के दाला लोगों में और उत्तरी अमरीका के प्रोविओसो इंडियनों में बहु पति प्रथा पाई जाती है। हिमाचल के

जानसार बवार इलाके के खासा लोगों में बहु भ्रातृ विवाह प्रथा प्रचलित है। इसके अनुसार एक ही समय में एक स्त्री की दो या अधिक भाईयों के साथ शादी होती है।

कई संस्कृतियों में यौवनारंभ (मासिक धर्म शुरु होने का) संस्कार और कामचार शुरु करने का (गर्भधान) संस्कार किया जाता है। इसी तरह अधिकांश संस्कृतियों में कुछ यौन संबंधों का निषेध है जैसे—सम लिंग रति। मासिक धर्म (माहवारी) यौवनारंभ, गर्भाधान और गर्भपात, बार-बार संतान होना, पुनर्जनन आदि जैविक प्रक्रियाओं को सांस्कृतिक तत्व प्रभावित करते हैं।

प्राचीन काल और मध्यकाल में वैराग्य और तपस्या तथा बाद में रोमन कैथोलिक मत के प्रभाव ने कुछ धार्मिक परंपराओं जैसे ब्रह्मचर्य आदि को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार संस्कृति मनुष्य में कामचार की तृप्ति को स्वेच्छा से कामचार निषेध आदि बातों में काफी मात्रा में प्रभावित करती है।

21.4.4 स्वास्थ्य और बीमारी के संदर्भ में संस्कृति की भूमिका

समाज में स्वास्थ्य और रोग को सांस्कृतिक तत्व अत्यधिक प्रभावित करते हैं। कुछ ऐसी बीमारियाँ होती हैं जिनका संबंध विशेष वर्ग, पेशे, जाति या खाने की आदतों से होता है। उच्च रक्तचाप, मधुमेह, और फोड़े-फुंसियाँ आदि को शहरी क्षेत्र की बीमारियाँ कह सकते हैं जो ऐसे लोगों को होती हैं जो दिन भर कुर्सी आदि पर बैठे-बैठे काम करते हैं। आजकल कैंसर का प्रकोप लगातार बढ़ रहा है इसका मुख्य कारण पर्यावरण प्रदूषण है।

हमारे खाने की आदतों में, तला हुआ भोजन खाने से जिसमें घी या तेल की मात्रा अधिक होती है और ज्यादा नमक खाने से हृदय रोग होने का खतरा रहता है। दक्षिणी प्रशांत द्वीपों के लोग, तुर्की के किरगिज क्षेत्रवासी, कुछ अफ्रीकी जनजातियों के लोग, आस्ट्रेलिया के आदिवासी और एस्कीमो लोग खाने में नमक का इस्तेमाल बिल्कुल नहीं करते। इसलिए इन्हें रक्तचाप की बीमारियाँ नहीं होती। दूसरी ओर पूर्वी फिनलैंड वासियों के खाने का एक चौथाई भाग प्राणियों की चरबी का होता है इसलिए इनको दिल का दौरा पड़ने की अधिक संभावना होती है।

संस्कृति से ही यह भी निर्धारित होता है कि किस बीमारी को वास्तव में बीमारी समझा जाए और उसका इलाज किया जाय। अफ्रीका के थौग लोगों में औतों के कीड़े खाना पचाने के लिए जरुरी समझा जाता है। अधिकांश आदिम जातियों में बीमारियों के निदान और उपचार प्रायः जादू-टोने और धार्मिक रस्मों से जुड़े थे। कुछ संस्कृतियों में बीमारियों को कुछ निषिद्ध बातों के उल्लंघन से जोड़ा जाता है। ओजिब्वा इंडियनों में अगर कोई आदमी निषिद्ध खाने की चीजों को खाले तो वह और उसका परिवार बीमारियों का शिकार हो जाते हैं।

21.4.5 संस्कृति और यौन भूमिकाएँ

पुरुष और स्त्री एक दूसरे से न केवल शरीर विज्ञान और शारीरिक कद काठ, नैन-नक्श की दृष्टि से भिन्न हैं बल्कि वे आचार-व्यवहार, सामाजिक भूमिका और मनोवृत्ति की दृष्टि से भी भिन्न हैं। यह एक सामान्य धारणा है कि पुरुष और स्त्री दोनों का व्यवहार अलग-अलग तरह का होता है क्योंकि प्रकृति ने उनकी भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ और व्यवहार के तरीके निर्धारित किये हैं। लेकिन यह कथन सही नहीं है।

यद्यपि पुरुषों और स्त्रियों की भूमिकाओं और व्यवहार के ढंगों में अंतर कुछ हद तक शरीर विज्ञान और शारीरिक प्रक्रियाओं से संबंधित है लेकिन केवल ये बातें ही इसका निर्धारण नहीं करतीं। दूसरे शब्दों में, यौन भूमिकाओं और विशेषताओं का निर्धारण जैविक दृष्टि से नहीं होता, अपितु वे संस्कृति द्वारा प्रभावित होती हैं।

भारत और कई अन्य देशों में पुरुष को अधिक प्रबल, उग्र और बुद्धिमान समझा जाता है जबकि स्त्रियों को अबला या दब्बू, आवेगशील और नाजुक, कोमल समझा जाता है। एक सुप्रसिद्ध अमरीकी नृविज्ञानी मारगरिट मीड ने न्यूगिनी के तीन आदिम समाजों में पुरुषों और स्त्रियों की भूमिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। उसने देखा कि इन तीनों समाजों की संस्कृतियों में उनकी यौन भूमिकाएँ पाश्चात्य संस्कृति से बिल्कुल भिन्न हैं। उदाहरण के तौर पर चंबुली जनजाति में पाश्चात्य संस्कृति की दृष्टि से स्त्रियों में मर्दानगी है और पुरुषों में जनानापन। इस समाज में स्त्रियाँ अधिक प्रभावशाली और जिम्मेदार हैं। वे बागवानी और मछली पकड़ने का काम करती हैं। दूसरी ओर पुरुषों का संबंध कलात्मक अभिरुचि के मामलों से है ओर वे खूब बन ठन कर रहते हैं। आरापेश समाज में पुरुष और स्त्री दोनों में स्त्री सुलभ लक्षण पाये जाते हैं। दोनों के व्यवहार में सौम्यता दिखाई देती हैं। मुंडुगुमोर जाति में पुरुष और स्त्री दोनों में मर्दागिनी,

उग्रता और तेजी दिखाई देती है। इसके आधार पर मीड ने यह निष्कर्ष निकाला कि यौन भूमिकाएँ संस्कृति द्वारा नियंत्रित होती हैं।

21.4.6 संस्कृति और प्रजाति (नस्ल)

अलग-अलग देशों और वर्गों में रहने वाले लोगों की शारीरिक विशेषताओं और लक्षणों में भिन्नता को प्रायः उनकी सांस्कृतिक और व्यवहार संबंधी भिन्नता समझ लिया जाता है। इसी संदर्भ में हम यहूदी प्रजाति, नीग्रो (हब्शी) प्रजाति, आर्य प्रजाति आदि नाम सुनते हैं। जब हम इस प्रकार शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसमें कुछ नीचे दिये असंबद्ध लक्षण भी जुड़ जाते हैं जैसे—शारीरिक विशेषताएँ, भाषा, धर्म, सांस्कृतिक परंपराएँ और व्यवहार के तरीके। इन बातों से एक जाति की दूसरी जाति से भिन्नता प्रकट होती है। इसके अलावा इस अर्थ में जाति शब्द का प्रयोग करते समय, अस्पष्ट रूप से, मूल्य निर्णय की बात उठती है। कुछ जातियों को सहज एवं स्वाभाविक रूप से दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा जाता है।

यह विचार एकदम भ्रमपूर्ण है। प्रजाति, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीयता में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। प्रजातीय अभिलक्षण मुख्य रूप से आनुवंशिक और जैविक घटकों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं जबकि संस्कृति और भाषा सीखी और उपार्जित की जाती है तथा प्रशिक्षण और शिक्षा के द्वारा आगे आने वाली पीढ़ी को सौंप दी जाती है।

प्रजातीय पूर्वाग्रह और प्रजातिवादी झूठी और अतर्क संगत बातों पर आधारित हैं। वस्तुतः प्रजातिवाद आज के युग की सबसे खतरनाक कल्पना सिद्ध हुई है। "नार्डिक प्रजाति संसार में सर्वश्रेष्ठ है" हिटलर के इस विश्वास के कारण नाजी जर्मनी में साठ लाख यहूदियों का अमानवीय नर संहार हुआ। इसी प्रजातीय पूर्वाग्रह के कारण संयुक्त राज्य अमरीका में हजारों हब्शियों को उत्पीड़न और यातनाओं का सामना करना पड़ा। दक्षिण अफ्रीका में घृणित रंगभेद का बोलबाला है। जहाँ बहुत थोड़ी सी अल्पसंख्यक गोरी सरकार बहुसंख्यक काले मूल निवासियों पर निर्दयता पूर्वक शासन कर रही है। यह प्रजातिवादी विचारधारा का एक जीता जागता नमूना है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये स्थान पर प्रश्नों के उत्तर लिखिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर की जाँच कीजिए।

1) संस्कृति और जीव विज्ञान के बीच संबंधों को स्पष्ट कीजिए (दस पंक्तियों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) संस्कृति और जाति के बीच अंतर को स्पष्ट कीजिए (सात पंक्तियों में उत्तर लिखिए)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

21.5 सारांश

1 संस्कृति, मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करती है, वह मनुष्य के समस्त क्रियाकलापों, विचारों, विश्वासों, अभिवृत्तियों और अन्य ऐसी विशेषताओं की ओर संकेत करती है। इसी कारण से मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है।

2 किसी संस्कृति में एक वर्ग या समुदाय के सदस्य समान रूप से सहभागी होते हैं। संस्कृति को समाज के सदस्य भाषा के द्वारा सीखते और उपार्जित करते हैं। वे इसे शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा आगे आने वाली पीढ़ी को सौंप देते हैं।

3 संस्कृति मनुष्य की अद्वितीय क्षमताओं और संभावनाओं की अभिव्यक्ति है। दूसरी ओर, यह इन संभावनाओं को पूरा करने में सक्रिय भूमिका अदा करती है। विकास प्रक्रिया में संस्कृति मानव जाति के जीवित रहने का साधन रही है।

4 संस्कृति जैविक प्रक्रियाओं से विशिष्ट रूप से जुड़ी है। यह मनुष्य की भूख, प्यास, कामाचार आदि मूल जैविक वृत्तियों की तुष्टि को नियमित करती है। संस्कृति के कारण ही इन मूल जैविक वृत्तियों की तुष्टि में अत्यधिक भिन्नता दिखाई देती है।

5 समाज में विद्यमान स्वास्थ्य और बीमारियों पर सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। वर्ग, पेशे, शहरीकरण, खाने की आदतें आदि बातों का उच्च रक्त चाप, मधुमेह, और फोड़े फुंसी आदि बीमारियों से सीधे संबंध है।

6 समाज में पुरुषों और स्त्रियों की अलग-अलग भूमिकाएँ जैविक प्रक्रियाओं द्वारा निर्धारित नहीं होतीं बल्कि वे सांस्कृतिक स्थितियों से निर्धारित और प्रभावित होती हैं। दूसरे शब्दों में, संस्कृति द्वारा ही यह निर्धारित होता है कि पुरुष और स्त्री के लिए कौन-सी भूमिका या क्रियाकलाप उपयुक्त है।

शब्दावली

अंतर्विवाह : अपने ही वर्ग या जाति के अंतर्गत विवाह करने की पद्धति।

आनुवंशिक पारेषण : ऐसी क्रिया विधि जिसके द्वारा माता-पिता की वंशागत शारीरिक विशेषताएँ उनकी संतान को प्राप्त होती हैं।

गोत्र : हिंदू समाज में गोत्र के आधार पर वंशक्रम का समान पूर्वजों से निर्धारण होता है।

प्रजाति (नस्ल) : मनुष्यों का वह वर्ग है जिसके सदस्यों की समान आनुवंशिक और जैविक विशेषताएँ हों जिनके द्वारा उन्हें दूसरे वर्गों से अलग किया जा सके।

प्रजाति विशिष्ट : ऐसी जैविक शरीर क्रिया संबंधी विशेषताएँ और अभिलक्षण जो केवल एक प्रजाति में पाये जाते हों।

प्रतीकात्मक संप्रेषण : भाषा (प्रतीकों) द्वारा भावों और विचारों का संप्रेषण, जो मनुष्य द्वारा ही संभव है।

बहिर्विवाह : विवाह की ऐसी पद्धति जिसके अनुसार व्यक्ति अपने गोत्र या गाँव से बाहर ही विवाह कर सकता है।

बहुपति प्रथा : विवाह की ऐसी प्रथा जिसमें एक स्त्री का विवाह एक ही समय में दो या अधिक पुरुषों के साथ होता है।

बहुपत्नी प्रथा : ऐसी विवाह प्रथा जिसके अनुसार कोई पुरुष एक से अधिक पत्नियों से विवाह कर सकता है।

भ्रातृक बहुपति प्रथा : ऐसा विवाह जिसमें किसी स्त्री का विवाह, एक ही परिवार के दो या अधिक भाइयों के साथ होता है।

वंश परंपरा : ऐसे लोगों का वर्ग जो परस्पर, रक्त-संबंध से जुड़े हों और जिनका उद्भव एक ही पूर्वज से हुआ हो।

आजाचार या वैवाहिक और यौन संबंधों के नियम : मानव समाज में प्रचलित ऐसे सार्वभौम नियम जिनके अनुसार पिता और पुत्री, माता और पुत्र तथा भाई और बहनों आदि निकट संबंधियों के बीच वैवाहिक या यौन संबंधों पर प्रतिबंध हो।

सांस्कृतिक पारेषण : उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा भाषा, प्रवृत्तियाँ, (धार्मिक) विश्वास आदि सांस्कृतिक घटक शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचते हैं।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

बोस, एन.के. 1971, *"कल्चरल एन्थ्रोपोलोजी"* एशिया पब्लिशिंग हाउस।
हैमण्ड पीटर, बी. *"ऐन इंट्रोडक्शन टू कल्चरल एंड सोशल एनथ्रोपोलोजी"* न्यूयार्क: मैकमिलन।
हार्निगमैन जे.जे., 1959, द वर्ल्ड ऑफ मैन, न्यूयार्क हार्पर एंड ब्रदर्स।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 संस्कृति के तीन प्रमुख अभिलक्षण हैं। इसमें एक ही वर्ग या समुदाय के लोग समान रूप से सहभागी होते हैं। यह एक व्यक्ति के बजाय पूरे वर्ग की विशेषता होती है, इसलिए इसे एक सामाजिक तत्व कह सकते हैं। इसे मनुष्य समाज के सदस्य समाज के बीच पलते बढ़ते और रहते हुए प्रायः भाषा के माध्यम से सीखता है और उपार्जित करता है। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा पहुंचते हैं।

2 मनुष्य इस प्राणिजगत में अद्वितीय प्राणी है। यह दूसरे प्राणियों के तरह सहज मानसिक आवेगों से काम नहीं करता, अपितु यह अपने समाज में प्रचलित सांस्कृतिक तरीके के अनुसार व्यवहार करता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक जटिल एवं विभिन्न प्रकार्यों को करने में सक्षम औजारों का इस्तेमाल करता है।

बोध प्रश्न 2

1 संस्कृति और जैविक प्रक्रियाएँ एक दूसरे से बहुत निकट से संबंधित है। संस्कृति व्यक्ति की भूख, प्यास, यौनाचार, जैसी मूलभूत जैविक अभिवृत्तियों की तुष्टि को नियमित करती है। मनुष्य समाज के विभिन्न वर्गों में इन अभिवृत्तियों की तुष्टि बीसियों तरीके से होती हैं। कुछ बीमारियों जैसे उच्च रक्त चाप, मधुमेह फोड़े-फुंसी आदि और खाने की आदतों का शहरीकरण, पेशों और वर्गों में परस्पर विलक्षण संबंध हैं समाज में पुरुषों और स्त्रियों की भूमिकाएँ जैविक कारणों से नहीं निर्धारित होतीं बल्कि वे सांस्कृतिक प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित होती हैं।

2 एक जाति से दूसरी जाति में शारीरिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न अभिलक्षण और विशेषताएँ पायी जाती हैं। ये अभिलक्षण उन्हें अपने माता-पिता से विरासत में मिलते हैं। जातीय अभिलक्षणों का सांस्कृतिक या भाषायी अभिलक्षणों से कोई संबंध नहीं हैं। हालांकि लोग इस अंतर को समझने की गलती कर जाते हैं। इसके विपरीत संस्कृति मानव जाति के रहन-सहन, आचार व्यवहार, भावनाओं, विश्वासों और विचारों का समग्र रूप है। इसमें वे सभी बातें आ जाती हैं जिन्हें वह एक सामाजिक प्राणी होने के नाते उपार्जित करता है।

इकाई 22 संस्कृति-II

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 संस्कृति और पर्यावरण
22.3 संस्कृति और समाज
22.4 संस्कृति और भाषा
22.5 संस्कृति की संरचना
  22.5.1 संस्कृति के नमूने (पैटर्न)
  22.5.2 सांस्कृतिक विशेषताएँ तथा सांस्कृतिक समूह
  22.5.3 सांस्कृतिक प्रतीक
  22.5.4 सांस्कृतिक लोकाचार
  22.5.5 सांस्कृतिक क्षेत्र
  22.5.6 संस्कृति के मुख्य घटक
22.6 सांस्कृतिक विविधता
  22.6.1 भारत में सांस्कृतिक विविधता
  22.6.2 सांस्कृतिक विविधता एवं मानव-जाति की एकता
22.7 सांस्कृतिक अनुकूलन
  22.7.1 भारत में पवित्रता एवं अपवित्रता
  22.7.2 सांस्कृतिक सापेक्षवाद
22.8 सांस्कृतिक परिवर्तन
  22.8.1 सांस्कृतिक संक्रमण एवं प्रसारण
  22.8.2 कागज बनाने की तकनीक का प्रसारण
  22.8.3 लिपि की कहानी
  22.8.4 भाषा का प्रसारण
22.9 सारांश
शब्दावली
बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप बता सकेंगे कि :

- संस्कृति और पर्यावरण के बीच गहन संबंध है।
- भाषा सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यमों में से एक है जिसके द्वारा समाज के सदस्यों के बीच संस्कृति के तत्वों के संबंध में आदान-प्रदान होता है और जिनके द्वारा सांस्कृतिक परम्पराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती रहती हैं।
- संस्कृति, यद्यपि एक सम्पूर्ण इकाई है फिर भी विश्लेषणों द्वारा इसे इसके घटकों के रूप में अलग-अलग बाँटा जा सकता है जैसे विशेषताएँ, आदर्श, प्रतीक और लोकाचार।
- सांस्कृतिक विविधता और सांस्कृन्कि अनुकूलन संस्कृति की संकल्पना के दो मुख्य आयाम हैं।
- संस्कृति में समय के साथ परिवर्तन होते रहते हैं।

22.1 प्रस्तावना

इकाई 21 में आपने संस्कृति के मुख्य लक्षणों के बारे में पढ़ा। आपने यह भी जाना कि मानव जाति के बने रहने में संस्कृति कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मानव में कुछ ऐसी क्षमताएँ हैं जो अन्य प्राणियों में नहीं मिलतीं, इनकी झलक भी संस्कृति के विकास में मिलती है।

संस्कृति एवं जीव विज्ञान के बीच आपसी सहसम्बन्धों, विभिन्न माध्यमों, जिनके द्वारा मनुष्य

अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करता है, स्वास्थ्य तथा रोग की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले सांस्कृतिक तत्व और संस्कृति द्वारा नर तथा नारी की अपनी-अपनी भूमिकाओं को किस हद तक पारिभाषित किया गया है, इन सब के संबंध में भी आप जान चुके हैं।

इस इकाई में आप संस्कृति एवं पर्यावरण, तथा संस्कृति एवं भाषा के बीच के संबंधों के बारे में पढ़ेंगे। इस इकाई में आपको इस बात की भी जानकारी मिलेगी कि विशेषताओं, आदर्शों, प्रतीकों तथा लोकाचार के संदर्भ में मानव का व्यवहार किस प्रकार सुव्यवस्थित एवं विनियमित होता है।

समाज के विभिन्न वर्गों के मनुष्यों में उनके जीवन के सभी पहलुओं में विविधताएँ तथा असमानताएँ होती हैं और ये विभिन्न तरीकों से अपने-आपको बनाए रखती हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती रहती हैं। इसके बारे में भी बेहतर जानकारी आपको इस इकाई से प्राप्त हो जाएगी।

सांस्कृतिक विशेषताओं, आविष्कारों, नवाचारों के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रसार के माध्यमों का ज्ञान भी इस इकाई से आपको प्राप्त होगा। इन सांस्कृतिक परिवर्तनों की प्रक्रिया को प्रभावी दृष्टांतों की सहायता से स्पष्ट किया गया है। आशा है कि इन दोनों इकाइयों को पढ़ने से मानव-आचरण संबंधी आपका ज्ञान अधिक समीधीन तथा व्यापक हो जाएगा। इनसे आपकी धारणाएँ और संवेदनाएँ अधिक पैनी हो जाएँगी और मानव जाति के सम्बन्ध में आपकी सोच विचार अधिक सहृदय व्यापक तथा सत्यपरक बन जाएगी, ऐसी हमें आशा है।

22.2 संस्कृति और पर्यावरण

पिछले भाग में आपने पढ़ा है कि सफल अनुकूलन एवं उसके द्वारा मानव-जाति के विकासात्मक जीवन को बनाए रखने में संस्कृति ने एक निर्णायक भूमिका निभायी है। आग की खोज तथा प्रयोग, पौधों और पशुओं का इस्तेमाल, औजारों तथा उपकरणों का निर्माण तथा भाषा के प्रयोग तथा अन्य आविष्कारों ने मनुष्य को प्रकृति को वश में करते हुए जीना सिखाया।

मनुष्य एवं पशु दोनों को ही अपने को प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल बनाना पड़ा है। पशु ज्ञान से नहीं बल्कि अपने सहज बोध की तंत्र क्षमता से अनुकूलन करते हैं। परन्तु, मनुष्य अपने आपको पर्यावरण के अनुकूल बनाने में विभिन्न प्रकार के विलक्षण तरीकों का प्रयोग करता है। नर वानर (जो कि प्राणि विज्ञान के अनुसार मनुष्य जाति के निकटतम हैं) ऊष्ण कटिबन्धीय परिस्थितियों में रह सकते हैं, कुछ ही पदार्थों को खा सकते हैं और सीमित संख्या में पाये जाते हैं। मनुष्य सभी प्रकार की पर्यावरणीय परिस्थितियों में कई प्रकार के खाद्य पदार्थों को खाकर जीने तथा वृद्धि करने में सक्षम है। इस प्रकार, एस्कीमों उत्तर ध्रुव प्रदेश की जमा देने वाली ठंड में भी जी रहे हैं, लैप जाति जोकि रेंडियरों के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करती हैं तथा उनका दूध और मांस खाकर जीती है, स्कैंडीनेविया की हिम भूमि में जीवित रही है तथा बढ़ रही है। इसी प्रकार बुशमैन जाति, जोकि जंगली कन्दमूल फलों एवं पौधों पर ही जीवित रहती है, दक्षिणी अफ्रीका के गर्म, रेतीले मरुस्थल में रहने में सफल हो पाई है।

पर्यावरण को, विभिन्न परिस्थितियों में, आश्रित अथवा अनाश्रित रूप में परिवर्तनशील माना जा सकता है। उत्तरी ध्रुव प्रदेश अथवा मरुस्थल मानव जीवन के लिए एक कड़ी चुनौती प्रस्तुत करते हैं। खासकर उस समय जबकि यहाँ रहने वाले लोगों के आर्थिक एवं तकनीकी संसाधन सीमित एवं साधारण प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए दक्षिणी अफ्रीका के कालाहारी मरुस्थल की बुशमैन जाति को ही लीजिए, जो कि शुतुरमुर्ग का शिकार बड़े विलक्षण ढंग से करती है। बुशमैन शिकारी अपने छोटे से धनुषबाण के साथ, एक ढाँचे पर मढ़ी शुतुरमुर्ग की खाल में छिप जाता है। फिर वह बड़ी सावधानी से शुतुरमुर्ग के झुण्ड में मिल जाता है और बड़ी चतुराई से इस ढंग से चलता है जिससे कि शुतुरमुर्गों को जरा सा भी संदेह नहीं होता। जब वह किसी शुतुरमुर्ग के बहुत निकट आ जाता है तभी वह बाण छोड़कर उसे मार डालता है।

चूँकि कालाहारी मरुस्थल, विश्व के सर्वाधिक ऊसर मरुस्थलों में से एक है, इसलिए बुशमैन जाति के लिए जल का बहुत महत्व है। वे शुतुरमुर्ग के अंडे के खोल में पानी भर लेते हैं। इसके अतिरिक्त, वे गीले एवं रस वाले कन्दमूलों, फलों को भी चूसते हैं।

उन्हें नृविज्ञानियों द्वारा ऋतु प्रवासी की संज्ञा दी गई है, और संस्कृति एवं पर्यावरण के पारस्परिक

प्रभाव का यह सर्वोत्तम उदाहरण है। पशुचारी खानाबदोश नये-नये चरागाहों की खोज में, अपने पशुओं के साथ एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में घूमते रहते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी अफ्रीका की कुलानी जाति के पशुचारी नई-नई चरागाह भूमि की तलाश में अपने पशुओं को साथ लिए लगातार घूमते रहते हैं। जम्मू-काश्मीर की गुजर जाति तथा नेपाल के पशुचारी खानाबदोश बसन्त ऋतु के उत्तरार्द्ध में तथा गर्मियों में पर्वतों पर चले जाते हैं जहां वे तम्बुओं में रहते हैं।

कभी-कभी किसी क्षेत्र विशेष में लगातार दो अथवा उससे अधिक वर्षों तक वर्षा न होने के कारण वहाँ के किसानों को अपने गाँव छोड़ने पड़ जाते हैं। ऐसे समय उनके पास अपनी भेड़-बकरियों तथा अन्य मवेशियों पर पूर्ण रूप से निर्भर रहने के अलावा अन्य कोई चारा नहीं रह जाता। और वे अक्सर, अपने मवेशियों के साथ पानी तथा चरागाहों की तलाश में इधर-उधर चले जाते हैं। समय व्यतीत होने पर उनमें से कई लोग खेती छोड कर पशूचारी खानाबदोश बन जाते हैं।

एक ही प्रकार की पर्यावरणीय स्थितियों में रहने वाले अलग-अलग दल अपने को अलग-अलग ढंग से, पर्यावरण के अनुकूल बना लेते हैं। उदाहरण के तौर पर, उत्तरी अमरीका के एस्कीमों को ही ले लीजिए। वे बर्फ के टुकड़ों से अपने घर बना लेते हैं जिन्हें वे इगलू कहते हैं। ये इगलू उत्तरी ध्रुव की जमा देने वाली ठण्ड में, उनके लिए आश्रम एवं आराम की व्यवस्था करते हैं। एस्कीमों बालरस का शिकार करते हैं तथा उनका मांस तथा चर्बी खाकर गुजारा करते हैं। बालरस के दांतों का प्रयोग स्लेज धावकों तथा जल-रोधी नाव बनाने के लिए किया जाता है, जिन्हे वे कावक कहते हैं और इनमें बैठकर एस्कीमों शिकार खेलने जाते हैं।

उत्तरी ध्रुवीय साइबेरिया के युकाधीर तथा चुकची में तुलना करने पर, जोकि एस्कीमों की तरह की प्रतिकूल जलवायु में रहते हैं, हमें अनुकूलन की एक नई प्रणाली का पता चलता है। ये लोग इगलू को नहीं जानते और वे लकड़ी के ढांचे पर चमड़ा चढ़ा लेते हैं जो कि उनके लिए आश्रय का काम करता है। शिकारी एस्कीमों से नितान्त अलग, साइबेरिया के चरवाहे हैं जो कि रेण्डियरों पर निर्भर रहते हैं। रैण्डीयर टूण्ड्र चरते हैं और जब चरने के लिए टूण्ड्र नाम को भी नहीं रह जाता, तब चुकची और युकाधीर अपने मवेशियों को नई चरागाहों की ओर ले जाते हैं। स्त्रियाँ जोकि बच्चों के साथ पीछे रह जाती हैं, चमड़े के टैण्टों को उखाड़ कर, उन्हें रैण्डीयरों पर लाद कर, पुरुषों के दल के साथ जा मिलती हैं।

अतः संस्कृति और पर्यावरण के बीच निकट का तथा मिश्रित सम्बंध है परन्तु यह हमारे सामने विभिन्न रूपों में उभर कर आता है।

22.3 संस्कृति और समाज

समाज ऐसे व्यक्तियों के समूह से बना होता है जो प्रथाओं और प्रक्रियाओं के माध्यम से एक दूसरे से जुड़े होते हैं। मनुष्य के जीवन चक्र की सभी प्रक्रियाएँ समाज में ही निष्पन्न और विनियमित होती हैं। अतः व्यक्ति, संस्कृति और समाज में प्रत्येक की अनिवार्य सत्ता है। ये तीनों तत्व एक दूसरे पर आपस में इस प्रकार से आश्रित हैं कि किसी भी एक को दूसरे तत्व के संदर्भ के बिना भली-भांति समझा नहीं जा सकता। संस्कृति का अस्तित्व और उसका बने रहना ऐसे व्यक्तियों के समूह पर आश्रित होता है जिनसे मिलकर समाज बनता है।

मानव को सामान्यतः सामाजिक प्राणी कहा गया है। मानव की सामाजिक प्रवृत्ति विशेष रूप से अनन्य हो, ऐसी बात नहीं है। उदाहरणतः चीटियों और मधु-मक्खियों का समाज वास्तविक में समाज ही तो है। वन्य प्राणियों के चिम्पैंजियों का समाज काफी हद तक मानव समाज के समान ही है। वे स्थायी रिश्ते बनाते हैं, समूह बनाकर घूमते हैं और शिकार करते हैं। उनके अधिकांश व्यवहार की प्रकृति सामाजिक ही है। संस्कृति केवल मानव समाज में ही पाई जाती है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति के बगैर भी प्राणियों का समाज हो सकता है। फलस्वरूप, गुण की दृष्टि से मनुष्य और पशु में अन्तर दर्शाने वाला तत्व उसकी सामाजिक प्रवृत्ति नहीं वरन् उसकी संस्कृति है। अनिवार्यतः मानव एक सांस्कृतिक प्राणी है।

वास्तविक जीवन में, समाज और संस्कृति को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। यद्यपि संस्कृति का संबंध अधिक व्यापक वर्ग से है तथापि समाज के बिना इसका अस्तित्व और कार्य-निष्पादन संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति के लिए समाज का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के रूप में मानवजाति पर आश्रित हुए बिना न तो समाज का अस्तित्व रह सकता है और न ही संस्कृति का।

इसी प्रकार संस्कृति और सभ्यता के बीच परस्पर गहरा संबंध होता है। सभ्यता संस्कृति की ऐतिहासिक अवस्था का बोध कराती है। एक सभ्यता अपने विशिष्ट लक्षणों के द्वारा पहचानी जाती है जैसे नगरों और नागरीकरण द्वारा, व्यवसायिक कौशल द्वारा, स्मारकीय संरचनाओं जैसे मंदिरों, भवनों और गुम्बदों द्वारा, वर्गों और वंशानुक्रम और लेखन के द्वारा। मानव-इतिहास में सभ्यता का सर्वप्रथम उदय ईसापूर्व चौथी शताब्दी में प्राचीन मेसौपोटेमिया में हुआ था।

22.4 संस्कृति और भाषा

आपने पिछली इकाई में पढ़ा है कि मनुष्य की प्रतीकात्मक सम्प्रेषणक्षमता अथवा भाषा उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है। सभ्यता के विकास की प्रक्रिया में भाषा विलक्षण भूमिका निभाती है। क्योंकि भाषा के द्वारा ही एक व्यक्ति अपने समाज की मान्यताओं, विश्वासों, रिवाजों और आदतों को अर्जित करता है और उन्हें आत्मसात करता है। अनुभवों और शिल्पकलाओं के आदान-प्रदान एवं संचय करने की सुविधा की व्यवस्था भाषा द्वारा ही की जाती है। सांस्कृतिक परंपराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने का साधन भी भाषा ही है। होमो सेपिएन (मानव) के विकासमूलक अस्तित्व और मानव समाज की निरंतरता को बनाए रखने में भाषा ने एक निर्णायक भूमिका निभाई है।

मानव शिशु सामाजिक और पारस्परिक व्यक्तिगत संपर्कों द्वारा भाषा सीखता है और उसे अर्जित करता है। मानव मस्तिष्क को भाषा सीखने के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया है और औसत योग्यता रखने वाला शिशु, चीनी, संस्कृत, अरबी जैसी विश्व की किसी भी जटिल भाषा में महारत हासिल कर सकता है। बंदर, लंगूर जैसे नरवानरों की भंगिमाओं एवं ध्वनियों का भंडार काफी विस्तृत होता है जो नरवानरों की संप्रेषणीयता का आधार है। रीसस (rhesus) बंदर चालीस से सौ तक ध्वनियों और संकेतों का प्रयोग करते हैं जो उस जाति के सदस्यों द्वारा समझी जाती है। ये सभी बिना किसी परिवर्तन और पुनर्संयोजन के बिल्कुल समान रूप से इन सभी अर्थ-संप्रेषणों का प्रयोग करते हैं। दूसरी ओर शब्द भंडार के प्रयोग एवं अभिव्यक्ति के संबंध में अपरिमित परिवर्तन को मनुष्य की भाषा की विशेषता कहा गया है। उदाहरण के लिए ऑक्सफोर्ड इंग्लिश शब्दकोश में 2,50,000 शब्द हैं, जिनमें से बहुत से अन्य बीसियों भाषाओं से लिए हुए हैं।

भाषा, मनुष्य के सांस्कृतिक आदर्शों और परंपराओं का आईना है। उदाहरण के लिए एस्किमों भाषा में भिन्न-भिन्न प्रकार की बर्फ के लिए तीन विभिन्न शब्द हैं, जिन्हें अंग्रेज़ी अथवा किसी अन्य भाषा में बिल्कुल पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि एस्किमों का जीवन बर्फ पर संकेन्द्रित होता है। उसी प्रकार अरबी भाषा में ऊंट के लए बीसियों शब्द हैं, जिनके लिए अंग्रेज़ी में समान शब्द उपलब्ध नहीं है। ऐसा इसलिए है कि अरब के रेगिस्तान में बसे बेहोविन खानाबदोशियों का जीवन मुख्यतः इन ऊंटों पर ही आधारित है। भारत के नवाहों चरागाह खानाबदोश हैं और वे अपनी भेड़ बकरियों के एक साथ एक चरागाह से दूसरे चरागाह में जाते रहते हैं। उनकी भाषा, लोक साहित्य, पौराणिक कथाओं, किंवदन्तियों में उनके सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती है। उनके देवी-देवताओं, एवं वीर पुरुष आदि लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान तक बिना रुके विचरण करते रहते हैं। भारतीय समाज में जाति प्रथा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। जाति प्रथा के विभिन्न पहलू यथा, धार्मिक अनुष्ठानों के आकार वर्ग व्यवस्था तथा पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणा आदि न केवल आचरण के नमूनों में ही परिलक्षित होती है, बल्कि भारोपीय तथा द्रविड़ भाषाओं के शब्द भंडारों एवं उनके प्रयोग में भी पाई जाती है। इस प्रकार एक जाति के जीवन का एक केन्द्रीय महत्वपूर्ण पहलू यानि संस्कृति का उनकी भाषा में व्यापक विस्तार दिखाई देता है।

भाषा एक जाति की केवल सांस्कृतिक परंपराओं पर ही प्रकाश नहीं डालती, बल्कि उसकी अनुभूति एवं विचारधारा को भी प्रभावित करती है। दूसरे शब्दों में भाषा की रचना अनुभूति एवं विचार को निखारती है। जूनी भाषा में नारंगी एवं पीले रंग के लिए एक ही शब्द है, जिसके फलस्वरूप जूनी लोग इन दो रंगों में किसी प्रकार का कोई अंतर नहीं समझते है। होपी भाषा में व्याकरण के आधार दो ऐसे वर्ग हैं, जो अंग्रेज़ी अथवा अन्य बहुत सी भाषाओं में नहीं हैं। पहले वर्ग में केवल अस्थाई तत्वों के नाम हैं जैसे बादलों का गर्जन, बिजली का कड़कना आदि। जबकि दूसरे वर्ग में केवल लम्बी अवधि तक बने रहने वाले तत्वों के ही नाम हैं जैसे तारे, मनुष्य आदि। होपी भाषा में, इन दोनों श्रेणियों की पृथकता से इस बात का संकेत मिलता है कि होपी लोग अपने अनुभवों को किस प्रकार व्यवस्थित करते हैं।

इस प्रकार संस्कृति एवं भाषा के बीच एक दूसरे को प्रभावित करने तथा पारस्परिक क्रिया करने का संबंध होता है।

22.5 संस्कृति की संरचना

तत्वों के परस्पर संबंधित अंश मिलकर, संस्कृति का निर्माण करते हैं। संस्कृति के आंतरिक संगठन में इसकी संरचना शामिल है। संस्कृति अनिवार्यतः एक भाव वाचक शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति मानव आचरण के प्रेक्षण से हुई है। मानव आचरण को विशेषताओं और नमूनों के आधार पर संगठित और क्रमबद्ध किया जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक संस्कृति में एक एकीकरण सिद्धांत और एक जीवन दर्शन होता है, जो संस्कृति के प्रत्येक पहलू में व्याप्त होता है। आगे हम विशेषताओं, आदर्शों, प्रतीकों और लोकाचार के आधार पर संस्कृति के गठन का परीक्षण करेंगे।

22.5.1 संस्कृति के नमूने (पैटर्न)

सांस्कृतिक आदर्श, आचरण के सुव्यवस्थित क्रम पर आधारित होता है। यह किसी समुदाय और वर्ग के सदस्यों के बीच होने वाले आचरण के विधान का ज्ञान कराता है। उदाहरण के लिए पश्चिमी समाज में जब कोई व्यक्ति सड़क पर किसी महिला को देखता है तो वह अपनी टोपी उठाकर उसका अभिवादन करता है। यह एक सांस्कृतिक आदर्श है। भारतीय समाज में व्यक्ति अपने माता-पिता, बड़ों तथा गुरु के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए उनके पैर छूता है। यह भी सांस्कृतिक आदर्श का एक उदाहरण है।

सांस्कृतिक आदर्श दो प्रकार के होते हैं : अभीष्ट सांस्कृतिक आदर्श एवं वास्तविक आचरण आदर्श। अभीष्ट सांस्कृतिक आदर्श इस बात की व्याख्या करते हैं कि किसी समाज के मनुष्य को किसी खास परिस्थिति में कैसा आचरण करना चाहिए। परन्तु लोग हमेशा समाज द्वारा बताए गए अभीष्ट आदर्शों के अनुसार आचरण नहीं करते हैं, वे कभी-कभी उससे हटकर आचरण करते हैं।

किसी संस्कृति विशेष के सांस्कृतिक आदर्श में सामान्य रूप से दो अथवा उससे अधिक इकाइयाँ होती हैं। पश्चिमी एशिया में सर्वप्रथम हल-कृषि के आदर्श में निम्नलिखित तत्व शामिल हैं: हल, हल चलाने वाले पशु, इन पशुओं को पालतू बनाना, बोने के लिए चावल, गेहूँ के दाने, पशुओं के गोबर से खाद बनाना आदि।

भारत में अस्पृश्यता के आदर्श में निम्नलिखित तत्व शामिल हैं: मनुष्य में आपसी असमानता की भावना, व्यक्तियों अथवा समूहों का ऊंच-नीच के आधार पर वर्गीकरण, धार्मिक मनुष्यों से सम्बद्ध पवित्रता, जन्मजात व्यवसाय, खान-पान एवं छुआछूत के आधार पर अपवित्रता।

22.5.2 सांस्कृतिक विशेषताएँ तथा सांस्कृतिक समूह

किसी संस्कृति की विशेषता, उसकी पहचान कराने वाली सबसे छोटी इकाई होती है जैसे धनुष और बाण। सांस्कृतिक विशेषता का एक उदाहरण उत्तराधिकार की प्रथा है जो भारत के अधिकांश भागों और अन्य देशों में विद्यमान है और जिसके अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र उसका उत्तराधिकारी बनता है। दूसरी ओर, सांस्कृतिक समूह में विशेषताओं का समुच्चय होता है। जजमानी प्रथा, जो अभी भी भारत के कई ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यमान है, सांस्कृतिक समूह की छवि प्रस्तुत करती हैं। जजमानी प्रथा, एक किसान परिवार और एक कारीगर परिवार के बीच, आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों की सामूहिक व्यवस्था को दर्शाता है। उदाहरण के लिए किसान खेती-बाड़ी के अपने औजार, उपकरण आदि लुहार जाति से प्राप्त करता है। बदले में, लुहार का परिवार शादी, उत्सवों और समारोहों के अवसरों पर किसान परिवार से अनाज आदि प्राप्त करता है। इस प्रकार आदान-प्रदान संबंधों का परिचायक है—जजमानी प्रथा जो सांस्कृतिक समूह के रूप में कार्य करती है।

22.5.3 सांस्कृतिक प्रतीक

प्रत्येक संस्कृति में कुछेक वस्तुओं और पदार्थों के विशेष अर्थ होते हैं और उन्हें विशेष महत्व प्राप्त होता है। वस्तुओं, रंगों, आकृतियों और भंगिमाओं का, किसी संस्कृति के सदस्यों के लिए विशेष महत्व होता है। वे सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

उदाहरण के लिए, ध्वज एक राष्ट्र का प्रतीक है। एक भारतीय स्त्री के माथे की बिंदिया उसके विवाहित होने का प्रतीक है। उसकी मांग का सिंदूर भी उसके विवाहित होने का प्रतीक है। भारत के किसी ब्राह्मण, उच्च वंश में पैदा हुए व्यक्ति के गले का जनेऊ उसके द्विज होने की ओर संकेत करता है। किसी भारतीय पुरुष के माथे पर भस्म अथवा रंगीन लेप से बनी आड़ी-तिरछी रेखाएँ उसके उच्च वंश में पैदा होने का और उच्चजाति का प्रतीक है। असम के नागा जाति के लोगों का विश्वास है कि मनुष्य के मस्तक में आत्मा का निवास होता है इसलिए उसे बाहरी व्यक्तियों के दुष्प्रभाव से बचाने की आवश्यकता है। इसके लिए वे नागदमनी के पत्ते का छोटा टुकड़ा मस्तक पर चिपका लेते हैं क्योंकि दुष्प्रभावों से सुरक्षित रहने के लिए इस सांस्कृतिक प्रतीक को प्रभावी माना जाता है।

22.5.4 सांस्कृतिक लोकाचार

संस्कृति में दो पृथक-पृथक, परन्तु परस्पर संबंधित पहलू शामिल हैं। एक को एलडोर्स या संस्कृति का बाह्य रूप कहा जा सकता है, और दूसरे को, लोकाचार अथवा मनुष्य की विश्व दृष्टि, विश्व के विषय में उनकी धारणा तथा विश्व के साथ उसके संबंध बतलाने वाला कहा जा सकता है। एलडोर्स में सभ्यता की औपचारिक संरचना जैसे इसकी संस्थाएँ, रीति-रिवाज, आदतें, धार्मिक अनुष्ठान एवं आचरण के आदर्श शामिल हैं। किसी सभ्यता का लोकाचार हमें उसकी सम्पूर्ण गुणता, विचार पद्धति एवं मान्यताओं के संबंध में बताता है, जोकि सम्पूर्ण संस्कृति पर व्याप्त होती हैं। भारत संस्कृति का लोकाचार, धर्म की संकल्पना के रूप में अभिव्यक्त होता है, जो नैतिक कर्त्तव्य अथवा सत्य आचरण को निर्दिष्ट करता है। भारतीय दर्शन में इसे अक्सर ब्रह्माण्ड का आधार बताया गया है। धर्म की संकल्पना जीवन की चार अवस्थाओं (वर्णाश्रम (धर्म) ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास में अभिव्यक्त होती है। इनमें से प्रत्येक अवस्था कर्त्तव्य और नैतिक बाध्यता के एक सुनिश्चित समूह के साथ जुड़ी हुई है।

22.5.5 सांस्कृतिक क्षेत्र

जहाँ पर समान सांस्कृतिक विशेषताएँ पाई जाती हैं, उसे सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ऑस्ट्रेलिया, पोलिनिसिया, माइक्रोनिसिया, मीलानेसिया तथा इंडोनेशिया जैसे प्रशान्त महासागर के विशाल क्षेत्र, सांस्कृतिक क्षेत्र कहलाते हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक में सुस्पष्ट सांस्कृतिक विशेषता और लक्षण संकेन्द्रित हैं।

भारत के राज्यों की वर्तमान सीमाएँ, जो भाषा के आधार पर बनाई गई हैं, सामान्यतः सांस्कृतिक क्षेत्र को ही दर्शाती हैं। उदाहरण के लिए राजस्थान, काश्मीर, असम और तमिलनाडु केवल उन क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषा की दृष्टि से ही एक दूसरे से अलग-अलग नहीं है, बल्कि उनमें कुछ पृथक सांस्कृतिक विशेषताओं तथा लक्षणों के कारण उनके बीच स्पष्ट अन्तर है। सामान्य तौर पर हम उत्तर पूर्वी क्षेत्र को एक सांस्कृतिक क्षेत्र कह सकते हैं। उसी प्रकार द्रविड़ों का दक्षिण क्षेत्र एक प्रकार से सांस्कृतिक क्षेत्र कहला सकता है जो मंदिरों की स्थापत्य कला, संगोत्रता पद्धति तथा भाषा की दृष्टि से उत्तरी भारत से अलग है। बहरहाल, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक विशाल सांस्कृतिक क्षेत्र में आन्तरिक विविधताएँ भी होती हैं।

22.5.6 संस्कृति के मुख्य घटक

संस्कृति में संरचनात्मक एकता बनी होती है जिसमें इसके विभिन्न तत्व अथवा अंग, आपस में एक दूसरे से संबंधित तथा एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। बहरहाल, विश्लेषण करने तथा इसे समझने के उद्देश्य से संस्कृति के प्रमुख घटकों या प्रभागों का सीमांकन किया जा सकता है।

संस्कृति की सार्वभौमिक प्रवृत्ति वाले घटकों को विश्लेषणात्मक रूप से निम्नलिखित इकाइयों में विभक्त किया जा सकता है :

1. प्रौद्योगिकी : यह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य द्वारा बनाए गए एव प्रयुक्त यंत्रों, उपकरणों और शिल्प प्रथा के संबंध में बताता है।
2. आर्थिक संगठन : उत्पादन को संगठित करने एवं वस्तुओं और कार्यों के वितरण हेतु मनुष्य द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली तकनीक इसमें शामिल है।
3. सामाजिक संगठन : यह, सामाजिक तथा आपस के व्यक्तिगत संबंधों के ढांचों के संबंध में बतलाता है।
4. राजनीतिक संगठन : यह, मतभेदों को नियंत्रित करने तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने की पद्धतियों और उपायों के संबंध में बताता है।
5. विचारधारा : इसमें विश्वासों, मान्यताओं तथा आदर्शों का मार्गदर्शी संकलन है।

6 कला : कला एक ऐसी विद्या है जो मानव की सौन्दर्य के प्रति लालसा को परितृप्त करती है।
7 भाषा

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों के साथ अपने उत्तर की जाँच करें।

1 लगभग दस पंक्तियों में संस्कृति तथा पर्यावरण के संबंधों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 सही उत्तर के सामने सही (√) का निशान लगाएँ :

i) होमों सेपिएन (आदि मानव) के विकासशील जीवन को बनाये रखने में भाषा ने केन्द्रीय भूमिका निभाई है।
हाँ ☐ नहीं ☐

ii) सांस्कृतिक विशेषता, किसी संस्कृति की प्रमुख पहचान कराने वाली इकाइयों में से एक है।
हाँ ☐ नहीं ☐

iii) प्रौद्योगिकी समाज मान्यताओं और विश्वासों की प्रणाली के संबंध में बताता है।
हाँ ☐ नहीं ☐

22.6 सांस्कृतिक विविधता

केवल दिखाई देने वाले लक्षणों के कारण ही नहीं अपितु भाषा, धर्म, विश्वास, प्रथाओं, रीति-रिवाज तथा परम्पराओं और धार्मिक अनुष्ठानों तथा अन्य संस्कारों के अत्यधिक वैविध्य के द्वारा भी मानव जाति को अभिलक्षित किया गया है।

आपने पिछली इकाई में पढ़ा है कि मानव की मूलभूत आवश्यकताएँ, संस्कृति द्वारा परितृप्त एवं विनियंत्रित होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के तरीकों में असीमित वैविध्य होता है। इन आवश्यकताओं की परितृप्ति इस प्रकार से होती है, जिसमें मनुष्य के समुदाय एवं वर्ग, पर्यावरण के अनुसार और उसके साथ-साथ धर्म, भाषा, शिल्प-विज्ञान, कला जैसे सार्वभौमिक सांस्कृतिक नमूनों की अभिव्यक्ति में स्वयं को ढाल लेते हैं। हम कुछ उदाहरणों की सहायता से सांस्कृतिक वैविध्य को विस्तार पूर्वक समझाएंगे।

मानव जाति के वर्गों के बीच शव को निपटाने के संबंध में बहुत विविधताएँ हैं। यहूदी, मुसलमान और ईसाई तथा कई अन्य जातियाँ अपने मृतकों के शवों को जमीन में दबाती हैं जबकि हिन्दू लोग मृतकों को जलाते हैं। भारत में पारसी लोग शव को गिद्धों द्वारा खाये जाने के लिए छोड़ देते हैं। प्राचीन यूनानी लोग राजाओं, रानियों तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के शवों को सुखाते थे। भारत में कहीं-कहीं शवों को गंगाजी में बहा देते हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य तरीकों से भी शव का निपटान किया जाता है, जो संसार के विभिन्न भागों में बसे हुए मानव समुदायों में प्रचलित है। इनमें जमीन में दबा देना, वैसे ही त्याग देना, अंग छेदन और संदूकों अथवा डोंगियों में बन्द करके छोड़ना शामिल हैं।

इसी प्रकार, धार्मिक विश्वासों, आचरणों और अनुष्ठानों में अत्यधिक भिन्नताएँ देखने को मिलती

हैं। आदिवासी लोगों का विश्वास था कि प्राकृतिक वस्तुओं में (जैसे वृक्षों, नदियों और तारा गण में) भी आत्मा होती है। इसे जड़ात्मवाद कहा जाता है। अन्य टोटमवाद में विश्वास रखते हैं जिसमें पशुओं की कतिपय जातियाँ धार्मिक तौर पर किसी एक दल अथवा कबीले से जुड़ी होती हैं और वे उन्हें पूर्वज मानकर उनकी पूजा करते हैं। उदाहरण के लिये आस्ट्रेलिया के आदिवासी, अपने को ऐसे पूर्वज का वंशज मानते हैं जो मधु-मक्खी अथवा कंगारू जैसा लगता था। बहुत सी आदिवासी जातियाँ अपने पूर्वजों की आत्माओं की पूजा करती हैं। दूसरी ओर हिन्दू धर्म जैसे अन्य धर्म भी हैं जोकि अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करते हैं और यह मानते हैं कि ब्रह्म समस्त विश्व में व्याप्त है। यहूदी तथा मुसलमान जैसे एकेश्वरवादी धर्मों में, एक सर्वोच्च परमात्मा में विश्वास किया जाता है जो कि समस्त ब्रह्मांड का कर्ता तथा सृष्टा है। बुद्ध धर्म सर्वोच्च ब्रह्म नामक किसी सत्ता को नहीं मानता। ईसाई धर्म के अनुगामी अवतारवाद में विश्वास करते हैं तथा यीशु मसीह की ईश्वरीय पूजा करते हैं।

22.6.1 भारत में सांस्कृतिक विविधता

विश्वभर में तो विविध संस्कृतियाँ विद्यमान हैं ही, एक देश के भीतर अनेक संस्कृतियाँ प्रचलित होने के प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए भारतीय समाज को ही लीजिए, जिसमें बीसियों भाषाएँ एवं उप-भाषाएँ प्रचलित हैं। हम भारत में सांस्कृतिक विविधता को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण देना चाहेंगे।

ब्राह्मण एक एकाकी वर्ग है। बहरहाल, देश के विभिन्न भागों में रहने वाले ब्राह्मण सांस्कृतिक दृष्टिकोण से, एक ही वर्ग में नहीं आते। वे अनेक जातियों और उप-जातियों में बटें हुए हैं। और वे अपनी जाति में ही विवाह करते हैं। भाषा, खान-पान, रीति-रिवाज और धार्मिक अनुष्ठानों को लेकर उनके आचरण में अत्यधिक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। ब्राह्मण जाति मुख्य रूप से दो वर्गों में बंटी हुई है– वैष्णव और शैव। ये वर्ग आगे अनेक छोट-छोटे सम्प्रदायों में विभाजित हैं। उदाहरणार्थ दक्षिण भारत में वैष्णवों के दो संप्रदाय हैं माधव वैष्णव एवं श्री वैष्णव। श्री वैष्णववाद भी आगे दो भागों में– उत्तरी संप्रदाय तथा दक्षिणी संप्रदायों में बंटे हुए हैं। उत्तरी भारत में वैष्णवों के राम भक्त एवं कृष्ण भक्त नामक दो संप्रदाय हैं। फिर, रामभक्त वैष्णवों के भी एक माधव एवं रामानन्दी नामक दो संप्रदाय हैं। कृष्ण भक्त वैष्णव चैतन्य और राधावल्लभी संप्रदायों में बंटे हुए हैं।

खान-पान को लेकर विभिन्न ब्राह्मण जातियों में भिन्नता स्पष्ट रूप से विद्यमान है। काश्मीरी ब्राह्मण मांस तो खाते हैं परन्तु मछली नहीं। बिहार के मैथिली ब्राह्मण मांस और मछली तो खाते हैं परन्तु मुर्गी नहीं खाते और बंगाली ब्राह्मण एवं सारस्वत ब्राह्मण मछली खाते हैं। इसके विपरीत पंजाबी, गुजराती एवं दक्षिण भारतीय ब्राह्मण पक्के शाकाहारी हैं।

पहनावे को लेकर भी, भारत के विभिन्न भागों में काफी अन्तर दिखाई देता है। उत्तरी भारत में धार्मिक अनुष्ठान करते समय, बिना सिले कपड़े पहनने का व्यापक चलन है। इसी प्रकार, जैन मंदिरों के भीतरी भाग में बिना सिला कपड़ा पहन कर ही प्रवेश करने दिया जाता है। पूर्वी नेपाल के ब्राह्मण खाना खाते समय बिना सिले कपड़े ही पहनते हैं। बहरहाल जैसे-जैसे हम बंगाल से पश्चिमी तथा उत्तरी भारत की ओर बढ़ते हैं तो बिना सिले कपड़ों के स्थान पर सिले हुए कपड़े पहनने का चलन बढ़ता जाता है।

22.6.2 सांस्कृतिक विविधता एवं मानव जाति की एकता

विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के बीच विद्यमान सांस्कृतिक विभिन्नता भले ही भ्रान्तिकारी तथा बुद्धि को चक्कर में डालने वाली प्रतीत होती है, परन्तु ऊपर से दिखाई देने वाली इस विविधता में ही मानव जाति की मूलभूत एकता छिपी हुई हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद, सभी मानव एक ही जीव-वैज्ञानिक जाति होमो-सेपिएन (मानव) के सदस्य हैं। सभी मानव समुदाय और समष्टियाँ संकरण तथा अपने समान उत्पत्ति कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त सभी मानव सम्प्रदाय अनेक अन्य कार्यों के साथ-साथ सांस्कृतिक सर्वव्याप्तियों, ज्ञान वर्धन करने एवं संस्कृति को ग्रहण करने की क्षमता, भाषा क्षमता, नियमों का उल्लंघन करने, अंत्येष्ठी क्रिया, विवाह, परिवार और धर्म जैसी संस्थाओं में समान रूप से भागीदार हैं।

22.7 सांस्कृतिक अनुकूलन

मानव, व्यक्ति के रूप में और वर्गों के सदस्यों के रूप में भी एक खास ढंग से सोचता है, अनुभव

करता है और आचरण करता हैं क्योंकि उनका पालन-पोषण एक समाज-विशेष में खास परिस्थितियों में हुआ होता है। किसी जाति की संस्कृति का प्रभाव, उनके बोध तथा रवैये, उनके मूल्यों तथा विश्वासों, उनकी आदतों तथा रिवाजों पर पड़ता है। अन्य शब्दों में अधिकांशतः हमारे चरित्र का निर्माण तथा हमारे व्यक्तित्व का विकास हमारी संस्कृति द्वारा होता है। इसी तथ्य को संस्कृति अनुकूलन कहा जाता है।

संस्कृति जाति-विशेष को प्रमाणित करती है तथा कतिपय विषयों, वस्तुओं और रंगों को विशेष अर्थ देने के लिए उस जाति का अनुकूलन करती है। उदाहरणार्थ, कुछ रंगों का प्रयोग शुभ माना जाता है। और खुशी के अवसरों, संस्कारों तथा धार्मिक अनुष्ठानों के दौरान उनका प्रयोग किया जाता है। भारत के अधिकांश भागों में लाल रंग को शुभ माना जाता है। गुजरात, राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश और कई अन्य भागों में दुल्हन को लाल रंगों के वस्त्र पहनाए जाते हैं। महाराष्ट्र में हरे रंग का विशेष सांस्कृतिक महत्व है। जब कोई कन्या रजस्वला होती है तो उसे उसके माता-पिता द्वारा भेंट की गई पहली साड़ी हरे रंग की होती है। धार्मिक अनुष्ठानों के अवसरों को छोड़ कर, दुल्हन के वस्त्र हरे रंग के होते हैं। गर्भावस्था में स्त्रियाँ हरी साड़ी पहनती हैं और उसके पुत्र के विवाह के समय दुल्हन की माता की ओर से उसे उपहार में हरी साड़ी ही दी जाती है।

आपने इकाई 21 में पढ़ा था कि खान-पान पर संस्कृति के घटकों का प्रभाव पड़ता है। यह अनुकूलन अनोखे परन्तु बड़े रुचिकर ढंग से सामने आता है। खुंभी, जिसे पश्चिम में एक बढ़िया सब्जी समझा जाता है, भारत में कई शाकाहारी केवल इसलिए उसको नहीं खाते क्योंकि यह तथाकथित, स्वाद तथा संरचना में मांस जैसी लगती है। इसी प्रकार, दक्षिण भारत के शाकाहारियों में टमाटर एवं चुकन्दर के प्रति प्रारंभिक अनिच्छा होती है क्योंकि उनका रंग मांस के रंग जैसा होता है।

22.7.1 भारत में पवित्रता एवं अपवित्रता

संस्कृति किस प्रकार से आचरण को प्रभावित और अनुकूलित करती है इसका एक रोचक उदाहरण हैं– जाति प्रथा का एक पहलू, जिसे संस्कारिक पवित्रता तथा अपवित्रता के नाम से जाना जाता है।

अपवित्रता जन्म से, अस्वच्छ धंधों और मृत्यु एवं रक्त, पाखाना, पेशाब, थूक, नाखून काटने और बाल काटने के साथ सम्पर्क रखने से जुड़ी हुई है। इन वस्तुओं के साथ किसी प्रकार का भी संपर्क किसी व्यक्ति को अपवित्र बना देता है। शारीरिक सम्पर्क अथवा जन्म से भी मनुष्य का अपवित्र होना माना जाता है। सांस्कारिक प्रदूषण के एक और दिलचस्प पहलू को दूरवर्ती अपवित्रता की संज्ञा दी जाती है जोकि विशेषरूप में दक्षिण भारत में प्रचलित है। यह विश्वास किया जाता है कि अछूत की छाया मात्र अथवा एक खास दूरी के भीतर निकटता से भी अपवित्रता अथवा अशुद्धता का संरचण हो जाता है।

तमिलनाडु तथा केरल में किन्ही खास जातियों के सदस्यों के अपने और ब्राह्मण तथा अन्य ऊंची जातियों के बीच एक निश्चित दूरी बनाए रखनी होती है, ताकि वे लोग अपवित्र न हो जाएँ। अतः तमिलनाडु की ताड़ी बनाने वाली जाति के शाहनार के 24 पग की दूरी के भीतर आने से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है। केरल में एक नायर ब्राह्मण के निकट तो आ सकता है, परन्तु उसे छू नहीं सकता। एक तियेन को अपने और एक ब्राह्मण के बीच 36 पग की दूरी बनाए रखनी पड़ती है। और पुलायन को 96 पग की दूरी पर ही रहना पड़ता है।

पिछले कुछ समय तक, महाराष्ट्र में एक महार अछूत को एक कांटेदार झाड़ी लेकर चलना पड़ता था ताकि उससे अपने पांव के निशानों को साफ कर सके और किसी ब्राह्मण के पास से गुजरने पर काफी दूरी पर जमीन पर लेटना पड़ता था ताकि उसकी गन्दी छाया से ब्राह्मण देवता अपवित्र न हो जाए।

22.7.2 सांस्कृतिक सापेक्षवाद

मानव जातीय संकेन्द्रवाद की विचारधारा के अनुसार अपने जीवन, धर्म और आदर्शों को दूसरों के इन तत्वों से वरीयता दी जानी होती है। यह विचारधारा है तो संकुचित, परन्तु इसकी व्याप्ति बहुत विशाल है। और इसके प्रतिकारक की व्यवस्था सांस्कृतिक सापेक्षवाद की विचारधारा से हो जाती है। सांस्कृतिक सापेक्षवाद इस विचार को प्रतिपादित करता है कि एक जाति के मूल्यों, आदर्शों का मूल्यांकन एवं निर्णयन हमें अपने मूल्यों एवं आदर्शों को सामने रखकर नहीं करना चाहिए बल्कि उनकी ही संस्कृति के संदर्भ में उनको समझना एवं उनका मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। **सांस्कृतिक सापेक्षवाद** की विचारधारा इस बात पर बल देती है कि हमें अपने

सांस्कृतिक अनुकूलन से बाहर निकलने की कोशिश करनी चाहिए और दूसरी संस्कृति को उस संस्कृति के मानने वालों के संदर्भ में समझने के प्रयत्न करने चाहिए। इसके लिए व्यापक कल्पनाशक्ति, तदानुभूति एवं विशाल दृष्टिकोण अपेक्षित है। हमें उनको समझने के लिए यथार्थवाद तथा मानवीय तरीके अपनाने चाहिए और यह तभी संभव हो सकता है जब हम उस जाति विशेष के बारे में अपने पूर्वाग्रहों और रूढ़िबद्ध धारणाओं का त्याग कर दें।

22.8 सांस्कृतिक परिवर्तन

मानव समाज के लक्षणों में एक ओर तो हम सांस्कृतिक दृढ़ता एवं सातत्य देखते हैं तो दूसरी ओर परिवर्तन एवं नवाचार भी। कोई भी समाज एक लम्बे समय तक न तो गतिहीन ही रह सकता है और न ही अलग-अलग। किसी संस्कृति विशेष में परिवर्तन या तो अपनी निजी गतिशीलता जैसे आंदोलन अथवा क्रांति द्वारा लाए जाते हैं या फिर अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से। आम तौर पर, दो अथवा अधिक संस्कृतियों के बीच सम्पर्क स्थापित हो जाने से संबंधित संस्कृतियों में थोड़े बहुत परिवर्तन आ ही जाते हैं। सांस्कृतिक विशेषताएँ एवं आदर्श अक्सर, सभ्यता के महत्वपूर्ण केन्द्रों से छोटे-छोटे क्षेत्रों तक पहुँच जाते हैं। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के दौरान प्राचीन मैसोपोटामिया में सभ्यता के उदय होने से लेकर आज तक, विश्व के सभी भागों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया निरन्तर चलती आ रही है।

22.8.1 सांस्कृतिक संक्रमण एवं प्रसारण

अलग-अलग सांस्कृतिक परम्पराओं वाले व्यक्ति समूह जब एक दूसरे के लगातार सम्पर्क में आते हैं तो उनकी मूल सांस्कृतिक परम्पराओं में परिवर्तन आ ही जाते हैं। इसे संस्कृति-संक्रमण अथवा संस्कृति-सम्पर्क की संज्ञा दी जाती है। दूसरी ओर सभ्यता के मुख्य केन्द्रों से सांस्कृतिक विशेषताओं और आदर्शों के छोटी छोटी संस्कृतियों तक होने वाले विस्तार को प्रसार कहा जाता है। संस्कृति-संक्रमण तथा प्रसार-दोनों ही एक दूसरे में सम्मिलित हैं। जहां विशेष सांस्कृतिक विशेषताओं अथवा तत्वों के विस्तार को आम तौर पर, प्रसार कहा जाता है वहाँ समस्त संस्कृतियों में आए परिवर्तनों को संस्कृति-संक्रमण की संज्ञा दी जाती है।

समाज में संस्कृति-सक्रमण एवं प्रसारण की प्रक्रिया सनातन काल से ही होती आ रही है। अत: हम देखते हैं कि तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व जैसे पुरातन काल में भी मैसोपोटामियन सभ्यता और भारतीय सभ्यता के बीच व्यापार तथा सांस्कृतिक संबंध विद्यमान थे।

सांस्कृतिक विशेषताओं के प्रसारण का एक दिलचस्प उदाहरण गणितीय चिन्ह "शून्य" है। एक शून्य लगाने से गणितीय चिन्ह का मूल्य दस गुणा, सौ गुणा, हजार गुणा और दस हजार गुणा हो जाता है। अंकों की प्रणाली के साथ शून्य का आविष्कार सर्वप्रथम, भारत में हुआ था। आठवीं शताब्दी में अंकों की इस प्रणाली को अरब लोगों ने अपना लिया। उससे पूर्व अरबी भाषा में अंकों के स्थान पर अक्षरों का प्रयोग किया जाता था। बाद में अंकों की इस भारतीय प्रणाली को अरबों में यूरोप तक पहुँचा दिया। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि अंग्रेज़ी में अंकों की इस प्रणाली को अब भी अरबी अंक कहा जाता है जबकि स्वयं अरब में इसे भारतीय अंक की संज्ञा दी जाती है।

22.8.2 कागज बनाने की तकनीक का प्रसारण

कागज का आविष्कार ईसा से एक शताब्दी पूर्व चीन में हुआ था। 751 ईस्वी में चीनियों ने समरकंद, जोकि उस समय मुसलमानों के नियंत्रण में था, पर हमला कर दिया। अरबों ने हमलावरों को पछाड़ दिया और उन्होंने अनेक चीनियों को युद्धबन्दी बना लिया। अरबों को यह बात मालूम थी कि चीनी कागज बनाने की तकनीक जानते हैं।

उन्होंने चीनी युद्धबन्दियों के सामने एक शर्त रखी कि यदि अरबों को कागज बनाने की तकनीक सिखा दें तो उनको मुक्त किया जा सकता है। चीनी युद्धबन्दियों ने यह शर्त मान ली तथा अरबों को कागज बनाने की तकनीक सिखा दी।

दो शताब्दियों के भीतर ही बगदाद और काहिरा में कागज बनाने के दो कारखाने स्थापित कर दिये गये। समरकन्द से, कागज बनाने की तकनीक मुसलमान देशों में फैल गई और 1189 में यूरोप में पहुँची। समय के व्यतीत होने के साथ-साथ इस तकनीक का विस्तार स्पेन, इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और फ़िलाडेल्फिया तक हो गया। निम्नलिखित आरेख से कागज बनाने की तकनीक का चीन से मुस्लिम देशों के माध्यम से यूरोप तक प्रसारण का परिचय मिल जाता है:

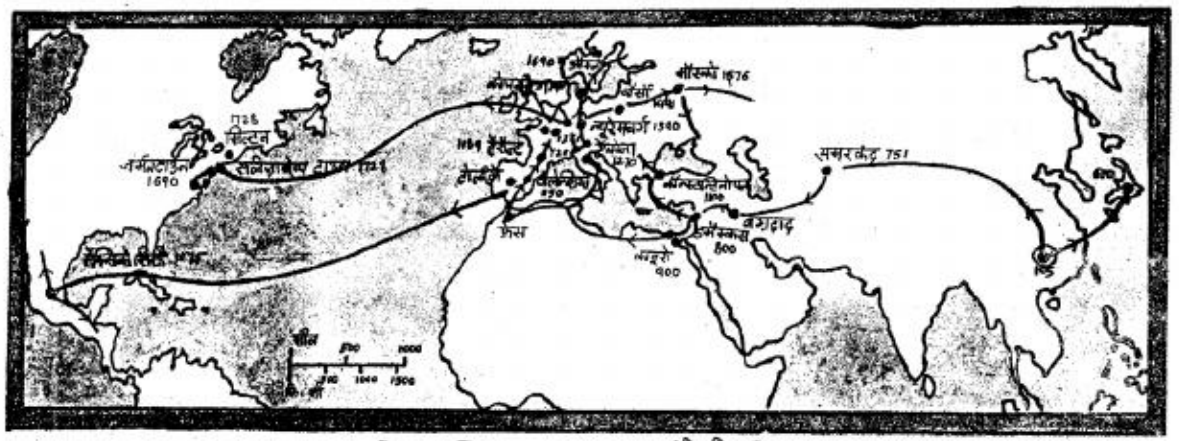

कागज़ बनाने की कला का भौगोलिक प्रसार

22.8.3 लिपि की कहानी

लिखने की कला का उद्गम मैसोपोटिमिया में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में हुआ था। लेखन-प्रणाली को मुख्य रूप से दो वर्गों में बांटा जाता है– गैर अनानुवर्णिक तथा आनुवर्णिक। कीलाक्षर अथवा फानाकार नाम से ज्ञात, लिखने की मैसोपोटेमियन प्रणाली अनानुवर्णिक थी। लिखने की प्रथम आनुवर्णिक प्रणाली आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में सीरिया और फैलेस्टाइन में प्रचलित हुई थी। यह उत्तरी सेमिटिक लिपि के नाम से जानी जाती है। यह दायीं ओर से बायीं ओर लिखी जाती है और इसमें 22 अक्षर थे।

ईसा-पूर्व नौवीं शताब्दी के दौरान, फोनेसियनों से उत्तरी सेमिटिक लिपि को यूनान ने अपना लिया और इसे संशोधित किया। यही यूनानी लिपि अंग्रेज़ी सहित सभी यूरेपियन लिपियों की जननी है। "अल्फा-बेट" शब्द यूनानी लिपि के अल्फा-बेटा नामक प्रथम दो अक्षरों के संयोग से बना है जोकि सेमिटिक वर्णमाला के प्रथम अक्षर नामश अलेफ और बेथ के अपभ्रंश रूप हैं।

18वीं शताब्दी ईसा पूर्व से वर्तमान तक हुआ अंग्रेज़ी वर्णमाला का विकास निम्नलिखित रेखाचित्र से स्पष्ट हो जाता है :

अंग्रेजी वर्णमाला का विकास

22.8.4 भाषा का प्रसारण

भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से संस्कृति प्रसारण के एक दिलचस्प दृष्टांत का पता चलता है। अंग्रेज़ी भाषा ने अपने विकास की प्रक्रिया के दौरान चीनी, भारतीय, सेमिटिक, अफ्रीकन और विश्व की अन्य भाषाओं से शब्दों का आत्मसात किया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित शब्दों को ही लीजिए, जिनका अंग्रेजी भाषा में व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है, परन्तु ये भारती मूल के हैं :–बंगला, चिट, लूट, जंगल, बम्बु, व्राण्डाह। निम्नलिखित शब्द अरबी मूल के हैं : सौफा, कॉटन, टैमरिंद, अल्जबरा, एडमिलरल, सिफर, टैरिफ, अल्कोहल, एटलस, ऐरक।

संस्कृति के आपसी प्रसारण का अन्य दिलचस्प दृष्टांत विभिन्न भाषाओं द्वारा शब्दों को अपनाने तथा रूपांतरित करने के ढंग से स्पष्ट होता है। नीचे रेखाचित्र में कुछ अंग्रेज़ी शब्दों के विकास क्रम का परिचय दिया जाता है :

अंग्रेज़ी	अरबी	संस्कृत
संदल (वुड)	संदल	चन्दन
जिंजर	जंजाबिल	श्रंग्वेर
कैम्फर	काफूर	कर्पूर (जिसे चीनी भाषा से संस्कृत में लिया गया)

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखिए।
ख) अपने उत्तरों का इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलान करें।

1 सांस्कृतिक विविधता तथा सांस्कृतिक अनुकूलन की धारणा मानव-आचरण के संबंध में हमारे ज्ञान को किस प्रकार विस्तृत करती है। 15 पंक्तियों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 नीचे दिये गये रिक्त स्थानों की पूर्ति करें :

1) सांस्कृतिक विभिन्नता विश्व-व्यापी ही नहीं अपितु एक ..... के भीतर भी विद्यमान रहती है।

2) दक्षिण भारत में वैष्णव दो सम्प्रदायों के नाम क्रमशः ..... और ..... में विभाजित हैं।

22.9 सारांश

संस्कृति और पर्यावरण में बहुत निकट का संबंध होता है पर्यावरण को विभिन्न परिस्थितियों में एक अनाश्रित अथवा एक आश्रित परिवर्ती माना जा सकता है।

समाज और संस्कृति में बहुत निकट का संबंध बना रहता है। एक समाज तो अव-मानवीय स्तर पर भी बना रह सकता है परन्तु संस्कृति मानव-समाज की धरोहर है। अतः मानव और अन्य पशुओं के बीच विद्यमान भिन्नता की द्योतक संस्कृति ही है।

भाषा किसी जाति की संस्कृति का दर्पण है, यह उनकी विचार-धारा तथा बोध को प्रभावित और अनुकूलित भी करती है।

संस्कृति के माध्यम से एकता का सृजन होता है। इसे विश्लेषण द्वारा इसके घटक-तत्वों जैसे आदर्शों, विशेषताओं, चिन्हों और लोकाचारों में भी पृथक-पृथक किया जा सकता है।

विश्व के सभी भागों में मानव जाति के सम्प्रदायों और समूहों को केवल शारीरिक और जातीय लक्षणों के संबंध में ही नहीं अपितु धार्मिक विश्वासों एवं पद्धतियों, रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं, धार्मिक अनुष्ठानों एवं संस्कारों के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है।

मानव जाति के समूहों के भीतर सांस्कृतिक भिन्नता बनी रहती है और प्रशिक्षण एवं शिक्षा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती रहती है। कोई भी संस्कृति लम्बी अवधि तक गतिहीन अथवा नितान्त अलग-थलग नहीं रह सकती। सांस्कृतिक विशेषताएँ आविष्कार तथा नवाचार बहुधा सभ्यता के मुख्य केन्द्रों से फैलते रहते हैं और अक्सर रूपांतरित रूपों में अन्य संस्कृतियों तक पहुँच जाते हैं।

शब्दावली

संस्कृति-संक्रमण : दो संस्कृतियों में सम्पर्क स्थापित होना। जिसके परिणामस्वरूप एक संस्कृति दूसरी से प्रभावित हो जाती है।
सांस्कृतिक क्षेत्र : ऐसा क्षेत्र जिसमें एक ही प्रकार की सांस्कृतिक विशेषताएँ प्रचलित होती हैं।
सांस्कृतिक समूह : सांस्कृतिक विशेषताओं का समूह अथवा संग्रह।
सांस्कृतिक अनुकूलन : वह प्रक्रिया जिसके द्वारा समाज-विशेष में व्यक्तियों के विचार एवं आचरण उनकी संस्कृति द्वारा प्रभावित होते हैं।
सांस्कृतिक लोकाचार : एक जाति का सांसारिक दृष्टिकोण।
सांस्कृतिक सापेक्षवाद : यह दृष्टिकोण कि किसी संस्कृति की मान्यताओं और आदर्शों को उसके ही दृष्टिकोण के संदर्भ में परख करना।
सांस्कृतिक-प्रतीक : वे विषय एवं वस्तुएँ जिसके साथ किसी जाति द्वारा विशिष्ट अर्थ अथवा अभिव्यंजना जुड़ी होती है।
सांस्कृतिक विशेषक : किसी संस्कृति की लघुतम अभिज्ञेय इकाई।
सांस्कृतिक प्रत्यय : ऐसी संस्थाएँ और सांस्कृतिक प्रतिरूप जो सभी मानव समाजों में समान रूप से पाए जाते हैं।
प्रसारण : सांस्कृतिक मदों और लक्षणों को सभ्यता के मुख्य केन्द्रों से छोटे-छोटे क्षेत्रों तक विस्तारण।
सांस्कारिक अपवित्रता : यह विश्वास कि अस्वच्छ-धन्धे, अछूत व्यक्ति, मृत्यु और शारीरिक उत्सर्जनों के सम्पर्क से व्यक्ति अपवित्र हो जाता है।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 संस्कृति एवं पर्यावरण के बीच घनिष्ठ संबंध होते हैं। मानव समुदाय तथा समूह विविधतापूर्ण विलक्षण ढंग से अपने आपको अपने पर्यावरण के अनुसार ढाल लेते हैं। पर्यावरणीय परिस्थितियाँ विभिन्न स्थितियों में मनुष्य की क्षमताओं के सम्पादन को सुविधाजनक बनाने के साथ-साथ उसके मार्ग में रोड़े भी अटकाती है। उत्तरी ध्रुव तथा मरुस्थल पर्यावरण सामंजस्य के मार्ग में समस्याएँ खड़ी कर देते हैं, खास कर ऐसे अवसरों पर जब किसी जाति के आर्थिक एवं प्रौद्योगिकी संसाधन सीमित होते हैं।

एक समुदाय अथवा समूह, भिन्न-भिन्न अवसरों पर एक ही प्रकार के वातावरण में भिन्न-भिन्न ढंग से व्यवस्था करता है। उसी प्रकार एक ही पर्यावरण में, अलग-अलग समूह

अपने आपको किसी वातावरण एवं स्थल के अनुकूल बनाने के लिए अलग-अलग तरीके अपनाएंगे।

2 i) हाँ (भाग 22.4 देखें)
ii) नहीं (उपभाग 22.5.2 देखें)
iii) नहीं (उपभाग 22.5.6 देखें)

बोध प्रश्न 2

2 सांस्कृतिक विविधता की धारणा से हमें उन विस्मयकारी भिन्नताओं का पता चलता है जो भाषा, धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं, रीति-रिवाजों और परम्पराओं को लेकर मानव-समूहों में विद्यमान होती हैं। इससे हमें उन विविध ढंगों की जानकारी मिलती है जिनसे मनुष्य अपने-आपको अपने पर्यावरण के अनुसार ढालता है और उन असंख्य तरीकों की भी, जिनको अपनाकर वह अपनी मूल-भूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

दूसरी ओर सांस्कृतिक अनुकूलन की धारणा, हमें इस तथ्य का बोध कराती है कि मान्यताओं, विचारों और आचरण के सम्बन्ध में जो भेद मानव-समूहों के बीच बने हुए हैं वे न तो उन्हें जैव प्रदत्त हैं और न ही माता-पिता द्वारा आनुवंशिक रूप से शिशुओं तक पहुँचाए जाते हैं।

मनुष्य एक खास ढंग से सोचता है, अनुभव करता और आचरण करता है क्योंकि उसका पालन-पोषण एक खास समाज तथा सांस्कृतिक वातावरण में हुआ होता है। विचार करने तथा आचरण करने के ये सुव्यक्त ढंग व्यक्ति सांस्कृतिक प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करते हैं।

2 1) देश
2) माधव, श्री वैष्णव

इकाई 23 मूल्य

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 समाजविज्ञानों में मूल्य
  23.2.1 मूल्यों की परिभाष
  23.2.2 मूल्यों की प्रकृति
23.3 मूल्यों और प्रतिमानों के बीच अंतर
23.4 व्यक्तित्व और समाज-सांस्कृतिक पद्धतियों के संदर्भ में मूल्यों की भूमिका
  23.4.1 मनुष्य : मूल्यों के निर्माता और पालक के रूप में
  23.4.2 मूल्यों का अनुक्रम
  23.4.3 मूल्य : संस्कृति व व्यक्तित्व का केंद्र
  23.4.4 मूल्य और पर्यावरण
23.5 भारतीय समाज में मूल्यों की पद्धतियों में परिवर्तन
  23.5.1 वैदिक-कालीन मूल्य
  23.5.2 उत्तर-वैदिक कालीन मूल्य
  23.5.3 बौद्धकालीन मूल्य
  23.5.4 मनुस्मृति
  23.5.5 इस्लामकालीन मूल्य
  23.5.6 आधुनिक मूल्य पद्धति
23.6 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप बता सकेंगे कि :

- मूल्य क्या होते हैं,
- मूल्यों और प्रतिमानों में क्या अंतर होता है,
- मूल्य व्यक्तित्व और संस्कृति को कैसे जोड़ते हैं, और
- समय-समय पर मूल्य कैसे परिवर्तित होते हैं।

23.1 प्रस्तावना

आप पढ़ चुके हैं कि संस्कृतियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं और एक ही संस्कृति के सभी लोगों का व्यवहार लगभग एक समान होता है। ये अंतर और समानताएँ ही मूल्य और प्रतिमान हैं। इस इकाई में आप पढ़ेंगे : मूल्यों का क्या अर्थ है? मूल्य प्रतिमान से किस प्रकार भिन्न हैं? व्यक्तित्व निर्माण और समाज-सांस्कृतिक ढांचे में मूल्यों की क्या भूमिका है? समय-समय पर वे कैसे बदलते हैं? परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है? और वैदिक काल से वर्तमान काल तक भारतीय समाज में मूल्यों में क्या परिवर्तन हुआ है?

23.2 समाजविज्ञानों में मूल्य

सामाजिक मूल्यों की व्याख्या करना सरल नहीं है। समाजविज्ञानों में प्रयुक्त अन्य पारिभाषिकों की तरह "मूल्य" शब्द भी बोलचाल की भाषा से लिया गया है। आपने देखा होगा कि बोलचाल की

भाषा में "मूल्य" शब्द अनेक अर्थों में इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन जब हम वैज्ञानिक चर्चा में किसी शब्द का इस्तेमाल करते हैं तो उसका अर्थ, जहाँ तक संभव हो, सुनिश्चित, सुस्पष्ट एवं असंदिग्ध होना चाहिए। अन्यथा हम जो कुछ कहना चाहते हैं, वह नहीं कह पाएँगे और हमारे कथन में अस्पष्टता आ जाएगी और आपको भी विषय को समझने, इसका विश्लेषण करने में कठिनाई होगी।

23.2.1 मूल्यों की परिभाषा

व्यापक रूप से मूल्य "जो होना चाहिए" से संबंधित धारणाएँ हैं जो हमारे विशिष्ट व्यवहार को प्रभावित करती हैं। जैसे "बच्चों को अपने से बड़ों का आदर करना चाहिए।" यह एक मूल्य है। मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवस्था के साथ बहुत गहराई से जुड़े होते हैं। मूल्य हमारे उद्देश्यों, व्यक्तित्व, हमारे समाज-सांस्कृतिक सिद्धांतों को नियमित करते हैं और सामाजिक जीवन में दूसरों की एवं समूचे समाज के रूप में समूह की आवश्यकताओं को भी नियमित करते हैं।

23.2.2 मूल्यों की प्रकृति

सामान्यतः मूल्यों को "क्या ठीक और महत्वपूर्ण है" की आधारभूत मान्यताओं के रूप में देखा जाता है। मूल्य जीवन के उद्देश्यों और उन्हें प्राप्त करने के साधनों को पारिभाषित करते हैं। हमारी जितनी भी उद्देश्यपूर्ण गतिविधियाँ होती हैं वे सबकी सब मूल्यों से जुड़ी होती हैं। उद्देश्यपूर्ण गतिविधियों के अंतर्गत मुख्यतः तीन प्रकार के मूल्य आते हैं: इच्छा, (पसंद), उपलब्धि (सफलता बनाम कुण्ठा) औ प्रभावक (आनंद बनाम दर्द या कष्ट)। (देखिए आर.एस.एस.एस. 1968, भाग 16)

कुछ लेखक इस धारणा को इतने व्यापक अर्थों में लेते हैं कि उनके लिए दुनिया में जो कुछ भी अच्छा या बुरा है या जो कुछ भी मानव की रुचि का है वही मूल्य है। अतः यह ठीक नहीं लगता कि "मूल्य" शब्द के अर्थ को इतना विस्तार दे दिया जाए कि मूल्य और व्यवहार के अन्य निर्धारक या नियंत्रक तत्वों के बीच अंतर करना कठिन हो जाए।

23.3 मूल्यों और प्रतिमानों के बीच अंतर

मूल्य और प्रतिमान आपस में गहन रूप से जुड़े हुए हैं। इनका संबंध इन स्वीकृत मान्यताओं के साथ है कि क्या ठीक है और क्या गलत, क्या वांछनीय है और क्या अवांछनीय। मूल्यों द्वारा ही प्रतिमानों के आधार बनते हैं। प्रतिमान मूल्यों पर आधारित होते हैं और "सत्यं-शिवं-सुंदरम्" की कसौटी पर सत्यापित किये जाते हैं।

सच पूछें तो मूल्य प्रतिमानों की तुलना में अधिक सामान्य और अमूर्त होते हैं। प्रतिमान अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होते हैं। प्रतिमान स्वीकृत परिस्थिति या समाज में आपके सामने उपस्थित स्थिति से जुड़े आपके संभावित व्यवहार की ओर संकेत करते हैं। मोटे तौर पर सच्चाई, ईमानदारी या बड़ों के लिए सम्मान जैसे व्यापक रूप से स्वीकृत मूल्य अपेक्षाकृत ठोस प्रतिमानों के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं और ये प्रतिमान विभिन्न स्थितियों, स्तरों और व्यवसायों के अनुसार विभिन्न हो सकते हैं।

कभी-कभी प्रतिमानों के बीच स्वयं में मूल्यांकन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। व्यवहार, जिसके दो प्रतिमान हैं (और दोनों ही स्वीकृत हैं), उन मूल्यों की दृष्टि से अच्छा या बुरा हो सकता है जो अधिक मौलिक हैं।

प्रतिमान विशेष नियमों से बंधे होते हैं। वे इसका नियमन करते हैं कि विभिन्न स्थितियों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं किया जाना चाहिए। दूसरी ओर मूल्य इच्छाओं या आकांक्षाओं के अमूर्त मानक हैं, अर्थात् वे विशिष्ट स्थिति पर निर्भर नहीं होते। अन्य शब्दों में वे अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र होते हैं। मूल्यों को उनकी व्यापकता तथा निर्णय की कसौटी की तरह भी देखा जा सकता है।

1) मूल्यों की सामान्य प्रकृति

चूँकि मूल्य अधिक व्यापक हैं, अतः एक ही मूल्य को कई प्रतिमानों में सन्निहित किया जा सकता

है। उदाहरण के लिए अपनों से बड़े या उच्च पदाधिकारी के प्रति सम्मान और आज्ञाकारिता के मूल्यों को ही लीजिए जो परिवार, सेना, स्कूल और प्रशासनिक संगठन जैसे विभिन्न संस्थानों से संबंधित विभिन्न प्रतिमानों को रेखांकित करते हैं।

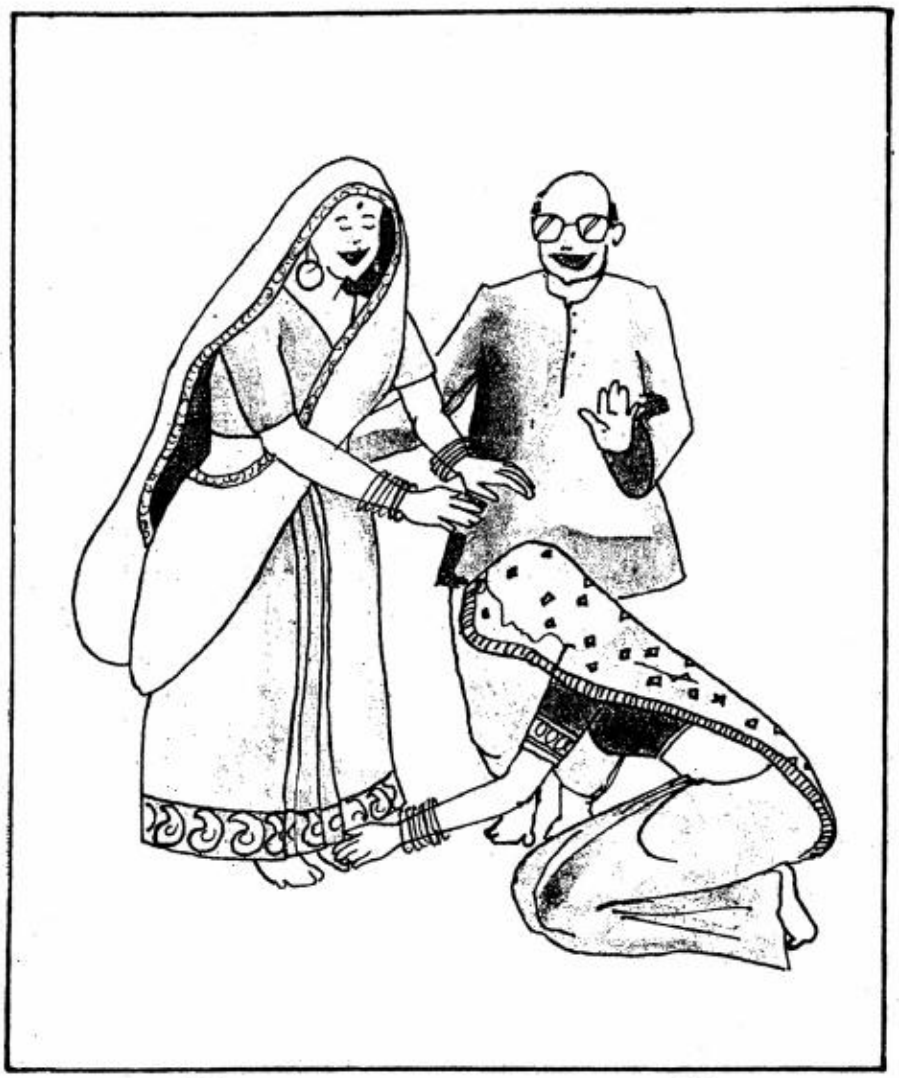

सामाजिक मूल्यः चरण स्पर्श

दूसरी ओर एक ही प्रतिमान में आपको अलग-अलग कई मूल्य बिखरे हुए मिल जाएँगे। उदाहरण के लिए उन प्रतिमानों को लीजिए जो हमें परीक्षा में नकल या बेईमानी करने से रोकते हैं। ये प्रतिमान ईमानदारी, उपलब्धि, अवसर की समानता, ज्ञान प्राप्ति आदि जैसे कई मूल्यों पर आधारित हैं।

सुनिश्चितता और व्यापकता के स्तरों में अंतर के अलावा मूल्यों और प्रतिमानों के बीच एक और भिन्नता है। मूल्य रुचि, प्राथमिकता, पसंद, नापसंद जैसी अभिवृत्तियों से जुड़े हैं। वस्तुतः अगर आप प्रतिमानों के लक्षणों को जानना चाहते हैं तो उनकी तुलना विभिन्न मूल्यों से कीजिए। मोटे तौर पर कहा जाए तो मूल्य प्राथमिकताओं पर आधारित हैं और प्रतिमान अनुशासन पर, इसीलिए मूल्य के मामले में स्वतंत्रता की ज़्यादा गुंजाइश है। अन्य शब्दों में वे अधिक लचीले हैं।

2) मूल्य : निर्णय की कसौटी

मूल्य सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को परखने की कसौटी है, जैसे : हमारे

कार्य, गतिविधियाँ, लक्ष्य, साधन विचार, अभिवृत्ति, रवैया, गुण, वस्तु, व्यक्ति और समूह।

प्रमुख मूल्यों में (1) व्यापकता, (2) स्थायित्व, (3) गहनता और (4) मूल्य वाहक की प्रतिष्ठा का समावेश होता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपना उत्तर रिक्त स्थान पर लिखिए।
ख) अपना उत्तर इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाइए।

1 सात पंक्तियों में मूल्य और उसकी प्रकृति की व्याख्या कीजिए।

2 सात पंक्तियों में लिखिए कि मूल्य प्रतिमान से किस प्रकार भिन्न है? साथ में एक उदाहरण भी दीजिए।

23.4 व्यक्तित्व और समाज-सांस्कृतिक पद्धतियों के संदर्भ में मूल्यों की भूमिका

व्यक्तित्व और समाज-सांस्कृतिक पद्धतियों के समन्वय में मूल्यों की प्रमुख भूमिका है। मूल्य व्यक्ति के अपने जीवन में और समाज में जब तब उठ खड़े होने वाले द्वन्द्वों या संघर्षों को निपटाने, हल करने या कम करने में सहायक होते हैं।

23.4.1 मनुष्य : मूल्यों के निर्माता और पालक के रूप में

राधाकमल मुखर्जी, जिन्होंने मूल्यों के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, का कहना है कि : "मनुष्य मूल्यों का निर्माता भी है और पालक भी। यही विशेषता मनुष्य के व्यक्तित्व और सामाजिक संबंधों को विशेष रूप से समूहों और संस्थानों के ढाँचे को प्रभावित करती है जिनसे मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है और जो हमारे मूल्यों को साकार करते हैं। मनुष्य मूल्यों का स्रोत ही नहीं वरन् उन मूल्यों का निर्णायक भी है जो समूहों और संस्थानों के कार्य को सही ढंग से चलाने के लिए सभी अंतर्वैयक्तिक लक्ष्यों, संबंधों और व्यवहारों में बिखरे पड़े हैं।"

कभी-कभी वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों के बीच भी अन्तर किया जाता है। हालाँकि व्यक्ति, उन मूल्यों को भी जिन्हें वैयक्तिक समझा जाता है, उसी समाज से लेता है जिसमें वह रहता है। शिशु जन्म के समय वही वरन् बाद में सामाजिक प्राणी या व्यक्ति बनता है। इसके लिए वह समाजीकरण की प्रक्रिया से गुजरता है। समूह के मूल्यों का आंतरीकरण (स्वयं में आत्मसात कर लेना) समाजीकरण की प्रक्रिया का एक अभिन्न व महत्वपूर्ण अंग है।

23.4.2 मूल्यों का अनुक्रम

व्यक्ति अपने सभी मूल्यों को एक समान महत्व नहीं देता। मूल्यों का अपना अनुक्रम होता है। प्रतिस्पर्धा की स्थिति में कम महत्वपूर्ण मूल्य को अधिक महत्वपूर्ण मूल्य के सामने झुकना पड़ता है। जैसे परीक्षा पास आने पर छात्र सिनेमा न जाकर घर पर बैठकर पढ़ना चाहेगा। इसमें भी शक नहीं कि मनुष्य को कई बार मूल्यों के बीच उत्पन्न संघर्ष का मुकाबला करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य मूल्यों के अनुक्रम से उस संघर्ष को समाप्त करने या कम करने का प्रयत्न करता है। अगर वह ऐसा नहीं कर पाता तो उसके व्यक्तित्व को गंभीर क्षति पहुंच सकती है, उसकी गतिविधियाँ अस्तव्यस्त हो सकती हैं।

समाज-सांस्कृतिक पद्धति विभिन्न मूल्यों के बीच आवश्यक तालमेल से और उनके अनुक्रम के बारे में आम राय से जुड़ी है। इस संबंध में राधाकमल मुखर्जी ने लिखा है : "विभिन्न स्तरों या विभिन्न आयामों वाले, आर्थिक, नैतिक या धार्मिक जीवन मूल्य एक दूसरे में गुंथे हुए हैं। सभी समूह और संस्थान, चाहे वे आर्थिक या राजनीतिक हों, धार्मिक या शैक्षणिक हों, आपस में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं या एक दूसरे से टकराते हैं।"

23.4.3 मूल्य : संस्कृति व व्यक्तित्व का केंद्र

हम विभिन्न समूहों और संस्थाओं के सदस्य के रूप में जाने या अनजाने में विभिन्न लक्ष्यों और मूल्यों का अनुसरण करते हैं और अपने कार्य या व्यवहार में संतुलन या तारतम्यता बनाए रखने की कोशिश करते हैं। अगर संतुलन डगमगा जाता है तो उसका परिणाम गंभीर हो सकता है। हम मानसिक तनाव के शिकार हो सकते हैं और हमारे जीवन में उथल-पुथल मच सकती है। एक सामान्य व्यक्ति आधा-अधूरा नहीं वरन् पूरा होता है बिल्कुल वैसे ही जैसे एक सामान्य समाज खंडित नहीं एकीकृत होता है।

मूल्य किसी भी संस्कृति के केंद्र-बिंदु और उसकी प्रकृति हैं। हालाँकि लोगों को प्राय: बहुत से मूल्यों का पता नहीं होता क्योंकि वे उनके व्यक्तित्व का एक अंग बन चुके होते हैं।

23.4.4 मूल्य और पर्यावरण

मूल्य समाज के पर्यावरण के साथ समायोजन को प्रतिबिंबित करते हैं। समायोजन को बढ़ावा देने वाली गतिविधियाँ और वस्तुएँ उच्च मूल्यों को निर्धारित करती हैं। उदाहरण के लिए एस्कीमो स्लैज-गाड़ी खींचने वाले कुत्तों और शिकार के साधनों को अधिक मूल्य देते हैं। क्योंकि इनके बिना वे जी नहीं सकते। उत्तरी अमेरिका चेने के लड़ाकू (Cheyenne) इण्डियन युद्ध में वीरता को प्रमुखता देते हैं जबकि दक्षिण पश्चिम अमेरिका के पोब्लो (Pueblo) इण्डियन धर्म को पहले स्थान पर रखते हैं। पोब्लो (Pueblo) किसान थे, वे धरती से अपनी रोज़ी-रोटी कमाते थे। प्रकृति से समन्वय स्थापित करने के लिए ही उन्होंने धार्मिक क्रियाकलापों का सहारा लिया।

जीवन के विभिन्न पहलुओं और गतिविधियों के विभिन्न क्षेत्रों के अपने अलग-अलग मूल्य हैं। यूनानी सत्यं-शिवं-सुन्दरम् इन तीनों में अंतर करते हैं; हमारे अधिकांश वर्गीकरण उनसे मिलते-जुलते हैं। संज्ञानात्मक प्रतिमान स्थापित किए बिना हम परस्पर विरोधी विचारों के बीच तालमेल नहीं बिठा सकते, किसे अपनाएँ, किसे न अपनाएँ इसका निर्णय नहीं ले सकते, उसके बिना हमें सत्य का बोध नहीं हो सकता और "सत्य" के बिना हम "शिव" को अर्थात्, अच्छे-बुरे को नहीं जान सकते। "सुन्दर" सौंदर्य के क्षेत्र से जुड़ा है जो कि अनुभूति या अनुभूति व रूपाकार की अभिव्यक्ति का क्षेत्र है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए रिक्त स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) अपने उत्तर को अंत में दिये गये उत्तर से मिलाइए।

1 मनुष्य मूल्यों का निर्माता भी है और पालक भी– इसका पाँच पंक्तियों में स्पष्टीकरण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2 लोग अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में मूल्य-संघर्षों का समाधान कैसे करते हैं, चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 नीचे दिये गये कथन यदि ठीक है तो "हां" पर और यदि ठीक नहीं है तो "ना" पर निशान लगाइए :

1 व्यक्ति सामाजिक और वैयक्तिक मूल्य समाज से हासिल करता है।
"हां" ☐ "नहीं" ☐

2 मूल्यों के अनुक्रम से व्यक्ति के व्यक्तित्व में मूल्य-संघर्ष पैदा होता है।
"हां" ☐ "नहीं" ☐

3 मूल्यों का समाज की संस्कृति और पर्यावरण से कोई खास लेनदेन नहीं है।
"हां" ☐ "नहीं" ☐

23.5 भारतीय समाज में मूल्यों की पद्धतियों में परिवर्तन

हालाँकि मूल्य-पद्धति बहुत स्थाई और दृढ़ है पर फिर भी समय के प्रवाह में उसमें कई आधारभूत परिवर्तन आते हैं। मूल्य समाज की संस्कृति और पद्धति के विभिन्न पहलुओं के साथ गुंथे रहते हैं इसलिए सामाजिक पद्धति में परिवर्तन के साथ ही मूल्य पद्धति में भी बदलाव आता है। मूल्य पद्धति में परिवर्तन से सामाजिक पद्धति में परिवर्तन आता है या अन्य कारणों से आधारभूत सामाजिक परिवर्तन होता है और मूल्य-पद्धति बदलती है—यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर गहरा मतभेद है। आइए अब हम उस सभ्यता की मूल्य पद्धति में आए परिवर्तनों पर दृष्टिपात करें जो हमारी अपनी है।

"भारतीय मूल्यों" की हम इस तरह बात करते हैं मानों भारतीय जनता के सभी वर्गों में सभी युगों में एक से मूल्य थे। पर बात ऐसी नहीं है। समय-समय पर इसमें कई परिवर्तन आए हैं। भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों और विभिन्न समूहों की मूल्य-पद्धति में भी अन्तर था। इसके हमें पुस्तकों व अन्य स्रोतों से कई प्रमाण मिलते हैं।

जिस प्रकार समाज को संस्कृति से अलग नहीं किया जा सकता, वह एक सम्पूर्ण एकक है, इसी प्रकार मूल्यों को समाज की संस्कृति से अलग करके उनका अध्ययन नहीं किया जा सकता। यदि हम ऐसा करते हैं तो हमारा अध्ययन अपूर्ण होगा। सिर्फ अपूर्ण ही नहीं भ्रांतिपूर्ण भी हो सकता है। यह बात पारम्परिक समाज-सांस्कृतिक पद्धतियों पर और भी अधिक लागू होती है, उदाहरण के लिये हम भारत देश की बात कर सकते हैं जिसका लंबा एक इतिहास है और जिसके संरचनात्मक व सांस्कृतिक तत्वों का अविछिन्न विकास हुआ है। इसलिए अब हम ऋग्वेदिक काल से लेकर अब तक पारंपरिक समाज-सांस्कृतिक पद्धति के परिप्रेक्ष्य में ही भारतीय मूल्य-पद्धति का अध्ययन करेंगे और समय-समय पर आए परिवर्तनों पर दृष्टिपात करेंगे। इससे हमें पता चलेगा कि हमारी उस भारतीय सभ्यता के सुव्यवस्थित मूल्यों में समय के प्रवाह में किस प्रकार अनेकों परिवर्तन आए हैं जिसकी तारतम्यता उल्लेखनीय रही है।

23.5.1 वैदिक-कालीन मूल्य

ऋग्वेद हमारा सबसे पहला साहित्यिक स्रोत है जिससे हमें उन लोगों के बारे में पता चलता है जो ई.पू. 1500 के लगभग भारत में आकर बसे थे। ऋग्वेद की भाषा और विषयवस्तु से पता चलता है कि इसके मंत्रों की रचना लम्बी अवधि में विभिन्न ऋषियों मुनियों द्वारा की गई थी। यह वह समय था जब आर्य भारत में आकर बस रहे थे। इन मंत्रों में युद्ध प्रिय सरल हृदय आर्यों का चित्रण है जो युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए उपासनाएँ करते थे और बलि चढ़ाते थे। इनके पास अनगिनत पशु थे, सोना एवं अन्य भौतिक वस्तुएँ थीं।

ऋग्वेद के मंत्र युद्धवीरों और वीर-देवों के गौरव की गाथा सुनाते हैं। विजेता शूरवीर और प्रसन्नचित्त आर्यों का गुणगान करने वाले मंत्रों की यहां कमी नहीं। तेज चमचमाते भालों से सुसज्जित, अरयुक्त चक्रों व घोड़ों से युक्त रथों पर सवार युद्धप्रिय आर्यों ने सप्तसिन्धु या सिन्धु घाटी के आदिवासियों पर आक्रमण किया। लड़ाकू आर्यों ने 99 नगरों को नष्ट-भ्रष्ट कर वहाँ के लोगों पर अपना आधिपत्य जमाया जिन्हें ऋग्वेद में "दास" कहा गया है।

विजेताओं और विजितों के बीच मूल्यों का संघर्ष

विजित लोगों का "दास" और "पाणि" के रूप में वर्णन मिलता है। "पाणि" धनी सौदागर थे। पाणि लोगों की पशु-सम्पदा आर्यों के लिए विशेष आकर्षण का कारण थी। सौदागर होने के नाते पाणि लोग पशुओं या अन्य धन-सम्पत्ति को बदले में कुछ लिए बिना भला कैसे छोड़ सकते थे। पाणि लोगों की विनिमय-पद्धति उन अर्ध-यायावर आर्यों को बड़ी बेतुकी जान पड़ी जो अपने अतिथियों का बड़ा सम्मान करते थे और उन्हें अपने साथ बिठाकर खिलाते-पिलाते थे।

आर्यों और अनार्यों के बीच जाति व संस्कृति के इस टकराव पर ही भारतीय संस्कृति और मूल्यों की नींव पड़ी।

वर्ण विन्यास, संभ्रांत और सामान्य जनता की विभिन्न संस्कृति और धार्मिक नियमों में दोहरी नीति—ये सब उसी टकराव की देन है। उसके बाद जो सामंजस्य या समायोजन हुआ उसका श्रेय भी उसी को जाता है।

मूल्यों और प्रतिमानों का द्वन्द्व

जातिभेद के कारण लोगों के प्रति घृणा की भावना सामाजिक मूल्यों और प्रतिमानों में भी प्रतिबिम्बित हुई। ऋग्वेद में हमें दो प्रकार के प्रतिमान मिलते हैं, एक वे जो आर्यों के लिए हैं और दूसरे वे जो आर्यों से भिन्न अर्थात् अनार्यों के लिए बनाए गए हैं। कवि समवानन आर्यों को मिल-जुलकर रहने के लिए प्रेरित करते हैं। वे कहते है: "आदिकाल के देवताओं के समान आप साथ मिलकर चलें , साथ मिलकर बोलें, और साथ मिलकर सोचें।" लेकिन ऋग्वेद में कहीं भी आर्यों के दासों के साथ शांति से रहने की आकांक्षा का वर्णन नहीं मिलता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मूल्यों के जिस ढ़ांचे की नींव आज से शताब्दियों पहले वैदिककाल में पड़ी थी वह आज के इस दिन तक कायम है। जिन तथ्यों का संक्षेप में ऊपर उल्लेख किया गया है उनसे पता चलता है कि आर्य पुरोहित और यौद्धा धन-सम्पदा के स्रोत पाणि सौदागरों को किस प्रकार हीन दृष्टि से देखते थे और दासों को आर्यों की सेवा करने वाले सेवक मानते थे। स्मृतियों में विधि-विधानों का विस्तृत उल्लेख है। वहाँ हमें विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न आचरण संहिता, विभिन्न सुविधाओं और विभिन्न दण्डों का विधान मिलता है। यह सब वेदों में उल्लिखित आर्यों और अनार्यों के लिए निर्धारित किये गए आचरणों व नियमों की दोहरी नीति का ही परिणाम है।

हालाँकि यह भी सच है कि सिंधु घाटी में बसने और वहाँ के लोगों के साथ कार्य-संबंध स्थापित हो जाने के बाद आर्यों के लड़ाकू स्वभाव में परिवर्तन आया। उन्होंने वहाँ के लोगों के कई मूल्यों और धारणाओं को अपनाया। इसी समय आर्यों के उच्च वर्ग में संघर्षों की शुरुआत भी हुई। ब्राहमण ग्रंथों की रचना कर ब्राहमणों ने स्वयं को उन क्षत्रियों से ऊँचा मानना शुरू किया जो राजा और योद्धा थे। ब्राहमण ग्रंथों में बड़े-बड़े यज्ञों का विधान बताया गया है जिनका व्यय क्षत्रियों को उठाना पड़ता था। क्षत्रियों ने इसका विरोध किया। उनके इस विरोध की झलक हमें उपनिषदों में मिलती है।

23.5.2 उत्तर-वैदिककालीन मूल्य

उपनिषदों में आत्मज्ञान को जीवन का अंतिम लक्ष्य माना गया है। उपनिषद् काल में हम देखते हैं कि प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति आध्यात्मिक था। उपनिषदों के प्रमुख सिद्धांत आत्मा से संबद्ध हैं और इन सिद्धांतों का प्रादुर्भाव ब्राहमण वर्ग के बाहर हुआ। उपनिषदों की भाषा सरल थी इसलिए उन्होंने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। बड़े-बड़े धर्म पण्डितों की नई पीढ़ी के लोगों की जटिल बलि प्रथा और धार्मिक विधि-विधानों में रुचि कम हो गई। इससे धर्म पण्डितों की सर्वोच्च स्थिति और वर्ण प्रथा को गहरा धक्का लगा।

उपनिषद् काल में जातीय शुद्धता के विचार में भी परिवर्तन आया। किसी समुदाय में विधिवत् प्रवेश पाने के लिए प्रत्येक बच्चे के लिए धार्मिक विधि-विधान या संस्कार अनिवार्य बना दिये गये। इन विधि-विधानो या सस्कारों का प्रथम वर्णन गृह्य-सूत्र में मिलता है। गृह्य-सूत्रों में आर्यों के लिए विभिन्न धार्मिक विधि-विधानों या संस्कारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। मृत्यु

को दृष्टिगत करते हुए ये धार्मिक विधि-विधान मनुष्य के जीवन में नये मोड़ के लिए आवश्यक समझे गए।

लगता है कि सभी परम्परागत समाजों में उच्च वर्ग ने जब-जब अपने निकट अतीत से छुटकारा पाना चाहा है, तब-तब दूरस्थ अतीत का पुनरुद्धार हुआ है। परन्तु लम्बे अन्तराल के कारण पूर्णरुपेण पुनरुद्धार कभी भी संभव नहीं हुआ। जो कुछ उभर कर सामने आता है वह बड़ा सतही होता है। उपनिषद्काल में वर्ण प्रथा के मूल्यों में पर्याप्त अन्तर आया। ब्राहमणों और पुरोहितों की स्थिति ने पलटा खाया। निम्न जातिवर्ग, स्त्रियों और उच्चवर्ग की नई पीढ़ी ने पारम्परिक सामाजिक पद्धति के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इस युग में अनेकों अनार्य मूल्यों ने उच्चवर्गीय धारा में प्रवेश पाया। उच्चवर्गीय ब्राहमणों के गढ़ की नींव इस सीमा तक हिल गई कि पुरोहितों को भी नई विचारधारा में बहना पड़ा

23.5.3 बौद्धकालीन मूल्य

सूत्रकाल में स्थापित सामाजिक मूल्यों में बौद्धकाल में पुनः परिवर्तन आया। बौद्ध धर्म का प्रभाव अनूठा था। बुद्ध ने जो कुछ कहा वह सामान्य जन भाषा में था, ब्राहमणों के समान क्लिष्ट भाषा में नहीं। उन्होंने सभी मनुष्यों को समानता का उपदेश दिया। ब्राहमणों की भाषा संस्कृत थी, जिसे केवल उच्चवर्ग के लोग ही समझ सकते थे। बुद्ध की उपदेश सभाओं में सभी जातियों के लोग भाग ले सकते थे। बुद्ध ने महान वैदिक, यज्ञबलियों को निरर्थक घोषित किया। बौद्ध-धर्म राजाओं, महाराजाओं, सौदागरों, वणिकों, कलाकारों और किसानों के बीच बड़ा लोकप्रिय हुआ।

बौद्ध धर्म ने विभिन्न जातियों में समानता के मूल्य को रेखांकित किया, कठोर श्रम और मितव्ययिता पर जोर दिया, औद्योगिक और व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया। इस युग में उद्योग और व्यापार में उल्लेखनीय प्रगति हुई । बौद्ध साहित्य में कई उद्योगों और शिल्पों का वर्णन मिलता है। जातकों में 18 शिल्प संघों या श्रेणियों का उल्लेख है। राजाओं द्वारा इन संघों को मान्यता प्राप्त थी। प्रत्येक संघ का एक प्रमुख होता था। वह राज दरबार का विशेष सदस्य माना जाता था। यही कारण है कि व्यापारी वर्ग ने बहुत उन्नति की।

बौद्धधर्म ने जन्म के आधार पर जातिभेद और सामाजिक विभाजन को मान्यता दी। इससे पहले जातिभेद वर्ण-सिद्धांत पर आधारित था। भारत पर सतत् विदेशी आक्रमणों से वर्ण-सिद्धांत को एक और धक्का लगा। उनका रंग गोरा था और बाल सुनहरे थे। पतञ्जली में ब्राहमणों का वर्णन करते हुए उनके इन्हीं दो गुणों को रेखांकित किया है।

23.5.4 मनुस्मृति

सैद्धांतिक रूप से वर्ण सिद्धांत पर जोर देने के बावजूद ब्राहमणों ने भी अपनी जातीय-शुद्धता को कुछ सीमा तक खो दिया था। आर्यपूर्व कृष्ण-वर्ण के उन लोगों से भी उन्हें खतरा था जो समाज के छोटे तबके के थे। समाज में उनकी संख्या बढ़ी-चढ़ी थी। उनकी संस्कृति, उनके मानदण्ड मूलतः आर्यों से भिन्न थे।

जीने के लिए ब्राहमणों को इन सब चुनौतियों का सामना करना था और बुझती ब्राहमण परम्पराओं को दीप्त करना था। संकट की इस घड़ी में मनुस्मृति की रचना हुई। ऐसा माना जाता है कि इसकी रचना ऋषि-मुनियों ने की थी, जबकि सूत्रों को मानवरचित कहा जाता है। यह उपयुक्त ही है कि पुनरुद्धार काल की इस महान कृति को आदि पिता "मनु" का नाम दिया गया है क्योंकि इसमें वैदिक परम्परा पर आधारित सामाजिक व नैतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

हालाँकि अधार्मिक विधि-विधानों से जातीय शुद्धता को पुनर्स्थापित नहीं किया जा सका जिनके कारण ब्राहमणों और पुरोहितों के आधिपत्य को स्वीकारा जाता था पर उसी काल में एक ऐसी सामाजिक पद्धति की नींव पड़ी जिसका आज तक बोलबाला है।

23.5.5 इस्लामकालीन मूल्य

भारत में इस्लाम के प्रभाव की शुरुआत आठवीं शताब्दी के आरंभ में सिंध पर अरबों की विजय से हुई थी और आज भारत में मुसलमानों की संख्या 6 करोड़ से अधिक है। जनसंख्या की दृष्टि से हिन्दुओं के बाद उनका दूसरा स्थान है। ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से भारत की सांस्कृतिक परम्परा में इस्लामी मूल्यों की भूमिका महत्वपूर्ण है।

जब हम वैदिककालीन या उपनिषद्कालीन मूल्यों की बात करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य

दीर्घकालीन हिन्दू परम्परा के मूल्यों से है। इस के विपरीत इस्लाम परम्परा एक विश्वव्यापी दृष्टिकोण पर आधारित है, जो वस्तुतः "धर्मतन्त्रात्मक नहीं, शुद्ध रूप से एकेश्वरवादी अर्थात् अद्वैतवादी है और प्रकृति में मसीही है।" (योगेन्द्र सिंह : 1973) यह धर्मतन्त्रात्मक नहीं—क्योंकि इस्लाम के अनुसार अल्लाह की नज़र में सब इन्सान बराबर हैं जबकि हिन्दू परम्परा में स्वयं मनु ने हिन्दुओं को चार भागों में बांट दिया है: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण सर्वोच्च हैं और उनके बाद क्षत्रियों का स्थान है। इस्लाम एकेश्वरवादी है क्योंकि मुसलमान सिर्फ़ एक अल्लाह के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। जबकि हिन्दू असंख्य देवी-देवताओं की उपासना करते हैं। यह मसीही है क्योंकि इसकी शुरुआत इब्राहिम के समय से होती है। मुसलमान मानते हैं कि इब्राहिम के बेटों से तीन धर्मों का उद्भव हुआ: इस्लाम, ईसाई और हिन्दू धर्म। मुसलमानों का विश्वास है कि मसीहा ही विश्व का उद्धार करेगा और दुनिया का आखिरी दिन कयामत का दिन होगा।

इस्लाम धर्म के मूल्य हिन्दू धर्म या अन्य धर्मों के मूल्यों की तरह स्थायी नहीं। हिन्दू और इस्लाम धर्म के बीच बड़ी मिलावट हुई है। उदाहरण के लिए सूफ़ियों के सूफ़ी धर्म को ही लीजिए— इसका आधार रहस्यवाद है। इसकी तुलना हम हिन्दुओं के "भक्तिवाद" से कर सकते हैं। सूफ़ीवाद में आपको "भक्तिवाद" के कई तत्व मिलेंगे। सिख धर्म में आपको हिन्दू धर्म के ही नहीं अपितु इस्लाम के भी कई मूल्य दिखायी पड़ेंगे। भारत में मुसलमान एक लम्बे अर्से तक हिन्दुओं के साथ रहे हैं इसलिए जो तत्व आपको भारतीय मुसलमानों में दिखाई पड़ेंगे वे अन्य देशों के मुसलमानों में नहीं मिलेंगे। उदाहरण के लिए हिन्दुओं में जिस प्रकार जात-पात, ऊँच-नीच है उसी प्रकार यहाँ के मुस्लिम समाज में भी आपको इसी प्रकार का भेदभाव दिखाई देगा। हिन्दुओं ने भी मुसलमानों की कई प्रथाएँ अपनाई हैं। उदाहरण के लिए घूंघट को ही लीजिए। आपने यह भी देखा होगा कि आज कई हिन्दू मुसलमानों के ही समान सूफ़ी सन्तों की मज़ार पर फूल या चादर चढ़ाने जाते हैं और मन्नत मांगते हैं।

23.5.6 आधुनिक मूल्य-पद्धति

भारत की पारंपरिक मूल्य पद्धति में, जो 1500 से भी अधिक वर्षों तक सामाजिक ढांचे का आधार रही है, आधुनिक सामाजिक तत्वों के प्रभाव से बड़ी गति से परिवर्तन आने शुरू हुए। इन सामाजिक तत्वों को लाने वाले थे— "अंग्रेज़"। परिवर्तन इसलिए नहीं आया कि शासक विदेशी थे। परिवर्तन मुख्यतः इसलिए आया क्योंकि अंग्रेज़ एक सर्वथा विभिन्न समाज से थे। वे एक ऐसे समाज से थे जो आधुनिक था, जो औद्योगिक एवं पूँजीवादी था। यह समाज आर्थिक, तकनीकी, राजनैतिक, वैधिक, सांस्कृतिक एवं विचारधारा की दृष्टि से हमारे पारम्परिक समाज से भिन्न था। औद्योगिक पूँजीवादी सभ्यता विस्तारवादी सभ्यता है। इससे परम्परागत समाजों में परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। इसकी अपनी इतनी शक्ति है कि इससे आपके सामाजिक ढांचे में और आपकी मूल्य पद्धति में परिवर्तन आए बिना नहीं रह सकता। आइए, इस परिवर्तन को भारत में ब्रिटिश शासन तथा ग्रामीण जीवन के संदर्भ में देखें।

ब्रिटिश राज और भारतीय मूल्य-पद्धति

भारतीय समाज पर ब्रिटिश राज के प्रभाव से शहरी मध्यम वर्ग का जन्म हुआ जिनके मूल्य परम्परागत मूल्यों से भिन्न ही नहीं वरन् उनसे उनका विरोध भी था। इस नये जन्मे मध्यम वर्ग ने आधुनिक पूँजीवादी समाज के मूल्यों को अपनाया। ये मूल्य थे: व्यक्तिवाद, युक्तियुक्तता, प्रतिस्पर्धा, असीमित अर्जनशीलता और सक्रियता। परम्परागत समाज में ये सब दूर की बातें थीं— वह ज़माना था जब सहयोग और संतोष जैसे मूल्यों पर ज़ोर दिया जाता था। भारत में व्यक्तिवाद का विचार था ही नहीं। इसका अगर कोई अपवाद था तो वह सिर्फ़ "सन्यासी" था। अन्यथा परिवार समाज की आधारभूत इकाई था और प्रत्येक व्यक्ति उसका सदस्य था।

ब्रिटिश राज ने भारतीय उच्च वर्ग और पश्चिमी समाज के बीच बातचीत और आवागमन के द्वार खोल दिए। एडवर्ड शिल्स के शब्दों में अंग्रेज़ी के माध्यम से भारतीयों ने पश्चिमी समाज को देखा, उनके मूल्यों, उनके तौर-तरीकों को देखा और औद्योगिक क्रांति के साथ आने वाले परिवर्तनों को देखा। उन्होंने स्वतंत्रता के मूल्यों को आत्मसात किया। फ्रेंच क्रांति के दौरान समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के विचार ने जोर पकड़ा जो भारतीय मूल्य पद्धति के लिए एकदम पराए थे। भारतीयों ने इन्हें भी देखा, समझा और ग्रहण किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय गणतंत्र और स्वराज हमारे नेताओं का लक्ष्य बन गया। राजा राममोहन राय, विवेकानन्द आदि से लेकर महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक हमारे राष्ट्रीय नेताओं पर पश्चिमी मूल्यों का प्रभाव स्पष्ट है।

भारतीय गाँवों पर आधुनिक मूल्यों का प्रभाव

आधुनिक मूल्य नगरों तक ही सीमित नहीं रहे। आधुनिक शक्तियों द्वारा शहरों और गाँवों के बीच आपसी संबंधों में अमूल परिवर्तन हुआ और गाँवों के जीवन और मूल्यों ने नया मोड़ लिया। इसका कारण आवागमन और संचार के नये साधन थे। हालाँकि कृषक-सभ्यता में गाँव हमेशा शहरों से जुड़े रहे हैं। शहर गाँवों के बिना जी नहीं सकते क्योंकि वे खाद्यान्न और रुई जैसी आवश्यक वस्तुएँ पैदा नहीं कर सकते। कहने का मतलब यह है कि परम्परागत कृषक-सभ्यता से जुड़े गाँवों और शहरों के बीच किसी न किसी तरह का रिश्ता हमेशा रहा है, लेकिन आधुनिक, आर्थिक, तकनीकी, राजनैतिक और सांस्कृतिक तत्त्वों से दोनों के रिश्तों में नया गुणात्मक परिवर्तन आया और गाँवों के कायाकल्प की प्रक्रिया शुरू हुई।

परम्परागत कृषक-सभ्यता में शहर गाँवों से लगान वसूल कर फलते-फूलते हैं और बदले में वे गाँवों को कुछ नहीं देते। उन्हें वहाँ के लोगों में, वहाँ के जीवन में कोई रुचि नहीं होती। लेकिन वाणिज्य और उद्योग से दृश्य में नाटकीय परिवर्तन आया। शहरों में जो कुछ बनता था, उसे गाँवों में भी पहुँचाया गया और बदले में वहाँ से सस्ता मज़दूर और कच्चा माल हासिल किया गया।

इसका गाँव के परम्परागत जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। ग्राम-उद्योगों का ह्रास हुआ और शहरी उत्पादनों के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों में आधुनिक मनोवृत्ति और मूल्यों ने भी अपना स्थान बनाया। आज गाँव के लोग अपने उत्पादनों के लिए अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहते हैं। आज उनका लक्ष्य केवल अपनी आवश्यकता को पूरा करना नहीं रह गया है। इसके अतिरिक्त वहाँ व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्धा और असीमित अर्जनशीलता के मूल्यों ने भी जोर पकड़ा है। आधुनिक शक्तियाँ लोक मूल्यों और लोक जीवन शैली के लिए घातक सिद्ध हुई हैं। परम्परागत कृषक सभ्यता में उच्च वर्ग और जनसाधारण की सांस्कृतिक परम्परा के आधारभूत मूल्य समान थे। दोनों में अगर कोई अन्तर था तो वह यह था कि उच्च वर्ग अधिक परिष्कृत, सुसंस्कृत, सुरुचिपूर्ण, सुव्यवस्थित एवं आत्म-प्रबुद्ध था। आधारभूत मूल्य और विश्वदृष्टि समान होने के नाते उच्चवर्ग की पारम्परिक संस्कृति ने जनसाधारण की संस्कृति को हानि नहीं पहुँचाई या उसे कमजोर नहीं बनाया। दूसरी ओर उच्चवर्ग की आधुनिक संस्कृति के मूल्य लोक मूल्यों से अलग ही नहीं हैं वरन् उनके बीच टकराव भी है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उच्चवर्ग की आधुनिक संस्कृति लोक-संस्कृति और लोक-मूल्यों के लिए एक खतरा है। इस प्रकार हमने देखा कि सामाजिक पद्धति के मूल्य चाहे कितने भी स्थिर, स्थायी और मजबूत क्यों न हों, उनमें कभी न कभी परिवर्तन अवश्यम्भावी है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए रिक्त स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) अपने उत्तर को अंत में दिये गये उत्तर से मिलाइए।

1 आर्यों और पाणि जाति के मूल्यों में क्या अन्तर था। सात पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 यदि कथन सही है तो "हाँ" पर और गलत है तो "नहीं" पर निशान लगाइए।

1 वैदिककालीन सामाजिक मूल्यों और प्रतिमानों में पराधीन लोगों की घृणा प्रतिबिम्बित होती है।
"हाँ" ☐ "नहीं" ☐

2 ऋग्वेद के रचयिताओं ने आर्यों की दास लोगों के साथ शांति से रहने की इच्छा व्यक्त की है।
"हाँ" ☐ "नहीं" ☐

3 उपनिषदों में आत्मज्ञान को जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है।
"हाँ" ☐ "नहीं" ☐

4 बुद्ध ने महान वैदिक बलियज्ञों पर प्रहार किया है और उन्हें निरर्थक व सारहीन बताया है।

"हाँ" ☐ "नहीं" ☐

5 क्रम-परम्परा का विचार इस्लामिक मूल्यों का केन्द्र है।

"हाँ" ☐ "नहीं" ☐

23.6 सारांश

इस इकाई में आपने पढ़ा कि समाज विज्ञान में "मूल्य" का क्या अर्थ है? मूल्यों और मानदण्डों में क्या अन्तर है? विभिन्न व्यक्तियों और विभिन्न समाज सांस्कृतिक पद्धतियों में मूल्यों की क्या भूमिका है? इसमें आपने यह भी देखा कि समाज में मूल्य समय के साथ कैसे बदलते हैं? ऐतिहासिक परिस्थितियाँ समाज में मूल्यों को किस प्रकार नया मोड़ देती हैं।

शब्दावली

उपलब्धि : आपके प्रयत्नों व आपके श्रम का परिणाम ही उपलब्धि है।
अर्जनशीलता : कुछ पाने की प्रबल इच्छा।
भावनात्मक : भावनाओं से संबंधित।
अभिवृत्तीय : व्यक्तिगत अभिवृत्ति, रवैये या रुख से संबंधित।
संज्ञानात्मक : जिसमें अ. ा अपनी इन्द्रियों के द्वारा अच्छे-बुरे, सुन्दर-असुन्दर आदि का अन्तर जान सकें।
सक्रियता : सौद्देश्य कुछ करने की प्रवृति (जैसे एक आवेग, सहज वृत्ति, चाह, इच्छा)
सुनिश्चित : जो निश्चित्, वास्तविक और तथ्यपरक हो।
सामान्यता : जो सभी में मौजूद हो, जो सब में समान हो।
मानसिक : मस्तिष्क से संबंधित।
विशिष्टता : विशिष्ट होने की स्थिति।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

एरो, केनेथ जे. 1951. *सोशल चॉइस एण्ड इन्डिविजुअल वेल्यूज़,* विले, न्यूयॉर्क

इन्द्रदेव और श्री राम, 1986. *ट्रेडिशनल वेल्यूज़ इन्सिटीटयूशन इन इन्डियन सोसायटी,* एस. चान्द, नई दिल्ली

क्लकहॉन, फलोरेन्स आर. और स्ट्रॉडबैक, फ़ेन एल. 1961. *वेरिएशन्स इन वेल्यू ओरिएन्टेशन्स,* इवनस्टन, इलःरॉ,-पेटरसन

मॉरिस, चार्ल्स डब्ल्यू 1956. *वेराइटीज़ ऑफ़ ह्यूमन वेल्यू,* यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस पैपर,

स्टीफन सी. 1958. द सोर्स ऑफ़ वेल्यू, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बेर्कले

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 मूल्य वे धारणाएँ हैं जो आपके व्यवहार को प्रभावित करती हैं और आपके व्यवहार को विशिष्ट बनाती हैं। मूल्यों का आपके व्यक्तित्व और आ ाकी समाज-सांस्कृतिक पद्धति से गहरा रिश्ता है। समाज में क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या ठीक है, क्या गलत है, क्या महत्वपूर्ण है, क्या महत्वपूर्ण नहीं है, ये मूलभूत धारणाएं ही मूल्य हैं। मूल्य यह स्पष्ट करते हैं कि जीवन के लक्ष्य क्या हैं और उन्हें किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है।

2 मूल्यों का प्रतिमानों से गहरा रिश्ता है क्योंकि वे प्रतिमानों की आधारशिला हैं। प्रतिमान मूल्यों पर निर्भर करते हैं और "सत्यं-शिवं-सुन्दरम्" जैसे मूल्यों की तुला पर तोले जाते हैं। हालाँकि प्रतिमान व्यापक व अमूर्त मूल्यों की तुलना में अधिक सुनिश्चित् और स्पष्ट हैं। प्रतिमान मूल्यों की तुलना में अधिक अनुशासनात्मक या निषेधात्मक हैं और इसलिए कम लचीले हैं

1 मनुष्य मूल्यों की रचना करने वाला और मूल्यों पर अमल करने वाला प्राणी है अर्थात् वह सिर्फ़ मूल्यों का स्रोत ही नहीं है वरन् उन मूल्यों का निर्णायक भी है जो समूहों और संस्थाओं के कार्य को सही ढंग से चलाने के लिए सभी अन्तर्वैयक्तिक लक्ष्यों, संबंधों और व्यवहार में बिखरे पड़े हैं।

2 रोजमर्रा की जिन्दगी में मनुष्य के सामने जब मूल्यों को लेकर द्वन्द्व की स्थिति पैदा होती है तो वह इन मूल्यों को अपने लक्ष्य की प्राथमिकता और महत्व को दृष्टिगत करते हुए सुलझाने की चेष्टा करता है। अतः यहाँ चुनाव-प्रक्रिया की अपनी विशेष अहमियत है।

3 1 हाँ (देखिए उपभाग 23.4.7)
2 नहीं (देखिए उपभाग 23.4.2)
3 नहीं (देखिए उपभाग 23.4.4)

बोध प्रश्न 3

1 आर्य विजेता, साहसी, बलवान, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्नचित्त थे। वे लड़ाकू थे और अर्धयायावर होने के नाते उनका वस्तुओं को जोड़ कर रखने में विश्वास नहीं था। वे अपने अतिथियों के साथ मिल-बाँट कर खाते थे। पाणि पराजित जाति थी। ये अपने समय के धनी सौदागर थे। सौदागर होने के कारण ये अपनी धन संपत्ति और अपने पशुओं के बदले में कुछ लिए बगैर नहीं छोड़ते थे।

2 1 हाँ (देखिए उपभाग 23.5.1)
2 नहीं (देखिए उपभाग 23.5.1)
3 हाँ (देखिए उपभाग 23.5.2)
4 हाँ (देखिए उपभाग 23.5.3)
5 नहीं (देखिए उपभाग 23.5.5)

इकाई 24 प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 सामाजिक प्रतिमानों का स्वरूप
  24.2.1 सामाजिक प्रतिमानों का बदलता रूप
  24.2.2 गेसेलशाफ्ट तथा जेमिन शॉफ्ट प्रतिमान
  24.2.3 प्रतिमानों का परस्पर विरोध
24.3 प्रतिमानों के विविध आयाम
  24.3.1 लोकरीतियाँ और लोकाचार से जुड़ी हुई अवधारणाएँ
  24.3.2 प्रतिमानों के प्रकार
  24.3.3 प्रतिमानों में एकीकरण एवं इन्द्र
  24.3.4 विभिन्न संस्कृतियों में प्रतिमानों की विविधता
24.4 समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण में प्रतिमानों के प्रकार्य
  24.4.1 विचलन या विपथगामिता
  24.4.2 प्रतिमान हीनता (anomie)
24.5 सारांश
  शब्दावली
  कुछ उपयोगी पुस्तकें
  बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप :

- प्रतिमानों की विशेषताएँ बता सकेंगे;
- प्रतिमानों के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कर सकेंगे;
- विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न प्रकार के प्रतिमान होते हैं– यह बता सकेंगे; और
- समाज को एकबद्ध करने में प्रतिमानों की भूमिका का वर्णन कर सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आपको सामाजिक प्रतिमानों के बारे में बताया गया। सामाजिक प्रतिमान किस प्रकार बदल रहे हैं और विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों में क्या अंतर है। इस इकाई में विभिन्न संस्कृतियों में प्रतिमानों की विविधता पर भी चर्चा की गई है। समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण में प्रतिमानों के क्या प्रकार्य हैं इस बारे में भी आपको इस इकाई में बताया जाएगा। इस इकाई में विचलन या विपथगामिता और प्रतिमानहीनता की समस्या पर भी चर्चा की गई है।

24.2 सामाजिक प्रतिमानों का स्वरूप

समाज विज्ञानों में तकनीकी शब्द के रूप में "प्रतिमान" शब्द का प्रयोग नया है। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि "एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसिज" के 1930 के संस्करण में इस शब्द को शामिल नहीं किया गया। "नौर्म" शब्द लैटिन भाषा के शब्द "नौमी" से बना है जिसका अर्थ है बढ़ई का स्क्वेयर या रूल।

सामाजिक प्रतिमान एक सामाजिक समूह के सदस्यों द्वारा व्यवहार में लाए जा रहे आचार मानक होते हैं जिनके अनुरूप उन्हें आचरण करना होता है। प्रतिमान से तात्पर्य एक विशेष स्थिति में एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा किये गये अपेक्षित व्यवहार से है। प्रतिमान समाज में रहने के नियम हैं।

बिना सामाजिक प्रतिमानों के कोई भी सामाजिक संरचना नहीं टिक सकती। क्योंकि सामाजिक

संरचना एक निरूपित सामाजिक व्यवहार से ही होती है। और यदि लोगों के व्यवहार को विभिन्न प्रकार के आदेशात्मक और निषेधात्मक प्रतिमानों के द्वारा विनियमित नहीं किया जाता तो मानव समाज में सम्पूर्ण अराजकता फैल जाएगी।

24.2.1 सामाजिक प्रतिमानों का बदलता रूप

भौतिक वास्तविकता के विपरीत मानव समाज ऐसे कानूनों पर टिका हुआ है जो **नियामक** हैं। जहाँ भौतिक संसार के नियम स्वयं ही लागू होते हैं और उनकी अवहेलना नहीं की जाती। सामाजिक संबंधों और अन्ततः सामाजिक ढांचे को विनियमित करने वाले विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों की केवल अवहेलना ही नहीं हो सकती बल्कि उनमें परिवर्तन भी किया जा सकता है।

सामाजिक प्रतिमान एक समूह के मानक होते हैं जो उस समूह के सदस्यों के व्यवहार को एक दूसरे के प्रति तथा समुदाय के प्रति नियंत्रित करते हैं। प्रतिमान आदेशात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रतिमान लोगों से जहाँ कुछ करने की अपेक्षा रखते हैं, वहाँ कुछ अन्य प्रकार के व्यवहार न करने की अपेक्षा भी रखते हैं। प्रतिमान निश्चित रूप से लोगों के आचरण को विनियमित करते हैं, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह अनिवार्य रूप से शारीरिक बल प्रयोग द्वारा लागू किए जाते हैं। जैसा कि हम देखेंगे प्रतिमान अनेक प्रकार के होते हैं तथा दण्ड देने और प्रशंसा करने की जिस क्रियाविधि के जरिए वे व्यवहार को नियंत्रित करते है वह काफी भिन्न होती है। तथापि यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश मामलों में शारीरिक जोर जबरदस्ती की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि किसी एक समूह के लोग सामान्यतः उसके प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करते हैं और उनका उल्लंघन करना उचित नहीं समझते। हाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रतिमानों के लिए विभिन्न प्रकार के दण्ड होते हैं ताकि अपने विशेष प्रकार के पुरस्कारों और दण्ड के जरिए उन प्रतिमानों का सामान्य रूप से पालन सुनिश्चित किया जा सके।

24.2.2 गेसेल शॉफ्ट और जेमेन शॉफ्ट प्रतिमान

समाज के सभी प्रतिमान लिखित रूप में नहीं होते। वस्तुतः अधिकांश प्रतिमानों का विशिष्ट रूप से वर्णन भी नहीं किया जाता। उदाहरणतः एक संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों के एक दूसरे के प्रति व्यवहार को विनियमित करने वाले रीति-रिवाज और शिष्टाचार संहिताबद्ध नहीं किये जाते और न ही वे लिखित रूप में होते हैं। हम यह सब अपने बचपन से अपने बड़ों को देखकर सीखते हैं। यही बात लगभग अन्य पारिवारिक अथवा प्राथमिक समूहों पर लागू होती है। दूसरी ओर संविदागत और अनुषंगी समूहों अथवा संघों के प्रतिमान अधिक औपचारिक रूप से निर्धारित किये जाते हैं। संगठनों को विनियमित करने वाले प्रतिमान अथवा नियम प्रायः लिखित रूप में होते हैं। इस अंतर के आधार पर गेसेल शॉफ्ट और जेमेन शॉफ्ट प्रतिमानों में भेद किया गया है। उदाहरण के तौर पर अर्ल बैल कहते हैं "लक्ष्य उपलब्धि के संदर्भ में गेसेल शॉफ्ट प्रतिमान तर्कसंगत और कार्यकुशल हैं।" ऐसी पद्धतियों में, किसी प्रक्रिया की वांछनीयता की एकमात्र परख यह है कि, "क्या प्रयोजन को सिद्ध करने में यह कार्यकुशल है?" दूसरी ओर जैमिन शॉफ्ट संगठनों में प्रक्रियाओं का मूल्यांकन भी परम्परा, भावना और धर्म के संदर्भ में किया जाता है। इस प्रकार के संगठन पुराने ढंग से काम करते रहेंगे यद्यपि यह सिद्ध भी किया जा सके कि नई प्रक्रिया से लक्ष्य की प्राप्ति अधिक कार्यकुशलता से हो सकती है। वस्तुतः जैमिन शॉफ्ट पद्धतियाँ कार्यकुशलता को आसानी से नहीं माप सकतीं क्योंकि सभी व्यवहार प्रतिमान बहुउद्देशीय हैं और सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य यदि एक विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने से अधिक जल्दी नहीं तो भी उतना जरूरी तो है ही कि विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकें

24.2.3 प्रतिमानों का परस्पर विरोध

प्रतिमान मूल्यों पर आधारित होते हैं। अपेक्षाकृत विशिष्ट नियमों के जरिये वे उस व्यवहार का निर्धारण करते हैं जो समग्ररूप से समाज द्वारा अथवा किसी विशेष समूह द्वारा वांछनीय समझा जाता है। विभिन्न समूहों के प्रतिमानों में भिन्नता होती है और यह कभी-कभी परस्पर विरोधी हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर परिवार के प्रतिमानों की और सगे संबंधियों के एक बड़े समूह की यह अपेक्षा रहती है कि प्रत्येक रिश्तेदार को अपने रिश्तेदारों की हर तरह से सहायता करनी चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति किसी सरकारी अथवा अन्य संगठन में प्रभावशाली पद पर आसीन है तो उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने रिश्तेदारों की सहायता करेगा और उन्हें रोजगार दिलायेगा। परन्तु संगठन के प्रतिमानों के अनुसार उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह सबसे कार्यकुशल प्रत्याशी को चुनेगा। प्रतिमानों में परस्पर टकराव का यह केवल एक उदाहरण है और इस प्रकार के टकराव विभिन्न समूहों के प्रतिमानों के बीच ही नहीं होते बल्कि एक ही समूह के विभिन्न

प्रतिमानों के बीच भी होते हैं। इन टकरावों का समाधान ऐसे मूल्यों का हवाला देकर किया जाता है जो उच्चतर समझे जाते हैं और अधिक व्यापक रूप से स्वीकार किये जाते हैं। अधिक सामान्य और मौलिक मूल्यों के संदर्भ में प्रतिमानों को उच्चतर अथवा निम्नतर समझा जाता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी (क) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।

(ख) अपने उत्तरों की इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से जांच करें।

1 सामाजिक प्रतिमान क्या है? लगभग सात पंक्तियों में इनकी व्याख्या कीजिए।

2 सही उत्तर पर सही (√) का निशान लगाएँ।

1) किसी भी सामाजिक ढांचे के बने रहने के लिए सामाजिक प्रतिमान निर्णायक हैं।
हाँ ☐ नहीं ☐

2) लोगों को अपने समाज के सामाजिक प्रतिमानों का पालन करने के लिए प्रायः शारीरिक बल की जरूरत पड़ती है।
हाँ ☐ नहीं ☐

3) समाज के सभी प्रतिमान लिखित रूप में और संहिताबद्ध होते हैं।
हाँ ☐ नहीं ☐

4) संविदागत और औपचारिक रूप से निर्धारित प्रतिमानों को जेमेन शॉफ्ट मानदण्ड कहते हैं
हाँ ☐ नहीं ☐

24.3 प्रतिमानों के विविध आयाम

ऐसी अनेक अवधारणाएँ हैं जो प्रतिमान की अवधारणा के करीब हैं अथवा जिन्हें प्रतिमान के प्रकार के रूप में देखा जा सकता है। सामाजिक प्रतिमानों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्रतिमान की संकल्पना से सम्बन्धित विभिन्न शब्दों और अवधारणाओं से परिचित हुआ जाय। इसके लिए समाजशास्त्रीय साहित्य में प्रायः प्रयुक्त होनें वाले शब्दों और अवधारणाओं से परिचित होना भी जरूरी है। इनमें लोकरीतियाँ और लोकाचार प्रायः सामाजिक प्रतिमानों के प्रयासों के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। इसलिए यह जानना बहुत जरूरी है कि "लोकरीतियाँ" और "लोकाचार" क्या होते हैं। इसी प्रकार व्यापक रूप मे प्रयोग होने वाले अन्य शब्द भी हैं जैसे शिष्टाचार, फ़ैशन, रीति-रिवाज, संस्थाएँ और नियम, जो विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जिन्हें पुरस्कार और दण्ड संबंधी विभिन्न प्रकार के अनुशासनों का समर्थन प्राप्त है। सामाजिक प्रतिमानों की समस्त व्यवस्था से परिचित होने के लिए हमें इनके बारे में भी अवश्य स्पष्ट होना चाहिए।

24.3.1 लोकरीतियों और लोकाचार से जुड़ी हुई अवधारणाएँ

"फोकवेज़" नामक अपनी पुस्तक में जिसका पहली बार 1906 में प्रकाशन हुआ था, डब्लू.जी. सुमेर ने इन धारणाओं को लोकप्रिय बनाया। फोकवेज़ (लोकरीति) शब्द इतना व्यापक है कि इसमें सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार और सामाजिक आचार संहिताएँ आ जाती हैं। लोकरीति के स्वरूप के बारे में सुमेर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मे कहा है कि लोकरीतियाँ प्राकृतिक शक्ति के उत्पादों जैसी होती हैं जिन्हें लोग अनजाने में ही प्रचलित कर देते हैं अथवा "ये अनुभवों से विकसित होते हैं।" समेर आगे लिखते हैं कि लोकरीतियाँ परंपरा द्वारा दी जाती हैं और जिनमें

अपवाद अथवा परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं होती, फिर भी वे उन्हीं सीमित तरीकों के भीतर और बिना तर्कसंगत विचार अथवा प्रयोजन के नये हालातों के अनुसार बदलती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृति के सभी युगों और चरणों में मानव जीवन उन लोकाचारों द्वारा नियंत्रित किया जाता है जो प्रजाति के अति प्रारंभिक काल से चले आते हैं और जो अन्य जानवरों के व्यवहार की भांति होते हैं जिनकी सबसे ऊपर की परतें परिवर्तित तथा नियंत्रित हो सकती हैं और जो मानव दर्शन, नैतिकता और धर्म अथवा प्रबुद्ध सोच विचार की अन्य क्रियाओं द्वारा कुछ हद तक संशोधित की गई हैं।

सुमेर के इन विचारों से यह पता चलता है कि उनकी "लोकरीति" की परिभाषा कितनी व्यापक है। यह अवधारणा इतनी व्यापक है कि इसमें शिष्टाचार और बातचीत से लेकर सभी प्रकार के रीति-रिवाजों तक सभी प्रकार के प्रतिमानों का समावेश हो जाता है। हाँ यह जरूर है कि विभिन्न राज्यों की लोकरीतियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। अब हम लोकरीति तथा लोकाचार के परस्पर संबंध व इनमें पाए जाने वाले अंतर पर विचार करें।

1 लोकरीति और लोकाचार में संबंध : लोकाचार वे लोकरीतियाँ हैं जो समाज के विनियामक समझे जाते हैं। इस प्रकार से "लोकरीतियाँ" एक अधिक व्यापक संकल्पना है। ऐसी लोकरीतियाँ जो समाज के बने रहने के लिए आवश्यक समझी जाती हैं, लोकाचार कहलाती हैं। इस अर्थ में लोकाचार एक प्रकार की लोकरीतियाँ ही हैं जो लोकरीतियों की अपेक्षा अधिक बंधनकारी होती हैं।

2 लोकरीति तथा लोकाचार में अंतर : तथापि कुछ लेखक लोकरीतियाँ और लोकाचार को अलग-अलग श्रेणियों में बाँट कर देखते हैं। उदाहरण के तौर पर किम्बाल यंग रेमन्ड मैक का कहना है कि सुमेर की अपनी ही पुस्तक में लोकरीति का प्रयोग सामान्य अर्थ के रूप में किया गया है जबकि लोकाचार को लोकरीति के एक प्रकार विशेष के रूप में देखा गया है।

ब्रूम और सेल्जनीज (1963-69) ने लोकरीति और लोकाचार में अंतर बताया है। उनके अनुसार "लोकाचार मापक्रम में ऊपरी शीर्ष पर स्थित होते हैं और लोकरीति पूर्णतः आत्मसात नहीं किये गये प्रतिमानों की तरह नीचे के क्रम में"। वे यह भी कहते हैं कि प्रतिमान लोकरीति की श्रेणी में तभी शामिल किये जाते हैं जब उनसे जुड़े भावों की गहनता कम होती है और पुरस्कार या दण्ड द्वारा उन्हें लागू करने के तरीके स्पष्टतः परिभाषित नहीं किये जाते या उन्हें कड़ाई से लागू नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए उचित प्रकार की पोशाक निर्दिष्ट करने वाले प्रतिमान बहुत कम भावना जगाते हैं। किसी मेहमान को, जो किसी औपचारिक अवसर पर उचित प्रकार की पोशाक पहनकर नहीं आता, अधिक से अधिक वहाँ से चले जाने के लिए कहा जा सकता है परन्तु प्रतिमानों की दृष्टि से एक पादरी अथवा सेना की पोशाक नहीं होती बल्कि सदस्यता तथा पद का चिह्न होती है जो असैनिक शिष्टाचार के लचीलेपन को स्वीकार नहीं करती हैं। अनेक प्रकार की लोकरीतियाँ, फ़ैशन, उठने-बैठने का शिष्टाचार, वृद्ध लोगों को सम्बोधित करते समय प्रयोग की जाने वाली भाषा, आवाज का लहजा, बनाव-शृंगार, मुद्राएँ व्यवहार के अन्य प्रकारों को विनियमित करती हैं। ये लोकरीतियाँ सही, उचित और तर्कसंगत प्रतीत होती हैं। संभव है कि तार्किक दृष्टि से ये सही न भी हों तब भी वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए ये सबसे अधिक उपयुक्त तरीके हैं।

कोलर और कूज़ (1965-66) भी लोकरीति और लोकाचार को अलग धारणाएँ मानते हैं। उनके अनुसार लोकरीतियाँ व्यवहार के प्रथागत तरीके हैं। परन्तु वे किसी समाज के उत्थान के लिए निर्णायक नहीं हैं। परिणामस्वरूप वह व्यक्ति जो लोकरीतियों के अनुसार व्यवहार नहीं करता उसकी निंदा की जाती है। दूसरी ओर लोकाचार रिवाज के उत्थान के लिए जरूरी समझे जाते हैं अतः उन्हें कड़ाई से लागू किया जाता है।

तथापि इस मत के पक्ष में काफी कुछ कहा जा सकता है कि लोकाचार, लोकरीति की व्यापक श्रेणी का एक अधिक प्रभावशाली रूप है। इन दोनों में अंतर केवल दरजे का है क्योंकि सभी लोकरीतियाँ अधिक अथवा कम मात्रा में सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को विनियमित करती हैं।

24.3.2 प्रतिमानों के प्रकार

प्रथाएँ, फ़ैशन, संस्थाएँ (स्थापित प्रक्रियाओं के अर्थ में) और कानून विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों के जीते-जागते रूप हैं। विभिन्न प्रकार के प्रतिमान अपने विशिष्ट अनुशासन अर्थात् दण्ड व प्रशंसा द्वारा परिपुष्ट होते हैं। वास्तव में, तरह-तरह के प्रतिमानों से जुड़ी सामाजिक मान्यताएँ प्रतिमानों के प्रकार की सूचक होती हैं। आइये, प्रतिमानों के मुख्य प्रकारों की चर्चा करें।

प्रथाएँ-प्रतिमानों का प्रकार : प्रथाओं को न मानने से सामाजिक प्रतिरोध का सामना

करना पड़ता है। प्रचलित फ़ैशन के प्रतिमानों की अवहेलना उपहास अथवा घृणा के डर से नहीं की जाती अथवा कम की जाती है और विवाह जैसी संस्थाएँ ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो इतने सुदृढ़ तरीके से स्थापित हैं कि वे व्यवहार की जरूरी शर्तें बन जाती हैं। कानून अथवा कानूनी प्रतिमानों के पीछे राज्य की शक्ति होती है। कानून, अथवा कानूनी प्रतिमानों की अवहेलना जुर्माना, जेल और मौत की सजा के जरिए दी जाती है।

रीति-रिवाज दिन-प्रतिदिन के हमारे अधिकांश व्यवहार को विनियमित करते हैं। वे कानूनी और संस्थागत प्रतिमानों का आधार हैं। रीति-रिवाज व्यवहार के सामाजिक रूप से मान्यता प्राप्त तरीके हैं। उनकी जड़ समाज की जीवन शैली में इतनी गहरी होती है कि उनका पालन लोग अनजाने में आदतन करते हैं। जिन लोगों द्वारा रीति-रिवाज का पालन किया जाता है वे उन्हें लिखित रूप नहीं देते। वे समूह के व्यवहार हैं जो धीरे-धीरे विकसित होते हैं। उनको कोई स्थापित प्राधिकरण लागू नहीं करता। वे स्वाभाविक होते हैं और संभवतः सभी सामाजिक प्रतिमानों में सबसे अधिक व्यापक और प्रभावशाली होते हैं।

फ़ैशन : प्रतिमानों का एक और प्रकार : जहाँ परम्परागत समाजों में रीति-रिवाजों का बोलबाला है वहाँ आधुनिक समाजों में फ़ैशन का प्रचलन है। जैसा कि मैकाईवर और पेज़ (1949-81) ने कहा है। "फ़ैशन से हमारा तात्पर्य है प्रथागत विषय में सामाजिक मान्यता के अनुसार परिवर्तन क्रम।" फ़ैशन में परिवर्तन सामान्यता नियमित रूप से होते हैं जिसे कभी-कभी फ़ैशन चक्र कहा जाता है। फ़ैशन विशेष रूप से समूह सभ्यता के उन पहलुओं को प्रभावित करते हैं जिन्हें समूह आधारभूत मूल्यों के प्रति अपेक्षाकृत उदासीन मानता है। फ़ैशन, विचार, धारणाओं, मनोरंजन, पोशाक, मकान की सजावट आदि और फर्नीचर, बोल-चाल का ढंग, लोकप्रिय संगीत, साहित्य और कला जैसे मामलों पर लागू होता है। इन क्षेत्रों में फ़ैशन रीति-रिवाज का पूर्ण रूप से अतिक्रमण नहीं करता बल्कि उसका अनुपूरक है। नवीनतम फ़ैशन चाहे वह भद्दा अथवा असुविधाजनक हो सबसे अधिक पसंद किया जाता है। दूसरी ओर रीति-रिवाज जितना पुराना होगा उसकी पकड़ लोगों पर उतनी ही मजबूत होगी, चाहे वह अनुचित अथवा दमनकारी ही क्यों न हो। इससे यह मालूम होता है कि परम्परागत और आधुनिक समाजों में प्रमुख अंतर यह है कि जहाँ परम्परागत समाज हर उस चीज को महत्व देता है जो पुरानी है, आधुनिक समाज हर उस चीज को महत्व देता है जो नयी है।

केश-विन्यास में परिवर्तन

3 सामाजिक प्रतिमानों के रूप में संस्थाएँ : संस्था शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न तरीकों से किया जाता है। कुछ समाज वैज्ञानिक इसका प्रयोग इतने व्यापक रूप से करते हैं कि इसमें लगभग हर उस चीज का समावेश हो जाता है जो सामाजिक रूप से स्थापित हो। परन्तु मैकाईवर (1949:15) ने संस्था की परिभाषा एक विशेष अर्थ में की है। उसके अनुसार संस्थाएँ "**प्रक्रिया के स्थापित रूप अथवा हालात** हैं जो समूह के क्रियाकलाप के अभिलक्षण हैं।" इस अर्थ में संस्थाएँ भी सामाजिक प्रतिमान हैं। यह सामाजिक प्रतिमान इतने सम्मोहक हैं कि वे व्यवहार की जरूरी शर्तें बन जाते हैं। रीति-रिवाजों की अपेक्षा संस्थाएँ सामाजिक मान्यताओं का अधिक मूर्तरूप हैं। उदाहरण के तौर पर जहाँ विवाह एक संस्था है, विवाह भोज एक रीति-रिवाज है। एक दम्पति बिन शादी के वैध बच्चों के माँ-बाप नहीं हो सकते परन्तु बिना विवाह भोज के भी कोई शादी कर सकता है यद्यपि इसकी सामाजिक रूप से निंदा हो सकती है।

दूसरा उदाहरण यह है कि जहाँ एक अध्यापक के कक्षा में प्रवेश करने पर विद्यार्थियों का खड़ा हो जाना एक परम्परा अथवा रीति-रिवाज हो सकता है वहाँ परीक्षा एक संस्था है। कोई भी विद्यार्थी परीक्षा की निर्धारित प्रक्रिया से गुजरे बगैर डिग्री प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु कक्षा अध्यापन के लिए विद्यार्थियों का खड़ा होना चाहे एक जरूरी शर्त न हो, परन्तु इसे वांछनीय माना जाता है। स्पष्ट है कि संस्था और रीति-रिवाज का मूल अंतर दरजे का ही है। यदि किसी विशेष समुदाय में रिश्तेदारों का विवाह भोज देना यथोचित विवाह की एक जरूरी शर्त हो तो इसे रीति-रिवाज के बजाए संस्था समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार से यदि अध्यापक के प्रवेश करने पर विद्यार्थी के खड़े न होने से, वह इस विद्यालय का विद्यार्थी न रह सकता हो तो इसे एक रीति-रिवाज का दर्जा देने के बजाय एक संस्था का दर्जा दिया जाना चाहिए।

कानून प्रतिमानों का एक और प्रकार : जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है, कानूनी प्रतिमानों के पीछे राज्य की शक्ति होती है। आधुनिक समाज में जुर्माना लगा देने, जेल भेजने अथवा मौत की धमकी देने के जरिए किसी कानूनी प्रतिमान को लागू करने का अधिकार अंततः केवल राज्य को है। कानून प्रायः रीति-रिवाजों की व्युत्पत्ति होते हैं, परन्तु प्रतिमान कानून का भाग तभी बनते हैं जब उन्हें राज्य का समर्थन प्राप्त होता है।

24.3.3 प्रतिमानों में एकीकरण एवं द्वन्द्व

यद्यपि स्थिर समाजों में विभिन्न प्रकार के प्रतिमान होते हैं। इनको उन मूल्यों के जरिए सुव्यवस्थित और एकीकृत किया जाता है जो लगभग सभी सर्वसम्मति से स्वीकार किये जाते हैं। किसी भी समाज में सभी लोग प्रतिमानों का पूर्ण रूप से पालन नहीं करते परन्तु स्थिर पारंपरिक समाजों में मौलिक मूल्यों और उन पर आधारित सामाजिक प्रतिमानों के औचित्य के बारे में काफी हद तक सर्वसम्मति होती है। परन्तु ऐसे समाजों में भी विभिन्न प्रतिमानों में विरोध या द्वन्द्व की स्थिति का पूर्ण रूप से अभाव नहीं होता।

परन्तु आधुनिक व जटिल समाजों में, जिनमें अप्रत्याशित सामाजिक भेद और सामाजिक परिवर्तन काफी तीव्र गति से हो रहे हैं, प्रतिमानों में द्वन्द्व नयी ऊँचाइयों को छू लेता है। इस प्रकार के समाजों में उप-समूह होते हैं जिनके विशेष प्रतिमान व्यापक सामाजिक पद्धति के प्रतिमानों की अवहेलना करते हैं। उदाहरण के लिए अपराधिक उपसभ्यताओं को लिया जा सकता है। ऐसे भी सामाजिक विचलन हैं जो आवश्यक रूप से अपराध की परिधि में नहीं आते। इससे ऐसी उप-सभ्यताएँ पैदा होती हैं जो प्रतिमानों की अवहेलना करती हैं।

सामाजिक परिवर्तन की तीव्र गति से भी प्रतिमानों में विरोध और विचलन तीव्र हो जाता है। तेजी से बदलते हुए मूल्यों के संदर्भ में इस बात का निर्णय करना कि क्या सही है और क्या गलत, कठिन है। तेजी से हो रहे सामाजिक परिवर्तन और विभिन्न सभ्यताओं और जातीय समूहों में तेजी से बढ़ रहे सम्पर्कों के कारण मूल्यों और प्रतिमानों की विभिन्न पद्धतियों के एक साथ विद्यमान होने से, प्रतिमानों के अनुपालन की भावना कमजोर पड़ जाती है। जब लोगों को एक ही प्रकार के मूल्यों और प्रतिमानों का ज्ञान होता है तो वे उनका कड़ाई से अनुपालन करते हैं परन्तु जब उन्हें अन्य अनेक वैकल्पिक प्रतिमानों और मूल्यों की जानकारी होती है तो वे इनमें से किसी को भी पवित्र और अनुल्लंघनीय नहीं समझते।

24.3.4 विभिन्न संस्कृतियों में प्रतिमानों की विविधता

विभिन्न सभ्यताओं के प्रतिमानों में अनेक प्रकार की विविधताएँ पायी जाती हैं। समाजशास्त्र और मानवविज्ञान से संबंधित साहित्य ऐसी सामग्री से परिपूर्ण है जिससे विभिन्न समाजों में और एक

ही समाज के विभिन्न वर्गों में प्रतिमानों की विविधता के बारे में पता चलता है। प्रतिमानों की विविधता इतनी व्यापक है कि उन्हें वर्गीकृत करना भी कठिन होगा।

जैसा कि मैकाईवर और पेज (1949 : 20-21) ने कहा है कि समाज का एक समूह आदर व्यक्त करने के लिए सिर को नहीं ढकता तो दूसरा समूह पाँव को नहीं ढकता है। एक समूह में अपने सदस्यों का दूसरे समूह के सदस्यों से विवाह निषिद्ध है तो दूसरा समूह अपने ही सदस्यों के बीच विवाह को मान्यता देता है। एक समूह विवाहितों के लिए एक कड़ी लिंग संहिता को मानता है, परन्तु अविवाहितों के लिए नहीं जबकि दूसरा समूह उससे विपरीत पद्धति को मानता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। ऐसे व्यवहार बहुत कम हैं जो सभी समूहों में निषिद्ध हों, जिनमें संभवत: माँ और बेटे के लिंग संबंध ऐसे हैं जो सभी समाजों में निषिद्ध हैं। एक समाज से दूसरे समाज में और एक समूह से दूसरे समूह में लोकाचार की यह विशाल विविधता स्वयं में समाज विज्ञान के विद्यार्थी के लिए एक चेतावनी है कि वैज्ञानिक अन्वेषण के प्रयोजन के लिए हमें उनका अध्ययन करते समय एक ऐसे दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास करना चाहिए जो पूर्वाग्रह से मुक्त हों।

सामाजिक प्रतिमानों में इतनी व्यापक विविधता होने के बावजूद जातिगत लोकाचार फिर भी विद्यमान हैं। विभिन्न समाजों के प्रतिमानों में व्यापक विविधता इस बात की आवश्यकता पर बल देती है कि सामाजिक घटना को उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में देखा जाना चाहिए तथापि अक्सर ऐसी प्रवृत्ति होती है कि हम अन्य लोगों के तौर-तरीकों का अपने प्रतिमानों के संदर्भ में मूल्यांकन करते हैं। यह जातिगत लोकाचार हैं। समाज विज्ञान अधिकांश रूप से पश्चिम जातिगत लोकाचार से प्रभावित प्रतीत होता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ख) अपने उत्तर की जाँच इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1 लोकरीति के स्वरूप का वर्णन कीजिए। लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 समाज में लोकरीति और लोकाचार का एक उदाहरण देते हुए दोनों में अंतर स्पष्ट करें। अपना उत्तर लगभग सात पंक्तियों में दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3 सही उत्तर पर सही (√) का निशान लगाएँ।

1) रीति-रिवाज और संस्थाएँ जहाँ सामाजिक प्रतिमान हैं, फ़ैशन उस श्रेणी में नहीं आते।
हाँ ☐ नहीं ☐

2) लोग अपने समाज के रीति-रिवाजों का पालन इसलिए करते हैं ताकि उन्हें पुलिस की ओर से समस्याओं का सामना न करना पड़े।
हाँ ☐ नहीं ☐

3) वे रीति-रिवाज जिनसे लोग विनियमित होते हैं लिखित-बद्ध अथवा संहिता-बद्ध नहीं होते।
हाँ ☐ नहीं ☐

4) विवाह नामक संस्था सभी समाजों में पायी जाती है।
हाँ ☐ नहीं ☐

24.4 समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण में प्रतिमानों के प्रकार्य

समाजीकरण से तात्पर्य उन प्रक्रियाओं से है जिनके जरिए मानव शिशुओं का सामाजिक प्राणियों के रूप में विकास होता है। समाजीकरण में हमेशा उस समूह के सामाजिक प्रतिमानों का आंतरीकरण होता है जिससे व्यक्ति संबद्ध होता है। दूसरे शब्दों में समाजीकरण की प्रक्रिया के जरिए सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक अंग बन जाते हैं।

इस प्रकार पर्याप्त रूप से समाजीकृत एक व्यक्ति अपने समुदाय के सामाजिक प्रतिमानों को कोई बाह्य वस्तुएँ मानकर उन्हें बाधक नहीं समझता। दूसरी ओर वह उन प्रतिमानों और मूल्यों का पालन करते समय यह भी समझता है कि वह अपनी अंतरात्मा के अनुसार कार्य कर रहा है।

सामाजिक नियंत्रण से तात्पर्य उस तरीके से है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था सशक्त और कायम रहती है। सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया में, प्रतिमानों की सबसे निर्णायक भूमिका होती है, क्योंकि प्रतिमान ही सामाजिक व्यवहार को विनियमित करते हैं और इस प्रकार के विनियामन के बगैर सामाजिक संबंधों का ढांचा कभी स्थायी नहीं हो सकता। इस प्रकार से वे सामाजिक समूह जो सामाजिक संबंधों के विशिष्ट प्रतिमानों का समावेश करते हैं टिक नहीं सकते। बिना प्रतिमानों के सामाजिक संगठन को कायम रखने के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता।

24.4.1 विचलन या विपथगामिता

प्रतिमान व्यक्तियों के दूसरे के प्रति व्यवहार और विभिन्न समूहों के प्रति व्यवहार और समग्र रूप से समुदाय के प्रति मानकों का निर्धारण करते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि किसी भी समय किसी भी समाज के सभी सदस्य सामाजिक प्रतिमानों का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। प्रतिमानों का व्यक्तिक्रम अवश्य होता है और इस उलंघन के अनेक कारण हैं जिनका सामान्य सिद्धांतों और विशेष समाजों के संदर्भ में गंभीर रूप से अध्ययन करने की आवश्यकता है। इस प्रकार के अध्ययन से सामाजिक प्रतिमानों के स्वरूप और कार्य को बेहतर ढंग से समझने में सहायता मिलेगी।

24.4.2 प्रतिमानहीनता (anomie)

"एनोमी" शब्द का शाब्दिक अर्थ प्रतिमानों का न होना या प्रतिमानहीनता की स्थिति है। परन्तु प्रतिमानों के बिल्कुल न होने की स्थिति बहुत कम अवसरों पर होती है। कभी-कभी प्रतिमानों के बारे में स्पष्टता का अभाव होता है। परन्तु "एनोमी" शब्द का प्रयोग प्रायः प्रतिमानों के प्रति द्वैववृत्ति के लिए किया जाता है। आर.के.मरटन ने "एनोमी" शब्द की व्याख्या सभ्यता की दृष्टि से अपेक्षित लक्ष्यों और उनको प्राप्त करने की वैध संस्थागत साधनों के बीच के अंतर के संदर्भ में की है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ख) अपने उत्तरों की जाँच इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से करें।

1) एक व्यक्ति किस प्रकार से अपने समाज के प्रतिमानों के अनुरूप कार्य करता है। लगभग सात पंक्तियों में इसका वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) एनोमी क्या है। आर.के.मरटन ने इसका कैसे वर्णन किया है? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

3) सही उत्तर पर टिक (√) का चिन्ह लगाएँ।

1 जब सामाजिक परिवर्तन काफ़ी तेज़ी से होता है तो इससे मूल्यों में तीव्र गति से परिवर्तन होता है जिसके परिणामस्वरूप प्रतिमानों में विरोध होता है:

हाँ ☐ नहीं ☐

2 सभी समाजों के प्रतिमान एक से होते हैं।

हाँ ☐ नहीं ☐

24.5 सारांश

इस इकाई में आपने सामाजिक प्रतिमानों के स्वरूप के बारे में जाना। आपने सदृश धारणाओं तथा लोकरीति और लोकाचार जैसे प्रतिमानों के प्रकार के बारे में भी जानकारी हासिल की। इस इकाई में समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया में प्रतिमानों के कार्यों के बारे में भी चर्चा की गई। हमने समाज में प्रतिमानहीनता और विपथगामिता की समस्या का भी वर्णन किया। प्रतिमानों में एकीकरण और संघर्ष की भी व्याख्या की गई है। अंत में अलग-अलग सभ्यताओं में प्रतिमानों की विविधता के बारें में भी चर्चा की गई है।

शब्दावली

मौलिक : किसी पद्धति अथवा संगठन के आधार अथवा निचोड़ को मौलिक कहते हैं।
सदृश : कोई संकल्पना जो दी गई किसी संकल्पना से संबद्ध हो अथवा उसके समान हो।
दमनकारी : ऐसा कोई भी रीति-रिवाज जो दमनकारी प्रकृति का हो।
दण्ड : किसी नियम अथवा प्रतिमान की अवहेलना करने पर किसी व्यक्ति को दिया जाने वाला दण्ड।
निषेधात्मक प्रतिमान : ऐसा कोई भी प्रतिमान जो किसी को कोई कार्य करने से रोकता है। उदाहरण के तौर पर भारत के कुछ भागों में पति के ज्येष्ठ भाई को छूना।
विनियमित करना : कार्य जिससे व्यवस्था स्थापित होती है अथवा जिससे अपेक्षाओं के अनुसार सामंजस्य स्थापित होता है।
स्वीकृति : रीति-रिवाज अथवा परम्परा द्वारा किसी कार्य आदि को दिया गया अनुमोदन।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

बैल, अर्ल.एच, 1961 *सोशल फ़ाउंडेशन आफ़ ह्यूमैन बिहेवियर* न्यूयार्क हार्पर

ब्रूम, न्योनार्ड और फिलिप सेल्जनिक, 1963 *सोश्यौलोजी : एटैक्स्ट विद ऐडेप्टिड रीडिइन* न्यूयार्क हार्पर और रो

समरन-डब्ल्यू.जी, 1906 *"फोकवेज़"* वोस्टन : गिन एण्ड कम्पनी

यंग, किम्बल और रेमंड डब्ल्यू.मैक, 1972 *सिस्टमैटिक सोश्यौलोजी : टैक्स्ट एण्ड रीडिंग्ज़* नई दिल्ली : एफीलियेटिड ईस्ट-वैस्ट प्रैस

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

सामाजिक प्रतिमान एक सामाजिक समूह द्वारा आचरण में लाए जाने वाले व्यवहार के मानक होते हैं जिनके अनुपालन की उनसे आशा की जाती है "नार्म" शब्द लैटिन शब्द "नौमी" से लिया गया है जिसका अर्थ बढ़ई का स्वकेअर अथवा रूलर होता है। इस प्रकार से, सामाजिक प्रतिमान किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा, एक विशिष्ट पृष्ठभूमि में, मान्यता प्राप्त व्यवहार होता है। ये व्यवहार समाज में रहने के नियम होते हैं।

प्रश्न

1) हाँ (उपभाग 25.2. देखें)

2) नहीं (उपभाग 25.2.1 देखें)
3) नहीं (उपभाग 25.2.2 देखें)
4) नहीं (उपभाग 25.2.2 देखें)

बोध प्रश्न 2

1 लोकरीति प्राकृतिक बल के वे उत्पाद होते हैं जिसे लोग अनजाने में प्रचलित कर देते हैं। प्राकृतिक बल के यह प्राकृतिक उत्पाद किसी एक रुचि के प्रति अधिकतम सामंज़स्य का अन्तिम रूप ग्रहण करते हैं जो फिर परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपे जाते हैं। इन लोकरीतियों में एक अवधि से दूसरी अवधि तक कोई अधिक अंतर नहीं होता। तथापि वे एक सीमा के भीतर नये हालातों के अनुसार अपने आपको बदल लेते हैं।

2 भारत में बड़ों के पाँव छूना एक लोकरीति है, परन्तु यदि कोई व्यक्ति ऐसा करने से इनकार कर दे तो उसे समुदाय से बाहर नहीं फेंक दिया जाता। भारतीय हिन्दू समाज की एक प्रथा है कि बछड़े का मांस न खाया जाए। परन्तु अंब भी यदि गाँवों में कोई बछड़े का मांस खा लेता है तो उसे समुदाय से बाहर कर दिया जाता है। इस प्रकार से किसी लोकरीति का पालन न करना आसान है परन्तु समाज के किसी लोकाचार का पालन न करना बहुत कठिन है।

3 1) नहीं (उपभाग 25.3.2 देखें) 3) हाँ (उपभाग 25.3.2 देखें)
2) नहीं 4) हाँ (उपभाग 25.3.2 देखें)

बोध प्रश्न 3

1 एक व्यक्ति अपने समाज के प्रतिमानों का पालन इन प्रतिमानों की आंतरिकीकरण प्रक्रिया के जरिए करता है। यह आंतरिकीकरण बचपन से लेकर प्रौढ़ अवस्था तक व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया के जरिए होता है। वे उसकी आदत का एक अंग बन जाते हैं। प्रतिमानों के स्वरूप के अनुसार उनके पालन और उल्लंघन के लिए पुरस्कार और दंड भी होते हैं।

2 "एनोमी' का शाब्दिक अर्थ प्रतिमानों का न होना या प्रतिमानहीनता है। आर.के. मरटन ने एनोमी का वर्णन सभ्यता की दृष्टि से अपेक्षित लक्ष्यों और उनको प्राप्त करने के वैध संस्थागत साधनों के बीच के अंतर के रूप में किया है।

3 1) हाँ (उपभाग 25.5.1 देखें)
2) नहीं (भाग 25.6 देखें)

संदर्भ ग्रंथ सूची

(उन विद्यार्थियों के लिये जो अतिरिक्त अध्ययन करना चाहते हैं।)

Bell, Earl H. 1961. *Social Foundations of Human Behaviour,* Harper : New York.

Broom, L.and P. Selznick, 1963. *Sociology : A Text with Adapted Readings ;* Harper and Row : New York.

ISSS 1968. *International Encyclopaedia of Social Science,* The Macmillan Co., & Free Press : New York.

Koller, Marvin R. and Couse, Hardd, C. 1965. *Modern Sociology,* Holt, Reinhart and Winston : New York.

Mac Iver, R.M. and C. Page, 1949. *Society ;* Macmillan : New York.

Majumdar, D.N. and T.N. Madan, 1956. *An Introduction To Anthropology,* Asia Publishing House : Bombay — Calcutta.

O. Dea, Thomas F. 1966. *The Sociology of Religion;* Prentice Hall, Inc. Englewood Cliffs.

Singh, Yogendra, 1973. *Modernisation of Indian Tradition;* Thomson Press (India) Ltd., : Delhi

Summer, W.G. 1906. *Folkways,* Ginn & Co. : Boston.

Young K. and Mack M. Raymond, 1972. *Systematic Sociology Text Readings;* Affiliated FastWest Press : New Delhi.

खंड
7
सामाजिक संरचना

इकाई 25

सामाजिक संरचना की संकल्पनाएँ 5

इकाई 26

सामाजिक भूमिकाएँ 16

इकाई 27

सामाजिक तंत्र 28

इकाई 28

सामाजिक प्रकार्य की संकल्पनाएँ 39

इकाई 29

सामाजिक स्तरण 50

संदर्भ ग्रंथ सूची 60

विशेषज्ञ समिति

प्रो. त्रिलोकीनाथ मदान
इंस्टिट्यूट ऑफ इकॉनामिक ग्रोथ
नई दिल्ली

प्रो. डी.एन. धनागरे
समाजशास्त्र विभाग
पूना विश्वविद्यालय
पूणे

प्रो. योगेन्द्र सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. आन्द्रे बेते
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
7, अमेलिया अपार्टमेंट्स
माउंट कारमल रोड
बांद्रा, मुम्बई

प्रो. ए. प्रभाकर बर्नवास (सलाहकार)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

कुमारी अर्चना सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. ए.आर. खान
बम्बई विश्वविद्यालय
बम्बई

प्रो. के.एल. शर्मा
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

सम्पादक

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
7, अमेलिया एपार्टमेंट्स,
माउंट कारमल रोड
बांद्रा, मुम्बई

संकाय सदस्य
समाजशास्त्र
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
डॉ. शोभिता जैन
डॉ. त्रिभुवन कपूर
कुमारी अर्चना सिंह
डॉ. देबल के. सिंहराय

संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. बी.एन. कौल
प्रो. जी.एस. राव
कु. अनीता टपलू

अनुवाद

संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
प्रो. बी.रा. जगन्नाथन
श्री राकेश वत्स

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1998 (पुनः मुद्रित)

©इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989

ISBN-81-7091-388-8

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी के लिए विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली-110068 से सम्पर्क करें।

UGSY-01/290

खंड परिचय

अब तक आपने मानवीय समाजों में मौजूद कुछ बुनियादी सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं के बारे में जाना है। इससे पहले के खंडों में इन शब्दों का इस्तेमाल समाजों में प्रचलित व्यवस्थाओं के वर्णन हेतु किया गया था जैसे–आर्थिक समाजों में प्रचलित प्रक्रियाएँ या राजनीतिक प्रक्रियाएँ या धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज।

इस खंड में समाज शास्त्र की कुछ बुनियादी संकल्पनाओं की जानकारी दी जा रही है। इनसे हम समाज में मानवीय व्यवहार को समझने के समाजशास्त्रीय तरीकों के संदर्भ में समाज की व्याख्या करते हैं। अतः हमारे लिए यह जरूरी है कि इन शब्दों का अर्थ और प्रकृति सही-सही समझें, क्योंकि प्रत्येक संदर्भ में इनका एक विशिष्ट अर्थ होता है। किसी भी समाज को समझने के लिए सामाजिक संरचना, भूमिका, प्रकार्य और स्तरीकरण आदि शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। इसीलिए इन्हें समाजशास्त्र की संकल्पनाएँ कहा जाता है। इनके बिना समाजशास्त्र की दृष्टि से समाज का अध्ययन करना असंभव है। अतः यह एक महत्वपूर्ण खंड है। इससे आपको समाज के अध्ययन के सैद्धांतिक आधारों की जानकारी मिलेगी।

सामाजिक संरचना की संकल्पनाओं के बारे में इकाई 25 में समाजशास्त्र के सबसे सूक्ष्म विचार की चर्चा की गयी है। विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाले समाजशास्त्रियों, जैसे संरचनात्मक प्रक्रियावादी, संरचनावादी और मार्क्सवादी के बीच इस संकल्पना की व्याख्या और प्रयोग के बारे में काफी मतभेद हैं। इस इकाई में उन सबके दृष्टिकोण दिये गये हैं। इसके अलावा सामाजिक परिवर्तन के व्यापक विषय के संदर्भ में सामाजिक भेद, विकास, क्रांति और प्रतिमानहीनता जैसी अवधारणाओं पर भी चर्चा की गई है। सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक संरचना का आवश्यक अंग माना गया है।

इकाई 26 सामाजिक भूमिकाओं के बारे में है। इसमें सामाजिक भूमिकाओं की संकल्पना का वर्णन है। इकाई 25 में सामाजिक संरचना के संरचनात्मक प्रक्रियावादी दृष्टिकोण के अंतर्गत भी इसका जिक्र किया जा चुका है। इस इकाई में भूमिकाओं की प्रकृति और वर्गीकरण के विभिन्न तरीकों के साथ-साथ सरल और जटिल समाजों में भूमिकाओं की व्यवस्था की भी चर्चा की गई है। उसके बाद सामाजिक भूमिकाओं के विभिन्न आयामों का वर्णन है। अन्त में समाजशास्त्र में भूमिका सिद्धांत के उपयोग का संक्षिप्त आकलन किया गया है।

सामाजिक तंत्र के बारे में इकाई 27 में व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधों का विश्लेषण है। सामाजिक तंत्र की मूल संकल्पना पर चर्चा के बाद उसके गठन और संचालन की प्रक्रियाओं का वर्णन है। उसके आगे विभिन्न प्रकार के सामाजिक तंत्रों और उनकी विशेषताओं का वर्णन किया गया है। इसमें अहं केन्द्रित तंत्रों का भी जिक्र किया गया है। अंत में व्यक्तिगत तंत्र और सामाजिक संरचना का संबंध स्पष्ट किया गया है।

सामाजिक प्रकार्य के बारे में इकाई 28 मे प्रकार्य शब्द का अर्थ बताया गया है। सामाजिक प्रकार्य के बारे में दुर्खाइम, मेलिनोवस्की, रैडक्लिफ ब्राउन और टालकाट पार्सनल द्वारा विकसित विचारों के संदर्भ में इस संकल्पना की व्याख्या की गई है। अंत में यह इकाई प्रकार्यात्मक विश्लेषण की सीमाओं पर नजर डालती है।

सामाजिक स्तरीकरण के बारे में इकाई 29 में स्तरीकर ण की परिभाषा के साथ-साथ मानव समाजों में ज्ञात विभिन्न प्रकार के स्तरीकरण की जानकारी है। अंत में सामाजिक स्तरण के अध्ययन के विभिन्न सिद्धांतों की चर्चा की गई है।

इकाई 25 सामाजिक संरचना की संकल्पनाएँ

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 सामाजिक संरचना की संकल्पनाएँ
  25.2.1 संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण
    25.2.1.1 सामाजिक संरचना और सामाजिक संगठन
    25.2.1.2 सामाजिक संरचना और सामाजिक समूह
    25.2.1.3 सामाजिक संरचना और सामाजिक भूमिकाओं की संकल्पना
  25.2.2 संरचनावादी दृष्टिकोण
  25.2.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण
25.3 सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन
  25.3.1 समाजों में सामाजिक भेद
  25.3.2 विकास और क्रांति
  25.3.3 सामाजिक संरचना और प्रतिमानहीनता
25.4 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सामाजिक संरचना की संकल्पना को संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार परिभाषित कर सकेंगे,
- सामाजिक संरचना के संरचनावादी दृष्टिकोण का वर्णन कर सकेंगे,
- सामाजिक संरचना का मार्क्सवादी दृष्टिकोण बता सकेंगे, और
- समाजों में सामाजिक संरचना तथा सामाजिक परिवर्तन के बीच का संबंध स्पष्ट कर सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप सामाजिक संरचना का अध्ययन करेंगे। इस खंड में वर्णित अन्य संकल्पनाओं की तुलना में यह अधिक सामान्य और व्यापक संकल्पना है। सामान्य रूप में देखें तो प्रत्येक वस्तु या विचार, की एक निश्चित संरचना होती है। किसी वस्तु की संरचना के स्थायित्व की क्षमता के आधार पर ही हमें उसकी उपस्थिति का अन्दाजा लगता है। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि दुनिया में प्रत्येक समाज की एक संरचना होती है, जिसे सामाजिक संरचना कहा जा सकता है। इस संरचना के स्थायी स्वरूप और विशेषताओं से ही हम एक समाज को जान सकते हैं। इस दृष्टि से सामाजिक संरचना की संकल्पना बहुत व्यापक और सरल प्रतीत होती है वास्तव में ऐसा है भी। किन्तु कुछ खास सामाजिक संरचनाओं का अध्ययन करते समय समाजशास्त्रियों के बीच उनकी व्याख्याओं और इस संकल्पना के प्रयोग को लेकर व्यापक मतभेद रहे हैं।

दृष्टिकोणों की इस भिन्नता के कारण ही सामाजिक संरचना की बहस अवधारणात्मक रूप से जटिल और उलझावपूर्ण हो गयी है। किंतु इस बहस की कोई आवश्यकता नहीं है। हम अब भी यह कहेंगे कि सामाजिक संरचना का विचार मूलत: काफी सरल है और इससे हमें सामाजिक संबंधों के स्थायी और टिकाऊ पक्षों का वर्णन करने में मदद मिलती है। सामाजिक यथार्थता को समझने का यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है।

इस इकाई में आप समाजशास्त्र की इस बुनियादी संकल्पना की विभिन्न व्याख्याएँ और उपयोग के बारे में पढ़ेंगे। सबसे पहले इस संकल्पना की व्यापक परिभाषा देना आवश्यक है। सामान्यत: संरचनात्मक प्रकार्यवादी विचारक इसे स्थायी और टिकाऊ सामाजिक संबंधों का तंत्र मानते हैं। इस प्रकार के संबंध व्यक्तिगत संबंधों से भिन्न होते हैं।

जब दो व्यक्तियों के बीच ऐसा संबंध हो कि प्रत्येक एक दूसरे से कुछ अपेक्षाएँ रखता हो तो उनके व्यवहार को सामाजिक कहा जाएगा और उसकी कल्पना की जा सकती है। अत: सामाजिक व्यवहार अपेक्षित और संगठित व्यवहार होता है। इसे सामाजिक नियमों और सामाजिक मान्यता से परिभाषित किया जाता है। विभिन्न समाजशास्त्रियों और सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों ने इस संकल्पना को अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। इसका उपयोग और समाज के अध्ययन के तरीके के रूप में इसकी व्यावहारिकता में भी भिन्नता है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन, फ्रांस और उत्तरी अमरीका में इस संकल्पना को अलग-अलग ढंग से समझा जाता है। इसके कुछ अपवाद हो सकते हैं किंतु उत्तरी अमरीका में सामान्यतया सामाजिक संरचना के "सांस्कृतिक पक्ष" पर अधिक बल दिया जाता है जबकि ब्रिटेन के समाजशास्त्रियों जैसे रैडक्लिफ़-ब्राउन और उनके अनुयायियों ने "संबंधात्मक" पक्ष पर अधिक जोर दिया है। फ्रांस में लेवी स्ट्रास द्वारा दी गयी परिभाषा द्वारा इस संकल्पना को समझा गया। परिभाषा के इन भेदों और इस संकल्पना के विकास पर हम अगले अध्याय में विस्तार से चर्चा करेंगे।

25.2 सामाजिक संरचना की संकल्पनाएँ

अंग्रेज़ी भाषा में संरचना के लिए "स्ट्रक्चर" शब्द है जिसका मूल अर्थ है भवन की बनावट। किन्तु बाद में 16वीं शताब्दी तक यह अर्थ बदल गया और इसे किसी वस्तु के विभिन्न घटकों के बीच परस्पर संबंधों के संदर्भ में इस्तेमाल किया जाने लगा। "स्ट्रक्चर" शब्द के इस दूसरे अर्थ का शरीर रचना संबंधी अध्ययनों में, जिनका उस युग में यूरोप और अमरीका में चिकित्सा के क्षेत्र में विकास हो रहा था, बहुत इस्तेमाल हुआ (ई. लीच. 1968 : 482)।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दशक में सामाजिक संरचना की संकल्पना समाजशास्त्रियों और सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों में बहुत लोकप्रिय हुई। इस काल में इसका प्रयोग एक फ़ैशन-सा बन गया और सामाजिक संघटना की प्रत्येक सुनियोजित व्यवस्था के लिए इसका इस्तेमाल किया जाने लगा (देखें लीच 1968 : 482)।

यह समझना आवश्यक है कि समाजशास्त्रियों और सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों ने इस संकल्पना का उपयोग कौन-कौन से तरीकों से किया। इसके साथ-साथ आप यह भी जानेंगे कि तीन प्रमुख सामाजिक विचारधाराओं—संरचनात्मक प्रकार्यवादी विचारधारा, संरचनावादी विचारधारा और मार्क्सवादी विचारधाराओं द्वारा संकल्पना को किस रूप में समझा गया।

25.2.1 संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण

समाज के अध्ययन के संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण में सामाजिक संरचना की संकल्पना का स्थान प्रमुख है। यह दृष्टिकोण समाज और जीव के बीच समानता पर आधारित है। जीव विज्ञान को प्राकृतिक वैज्ञानिक विधियों के सांचे में ढाल कर वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत करने पर इस दृष्टिकोण को काफी मान्यता मिली :

1) हर्बर्ट स्पेन्सर (1820-1903) इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों में से एक थे और उन्होंने ही सबसे पहले 'सामाजिक संरचना' शब्द का प्रयोग किया था। वे समाज और जीव तथा सामाजिक विकास और जैविक विकास के बीच की इस समानता से बहुत प्रभावित थे। इसके बावजूद स्पेन्सर इस शब्द को बहुत स्पष्ट अर्थ नहीं दे पाये।

उनके विचार में किसी पशु की तरह समाज के भी विभिन्न अंग होते हैं जो स्वस्थ रहने, अपने माहौल की मांगों को पूरा करने तथा अपने जीवन की रक्षा के लिए मिलकर काम करते हैं। जीव की तरह समाज भी जीवित रहने के लिए स्वयं को सामाजिक परिवर्तन से उत्पन्न दबावों और परिस्थितियों के अनुरूप ढालता है, उनसे तालमेल रखता है। पशुओं की तरह समाज के 'अंग' आंख, कान या नाक नहीं बल्कि कुछ सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। समाज के जिन्दा रहने के लिए ये व्यवस्थाएँ अपरिहार्य होती हैं क्योंकि इन्हीं से समाज में महत्वपूर्ण कार्य संचालित होते हैं।

स्पेन्सर ने सामाजिक संरचना की संकल्पना तो प्रस्तुत की किन्तु उसे बहुत अधिक विकसित नहीं किया। समाज के अध्ययन से सम्बद्ध इनके कई विचार अप्रासंगिक हो गए किन्तु 'संरचना' और 'प्रकार्य' जैसी संकल्पनाओं पर उनके विचारों को अभी भी मान्यता मिली हुई है (टर्नर)।

2) दुर्खाइम ने प्रत्यक्ष रूप से तो 'सामाजिक संरचना' की चर्चा नहीं की है लेकिन उनके लेखों में अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक संरचना की जानकारी मिलती है। उन्होंने समाज के अध्ययन के

लिए प्राकृतिक विज्ञान विशेषकर जीवविज्ञान के तरीकों का उपयोग किया। अपनी पुस्तक 'द **रूल्स ऑफ सोशलोजिकल मेथड** में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'सामाजिक तथ्य' व्यक्तिगत तथ्यों से भिन्न होते हैं, व्यक्ति से सम्बद्ध नहीं होते और उसके आचरण पर नियंत्रण रखते हैं। उदाहरण के लिए समाज के नियम 'सामाजिक तथ्य' हैं या समाज का निर्माण एक 'सामाजिक तथ्य' है। ये तथ्य समाज के सभी व्यक्तियों के लिए बाहरी होते हुए भी उन पर नियंत्रण रखते हैं।

दुर्खाइम के अनुसार सामाजिक व्यवस्था का अर्थ है नैतिक व्यवस्था। समाज सिर्फ अपने सभी सदस्यों का योग मात्र नहीं है बल्कि एक उभरती हुई सच्चाई है। सामान्यत: इसमें समाज के सभी सदस्यों के साझे मूल्यों का समावेश होता है। दुर्खाइम के अनुसार हर सामाजिक सम्बंध एक विशेष प्रकार के आचरण की अपेक्षा रखता है। अत: सामाजिक सम्बंधों के विकास के दौरान इंसान समाज में वास्तविकताओं को समझने, स्थिति का मूल्यांकन करने, उसे महसूस करने, सोचने-विचारने और आचरण करने, के समान तरीके भी विकसित करता है। व्यवहार करने, काम करने और वास्तविकता को समझने के समान तरीकों से मूल्यों और नियमों का एक साझा प्रारूप विकसित होता है। यह प्रारूप समाज के सदस्यों से कुछ अपेक्षाएँ करता है और उन पर नियंत्रण रखता है। एक समान सामाजिक व्यवहार और सामूहिक मूल्यों की साझेदारी आदि से समाज में सामूहिक चेतना जन्म लेती है। हम कह सकते हैं दुर्खाइम की नजर में समाज में सामूहिक चेतना का अध्ययन करना उसकी सामाजिक संरचना के अध्ययन के ही समान था। किन्तु हर्बर्ट स्पेन्सर की तरह दुर्खाइम ने भी अपनी संकल्पना को स्पष्ट नहीं किया।

3) हालांकि रैडक्लिफ़-ब्राउन के अधिकांश प्रमुख विचारों के स्रोत दुर्खाइम ही रहे हैं, फिर भी उन्होंने दुर्खाइम से ऊपर जा कर समाजिक संरचना की अधिक सटीक परिभाषा दी। रैडक्लिफ़ ब्राउन ने जैविक समानता का विचार हर्बर्ट स्पेन्सर से लिया था और उसी के आधार पर सामाजिक संरचना के बारे में अपने विचारों तथा समाज के अध्ययन हेतु संरचनात्मक प्रक्रियावादी दृष्टिकोण का विकास किया।

रैडक्लिफ़-ब्राउन (1952 : 11) ने सामाजिक संरचना को "एक विशाल समूह में एक दूसरे से संबंधित घटकों की व्यवस्था" बताया है। यह "प्रथाओं से परिभाषित और संचालित संबंधों में बंधे व्यक्तियों की व्यवस्था" है। रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार–"प्रथाओं से परिभाषित और संचालित" संबंध वैसे ही हैं जैसे राजा और प्रजा, पति और पत्नी के बीच संबंध।

क) सामाजिक रचना तंत्र और सामाजिक क्रिया तंत्र

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक संरचना की संकल्पना और सामाजिक क्रिया की संकल्पना के बीच संबंध स्थापित किया। उनके अनुसार क्रिया की संकल्पना का अर्थ, "किसी सम्पूर्ण गतिविधि में उसके अन्तर्गत आने वाली आंशिक गतिविधियों का योगदान" है रैडक्लिफ-ब्राउन 1952 : 181)। इस संकल्पना में विभिन्न इकाइयों के बीच संबंधों के समूह से बनी संरचना का सिद्धान्त शामिल है। सम्बद्ध इकाइयों की गतिविधियों की जीवंत प्रक्रिया से इस संरचना की निरंतरता बनी रहती है। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने समाज के संरचनात्मक पक्ष को **सामाजिक रचना तंत्र** और क्रियात्मक पक्ष को **सामाजिक क्रिया तंत्र** कहा। अत: रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार सामाजिक संरचना का अर्थ व्यक्ति और व्यक्ति के बीच संबंधों का तंत्र है और सामाजिक संरचना का अध्ययन करते समय हम किसी काल विशेष में मौजूद वास्तविक संबंधों पर ही ध्यान देते हैं।

ख) युग्मीय संबंध और सामाजिक संरचना

रैडक्लिफ़-ब्राउन की परिभाषा (1952 : 191) 'व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सभी सामाजिक संबंधों' से सम्बद्ध है जिन्हें उसने **डायडिक रिलेशन** यानी **युग्मीय संबंध** कहा है, जैसे पिता और पुत्र का संबंध या माता के भाई और उसकी बहन के पुत्र का संबंध। रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना है कि "आस्ट्रेलिया के एक कबीले में समूची सामाजिक संरचना व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संबंधों की व्यवस्था पर टिकी हुई है। यह संबंध आनुवांशिक रिश्तों से स्थापित होते हैं।" रैडक्लिफ़-ब्राउन की सामाजिक संरचना में सामाजिक भूमिका के आधार पर व्यक्तियों और वर्गों में भेद शामिल है। जैसे मालिक और नौकर या शासक और शासित आदि की भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति।

रैडक्लिफ़-ब्राउन ने संरचना और संरचनात्मक आकार के बीच अन्तर करते हुए कहा कि संरचना वास्तव में मौजूद एक ठोस तथ्य है। जिस प्रकार जीव की कोशिकाएँ नष्ट होने के बाद नई कोशिकाएँ आ जाती हैं उसी प्रकार समाज में एक सदस्य की मृत्यु के बाद नये सदस्य आ जाते हैं। जैसे शरीर का रूप नहीं बदलता उसी प्रकार सामाजिक संरचना का स्वरूप भी नहीं बदलता। युद्ध

और क्रान्तियों के दौरान भी समाज की सभी व्यवस्थाएँ नष्ट नहीं हो जातीं। उदाहरण के लिए परिवार एक ऐसी संस्था है जो दुनिया भर में पाई जाती है और सारी उथल-पुथल के बावजूद हर समाज में आज भी मौजूद है।

ग) सामाजिक संरचना का स्थानिक पक्ष

अध्ययन की दृष्टि से समाज एक कठिन विषय है। रैडक्लिफ-ब्राउन (1952 : 193) के अनुसार, सामान्यत: हमें ऐसा कोई समाज या समुदाय नहीं मिलता जो बिलकुल अलग-थलग हो और बाहरी दुनिया से जिसका कोई सम्पर्क न हो। आज के युग में सामाजिक संबंधों का जाल दुनिया भर में फैला हुआ है और उनकी कोई स्पष्ट सीमा निर्धारित नहीं है। यदि हम भारत का ही उदाहरण लें तो हमें यह मालूम नहीं है कि पूरा भारत 'एक समाज' है या भिन्न-भिन्न धार्मिक समूह, भाषाई समूह, आदिवासी समूह आदि अलग-अलग समाज हैं। अत: सबसे पहले हमें अध्ययन के लिए एक निश्चित इकाई अपनानी होगी और फिर उपयुक्त आकार की अन्य इकाइयों से उसकी तुलना करनी होगी तभी हम क्षेत्र विशेष में समाज की संरचना का अध्ययन कर सकेंगे। यही सामाजिक संरचना का स्थानिक पक्ष है जो अध्ययन की इकाई के आधार पर गांव या परिवार से लेकर समूचे राष्ट्र या दुनिया में भिन्न-भिन्न होता है।

घ) सामाजिक संरचना और सामाजिक कानून

कानून, आर्थिक संस्थाएँ, शिक्षा, नैतिक विचार और मूल्य आदि कुछ ऐसी जटिल प्रक्रियाएँ हैं जिन पर सामाजिक संरचना टिकी रहती है। अधिकांश आदिम संस्थाओं, मूल्यों और मान्यताओं को यदि हम सामाजिक संरचना के संदर्भ में देखें तो उनका नया ही रूप सामने आता है। उत्तर-पश्चिमी अमरीका के भारतीयों में प्रचलित **पॉटलेच** प्रथा कनाडा के राजनीतिज्ञों को व्यर्थ की बेवकूफी लगती थी किन्तु सामाजिक मानव विज्ञानियों की नजर में वो वंश परंपरा, कुल और हिस्सेदारी की सामाजिक संरचना बनाए रखने की प्रक्रिया थी जिसके साथ सुविधाओं पर आधारित पद व्यवस्था जुड़ी हुई थी। ऐसे अनेक रीति-रिवाज हैं जो देखने सुनने में बेसिर-पैर के लगते हैं किन्तु सरल आदिम समाजों में तनाव दूर करने का काम करते हैं।

कानून एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे सामाजिक संरचना बनी रहती है, तथा व्यक्तियों और सामाजिक समूहों के बीच सामाजिक संबंध बनते हैं, नये सिरे से जुड़ते हैं और बने रहते हैं। किसी समाज में कानूनी व्यवस्था को पूरे तौर पर समझने के लिए उसका अध्ययन सामाजिक संरचना के संदर्भ में और सामाजिक संरचना का अध्ययन उसके संदर्भ में करना जरूरी है।

च) समाज में प्रचलित हित और मूल्य

सामाजिक संरचना का अध्ययन करते समय समाज में प्रचलित उन मूल्यों या हितों का अध्ययन करना भी जरूरी हो जाता है जिनके आधार पर सामाजिक संबंध बनते-बिगड़ते हैं। रैडक्लिफ ब्राउन (1952:194) के अनुसार "दो या अधिक व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंध तब स्थापित होता है जब उनके हितों के बीच कुछ तालमेल हो। यह तालमेल हितों में समानता या हितों में भिन्नता से उत्पन्न तनावों की सीमाओं से होता है"।

सामाजिक संबंध मात्र हितों की समानता ही नहीं है बल्कि यह काफी हद तक एक-दूसरे में व्यक्तियों की आपसी दिलचस्पी पर भी निर्भर है। सामाजिक एकता तभी उत्पन्न होती है जब दो या अधिक व्यक्तियों के लक्ष्य समान हों और उन्हें प्राप्त करने के लिए एक दूसरे से सहयोग करें। अत: यदि सभी व्यक्ति सामाजिक मान्यता प्राप्त कानून का पालन करें तो वे सामाजिक संरचना के अंग बन जाएंगे। श्रम का विभाजन सामाजिक संरचना का एक महत्वपूर्ण अंग है।

छ). सामाजिक संरचना और सामाजिक संस्थाएँ

सामाजिक संरचना के अध्ययन से सामाजिक भूमिकाओं की व्यवस्था और सामाजिक व्यवहार को समझा जा सकता है। समाज अपने कानून-कायदों के जरिए सामाजिक व्यवहार पर सकारात्मक या नकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। यह कानून-कायदे सामाजिक जीवन का एक निर्धारित स्तर बनाए रखते हैं। इनमें समाज के कानून, नियम, मूल्य और रीति-रिवाज आदि सब शामिल होते हैं। समाज के नियम समाज की संस्थाओं के जरिए काम करते हैं। रैडक्लिफ़-ब्राउन (1952 : 10) के अनुसार सामाजिक संस्था "आचरण का एक स्थापित नियम है जिसे अलग पहचान वाले सामाजिक समूह या वर्ग से मान्यता मिली रहती है।" अत: किसी समाज में यह संस्था सामाजिक संबंधों से जुड़े लोगों में परस्पर मेल-मिलाप को व्यवस्थित करती है। इसके दो पक्ष हैं। एक पक्ष तो सामाजिक संरचना के संदर्भ में है जहां यह संबंधों को नियमों में बांधती है,

जैसे परिवार के भीतर। दूसरा पक्ष वह समूह या वर्ग है जिसमें लोग थोड़े समय के लिए या औपचारिक रूप से एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। पहले पक्ष के उदाहरण हैं—परिवार में पिता का व्यवहार, क्लिनिक में डॉक्टर का व्यवहार आदि। दूसरे पक्ष में पड़ोसी या मित्र आदि के व्यवहार आते हैं।

अत: रैडक्लिफ़-ब्राउन के अनुसार ये संस्थाएँ व्यवहार के मानक साधन होती हैं इसलिए इन्हीं के आधार पर सामाजिक संरचना अपना अस्तित्व और निरंतरता बनाए रखती है।

हालांकि रैडक्लिफ़-ब्राउन ने सामाजिक संरचना की संकल्पना की काफी व्यापक व्याख्या की है, फिर भी उन पर बहुत सामान्य व्याख्या का आरोप लगाया गया है। रेमण्ड फर्थ ने सामाजिक संरचना के ब्राउन के विश्लेषण की आलोचना करते हुए कहा "उन्होंने सामाजिक गतिविधि में कम अवधि के और स्थायी तत्वों में कोई भेद नहीं किया और समाज की संरचना के विचार को समाज की संपूर्णता से अलग करना असंभव कर दिया" (देखें बॉट्टोमोर 1962 : 109)।

25.2.1.1 सामाजिक संरचना और सामाजिक संगठन

"सामाजिक संगठन" शब्द का इस्तेमाल अक्सर 'सामाजिक संरचना' के लिए भी किया गया है। किन्तु रेमंड फर्थ जैसे कुछ विद्वानों ने इन दोनों के बीच स्पष्ट भेद किया है। अपनी पुस्तकों, **'एलीमेन्ट्स ऑफ सोशल ऑर्गेनाइजेशन'** (1956) तथा **'सोशल चेन्ज इन टिकोपिया'** (1959) में फर्थ ने इनके बीच बहुत साफ अन्तर किया है। फर्थ की राय में ये दोनों सटीक संकल्पनाएँ नहीं महज शोध के साधन हैं। उनके अनुसार सामाजिक संगठन वास्तविक सामाजिक संबंधों में निहित पसंद-नापसंद और फैसलों से सम्बद्ध होता है, जबकि सामाजिक संरचना की संकल्पना अधिक बुनियादी सामाजिक संबंधों से जुड़ी होती है। ये सम्बन्ध समाज को उसका मूल स्वरूप प्रदान करते हैं और उसके भीतर संगठनात्मक स्तर पर किए जा सकने वाले कार्यों की विविधता की सीमा निर्धारित करते हैं।

फर्थ कहते हैं कि संरचना की दृष्टि में सामाजिक निरंतरता स्पष्ट दिखाई पड़ती है जबकि संगठन की दृष्टि में भिन्नता या परिवर्तन होता है। इस प्रकार संगठन की दृष्टि में स्थिति की समीक्षा करते समय व्यक्ति की पसंद-नापसंद की गुंजाइश होती है।

फर्थ ने सोलोमन द्वीप समूह के टिकोपियाई समुदाय जैसे छोटे समुदायों की सामाजिक संरचना और संगठन का अध्ययन किया। फर्थ के अनुसार मानव समुदाय "लोगों का ऐसा समूह है जिसकी गतिविधियाँ समान हैं और जो विभिन्न सम्बधों से इस प्रकार बंधा हुआ है कि एक व्यक्ति अपना लक्ष्य तभी हासिल कर सकता है जब सब मिलकर काम करें।" 'समुदाय' शब्द की इस परिभाषा में स्थानिक पक्ष भी शामिल हो जाता है जिसके अनुसार समुदाय के सभी सदस्य सामान्यत: एक ही स्थान पर रहते हैं अत: वे एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहते हैं और जटिल समाजों के मुकाबले उनके संबंध अधिक भावनात्मक और घनिष्ठ होते हैं।

फर्थ के अनुसार (1956 : 41) समुदाय के संगठन और संरचना में कुछ ऐसे घटक होते हैं, जो समुदाय के भीतर समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। ये घटक हैं—सामाजिक गठबंधन, सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक प्रचार माध्यम, और सामाजिक मानदण्ड।

25.2.1.2 सामाजिक संरचना और सामाजिक समूह

कुछ विद्वान 'सामाजिक संरचना' शब्द को समाज में स्थाई समूहों जैसे राष्ट्र, जनजाति, कुल आदि के लिए इस्तेमाल करते हैं। इनमें से एक विद्वान हैं ई.ई. इवान्स प्रिचर्ड। उन्होंने सामाजिक संरचना के बारे में रैडक्लिफ़-ब्राउन के सिद्धान्त के जवाब में अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया। वास्तव में इवान्स प्रिचर्ड ने ही सबसे पहले समाज के सामाजिक नृतत्वशास्त्री अध्ययन का रुख संरचनात्मक प्रक्रियावादी दृष्टिकोण से संरचनात्मक दृष्टिकोण की ओर मोड़ा था।

अपनी पुस्तक, **द नुअर** (1940) में उन्होंने इन स्थाई और चिरन्तन समूहों का जिक्र किया जिनके सदस्य बदलते रहते हैं लेकिन संरचनात्मक स्वरूप आजीवन लगभग एक-सा ही रहता है। सामाजिक संरचना की उनकी परिभाषा रैडक्लिफ़-ब्राउन की परिभाषा से इस दृष्टि से भिन्न है कि उन्हें व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सामाजिक व्यवहार से कोई सरोकार नहीं है। सूडान के नुअर कबीले का अध्ययन करते समय उन्होंने अपना सारा ध्यान एक घर और पूरे गांव के व्यापक समूह के बीच के संबंधों पर केन्द्रित किया। उन्होंने गांव का अध्ययन तृतीयक समूह—कुछ गांवों के समुच्चय के संदर्भ में, तृतीयक समूह का द्वितीयक समूह—अनेक तृतीयक समूहों के समुच्चय के संदर्भ में और द्वितीयक समूह का अध्ययन प्राथमिक समूह—अनेक द्वितीयक समूहों के समुच्चय के सन्दर्भ में किया। यह प्रक्रिया तब तक जारी रही जब तक समूचे कबीले का अध्ययन पूरा नहीं

हुआ। कई खण्डों में बंटी इस सामाजिक संरचना में कुल, वंश परम्परा, और सजातीय तथा खून के रिश्ते आदि मुख्य घटक हैं।

अतः इवान्स प्रिचर्ड के अनुसार सामाजिक संरचना की बुनियादी इकाई परिवार या घर (नुअर कबीले में) होती है व्यक्ति नहीं।

25.2.1.3 सामाजिक संरचना और सामाजिक भूमिकाओं की संकल्पना

अमरीकी नृतत्वशास्त्री, फ्रेड एगन, के अनुसार सामाजिक संरचना के घटक या इकाइयाँ व्यक्ति-व्यक्ति के आपसी संबंधों में बंधे रहते हैं, जो व्यक्ति को प्राप्त पद या स्थिति के रूप में सामाजिक संरचना के अंग बन गए हैं। सामाजिक संरचना को समाज में व्यक्ति के दर्जे और पद की दृष्टि से परिभाषित करने वाले एगन अकेले विद्वान नहीं हैं।

एस.एफ. नाडेल ने अपनी पुस्तक, **द थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्रक्चर** (1969), में सामाजिक संरचना का एक प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। नाडेल ने भी सामाजिक संरचना को, समाज में व्यक्ति की भूमिका और उसके आधार पर प्राप्त पद की दृष्टि से ही परिभाषित किया है।

नाडेल (1969 : 5) का कहना है कि, "एक दूसरे से सापेक्ष भूमिकाएँ निभाते व्यक्तियों के बीच प्रचलित संबंधों के प्रारूप को समूची जनसंख्या और उसके व्यवहार से अलग करके, सामाजिक संरचना को समझ सकते हैं।" भूमिकाओं की उनकी परिभाषा अधिकांश समाजशास्त्रियों की परिभाषा से कहीं अधिक सटीक है।

पी.जी. मर्डोक, टैलकॉट पार्सन्स और रॉबर्ट के. मर्टन जैसे समाजशास्त्रियों और सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों ने भी सामाजिक संरचना के सिद्धान्त को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मर्डोक ने 'सोशल स्ट्रक्चर' शीर्षक से अपनी पुस्तक में अनेक जनजातीय कबीलों में परिवार की संस्था का अध्ययन किया। इसके लिए मर्डोक ने अमरीका के येले विश्वविद्यालय में रखी ह्यूमन रिलेशन्स एरिया फाइलों का इस्तेमाल किया। इन फाइलों को एकत्र करने वाले वे पहले समाजशास्त्री थे और अपने शोध कार्यों में वे बराबर इनकी मदद लेते रहे।

टैलकॉट पर्सन्स के अनुसार सामाजिक संरचना ऐसी प्राकृतिक चिरन्तन प्रक्रिया है जो जीवों की तरह ही समय-समय पर आन्तरिक परिवर्तनों के बावजूद निरन्तर चलती रहती है। प्राकृतिक चिरन्तर प्रक्रिया का अर्थ यह है कि इसका अपना जीवन होता है। पार्सन्स की राय में सामाजिक व्यवस्था सामाजिक संरचना की अपेक्षा एक व्यापक संकल्पना है और इसमें क्रियात्मक और रचनात्मक, दोनों पक्ष शामिल होते हैं।

मर्टन ने भी सामाजिक संरचना की संकल्पना प्रस्तुत की है। संरचनात्मक प्रक्रियावादी दृष्टिकोण के अनेक समर्थकों की तरह मर्टन भी सामाजिक संरचना को सामाजिक स्थितियों और भूमिकाओं का पारस्परिक सम्बन्ध मानते हैं।

25.2 2 संरचनावादी दृष्टिकोण

फ्रान्स के क्लाउड लेवी–स्ट्रॉस का संरचनावादी विचारकों में प्रमुख स्थान है। स्ट्रॉस ने सामाजिक संरचना की संकल्पना को एक अलग अर्थ दिया। स्ट्रॉस के अनुसार सामाजिक संरचना का, अनुभव की जा सकने वाली वास्तविक स्थिति से कुछ लेना-देना नहीं है किन्तु इस वास्तविकता पर आधारित नमूनों से इसका संबंध होना चाहिए। अतः लेवी स्ट्रॉस (1953 : 524) के अनुसार सामाजिक संरचना को "किसी भी प्रकार से समाज में प्रचलित सामाजिक संबंधों का समूह नहीं कहा जा सकता।"

समाज में मौजूद संबंधों पर आधारित इस मॉडल के जरिए **सामाजिक संरचना और सामाजिक संबंधों** की संकल्पनाओं का अन्तर स्पष्ट करने में मदद मिलेगी। इन दोनों संकल्पनाओं में निकट का संबंध है।

लेवी स्ट्रॉस के अनुसार यह कहना काफी होगा कि सामाजिक संबंध सामाजिक संरचना की बुनियाद है। अतः उनकी राय में समाजों के अध्ययन में सामाजिक संरचना का अपना कोई दायरा नहीं हो सकता। यह एक तरीका है जिसे किसी भी प्रकार के सामाजिक अध्ययन में इस्तेमाल किया जा सकता है। यह भाषा, साहित्य, राजनीति विज्ञान जैसे अन्य क्षेत्रों में प्रचलित संरचनात्मक विश्लेषक के समान ही है (देखें लेवी स्ट्रॉस 1953 : 524-553)।

लुई दुयो (1970) ने भारत में जाति व्यवस्था के अध्ययन में संरचनात्मक विधि का इस्तेमाल

करके साबित किया कि यह श्रेणीक्रम के बुनियादी सामाजिक सिद्धान्त पर आधारित है। उनका कहना है कि श्रेणीक्रम का सिद्धान्त ही जाति व्यवस्था की जड़ है और समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस व्यवस्था में समाज के सदस्य के रूप में पुरुष को व्यक्ति से अधिक महत्व दिया जाता है। इसमें व्यक्ति, स्वतंत्रता और मानव मात्र में समानता की संकल्पनाएँ कम महत्वपूर्ण हो जाती है।

जाति व्यवस्था के तीन बुनियादी सूत्रों—वंश परम्परा, श्रेणीक्रम और संगोत्र विवाह के कारण व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता और समानता के आदर्श धूमिल पड़ जाते हैं। लेवी स्ट्रॉस की भांति लुई दुयो ने भी संरचनावादी दृष्टिकोण के बारे में अपने विचार स्पष्ट करने के लिए रक्त संबंधों की व्यवस्था का सहारा लिया।

25.2.3 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

सामाजिक संरचना की संकल्पना के बारे में मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर संरचनात्मक प्रक्रियावादी सिद्धान्त के जैविक समानता के विचार का कोई असर नहीं हुआ। इस विचार में बाद में अनेक कमियाँ पाई गईं। कार्ल मार्क्स (1854) ने लिखा है कि उत्पादक संबंध ही "आर्थिक संरचना तैयार करते हैं, जिसकी बुनियाद पर न्यायोचित और राजनीतिक समाज की इमारत खड़ी होती है और जो संकल्पित सामाजिक चेतना के विभिन्न रूपों के समान होती है।" इस व्याख्या में मार्क्स ने संरचना शब्द का इस्तेमाल जीवविज्ञान के अर्थ में नहीं बल्कि एक इमारत या निर्माण के अर्थ में किया है। किन्तु संरचना की मार्क्स की संकल्पना को अन्य सम्बद्ध संकल्पनाओं से अलग नहीं किया जा सकता।

ब्रिटिश सामाजिक नृतत्वशास्त्री एडमंड लीच (1968 : 428-88) का कहना है कि "मार्क्स के विचारों में राजनीतिक, न्यायिक, धार्मिक और दार्शनिक व्यवस्थाओं का जिक्र हुआ है।" किन्तु यहाँ 'व्यवस्था' शब्द को 'संरचना', 'इमारत' और 'रूप' आदि शब्दों के उपर्युक्त प्रयोगों से अलग करना लगभग असम्भव है। समाजशास्त्रियों ने बाद में मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी, दोनों ही तरह के साहित्य में "बुनियादी संरचना (इन्फ्रास्ट्रक्चर)", "लघु संरचना (मैक्रोस्ट्रक्चर)" और "सूक्ष्म संरचना (माइक्रोस्ट्रक्चर)" आदि शब्दों का इस्तेमाल किया।

मार्क्स ने समाजों के ऐतिहासिक विकास को विभिन्न चरणों के सन्दर्भ में देखा है। इन चरणों को उत्पादन के भिन्न-भिन्न तरीकों के अनुसार आदिम, प्राचीन, सामंती, पूंजीवादी और साम्यवादी कहा गया। यह ऐतिहासिक विकास "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" के सिद्धान्त से संचालित होता है। इस सिद्धान्त के बारे में विस्तृत जानकारी पाठ्यक्रम-03 में दी जाएगी।

सामाजिक विकास के प्रत्येक चरण में समाज को सम्पत्ति के स्वामी या उससे वंचित समूहों के आधार पर सामाजिक वर्गों में बांटा जाता है। सम्पत्ति स्वामियों के वर्ग की समाज में प्रभावशाली स्थिति होती है और वे सम्पत्ति से वंचित वर्ग का शोषण करते हैं। प्रत्येक समाज में स्वामियों का वर्ग अल्पसंख्यक में और वंचितों का वर्ग बहुसंख्यक में होता है। फिर भी यह अल्पसंख्यक वर्ग आम जनता से ज्यादा मेहनत मजदूरी करवा कर उसका शोषण कर लेता है। यह शोषण तब तक जारी रहता है जब तक जनता एकजुट नहीं होती, और क्रान्ति के बीज पूरी तरह नहीं पकते। क्रान्ति के बाद ही उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन आता है।

मार्क्स के अनुसार समाज का विकास साम्यवाद की स्थिति तक ही होगा, जिसमें कोई वर्ग नहीं होगा और समाज में हर प्रकार की समानता होगी। यह दृष्टिकोण समाज की एक आदर्श तस्वीर पेश करता है जो वास्तविकता में अभी कहीं दिखाई नहीं देता। सामान्यतः समाजवादी कहलाने वाले रूसी और चीनी समाज भी उस आदर्श स्थिति में नहीं पहुंच पाये हैं।

भारत और विदेशों में भी अधिकांश मार्क्सवादी समाजशास्त्री समाज की संरचना और प्रक्रिया के अध्ययन में वर्ग की संकल्पना का उपयोग करते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) प्रश्न का उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएँ।

1 सामाजिक संरचना के बारे में रैडक्लिफ़-ब्राउन की संकल्पना उदाहरण सहित बताइये। उत्तर पांच पंक्तियों में दें।

.....

2 सामाजिक संरचना का स्थानिक पक्ष क्या है? पांच पंक्तियों में बताएं।

3 रेमंड फर्थ के अनुसार सामाजिक संरचना और सामाजिक संगठन में क्या अंतर है? सात पंक्तियों में बताएं।

25.3 सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन

सभी समाजों में सामाजिक संरचना, हर वक्त परिवर्तन के दौर से गुजरती है। परिवर्तन प्रत्येक समाज की आवश्यकता है और यह प्रत्येक समाज में सामाजिक विकास की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है। अनेक सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने समाजों में सामाजिक विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करने की कोशिश की है। यह प्रक्रिया समाजों की संरचना और क्रियाकलापों में बदलाव लाती है। अब हम कुछ सामाजिक विचारकों के दृष्टिकोण के अनुसार परिवर्तन की कुछ प्रक्रियाओं पर विचार करेंगे।

25.3.1 समाजों में सामाजिक भेद

सामाजिक विचारकों ने कई प्रकार से समाजों में सामाजिक भेद की व्याख्या की है। सामाजिक भेद एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें समाज के विभिन्न अंग यानी सामाजिक समूह और संस्थाएँ, अधिक जटिल बन जाते हैं और प्रत्येक अंग कुछ विशेष कार्य करता है। इनमें से कुछ विचारक हैं :

1) हेनरी मैन (1861), जिन्होंने **सामाजिक दर्जे** और **सामाजिक अनुबंध** पर आधारित समाजों में भेद किया। मैन के अनुसार भारत जैसे पारम्परिक समाज सामाजिक दर्जे के संबंधों पर आधारित होते हैं। यहां प्रतिष्ठा और प्रदत्त मानदण्ड समाज में व्यक्ति का दर्जा निर्धारित करते हैं। जाति प्रथा और विशेषकर भारत में जाति प्रथा के अन्तर्गत **जजमानी प्रथा** सामाजिक दर्जे के संबंधों को उजागर करती है।

भारत में जजमानी प्रथा का आधार आश्रय दाता और आश्रित का सम्बन्ध है। यहां प्रत्येक जाति के दूसरी जाति के प्रति कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं। इस संबंध में प्रतिष्ठा और आश्रय दाता में आश्रित को संरक्षण देने के कर्तव्यबोध का काफी महत्व है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह एक आर्थिक व्यवस्था थी, जो समाज के भीतर खेती की उपज और अन्य उत्पादनों के वितरण और सेवाओं के आदान-प्रदान की देखरेख करती थी।

इसके विपरीत सामाजिक अनुबंधों पर आधारित समाजों में व्यक्ति की भूमिका महत्वपूर्ण है। यहां व्यक्तिगत उपलब्धि का महत्व आरोपित मानदण्डों से अधिक है। सामान और सेवाओं का

हर प्रकार का आदान प्रदान मुनाफे के युक्ति संगत आधार पर होता है। इस प्रकार के संबंध में प्रतिष्ठा और कर्तव्य जैसे सामाजिक मूल्यों का कोई महत्व नहीं है। इस तरह के संबंध आधुनिक जटिल समाजों में पाए जाते हैं जहां सभी औपचारिक आदान-प्रदान अनुबंध के आधार पर होते हैं।

2) एमिल दुर्खाइम (1893) ने दो प्रकार के समाजों में श्रम के विभाजन के आधार पर सामाजिक एकता का वर्णन किया। उनके अनुसार **यन्त्रवत एकता** औद्योगीकरण से पूर्व के समाजों में पाई जाती है। इस तरह के समाज में सामाजिक भेद अपेक्षाकृत कम होता है क्योंकि श्रम का विभाजन विशेष दक्षता के बजाय आयु और लिंग आदि के आधार पर होता है। यहां एकता का आधार समाज के सदस्यों के बीच समानताएँ हैं। उनके लिए एक दूसरे से सीधे सम्पर्क रखने, मूल्यों, मान्यताओं और सामाजिक संबंधों में साझेदारी की गुंजाइश अधिक होती है। यहां तक कि समाज में अदा की जा रही भूमिकाएँ भी काफी हद तक साझी होती हैं। इन समाजों में "सामूहिक चेतना" बहुत प्रबल है। इस सामूहिक चेतना में समाज के नैतिक मूल्य और मान्यताएँ शामिल हैं। अतः दुर्खाइम के अनुसार इन समाजों में दमनकारी कानून लागू रहते हैं। इन कानूनों का प्रयोजन 'सामूहिक चेतना' को नुकसान पहुंचाने वाले अपराधियों को दंडित करना है।

जैविक एकता पर आधारित औद्योगिक समाज भिन्नता पर टिके होते हैं। समाज का हर हिस्सा भिन्न-भिन्न कार्य करता है जिसे सम्पूर्ण समाज का जीवन प्रभावित होता है। अतः इस प्रकार के समाजों में श्रम का विभाजन और जटिल हो जाता है। इनमें सुधारवादी कानून लागू होते हैं जिनका प्रयोजन अपराधियों को सुधारना होता है। यहां हमें अनेक व्यावसायिक भूमिकाएँ देखने को मिलती हैं और व्यवसाय, आय, सत्ता, प्रतिष्ठा, आयु और लिंग जैसे अनेक मानदण्ड सामाजिक भेद के आधार होते हैं।

25.3.2 विकास और क्रान्ति

सामाजिक विकास की संकल्पना का जन्म डार्विन के जैविक विकास के सिद्धान्त से ही हुआ है। इसका अर्थ है क्रम, परिवर्तन और प्रगति। कुछ निश्चित चरणों के संदर्भ में इस संकल्पना का प्रयोग हुआ। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक समाज को सरल से जटिल रूप धारण करते हुए इन चरणों से गुजरना पड़ता है। अतः जैविक विकास की तरह सामाजिक विकास भी धीरे-धीरे होता है। इसमें परिवर्तन का पैमाना संरचना की बढ़ती जटिलता होती है। वैसे तो विकास इकतरफा प्रक्रिया है किन्तु समाज में कभी-कभी ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि परिवर्तन का रुख जटिलता से सहजता की ओर होता है। उदाहरण के लिए कुछ स्थानों पर देखा गया है कि आर्थिक और राजनीतिक कारणों से प्रमुख व्यापारिक केंद्र या शहर कुछ ही समय में छोटे गांव मात्र रह गए। सामाजिक विकास के विचार के प्रतिपादकों में मोरगन, स्पेन्सर और हेनरी मैन शामिल हैं।

सामाजिक क्रान्ति का अर्थ है समाज की संरचना में आमूल-चूल परिवर्तन। कार्ल मार्क्स ने इसकी यही परिभाषा दी है। मार्क्स के अनुसार क्रान्ति के बाद समाज में उत्पादन का ढंग और उसके साथ बाहरी ढांचा भी बदल जाता है। इस बाहरी ढांचे में सभी मूल्य, मान्यताएँ, सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ शामिल हैं। विकास के विपरीत क्रान्ति त्वरित और अक्सर विस्फोटक होती है। क्रान्ति अहिंसक भी होती हैं, जैसे भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन के दौरान महात्मा गांधी द्वारा लाई गई अहिंसक क्रान्ति। किन्तु क्रान्ति कभी धीरे-धीरे नहीं आती। समाज के सभी सदस्य इसे तत्काल अनुभव करने लगते हैं।

फिर भी प्रक्रियावादियों का मानना है कि कोई भी समाज पूरी तरह नहीं बदला जा सकता। विवाह और परिवार जैसी कुछ संस्थाएँ हर परिवर्तन और बदलाव में जीवित रहती हैं।

25.3.3 सामाजिक संरचना और प्रतिमानहीनता

एमिल दुर्खाइम ने प्रतिमानहीनता की संकल्पना का जिक्र सबसे पहले अपनी पुस्तक **द डिवीजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी** (1947) में किया। दुर्खाइम ने प्रतिमानहीनता को समाज में मूल्य हीनता की स्थिति बताया। उनका कहना था कि समाज के सदस्यों को समाज में भागीदारी के लिए कुछ परिस्थितियों की आवश्यकता होती है जिनमें वे खुशी हासिल कर सकें। यदि ये सामाजिक परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं हैं तो समाज के सदस्य समाज के ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करके मूल्यहीनता की ओर बढ़ जाते हैं। ये आवश्यक सामाजिक परिस्थितियाँ वे हैं जिनमें पुरुष और स्त्री का आचरण कुछ नियमों या मूल्यों से संचालित होता है। यह नियम समाज में घुले-मिले होते हैं, इनका समाज से कोई टकराव नहीं होता। समाज के प्रत्येक सदस्य की दूसरे

सदस्यों के साथ नैतिक भागीदारी होनी चाहिए। प्रतिमानहीनता की रॉबर्ट के मर्टन की परिभाषा दुखाइम से भिन्न है। मर्टन के अनुसार प्रतिमानहीनता का आधार समाज के सांस्कृतिक लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने के नियमों या संस्थागत साधनों की उपलब्धता के बीच का अन्तर है। मर्टन के अनुसार समाज में एकरूपता तभी रहती है जब सांस्कृतिक लक्ष्यों और उपलब्ध नियमों, दोनों, को समाज के सदस्य स्वीकार कर लें। सामाजिक विचलन इस एकरूपता के विपरीत है। ये हैं : प्रवर्तन, कर्मकाण्डवाद, प्रत्यावर्तनवाद और विद्रोह।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) प्रश्न का उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएँ।

1) यन्त्रवात एकता का वर्णन करें। अपना उत्तर छः पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 सामाजिक विकास और क्रान्ति का अन्तर स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दें। दो पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

3 प्रतिमानहीनता क्या है? प्रतिमानहीनता के बारे में दुर्खाइम और रोबर्ट के मर्टन की परिभाषाओं का अन्तर बताएं। लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

25.4 सारांश

इस इकाई में हमने कुछ प्रमुख समाजवादी विचारधाराओं में सामाजिक संरचना के इतिहास और विकास की विस्तार से चर्चा की है। सबसे पहले हर्बर्ट स्पेन्सर, एमिल दुर्खाइम, रैडक्लिफ़-ब्राउन आदि के संरचनात्मक प्रक्रियावादी दृष्टिकोण का वर्णन है। इससे साबित होता है कि उन्होंने सामाजिक संरचना की संकल्पना के सहारे ही समाज का अध्ययन किया है।

संरचनात्मक दृष्टिकोण में क्लाउड लेवी स्ट्रॉस ने सामाजिक संरचना की परिभाषा दी है और सामाजिक संबंधों की संकल्पना के साथ इसका भेद स्पष्ट किया है। यह संकल्पना समाज में मौजूद वास्तविक संबंधों का एकमात्र नमूना है। हमने यह भी बताया है कि लुई दुयो ने भारत में जाति प्रथा के अध्ययन में संरचनात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग किस प्रकार किया है।

समाजवादी संरचना के मार्क्सवादी दृष्टिकोण में भी पर्याप्त वर्णन किया गया है। इस इकाई में सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन के बीच का संबंध भी उजागर किया गया है। समाज में भेद की प्रक्रिया में सामाजिक विकास और सामाजिक क्रान्ति जैसे परिवर्तन शामिल हैं। हमने सामाजिक संरचना और प्रतिमानहीनता के परस्पर संबंध पर भी चर्चा की है।

शब्दावली

विवाह जन्य संबंध : विवाह संबंधों द्वारा अर्जित संबंध, जैसे कि पत्नी, भाई पति की बहन आदि।
सादृश्य : दो वस्तुओं या विचारों के बीच का साम्यानुमान या सादृश्य
रक्त संबंध : रक्त संबंध के आधार पर बनने वाले संबंध जैसे कि बच्चे और माँ का भाइयों और बहनों का आदि।
दबाव : व्यक्ति विशेष द्वारा महसूस किया गया किसी भी प्रकार का दबाव या कठिनाई।
वंशानुगत : एक पूर्वज से जोड़ा गया कोई संपर्क जो वंशानुक्रम पर आधारित है।
अपरिहार्य : वह वस्तु अथवा क्रिया जो मूलभूत रूप से आवश्यक है व जिसे अन्य वस्तु अथवा क्रिया से पूरा नहीं किया जा सकता।
आकार विज्ञान : किसी भी वस्तु, जैसे पशु, वृक्ष इत्यादि के आकार रूप या संरचना का अध्ययन
शरीर क्रिया विज्ञान : जीव-जन्तु अथवा समाज के जीवात्मक कार्य-कलापों के अध्ययन को शरीर-क्रिया विज्ञान कहते हैं।
खंडित : कोई भी वस्तु जब कई भागों में बंट जाये तो वह खंडित कहलाती है। समाज के विभिन्न भागों में बंटने को खंडीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है। कई समाजशास्त्री भारत में जाति को भी इसी प्रकार समाज के एक खंडित भाग की तरह देखते हैं।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Firth, Raymond 1956. *Elements of Social Organisation.* Watts and Company : London

Leach, Edmund 1968. Social Structure. In David I. Sills (ed.) *International Encyclopedia of Social Sciences.* Macmillan Company and The Free Press.

Levi-Strauss, C. 1953. Social Structure. In A.L. Krocber. (ed.) *Anthropology Today : An Encyclopedic Inventory.* pp. 524-553. The University of Chicago Press : Chicago and London

Radcliffe Brown, A.R. 1952. *Structure and Function in Primitive Societies.* Cohen and West Limited : London.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 रैडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार सामाजिक संरचना, "प्रथाओं से परिभाषित और संचालित संबंधों में बंधे व्यक्तियों की व्यवस्था है।" ये संबंध वैसे ही हैं जैसे परिवार में माता और पिता, अदालत में जज आदि।

2 सामाजिक संरचना का स्थानिक पक्ष उस समाज का आकार या सीमा निर्धारित करता है जिसका अध्ययन किया जा रहा है। इसके अन्तर्गत अध्ययन की जा रही इकाई उस समाज की संरचनात्मक व्यवस्था का अंग होती है। इस इकाई की तुलना समान आकार की अन्य इकाइयों से की जा सकती है।

रेमंड फर्थ ने सामाजिक संगठन और सामाजिक संरचना के बीच भेद किया है। सामाजिक संगठन वास्तविक सामाजिक संबंधों में निहित पसंद, नापसंद और फैसलों से जुड़ा है। जबकि सामाजिक संरचना अधिक बुनियादी सामाजिक संबंधों से संबद्ध होती है। ये संबंध समाज को एक स्वरूप प्रदान करते हैं जिसमें नियोजित ढंग से कुछ सामाजिक कार्रवाइयाँ की जा सकती हैं।

बोध प्रश्न 2

1 यन्त्रवत् एकता औद्योगीकरण से पूर्व के समाजों में पाई जाती है। यह समानता पर आधारित एकता है। ऐसे समाजों में सामाजिक भेद बेहद कम होता है और श्रम का विभाजन आयु और लिंग आदि के आधार पर होता है। यहां समाज की सामूहिक चेतना बहुत प्रबल होती है।

2 सामाजिक विकास धीरे-धीरे होता है जबकि क्रान्ति अपेक्षाकृत तीव्र गति से समाज की संरचना में परिवर्तन कर देती है।

3 प्रतिमानहीनता समाज में बिलकुल मूल्यहीनता की स्थिति है। दुर्खाइम के अनुसार जब सामाजिक मूल्यों का ढांचा टूट जाता है तो समाज में व्यक्ति की आस्था कमजोर पड़ जाती है। इससे समाज में प्रतिमानहीनता उत्पन्न हो जाती है। मर्टन के अनुसार प्रतिमानहीनता तब उत्पन्न होती है जब सांस्कृतिक लक्ष्यों और उन्हें प्राप्त करने के सामाजिक साधनों के बीच अन्तर हो जाता है।

इकाई 26 सामाजिक भूमिकाएँ

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 भूमिका की अवधारणा
  26.2.1 भूमिका : प्रस्थिति के गतिशील पहलू के रूप में
  26.2.2 भूमिका की अवधारणा का परिष्कार
26.3 भूमिकाओं का वर्गीकरण
  26.3.1 प्रदत्त तथा अर्जित भूमिकाएँ
  26.3.2 गैर संबंधात्मक तथा संबंधात्मक भूमिकाएँ
  26.3.3 मूल, सामान्य और स्वतंत्र भूमिकाएँ
26.4 भूमिका प्रणालियाँ : सरल और जटिल
  26.4.1 सरल समाजों में भूमिकाएँ
  26.4.2 जटिल समाजों में भूमिकाएँ
26.5 भूमिकाओं के आयाम
  26.5.1 बहुविध भूमिकाएँ एवं भूमिका प्रतिमान
  26.5.2 भूमिका-चिह्न
  26.5.3 भूमिकाओं में परिवर्तन
  26.5.4 भूमिकाओं में टकराव और तनाव
26.6 भूमिका के सिद्धांत का उपयोग
26.7 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

26.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- भूमिका की अवधारणा को समझना,
- भूमिकाओं के वर्गीकरण के विभिन्न माडलों को बताना,
- सरल एवं जटिल समाजों में भूमिकाओं का वर्णन करना,
- बहुविध भूमिकाओं और भूमिका प्रतिमान की व्याख्या करना,
- भूमिका चिह्न और भूमिका में परिवर्तन को बताना, और
- समाजशास्त्रीय अनुसंधान में भूमिका के सिद्धांत के इस्तेमाल के बारे में समझना।

26.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हमने भूमिका की प्रस्थिति के एक गतिशील पहलू के रूप में चर्चा की है। हमने संकेत दिया है कि भूमिकाओं का वर्गीकरण कैसे किया जाता है। हमने सरल एवं जटिल समाजों व व्यवस्थाओं में भूमिकाओं का वर्णन किया है। फिर हमने भूमिका के आयामों की चर्चा की है। इनमें बहुविध भूमिकाएँ और भूमिका प्रतिमान, भूमिका चिह्न, भूमिका में परिवर्तन, भूमिका में टकराव पर चर्चा शामिल है। अंत में हमने भूमिका के सिद्धांत के समाजशास्त्र में उपयोग पर विचार किया है।

26.2 भूमिका की अवधारणा

रोजमर्रा के जीवन में हम भूमिका शब्द का इस्तेमाल किसी नाटक या फिल्म में एक अभिनेता द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका के लिए करते हैं। मान लीजिए किसी अभिनेता या अभिनेत्री को

एक नाटक अथवा फिल्म में भूमिका सौंपी गई है। अब यह अपेक्षा की जाएगी कि वह प्रभावशाली तरीके से अपनी भूमिका निभाएगा या निभाएगी। जो भूमिका उन्हें सौंपी गई है उसे सफलतापूर्वक निभाने के लिए अभिनेता या अभिनेत्री को अपनी भूमिका को अच्छी तरह समझना होगा। इसमें भावनाओं की अभिव्यक्ति भी शामिल है। भूमिका के साथ जुड़े उत्तरदायित्वों और मुद्राओं को भी वास्तविक रूप से प्रस्तुत करना होगा। वेशभूषा और बातचीत का ढंग भी भूमिका के अनुरूप होना चाहिए। इसलिए भूमिका की अदायगी में किसी हद तक एकरूपता और सामंजस्य होना चाहिए। यदि कोई अभिनेता या अभिनेत्री अपनी भूमिका सफलतापूर्वक निभाता या निभाती है तो उसकी प्रशंसा होगी। शेक्सपियर के अनुसार यह जगत एक "मंच" है और यहां प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमिका निभा रहा है। उनके विचार से सभी व्यक्ति जीवन में अपनी-अपनी भूमिकाएँ निभा रहे हैं। लेकिन शेक्सपियर ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि उनके ऐसा कहने का क्या अर्थ है। समाजशास्त्र में भूमिका और भूमिका की अदायगी का विकास एक विशिष्ट अवधारणा के रूप में हुआ है। आइए, प्रस्थिति के एक पहलू के रूप में भूमिका की अवधारणा पर विचार करते हुए इस तथ्य की पड़ताल करें।

26.2.1 भूमिका : प्रस्थिति के गतिशील पहलू के रूप में

भूमिका की अवधारणा की शुरुआत 1936 में राल्फ लिंटर ने की थी। लिंटन के अनुसार सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग व्यक्तियों का अपना-अपना स्थान होता है। इसके कुछ उदाहरण हैं जैसे एक परिवार में माँ या पिता होना। एक व्यक्ति स्कूल में अध्यापक भी हो सकता है। साथ ही किसी संस्था में वह कोई पदाधिकारी भी हो सकता है। इन स्थितियों को लिटन ने प्रस्थिति कहा है। लिंटन के शब्दों में (1936 : 113-4), पारस्परिक व्यवहार की पद्धतियों में ध्रुवीय स्थितियाँ हैं। ध्रुवीय स्थिति में "अधिकार और कर्तव्य निहित होते हैं"। इसलिए उसने प्रस्थिति पर की कल्पना अधिकारों और कर्तव्यों के एक समुच्चय के रूप में की है। जब कोई व्यक्ति इन अधिकारों और कर्तव्यों का पालन करता है तो कहा जाता है कि वह एक भूमिका अदा कर रहा है। लिंटन आगे कहता है कि भूमिका पद का गतिशील पक्ष है। यह विभिन्न प्रकार के अधिकारों और कर्तव्यों को कार्य रूप देती है। इसीलिए जब कोई अध्यापक स्कूल में प्रवेश करता है तो तत्काल अपने पद से जुड़ी भूमिका का निर्वाह शुरू कर देता है।

26.2.2 भूमिका की अवधारणा का परिष्कार

भूमिका की उपर्युक्त धारणा को आगे चल कर न्यूकोम्ब (Newcomb) और बेन्टन (Benton) ने परिष्कृत किया। न्यूकोम्ब (1924) ने किसी के पद से संबंधित अपेक्षित व्यवहार और वास्तविक व्यवहार में भेद किया है। उसने कहा है कि जिस तरीके से व्यक्ति व्यवहार करता है, वह हमेशा वैसा नहीं होता जैसी कि उससे उम्मीद की जाती है। अपेक्षित व्यवहार उस पद के अनुकूल होता है जिसे वह संभाले हुए है। इसका मतलब यह हुआ कि किसी व्यक्ति की भूमिका उसके पद के साथ सीधे जुड़ी होती है और कभी-कभी किसी व्यक्ति का वास्तविक व्यवहार उससे अपेक्षित भूमिका से मेल नहीं खाता। माइकेल बेन्टन (1965) ने इस अवधारणा में और परिष्कार किया और कहा कि भूमिका नियमों और अपेक्षाओं का एक ऐसा समूह है जो किसी पद विशेष पर आसीन व्यक्ति पर लागू होता है। बेन्टन ने नियमों और अपेक्षाओं में भेद किया है। उसके अनुसार :

1) नियम वे हैं जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। इनमें यह संदेश निहित होता है कि इस भूमिका वाले व्यक्ति को इस ढंग से व्यवहार करना चाहिए।

2) आम अपेक्षा का मतलब यह है कि किसी पद पर आसीन व्यक्ति को किसी विशेष स्थिति में एक निश्चित ढंग का व्यवहार करना होगा।

बेन्टन के कथन का अर्थ समझने के लिए हम यहां एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं मान लीजिए रीता एक स्कूल में अध्यापिका है अतः रीता अध्यापिका का पद ग्रहण कर लेती है। स्कूल के अपने निश्चित नियम और कानून होते हैं। इन्हीं के अनुसार प्रत्येक अध्यापक कक्षा में आचरण करता है। इसमें शामिल बातें हैं :

1 घंटी बजने पर कक्षा में जाना,
2 अपने विद्यार्थियों की हाजिरी लेना और अन्य कार्य करना आदि...

इन नियमों को लागू करने और प्रभावकारी बनाने के लिए वैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। इसके अलावा कुछ अपेक्षाएँ भी होती हैं जैसे पहनावा ठीक-ठाक हो। कक्षा में अच्छे व्यवहार की भी उम्मीद की जाती है। दूसरे तरह की अपेक्षाओं में कुशलतापूर्वक अध्यापन और इससे संबंधित अन्य कार्य आते हैं। लेकिन ये महज अपेक्षाएँ होती हैं, वैधानिक रूप से ये अनिवार्य नहीं हैं।

26.3 भूमिकाओं का वर्गीकरण

समाजशास्त्रियों ने भूमिकाओं के वर्गीकरण के लिए कई तरीकों का इस्तेमाल किया है। यहां हम सामाजिक प्रस्थिति के संदर्भ में भूमिकाओं के वर्गीकरण की चर्चा कर रहे हैं।

26.3.1 प्रदत्त तथा अर्जित भूमिकाएँ

लिंटन के अनुसार भूमिकाओं का इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है :
1 प्रदत्त भूमिका और
2 अर्जित भूमिका

प्रदत्त भूमिकाएँ वे हैं जो जन्मजात होती हैं। इसमें भूमिका के बारे में जानने की प्रक्रिया जन्म से ही शुरू हो जाती है। जैसे जाति, वर्ण, परिवार और लिंग आदि के बारे में जानकारी।

अर्जित भूमिका आवश्यक योग्यता और प्रतियोगिता के जरिए हासिल की जाती है। अतः वर्गीकरण का यह तरीका भूमिकाओं के निर्धारण के ढंग पर आधारित है।

26.3.2 गैर संबंधात्मक और संबंधात्मक भूमिकाएँ

नाडेल (Nadel) ने भूमिकाओं के आशय के सिद्धांत (अर्थात् किस तरह के आचरण की अपेक्षा है) को अपनाया और उन्हें लिंटन की तरह प्रदत्त और अर्जित दो श्रेणियों में विभाजित करके फिर उनका संबंधात्मक और गैर संबंधात्मक रूप में उप-विभाजन किया। संबंधात्मक भूमिका केवल पूरक भूमिका के रूप में ही अदा की जा सकती है जबकि गैर संबंधात्मक भूमिका किसी पूरक भूमिका पर निर्भर नहीं होती। पति की भूमिका की कल्पना पत्नी की भूमिका के बगैर नहीं की जा सकती। इसी प्रकार कर्ज लेने वाले के बगैर ऋणदाता की भूमिका की भी कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए इन्हें संबंधात्मक भूमिका का उदाहरण माना जा सकता है। दूसरी ओर एक कवि, लेखक या विद्वान या व्यापारी की भूमिका के लिए किसी पूरक भूमिका की जरूरत नहीं होती। इसलिए इस प्रकार की भूमिका को गैर संबंधात्मक भूमिका कहते हैं। नाडेल का वर्गीकरण मुख्य रूप से उस आचरण पर आधारित है जो उस भूमिका में निहित है। अतः नाडेल के लिए भूमिका में अंतर का अर्थ यह है कि किसी की भूमिका दूसरों की भूमिकाओं से किस हद तक स्वतंत्र है।

26.3.3 मूल, सामान्य और स्वतंत्र भूमिकाएँ

बेन्टन (1965) ने विभेदीकरण पर आधारित तीन स्तरों वाले वर्गीकरण की रूपरेखा प्रस्तुत की। उसके अनुसार इस प्रकार के वर्गीकरण से सामाजिक संगठन के नये तथ्य उजागर होते हैं और जाँच-पड़ताल के लिए नयी समस्याएँ सामने आती हैं। (बेन्टन-1965 : 33) ये तीन प्रकार की भूमिकाएँ हैं :
1) मूल भूमिकाएँ
2) सामान्य भूमिकाएँ
3) स्वतंत्र भूमिकाएँ

बेन्टन (1965 : 33) ने इन भूमिकाओं को स्पष्ट करने के लिए एक पैमाने का इस्तेमाल किया है :

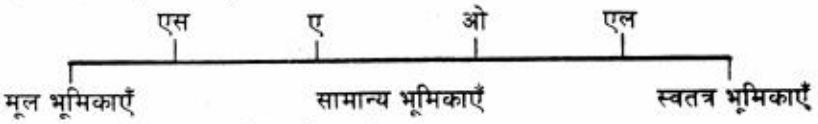

एस = सेक्स अर्थात् लिंग आधारित भूमिकाएँ
ए = एज यानी उम्र के अनुसार भूमिकाएँ
ओ = ऑकोपेशनल यानी व्यवसाय से संबंधित भूमिकाएँ
एल = लेजर यानी फुरसत के समय की भूमिकाएँ

बेन्टन का यह पैमाना यह तुलना करता है कि कुछ भूमिकाएँ दूसरों की अपेक्षा कितनी स्वतंत्र हैं। बेन्टन के अनुसार सम्बद्ध गतिविधियों से बाहर स्वतंत्र भूमिकाओं का प्रभाव बहुत सीमित होता है। स्वतंत्र भूमिकाओं की तुलना में व्यवसायिक भूमिकाएँ भिन्न-भिन्न संदर्भों में दूसरों के व्यवहार को भी निर्धारित करती हैं। दूसरी ओर किसी स्त्री या पुरुष की उम्र और लिंग पर आधारित भूमिकाएँ अधिकांश स्थितियों में उसके आचरण को निरूपित करती हैं। बेन्टन ने स्पष्ट

किया है कि अलग-अलग समाज में उसके पैमाने पर भूमिकाओं की स्थिति अलग-अलग होगी। उसके अनुसार आदिम समाजों में लिंग और उम्र से जुड़ी ऐसी थोड़ी-सी मूल भूमिकाएँ हैं, जिनमें भेद नहीं किया गया है। तकनीकी रूप से विकसित समाजों में स्वतंत्र भूमिकाओं की संख्या बढ़ जाती है।

अंत में ऐदान साउथ हाल (Aidan South Hall) ने उन मुख्य सामाजिक क्षेत्रों के अनुसार भूमिकाओं का वर्गीकरण किया जिनमें उनका प्रयोग किया जाता है। ये पांच क्षेत्र हैं—सगोत्रीय, आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक और मनोरंजन। भूमिकाओं के वर्गीकरण के विभिन्न तरीकों को देखते हुए हम कह सकते है कि इनमें से कोई भी वर्गीकरण ऐसा नहीं है जिसे हम कह सकें कि यही वर्गीकरण का सही तरीका है। प्रत्येक वर्गीकरण किसी खास मकसद से किया गया है। लेकिन प्रत्येक वर्गीकरण की अपनी समस्याएँ भी हो सकती हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) प्रश्न का उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपना उत्तर मिलाएँ।

1 भूमिका की अवधारणा पर पांच पंक्तियों में टिप्पणी लिखें

.....

.....

.....

.....

.....

2 क्या भूमिकाओं के वर्गीकरण का कोई एकमात्र सही तरीका है? उत्तर दो पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

26.4 भूमिका प्रणालियाँ : सरल और जटिल

सरल और जटिल दोनों ही समाजों में जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए भूमिका की अवधारणा का इस्तेमाल किया जा सकता है। चूंकि सामाजिक समूह के प्रत्येक सदस्य को कोई न कोई भूमिका निभानी होती है, हर भूमिका की छानबीन से इस बात की जानकारी मिलती है कि इसके सदस्यों के बीच सहयोग या टकराव का कारण क्या है।

26.4.1 सरल समाजों में भूमिकाएँ

आइए, दक्षिणी अफ्रीका के कालाहारी रेगिस्तान के बुशमैन और आर्कटिक के एस्किमों जैसे सरल समाजों में लोगों की भूमिकाओं पर विचार करें। बुशमैन कबीले में भूमिकाएँ लिंग, उम्र और सगोत्रीयता, वैवाहिक सम्बन्धों पर निर्भर होती है। इन समाजों में ये भूमिकाएँ एक कठोर भूमिका प्रणाली को जन्म देती हैं। प्रेतात्मा के माध्यम की भूमिका एक मात्र ऐसी भूमिका है जो इस कठोर भूमिका प्रणाली से स्वतंत्र होती है। प्रेतात्मा का माध्यम एक ऐसा व्यक्ति होता है जो समाज की ओर से दूसरे जगत से सम्पर्क कर सकता है। वह कृषि सम्बन्धी अथवा अन्य समस्याओं का पता लगाता है। यहां हम सबसे पहले भूमिकाओं के तीन आधारों का उल्लेख करेंगे और फिर प्रेतात्मा के माध्यम की भूमिका पर विचार करेंगे।

1 लिंग के आधार पर पुरुषों और महिलाओं को विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ सौंपी जाती हैं। पुरुष शिकार करता है, हथियार बनाता है और लकड़ी तथा पानी एकत्र करने में अपनी पत्नी की मदद करता है। वह शिविर को साफ सुथरा रखने में भी मदद करता है।

2 उम्र पर आधारित भूमिकाएँ भी बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। एक लड़के को जवान तब माना जाता है जब वह एक बत्तख का शिकार करता है। इसके बाद ही उसे चेहरे और छाती के चिन्हों से अलंकृत किया जाता है।

वह शादी करने के लिए भी स्वतंत्र है। वह कम उम्र की बच्ची से भी शादी कर सकता है लेकिन यह शादी तभी प्रभावी होगी जब लड़की जवान हो जाएगी। बुशमैन अपने बड़ों का आदर करते हैं। वृद्धावस्था में पुरुष और महिलाएँ परम्परागत पौराणिक कथाओं, आख्यानों तथा पारिवारिक इतिहास के विशेषज्ञ की भूमिका अपना लेते हैं।

सगोत्रीयता और वैवाहिक संबंधों के आपसी दायित्वों पर प्रकाश पड़ता है। माता और पिता बच्चों का परम्परागत तरीके से पालन पोषण करते हैं। जवान बच्चों के अपने अभिभावकों के प्रति कुछ निश्चित दायित्व होते हैं। पति-पत्नी के संबंधों से भी भूमिकाओं का निर्धारण होता है। वैवाहिक संबंधों को आसानी से तोड़ा जा सकता है। लेकिन तलाक की घटनाएँ दुर्लभ हैं और वैवाहिक झगड़े भी न के बराबर होते हैं। निकट संबंधियों के बीच विवाह नहीं होते। ऐसा इसलिए किया जाता है कि सगोत्रीय संबंधों पर कोई असर न पड़े। लिंग, उम्र और सगोत्रीयता पर आधारित भिन्न-भिन्न समूहों को टोली का सामाजिक-राजनीतिक रूप संगठित करते समय पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाता है। टोली के मुखिया का चुनाव मुख्यत: इस आधार पर होता है कि उसमें टोली को आगे बढ़ाने की योग्यता और साधन कितने हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरदायित्व के लिए उसे किसी प्रकार पुरस्कृत नहीं किया जाता और एक अक्षम मुखिया को आसानी से बदला जा सकता है।

ात्मा का माध्यम

ात्मा के माध्यम की भूमिका को मनमाने तरीके से नहीं बदला जा सकता। वृद्ध और अनुभवी ात्मा के माध्यम के रूप में किसी ऐसे व्यक्ति का चयन किया जाता है जिसकी रोग निदान मता साबित हो चुकी होती है। अत: भूमिकाओं के निर्धारण की सम्पूर्ण प्रणाली बहुत ही कठोर कटु माहौल के लिए आवश्यक है कि भूमिकाओं में परस्पर विरोध कम से कम हो। सरल ाजों में आमतौर पर शारीरिक भिन्नताओं के आधार पर सामाजिक भेदभाव नहीं किया जाता। लिए पुरुष और स्त्री यह महसूस करते हैं कि जो काम दूसरे का है, उसे करना गलत है। यहां क कि उनके बैठने का स्थान भी नियत है। आइए, देखें कि जटिल समाजों में भूमिकाएँ कैसे पी जाती हैं।

6.4.2 जटिल समाजों में भूमिकाएँ

माजों को अक्सर भूमिकाएँ सौंपने के लिए नए तरीकों का विकास करना पड़ता है। तकनीकी ष्ट से विकसित समाज को भूमिकाएँ सौंपने के लिए व्यापक मानदंड बनाने होते हैं। दाहरण के लिए यदि एक जनजाति दूसरी पर विजयी होती है और उसे स्थायी तौर पर अपने धीन रखना चाहती है तो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। उम्र, लिंग आदि के आधार पर भूमिका ौंपने के सरल तरीके यहाँ कारगर नहीं होते क्योंकि राजा को परिचरों की जरूरत होती है। उसे से सैनिक भी चाहिए जो मुख्य रूप से उसके प्रति वफादार हों। यह दायित्व किसी सगोत्रीय के ति उनके दायित्व से भी बड़ा है। राजा सेंवा के लिए उन्हें धन देकर पुरस्कृत करता है। इस रह के समाज में उस परिवार का महत्व होता है जिसमें व्यक्ति जन्म लेता है और परिवार का र्जा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार हमें अपेक्षाकृत अधिक जटिल समाज में भूमिका ं निर्धारण का महत्वपूर्ण आधार प्राप्त होता है। स्पष्ट रूप से जो सामाजिक स्तर सामने आते हैं ' हैं कुलीनवर्ग, सामान्यवर्ग और दास। समान स्तर वाले सभी लोग एक जैसा जीवन जीते हैं और ाजा के प्रति उनके उत्तरदायित्व और विशेषाधिकार समान होते हैं। यद्यपि ये सामाजिक स्तर रल समाजों की कठोर भूमिका प्रणाली की अपेक्षा अधिक लचीले होते हैं लेकिन ये इतने कठोर ी हो सकते हैं कि जन्म के सिवा इनमें प्रवेश कर पाना मुश्किल हो जाता है। एक बार जन्म लेने के बाद इन्हें छोड़ा भी नहीं जा सकता। इसका एक उदाहरण जाति प्रथा है। भारतीय गांवों में त्येक व्यक्ति की कोई न कोई जाति होती है।

ाति के सदस्य एक ही प्रकार का व्यवसाय करते हैं और समान धार्मिक रस्म रिवाजों का पालन करते हैं। अन्य जातियों के साथ खाने-पीने तथा मिलने-जुलने के मामले में वे कुछ नियमों का ालन करते हैं। यदि उनका निचली जाति के लोगों से सम्पर्क होता है तो उनके लिए अपनी शुद्धि करना जरूरी है। इसी प्रकार मध्ययुग में पश्चिमी यूरोप में सामंती व्यवस्था में समाज में कुछ विशिष्ट समूहों को जन्म दिया (कुलीनवर्ग, पादरीवर्ग, सामान्यवर्ग और कृषकवर्ग)। इन समूहों के आधार पर सीमित सामाजिक स्तरों की एक पद्धति उभर कर सामने आई।

विशिष्टता और विविधता

आज की औद्योगिक व्यवस्था में भूमिका के निर्धारण में लिंग, उम्र और सगोत्रीयता का अपना महत्व है लेकिन इसमें अधिक महत्व सामाजिक कार्यों की बढ़ती विशिष्टता को दिया जाता है।

इसके साथ-साथ समाज का विविध क्षेत्रों में विस्तार भी होता है जिनके अपने नियम होते हैं। यहा तक कि छोटे से छोटे काम में भी भूमिकाओं का स्पष्ट बंटवारा करना होता है। सड़क के किनारे स्थित एक छोटे से रेस्तरां में भी विशेषज्ञ रसोइए, धोबी, सफाई कर्मचारी, वेटर, माली, मैनेजर आदि होंगे। जब ये भूमिकाएँ स्पष्ट रूप से बटी होंगी तो विवाद बहुत कम होंगे।

मान लीजिए एक रेस्तरां का विस्तार होता है और वह अपनी खुद की यात्रा सेवा शुरू करता है। फिर वह किराए पर कार सेवा शुरू करता है। परिणामस्वरूप भूमिकाएँ और बढ़ जाएंगी। औद्योगिक समाज में अत्यंत जटिल प्रोत्साहनों की जरूरत होती है। उन्ह काफी हद तक लचीला भी बनना पड़ता है। बड़े व्यवसायिक प्रतिष्ठान केवल एक व्यक्ति पर निर्भर नहीं रह सकते। रिकार्ड और फाइलों को सावधानी से रखना होता है। कानून और नियम अधिक से अधिक रिकार्ड रखने के लिए विवश बनाते हैं। इसमें व्यक्तित्व की निजी छाप मिट जाती है और जटिल व्यवस्था की जरूरतें प्राय: व्यक्ति पर हावी हो जाती हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपना उत्तर मिलाएँ।

1 सरल समाजों में भूमिकाएँ बहुत अधिक हैं और उन्हें निभाना भी कठिन है।

[हाँ] [नहीं]

2 जटिल समाज में भूमिकाएँ अत्यंत विशिष्ट होती हैं। इस पर पांच पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

26.5 भूमिकाओं के आयाम

अब हम भूमिका की धारणा के विभिन्न पक्षों के बारे में चर्चा करेंगे। सबसे पहले हम एक व्यक्ति द्वारा निभायी जाने वाली अनेक भूमिकाओं के बारे में बताएंगे और इसके बाद भूमिकाओं की समूह बनाने वाले विभिन्न भूमिका-संबंधों की चर्चा करेंगे। इसी प्रकार, भूमिका चिह्न के बारे में, भूमिकाओं में आने वाले बदलाव के बारे में तथा भूमिकाओं में उत्पन्न द्वन्द्व एवं तनाव की चर्चा की जाएगी।

26.5.1 बहुविध भूमिकाएँ एवं भूमिका प्रतिमान

यह ध्यान देने की बात है कि एक व्यक्ति एक से अधिक भूमिका का निर्वाह कर सकता है। उदाहरण के लिए सगोत्रीयता के क्षेत्र में ही कोई व्यक्ति एक साथ कई भूमिकाओं के निभाने की स्थिति से बच नहीं सकता। यह याद करने की कोशिश कीजिए कि सगोत्रीयता के आधार पर आप के पास कितनी भूमिकाएँ हैं। आधुनिक युग में अन्य सामाजिक क्षेत्रों में लोगों के पास सगोत्रीयता की अपेक्षा अधिक भूमिकाएँ हैं। उदाहरण के लिए, पुत्र/पुत्री, भाई/बहन, पति/पत्नी, माता/पिता आदि होने के अलावा आप इंदिरा गांधी राष्ट्रीय खुला विश्वविद्यालय के विद्यार्थी हैं, अपने देश के नागरिक हैं, और हो सकता है आप विभिन्न प्रकार की अन्य भूमिकाओं का भी निर्वाह कर रहे हों। अनेक भूमिकाओं के निर्वाह को ही बहुविध कहते हैं।

इन बहुविध भूमिकाओं में कुछ एक साथ निभाई जाती हैं और कुछ अलग-अलग। इसी प्रकार कुछ भूमिकाएँ लगातार और कुछ कई वर्षों में अदा की जाती हैं। भूमिकाओं में आपसी द्वंद्व की स्थिति आमतौर पर देखी जा सकती है क्योंकि कई भूमिकाओं का निर्वाह करने वाले व्यक्ति से अलग-अलग भूमिकाओं में प्राय: परस्पर विरोधी अपेक्षाएँ की जाती हैं।

कोई भूमिका निभाते समय एक व्यक्ति बहुत-सी अन्य भूमिकाओं से भी जुड़ा होता है। मर्टन (1968 : 368-84) के अनुसार व्यक्ति विशेष के संबंध में अन्य भूमिकाएँ उसका/उसकी भूमिका

निश्चित करती हैं। मर्टन भूमिका प्रतिमान के इस विचार को बहुविध भूमिका से, जो कि एक ही व्यक्ति की कई भूमिकाएँ होती हैं, अलग करता है। उदाहरण के लिए इस विश्वविद्यालय का एक छात्र अध्ययन केन्द्र में कौंसिलर सहयोगी छात्रों, लाइब्रेरियन, आडियो-वीडियो आपरेटर तथा चपरासी आदि की तुलना में अपनी भूमिका निभाएगा। इसलिए एक छात्र के संदर्भ में ये सभी अन्य भूमिकाएँ, एक निश्चित भूमिका का रूप ग्रहण करती हैं। निम्नलिखित रेखाचित्र से बहुविध भूमिकाओं और निर्धारित भूमिकाओं का अंतर स्पष्ट होता है :

दो रेखा चित्रों के लिए आधा पृष्ठ छोड़ें

1 बहुविध भूमिकाएँ
2 भूमिकाएँ प्रतिमान

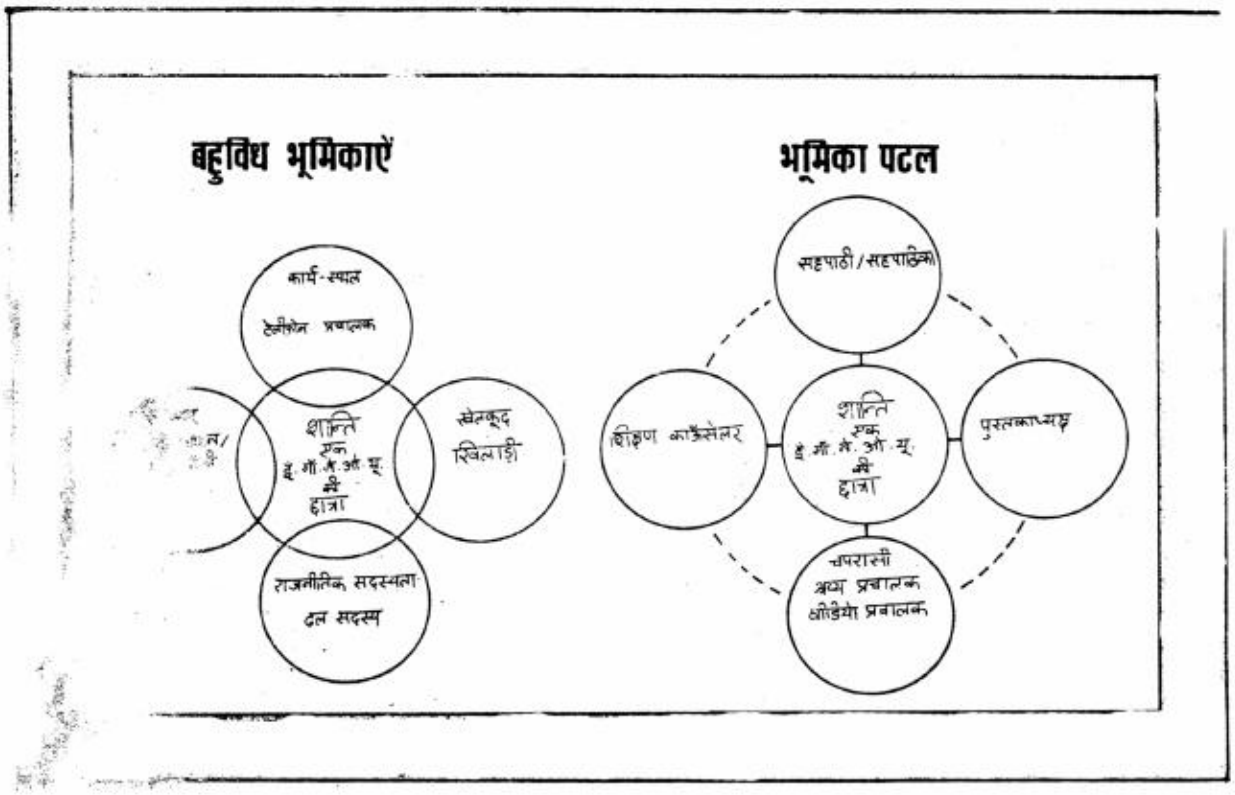

इन रेखा चित्रों को अगल-बगल या नीचे ऊपर चिपकाया जाएगा।

26.5.2 भूमिका-चिह्न

भूमिका-चिह्न का विषय बड़ा व्यापक है। यहां हम केवल मुख्य मुद्दों पर ही विचार करेंगे। दुनिया की सभी संस्कृतियों में पहनावा ऐसा मुख्य चिह्न है जो स्त्री से पुरुष को अलग करता है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि भूमिका के ये चिह्न पुरुष और महिला के बीच अंतर को इंगित करते हैं। सामाजिक संगठन में इनकी भूमिकाएँ भी भिन्न होती हैं। इसलिए भूमिका के संकेत हमें किसी व्यक्ति या समूह के बारे में अधिक जानकारी देते हैं। जैसे टूटी खिड़की हिंसा का और किसी का दुर्बल दीखना स्वास्थ्य ठीक न होने का चिह्न है। ठीक उसी तरह पहनावा किसी भूमिका के चिह्न का काम दे सकता है। कुछ ऐसी भूमिकाएँ हैं जिनके कई चिह्न हैं लेकिन कुछ भूमिकाओं के संकेत बहुत ही कम या बिलकुल नहीं हैं। आइए, हम ऐसी स्थिति पर विचार करें जहां से भूमिका के सभी चिह्न हटा लिए गए हों : जैसे जनरल और पुलिस कर्मचारी ने अपनी-अपनी वर्दियाँ उतार दी हों। पुरुष स्कर्ट और साड़ी पहनना शुरू कर दें तथा महिलाएँ पेंट और कोट। इसका क्या परिणाम होगा? बुनियादी सूचनाएँ गड्मड् हो जाएंगी। बुनियादी जानकारी प्राप्त करने में काफी समय लगेगा। अतः बोल कर बताने की अपेक्षा भूमिका के चिह्न जानकारी के बेहतर साधन हैं। इसी प्रकार यह भी जानना मुश्किल हो जाएगा कि किस भूमिका में किस प्रकार का आचरण अपेक्षित है क्योंकि दैनिक जीवन में जो उदाहरण सामने हैं, उनका अनुसरण करना कठिन होगा। इसलिए भूमिका के चिह्न सम्पर्क और नियंत्रण दोनों को बढ़ाते हैं।

बेन्टन (1965 : 68-92) के अनुसार विभिन्न भूमिकाओं के चिह्नों को मूल, सामान्य और स्वतंत्र भूमिकाओं की दृष्टि से सार्थक ढंग से चित्रित किया जा सकता है।

1) मूल भूमिकाओं के चिह्न :

सामाजिक जीवन में मूल भूमिका में लिंग, उम्र तथा पारिवारिक संबंधों की भिन्नता शामिल होती है। उदाहरण के लिए किसी महिला की मूल भूमिका समाज के पुरुष सदस्यों के साथ संबंधों पर काफी निर्भर होती है। फिर महिला और पुरुष दोनों के ही मामले में, छोटे लड़के/लड़की के बढ़कर किशोर होने और फिर युवा होकर स्त्री और पुरुष बनने तक उत्तरदायित्व आमतौर पर बढ़ता जाता है। पश्चिम के आधुनिक समाज में इस तरह के प्रयास किए जा रहे हैं कि घरेलू संबंधों में समानता अपनाई जाए।

भूमिका के मूल चिह्न हमें इस बारे में बुनियादी जानकारी उपलब्ध कराते हैं कि हम उस भूमिका में किस तरह के व्यवहार की अपेक्षा कर सकते हैं। इसलिए शिरोवस्त्र, अंगूठी, स्कर्ट, पतलून आदि पहनना सभी निश्चित संकेत हैं।

2) सामान्य भूमिकाओं के चिह्न :

सामान्य भूमिकाओं में संकेतों के इस्तेमाल का उद्देश्य किसी खास परिस्थिति में उसकी उपयोगिता को देखते हुए भूमिका को एक पहचान देना है। दूसरी बात यह है कि सामान्य भूमिकाओं के चिह्न का इस आधार पर भी निर्धारण होता है कि किसी भूमिका का दूसरे भूमिका संबंधों पर क्या असर पड़ता है। जो भूमिका अन्य भूमिकाओं पर निर्भर होती है, उसे किसी भूमिका चिह्न के जरिए पहचाना जाता है। इस प्रकार भूमिका संकेत सामान्य से भिन्न व्यवहार को रोकने और नियंत्रित करने का काम करते हैं।

3) स्वतंत्र भूमिकाओं के चिह्न :

चूंकि स्वतंत्र भूमिकाएँ दूसरी भूमिकाओं को बहुत कम प्रभावित करती हैं इसलिए उनके लिए चिह्नों की कोई खास जरूरत नहीं होती। किसी खास स्थिति में इस तरह की भूमिकाओं की पहचान के लिए विशिष्ट चिह्नों की जरूरत हो सकती है। किसी संगठन में इस तरह के चिह्नों से कोई खास मकसद हल हो सकता है। जबकि बाहरी व्यक्तियों के लिए ये महज प्रतिष्ठा के चिह्न होंगे। स्पष्ट है कि स्वतंत्र भूमिकाओं के संकेत का केवल एक सीमा तक ही कोई खास अर्थ होता है।

26.5.3 भूमिकाओं में परिवर्तन

भूमिकाएँ बदलना प्रायः बहुत ही कठिन होता है। व्यक्ति को नई भूमिका से संबंधित अधिकारों और दायित्वों की जानकारी अवश्य होनी चाहिए। उसे उसी के अनुसार अपना व्यवहार बदलना चाहिए। अन्य लोगों को भी उसके प्रति अपनी भूमिका में परिवर्तन करना होगा। इसलिए भूमिका में परिवर्तन से समस्या पैदा हो सकती है। आइए, उपर्युक्त बातों पर हम कुछ उदाहरणों की मदद से विचार करें। लगभग सभी जनजातीय समाजों में बचपन और जवानी पूरी तरह कठिन होती है। जो युवक अपने दीक्षा संस्कार से सम्बद्ध कसौटी पर खरा नहीं उतरता उसकी स्थिति बहुत खराब हो जाती है। यदि वह बुशमैन कबीले में रहता है तो शायद वह विवाह भी कभी नहीं कर पाएगा। ऐसी स्थिति में यदि नकारात्मक प्रतिबधों से बचना है तो भूमिका में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है।

एक दूसरा उदाहरण लें। औद्योगिक समाज में जहां परिवर्तन बड़ी तेजी से होता है, भूमिकाएँ खुद बदलती रहती हैं। किसी का भी अनुसरण बिना सोचे-समझे नहीं किया जा सकता। कोई ऐसा बना बनाया तरीका नहीं है, जिससे भूमिका में परिवर्तन किया जा सके।

आइए युवा अवस्था पर विचार करें। युवा होने का मतलब है कि व्यक्ति विवाह के लिए तैयार है। इससे भूमिका में परिवर्तन होता है और सामाजिक संबंधों में भी बदलाव आता है। इसके अंतर्गत पति, पत्नी संबंधियों और मित्रों की भूमिका का व्यवहार बदल जाता है। विवाह चूंकि दुल्हन के लिए अत्यधिक भावात्मक परिवर्तन का समय होता है, अतः उसमें भारी बदलाव आ जाता है। उसे अपना घर छोड़ कर ऐसे स्थान पर जाना पड़ सकता है, जहां उसका पति रहता है।

अंत में दो शब्द अवकाश प्राप्ति और मौत के बारे में। अवकाश ग्रहण करने की स्थिति व्यक्तिगत घटना लगती है। इसमें क्षति और निराशा की भावना होती है। यह स्थिति नियमित जीवन में व्यवधान आने के कारण उत्पन्न होती है। 'रिटायरमेंट' के बाद की जिंदगी नियमित नहीं होती। यह अत्यंत उलझन की स्थिति हो सकती है और नए सिरे से जिंदगी शुरू करने के

लिए समय की जरूरत होती है। मौत अपने आप में एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें किसी विधवा या विधुर और दूसरे लोगों को नये सिरे से तालमेल करना पड़ता है। उन पर अब और जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं। भूमिका परिवर्तन की प्रक्रिया अक्सर लंबी होती है और तालमेल का यह समय अक्सर निराशाजनक होता है।

26.5.4 भूमिकाओं में टकराव और तनाव

समाज का ढांचा इस तरीके से बनाया गया है कि भूमिकाओं में टकराव कम से कम हो। लेकिन कई ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति को ऐसी भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं, जिनमें परस्पर तालमेल नहीं होता। उदाहरण के लिए सौतेला पिता और सौतेला बेटा या दो नियोक्ताओं के बीच विभाजित निष्ठा की भूमिका। इस तरह की स्थिति में भूमिका में टकराव बढ़ता है। भूमिकाओं में टकराव की स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब प्रतिबद्धता दो या उससे अधिक भूमिकाओं में बंट जाती है। परिणामस्वरूप आमतौर पर कामकाज पर असर पड़ता है।

भूमिका द्वंद्व

भूमिका में तनाव उस समय पैदा होता है, जब व्यक्ति उस भूमिका के लिए उपयुक्त नहीं होता। इसलिए जब कोई महिला शारीरिक रूप से परिपक्व होकर भी शादी न करे तो भूमिका में तनाव पैदा होगा। यदि कोई औरत शादी तो करे किन्तु बांझ हो तो भी भूमिका में तनाव उत्पन्न होगा। किसी बांझ महिला की स्थिति बहुत ही कठिन होती है। वह एक सामान्य पत्नी का जीवन नहीं बिता सकती। सूडान की नूएर जाति में ऐसी महिला सगुनिया (भविष्य वक्ता) या व्यापारी हो सकती है। उसे लगभग पुरुष के समान समझा जाता है। यदि कोई अविवाहित स्त्री माँ बन जाए तो भी भूमिका में तनाव पैदा होता है। न तो वह कुंवारी होती है और न विवाहिता। हिंदू समुदाय में तो अविवाहिता कन्या से ही भूमिका में तनाव उत्पन्न हो जाता है। कुछ समुदायों में ऐसी कन्याओं का पेड़ या फल से विवाह करके तनाव को कम किया जाता है। समाज में कम भूमिकाएँ होने पर भी तनाव उत्पन्न होता है। इसीलिए तनाव को निरापद रूप से कम करने के लिए कुछ रीति-रिवाज चलाए गए। इस तरह का एक उपाय त्योहार या आनंदोत्सव है जो साल में एक बार आयोजित किया जाता है। उत्सव के दौरान सभी व्यक्ति छोटे-बड़े का भेदभाव भुलाकर घुल-मिल जाते हैं। किसान और आदिवासी समाज में भूमिकाओं में तालमेल करना कठिन होता है। लेकिन औद्योगिक समाज में दायरे से बाहर की भूमिका को स्वीकार किए जाने की अधिक संभावना होती है। लेकिन जब कोई भूमिका समाज के उपयुक्त नहीं होती तो तनाव उत्पन्न होते हैं।

26.6 भूमिका के सिद्धांत का उपयोग

सामाजिक जीवन के विभिन्न आयामों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में भूमिका की अवधारणा का उपयोग किया जाता है। जब हम किन्हीं खास भूमिकाओं के आसपास विचारों और अपेक्षाओं में परिवर्तन का लेखा-जोखा रखते हैं तो हम सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के नजदीक पहुंच जाते हैं। उसी प्रकार भूमिका के संबंधों का अध्ययन करते समय हम अपना ध्यान सामाजिक जीवन में संगठनात्मक सम्पर्कों के जटिल स्वरूप पर केंद्रित करते हैं। यहां पर हम समाज शास्त्रीय अनुसंधान में भूमिका के सिद्धांत के इस तरह के कुछ उपयोगों की ओर इशारा करते है। प्रक्रियावादी और पारस्परिक क्रियावादी, दोनों ही विचारधाराओं के समर्थक इस अवधारणा का उपयोग करते हैं।

प्रक्रियावादियों के विचार से भूमिकाएँ सांस्कृतिक रूप से परिभाषित व्यवहार हैं, जो खास सामाजिक मर्यादाओं के साथ जुड़ी हुई हैं। उनके लिए भूमिकाओं का निर्धारण सामाजिक मूल्यों, मानदंडों और रवैयों से होता है। पारस्परिक क्रियावादियों की धारणा है कि स्वाभिमान की भावना पूरी तरह पारस्परिक क्रिया के जरिए उभरती है। उनका कथन है कि हम दूसरों के साथ पारस्परिक क्रिया द्वारा अर्थ सीखते हैं और फिर इन अर्थों के इर्द-गिर्द अपने सामाजिक जीवन का ताना-बाना बुनते हैं। इस विचारधारा के समर्थक सामाजिक भूमिका की अपेक्षा पारस्परिक क्रिया पर विशेष जोर देते हैं। ये लोग भूमिकाओं पर व्यक्ति की पसंद और व्यक्ति की भूमिका की व्याख्या के संदर्भ में विचार करते हैं।

समाजशास्त्र की ये दोनों विचारधाराएँ भूमिका की अवधारणा के बारे में हमारी समझ बढ़ाते हैं और दोनों का ही विभिन्न तरीकों से लाभदायक उपयोग किया जा सकता है। सामाजिक भूमिका चाहे लचीली हो या कठोर, प्रक्रियावादी दृष्टिकोण से अच्छी तरह समझी जा सकती है। विभिन्न प्रकार की भावनाओं, विश्वासों और व्यवहार से सम्बद्ध पदों से जुड़ी भूमिकाओं की, पारस्परिक क्रियावादी विचारों के अनुसार चर्चा की जा सकती है। इस तरह इन दोनों ही दृष्टिकोणों को हम लाभदायक पाते हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) प्रश्नों के उत्तर दिये गये स्थान पर लिखें।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपना उत्तर मिलाएँ।

1 भूमिका संकेत क्या हैं? पांच पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

2 भूमिका परिवर्तन में केवल पहनावे में परिवर्तन की जरूरत होती है।
(सही) (गलत)

3 भूमिका के तनाव क्या हैं? तीन पंक्तियों में अपना उत्तर लिखें।

.....

.....

.....

4 भूमिका की अवधारणा के बारे में परस्पर क्रियावादियों का दृष्टिकोण क्या है? दो पंक्तियों में उत्तर दे।

.....

.....

26.7 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक भूमिकाओं के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की है। भूमिका को

विभिन्न अवधारणाओं का उल्लेख करते हुए हमने चर्चा की शुरुआत की थी। हमने यह भी बताया है कि भूमिकाओं का कैसे वर्गीकरण किया जाता है। इसके बाद हमने बहुविध भूमिकाओं और भूमिका प्रतिमानों से संबंधित विचारों की पड़ताल की। फिर इन अवधारणाओं के बारे में सरल एवं जटिल भूमिका प्रणालियों के संदर्भ में विचार किया गया। हमारी इस इकाई में भूमिका के चिह्नों और भूमिका परिवर्तन की भी चर्चा की गई। अंत में हमने भूमिका के सिद्धांत के उपयोग संबंधी विचारों पर प्रकाश डाला। इस प्रकार हमने सामाजिक भूमिकाओं के विषय से संबंधित मूल मुद्दों की चर्चा पूरी कर ली है।

शब्दावली

अर्जित भूमिका : ये वे भूमिकाएँ हैं जिन्हें व्यक्तिगत प्रयास की बदौलत हासिल किया जाता है। जैसे कि सेना में जनरल का पद, प्रजातांत्रिक देश में प्रधानमंत्री होना आदि।

प्रदत्त भूमिका : इस तरह की भूमिका में जन्म का विशेष प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए किसी खास जाति में जन्म लेने का अर्थ है उस जाति विशेष के वृत्त को अपनाना, जैसे कि एक पुजारी का पुत्र पुजारी ही बनेगा।

जटिल भूमिका प्रणाली : इस भूमिका प्रणाली में भूमिकाओं में काफी विभिन्नता एवं विशिष्टता होती है।

सहयोग : इसका अर्थ है कि दल के सभी सदस्य लक्ष्य की दिशा में एक साथ निर्देशित होते हैं।

बहुविध भूमिका : यह इस बात का संकेत करता है कि प्रत्येक पुरुष एवं नारी को अलग-अलग प्रस्थितियों में अलग-अलग भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। उदाहरण के लिए स्कूल में शिक्षक, मन्दिर में पुजारी आदि।

भूमिका : यह अधिकारों एवं कर्तव्यों का योग है। यह प्रस्थिति का गतिशील पहलू है।

भूमिका इतर : भूमिका इतर वह व्यक्ति होता है जिसके साथ व्यक्ति भूमिका निभाते वक्त अन्तःक्रिया करता है।

भूमिका प्रतिमान : इसमें किसी विशेष परिस्थिति में एकल भूमिका को बहुविध संपर्कों पर प्रकाश डाला जाता है। उदाहरण के लिए इकाई में दिए गए चित्र को देखें।

भूमिका संकेत : यह वर्दी या पोशाक की तरह के संकेत होते हैं। वे मूक तौर पर किसी भूमिका के सभी आयामों को बताते हैं, उदाहरण के लिए पुलिस की वर्दी।

भूमिका तनाव : यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब स्त्री या पुरुष अपने को सौंपे गए भूमिका के निर्वाह में अक्षम महसूस करता है। उदाहरण के लिए नपुंसक पति या बांझ पत्नी।

सरल भूमिका प्रणाली : ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं में जो प्रायः जनजाति समाज में व्याप्त है, श्रम विभाजन की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम भूमिकाएँ होती हैं।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Banton, Michael, 1965. *Roles: An Introduction to the Study of social Relation.* Tavistock Publications: London, Chapters 3,4,5 and 7. PP. 42-126 and 151-171.

Goodenough, Ward H., 1965. Rethinking 'Status' and 'Roll': Toward a Central model of the cultural organisation of social relationship. In Michael Banton (ed.) *The Relesance of Models For Social Anthropology.* Tavistock Publications : London; PP. 1-22.

Linton, Ralply, 1936. *The Study of Man* D. Appsleton Century Company : New York.

Merton, Robert K. 1957. *Social Theory and Social Structure.* The Free press: Glencoc, Illinois.

Worsley, Peter. 1970. *Introducing Sociology.* Penguin Books: London. Chapters to PP. 294-301.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 सामाजिक जीवन में व्यक्ति की भिन्न-भिन्न स्थिति होती है। उदाहरण के लिए किसी कंपनी का निदेशक या किसी प्रकाशन में संपादक होना। इस तरह की स्थितियों को पद कहते हैं। इसलिए पद अधिकारों और कर्तव्यों का समुच्चय होता है। जब कोई इन अधिकारों और कर्तव्यों का पालन करता है तो वह एक भूमिका अदा करता है।

2 नहीं, भूमिकाओं के वर्गीकरण के कई तरीके हैं। इन्हें कम से कम चार तरीकों से वर्गीकृत किया जा सकता है। वर्गीकरण के प्रत्येक तरीके के पीछे एक खास उद्देश्य होता है।

बोध प्रश्न 2

1 नहीं
2 जटिल प्रणालियों में सामाजिक कार्यों में विशिष्टता आवश्यक है। यहां तक कि एक छोटी कंपनी में भी काम को सुचारू ढंग से करने के लिए हर व्यक्ति की भूमिका स्पष्ट करने की जरूरत होती है। जटिल प्रणाली के प्रत्येक कार्य में बहुत सी भूमिकाएँ शामिल रहती हैं।

बोध प्रश्न 3

1 भूमिका चिह्न भूमिकाओं के फर्क को व्यक्त करते हैं– उदाहरण के लिए वेशभूषा तथा अन्य परिधान पुरुषों और महिलाओं के अंतर को स्पष्ट करते हैं। भूमिका चिह्न किसी व्यक्ति की भूमिका के बारे में हमें अधिक जानकारी देते हैं।
2 गलत
3 भूमिका तनाव तब पैदा होता है जब भूमिका निभा रहा व्यक्ति उसको ठीक ढंग से अदा नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए एक नपुंसक व्यक्ति एक पिता की भूमिका सही ढंग से नहीं अदा कर सकता, क्योंकि उसके बच्चे नहीं होते।
4 पारस्परिक क्रियावादी, व्यक्ति की पसंद और व्यक्ति की भूमिका की व्याख्या के संदर्भ में भूमिका की अवधारणा को परिभाषित करते हैं।

इकाई 27 सामाजिक तंत्र

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 परिभाषा
  27.2.1 सामाजिक तंत्र के बनने और कार्य करने का तरीका
27.3 सामाजिक तंत्रों के प्रकार
  27.3.1 व्यक्तिगत और समूह आधारित तंत्र
  27.3.2 व्यक्तिगत तंत्र की विशेषताएँ
27.4 अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र
  27.4.1 अहं-केंद्रित और गैर-अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्रों की परिभाषाएँ
  27.4.2 अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र की व्याख्या में आने वाली समस्याएँ
27.5 व्यक्तिगत तंत्र और सामाजिक ढांचा
  27.5.1 व्यक्तिगत तंत्र और औपचारिक संगठन
  27.5.2 "सम्पर्क-सूत्र" की धारणा
  27.5.3 साधन तंत्र एवं साधन समूह
27.6 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सामाजिक तंत्र की परिभाषा दे सकेंगे,
- सामाजिक तंत्र के बनने और काम करने के तरीके को समझा सकेंगे,
- व्यक्तिगत तंत्रों की विशेषताएँ बता सकेंगे, और
- व्यक्तिगत तंत्र तथा सामाजिक ढांचे के बीच संबंध को समझा सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधों का तंत्र सामाजिक व्यवहार का अध्ययन की जा सकने वाली सबसे छोटी इकाई है। सामान्यतः इन्हें व्यक्तिगत तंत्र कहा जाता है जिसका समग्र सामाजिक तंत्र से अलग सुविधा से अध्ययन किया जा सकता है। इस इकाई में तंत्रों के बनने और काम करने के तरीकों पर विचार किया गया है। व्यक्तिगत तंत्रों की विशेषताओं पर चर्चा करने के बाद इस इकाई में अंह-केंद्रित और व्यक्तिगत तंत्रों पर विचार किया गया है और वास्तविक शोध कार्य में इन सिद्धांतों को लागू करने में आने वाली समस्याओं को बताया गया है। इसके बाद व्यक्तिगत तंत्र और सामाजिक ढांचे के संबंधों को औपचारिक संगठनों में बनने वाले संबंधों के संदर्भ में समझाया गया है। अंत में सम्पर्कों पर आधारित तंत्र और उनके समूहों की भी चर्चा की गयी है।

27.2 परिभाषा

तंत्र की धारणा समाजशास्त्र की शब्दावली में कुछ ही समय पहले शामिल की गयी है। इसका मतलब किसी व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों से संबंधों या संपर्कों से है। कुछ संबंध तो समाज में पहले से ही "मौजूद" होते हैं। जैसे पैदा होते ही हम पारिवारिक तंत्र के सदस्य हो जाते हैं। इसके अलावा ऐसे सामाजिक तंत्र भी होते हैं जिन्हें व्यक्ति अपने प्रयासों से बनाते हैं, जैसे क्लब का सदस्य बन जाना, दोस्तों का समूह आदि। सामाजिक तंत्रों का पहले से बना ढाँचा भी हो सकता है और उन्हें बनाया भी जा सकता है। सामाजिक तंत्रों के बनने और उन्हें चालू रखने में सामाजिक

कारकों का तो प्रभाव पड़ता ही है, व्यक्ति भी इस काम में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। सामाजिक तंत्र मुख्य रूप से व्यक्तियों के आपसी संपर्क दिखाते हैं। जिन लोगों से यह उम्मीद हो कि वे वक्त पड़ने पर तंत्र में एक-दूसरे की मदद कर सकेंगे, उन्हें तंत्र में शामिल कर लिया जाता है। फिर यह तंत्र आवश्यक चीजें या संसाधन जुटाने का माध्यम बन जाता है। इससे पता चलता है कि किसी संगठन में सामाजिक व्यवहार को समझ पाने में यह धारणा कितनी महत्वपूर्ण हो सकती है।

समाज को भी सामाजिक संबंधों की शृंखला के रूप में देखा जाता है। इस शृंखला में अनेक प्रकार के संबंध होते हैं, जैसे– परिचय, मित्रता, रिश्तेदारी, सहपाठी होना आदि। इस शृंखला में कुछ लोगों के तो एक-दूसरे से सीधे संबंध होते है जबकि कुछ लोगों के संबंध अप्रत्यक्ष होते हैं। समूह या संस्था की धारणाओं में यह बात स्पष्ट होती है कि व्यक्तियों के आपसी संबंधों पर किसी संगठन का नियंत्रण नहीं होता। एक समाज में जितने संबंध संभव हो सकते हैं उसके किसी भी सदस्य को उस सीमा तक आपसी संबंध कायम करने में कोई रुकावट नहीं है। इस तरह सामाजिक संबंधों की शृंखला में पूरा समाज ही शामिल हो जाता है। इस शृंखला की बुनियादी इकाई है– दो व्यक्तियों के बीच संबंध। दो लोगों के आपसी संबंधों की कड़ियों से ही यह शृंखला जुड़ती जाती है। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पूरे तंत्र का केंद्र व्यक्ति ही है और हम पूरे तंत्र से अलग करके उसका अध्ययन कर सकते है। लेकिन, सामाजिक तंत्रों की चर्चा करने से पहले हम उनके बनने और काम करने के तरीकों का अध्ययन करेंगे।

27.2.1 सामाजिक तंत्र के बनने और कार्य करने का तरीका

जन्म लेते ही हर व्यक्ति किसी तंत्र का हिस्सा बन जाता है। नवजात शिशु का पहला तंत्र उसका परिवार और रिश्तेदार होते हैं। शिशु का अपने माता-पिता के सामाजिक तंत्र से संपर्क बन जाता है। धीरे-धीरे बच्चे बड़े होते हैं और उनके पास-पड़ोस और स्कूल के बच्चों से संबंध बनते हैं। जब बच्चे व्यस्क होते हैं तो वे समूहों, सामाजिक क्लबों, राजनीतिक दलों, घनिष्ठ संबंधियों के बीच, अपने काम के आधार पर व्यापक तंत्रों के सदस्य बन जाते हैं। जाति, वर्ग, लिंग, शिक्षा, पेशा जैसे सामाजिक प्रस्थिति को बताने वाले तथ्यों से इस बात का निर्धारण होता है कि कैसे और कितने तंत्र बनेंगे। ज्यादा साधन और सूचनाएँ रखने वाले लोगों के तंत्र ज्यादा व्यापक होते हैं। ऐसे लोग जीवन में अपना लक्ष्य ज्यादा आसानी से प्राप्त कर पाते हैं।

विभिन्न, सामाजिक तंत्रों का अपने सामाजिक मूल्यों, विश्वासों, आदर्शों, परंपराओं और रीति-रिवाजों के आधार पर, काम करने का तरीका अलग-अलग होता है। अपने सामाजिक तंत्रों के जरिए ही व्यक्ति विभिन्न सूचनाएँ, सामाजिक प्रस्थिति और अधिकार प्राप्त करता है। रोजगार पाने में सामाजिक संबंधों के उपयोग के बारे में हुए ताजा अध्ययन से पता चला है कि सही पद वाले लोगों को जानने से (इन लोगों को ही "संपर्क-सूत्र" कहा जाता है) युवक बेहतर रोजगार पा सकते हैं। "संपर्क-सूत्र" का पद अक्सर रोजगार की तलाश कर रहे व्यक्ति के माता-पिता के सामाजिक स्तर से जुड़ा होता है। इस इकाई के अंत में हम "संपर्क-सूत्र" की धारणा की भी चर्चा करेंगे

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) दिये गये रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1 सामाजिक संबंधों की शृंखला की बुनियादी इकाई क्या है? दो पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

2 सामाजिक तंत्र बनने का काम कब शुरू होता है? एक पंक्ति में उत्तर दें।

.....

27.3 सामाजिक तंत्रों के प्रकार

सामाजिक तंत्रों की परिभाषा देते समय हमने देखा था कि किस प्रकार सामाजिक संबंधों की पूरी शृंखला से ही पूरा समाज बनता है। सामाजिक तंत्रों के भेदों को समझने के लिए हमें लोगों के बीच संबंधों की बुनियादी इकाई पर ध्यान देना होगा। इन व्यक्तिगत तंत्रों का पूरे तंत्र से अलग

अध्ययन किया जा सकता है। व्यक्तिगत तंत्रों के साथ-साथ हम सामूहिक संबंधों पर आधारित गैर-व्यक्तिगत तंत्रों का भी अध्ययन कर सकते हैं।

27.3.1 व्यक्तिगत और समूह आधारित तंत्र

व्यक्तिगत तंत्र किसी व्यक्ति-विशेष से जुड़े संपर्कों का तंत्र है। इन संपर्कों का ढाँचा अलग-अलग हो सकता है। ये रिश्तेदारी, जाति, सहपाठी होने, मित्रता या एक जगह काम करने से बन सकते हैं। इनकी सघनता, मिल-जुल पाने की सुलभता और विस्तार (दायरा) जैसी आकार-संबंधी विशेषताएँ होती हैं। साथ ही इनमें स्वरूप, संबंधों की दिशा, स्थायित्व, घनिष्ठता और बारंबारिता जैसी संपर्क आधारित विशेषताएँ भी होती हैं। व्यक्तिगत तंत्र की एक और आकार-संबंधी विशेषता आश्रय (anchorage) होती है अर्थात् व्यक्ति-विशेष का अहं (ego) व्यक्तिगत तंत्र का आधार बनता है। ऐसी स्थिति में इसे अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र कहते हैं।

इसके विपरित सामूहिक या गैर-व्यक्तिगत तंत्र का अध्ययन सदस्यों के संपर्क की प्रकृति और समूह में उनके शामिल होने के आधार पर किया जाता है। अगर संपर्क की दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं कि समूह ऐसे व्यक्तियों का कुल जोड़ है जो आपस में ज्यादा संपर्क रखते हैं और इन संपर्कों से वे एक इकाई बनाते हैं या एक समूह के रूप में उनकी पहचान बनती है और वे "समूह के सदस्य होने की समझ" कायम कर लेते हैं। अगर समूह में शामिल होने की दृष्टि से देखें तो सामूहिक तंत्र में सदस्यों, संगठन या ढांचे के समान हित, अधिकार और जिम्मेदारियों जैसी औपचारिक विशेषताएँ होती हैं।

27.3.2 व्यक्तिगत तंत्र की विशेषताएँ

व्यक्तिगत तंत्र की आकार पर आधारित (morphological) और संपर्क-संबंधी विशेषताएँ होती हैं। आकार पर आधारित विशेषताओं से तंत्रों के स्वरूप की पहचान होती है जबकि संपर्क पर आधारित विशेषताओं से व्यक्तिगत तंत्रों के घटकों का विश्लेषण किया जाता है। मिचेल (mitchell-1969) ने अपनी पुस्तक (Social Network in Urban Situation) में इन विशेषताओं का विश्लेषण किया है।

1) आकार पर आधारित विशेषताएँ

मिचेल (1969) ने व्यक्तिगत तंत्रों की चार विशेषताएँ बतायी हैं– आश्रय (anchorage), सघनता, सुलभता और विस्तार (range) या दायरा।

क) **आश्रय**–इस शब्द से पता चलता है कि व्यक्ति का अहं तंत्र का केंद्र बिंदु है। यही अहं तंत्र को समन्वित करता है। इसके बिना तंत्र आकारहीन हो जाएगा। इसी अहं से अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र बनता है। हालांकि अहं ऐसा व्यक्तिगत तंत्र भी बना सकता है जिसका समन्वय वह खुद न कर रहा हो। वास्तव में गैर-अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र में कोई भी व्यक्ति समन्वय का काम नहीं करता।

ख) **सघनता**–व्यक्तिगत तंत्र में सघनता का मतलब इस बात से है कि तंत्र में एक-दूसरे को जानने वाले लोगों का अनुपात क्या है।

ग) **सुलभता**–इसका मतलब है कि तंत्र का विश्वासपात्र सदस्य दूसरे सदस्य की ज़रूरत पड़ने पर कितनी आसानी से मिल सकता हे और उसे कितनी आसानी से ज़रूरी काम करने को प्रेरित किया जा सकता है।

घ) **विस्तार**–विस्तार या दायरे का मतलब इस बात से है कि तंत्र में व्यक्ति-विशेष अन्य कितने सदस्यों में नियमित रूप से सीधा संपर्क रखता है।

2 संपर्क पर आधारित विशेषताएँ

संपर्क पर आधारित पाँच विशेषताएँ हैं– स्वरूप, संबंधों की दिशा, स्थायित्व, घनिष्ठता और बारंबारिता।

क) **स्वरूप**–इसका मतलब उस रिश्ते से है, जिसके अंतर्गत संपर्क होता है जैसे मित्रता, सहपाठिता, एक जाति या पारिवारिक रिश्तेदारी आदि।

ख) **संबंधों की दिशा**–इसका मतलब है कि व्यक्ति-विशेष (के अहं) और तंत्र के किसी सदस्य के बीच दोनों ओर से संपर्क बनता है या यह एकतरफा है। दूसरे शब्दों में, संबंध दोनों ओर से है या एक ही ओर से।

ग) **स्थायित्व**–इससे संबंधों के निश्चित समय तक लगातार बने रहने का पता चलता है। अगर दो व्यक्तियों के बीच निश्चित अवधि तक निरंतर संपर्क बना रहे तो ऐसे संबंध स्थायी कहे जायेंगे।

घ) **घनिष्ठता**–घनिष्ठता का मतलब है कि तंत्र के सदस्य एक-दूसरे के प्रति किस हद तक

जिम्मेदारी निभान को तत्पर रहते हैं। अगर किसी अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र का कोई सदस्य अपने अहं से जुड़े लाभ के कारण तंत्र के प्रति जिम्मेदारी निभाने को स्वयं को बाध्य नहीं महसूस करता तो ऐसे तंत्र की घनिष्ठता कम मानी जाएगी।

च) **बारंबारिता**—इसका मतलब है कि तंत्र के सदस्य आपस में कितने समय के लिये और कितनी बार मिलते हैं। उदाहरण के लिए, अगर वे रोज मिलते हैं तो आवृति ज़्यादा मानी जाएगी, जबकि कभी-कभी मिलने पर यह आवृति कम मानी जाएगी। बारंबारिता जितनी ज़्यादा होगी, घनिष्ठता और स्थायित्व की संभावना उतनी ही ज्यादा होगी।

27.4 अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अगर किसी व्यक्तिगत तंत्र का कोई समन्वयक हो तो यह अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र बन जाता है। सिद्धांत को व्यवहारिक अनुसंधान में प्रयुक्त करने में समाज-वैज्ञानिकों को जो परेशानियाँ होती है, उनका यहां हमें पता चलता है। अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र की परिभाषा और उसकी विशेषताएँ बताना आसान है। पर व्यवहारिक शोधकार्य में व्यक्ति-विशेष के अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र के विश्लेषण में बड़ी मुश्किलें आती है। हम पहले अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र की परिभाषा दे रहे हैं और फिर वास्तविक विश्लेषण में इस सिद्धांत को लागू करने में आने वाली परेशानियों की चर्चा कर रहे हैं।

27.4.1 अहं-केंद्रित और गैर-अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्रों की परिभाषाएँ

अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र व्यक्ति-विशेष से बंधा होता है। इसमें वे सभी अन्य लोग शामिल होते हैं जिनसे उक्त व्यक्ति-विशेष का वास्तविक संपर्क रहता है। अगर इस तंत्र को अन्य सदस्यों की दृष्टि से देखें, तो वह व्यक्ति जिसका अहं इन सब को बांधे रखता है, सभी का संपर्क-सूत्र नजर आता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि प्रत्येक सदस्य का यही एक व्यक्तिगत तंत्र हो। हर सदस्य का अपना अलग व्यक्तिगत तंत्र हो सकता है। इन तंत्रों के बीच आपसी संपर्क हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। यह रेखाचित्र दोनों स्थितियों के बीच अंतर को स्पष्ट करता है।

अंह केन्द्रित व्यक्तिगत तंत्र

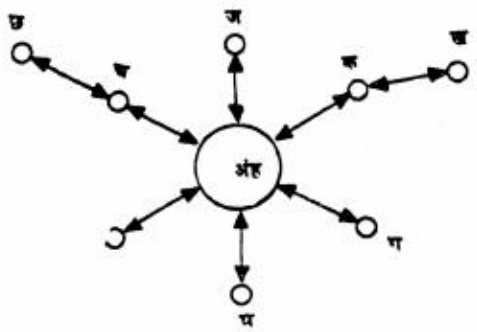

चित्र 1

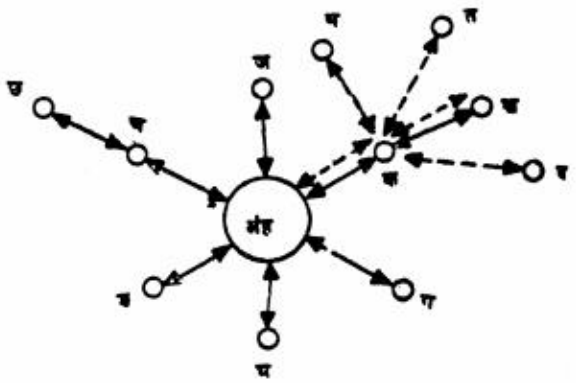

चित्र 2

रेखांकित पंक्तियाँ अंहकेन्द्रित तंत्र में क का संबंध दर्शाती हैं।

इस रेखाचित्र के चित्र-1 में अहं का व्यक्तिगत तंत्र दिखाया गया है। इसमें क, ग, घ, ङ च, ज से सीधे संबंध और क के जरिए ख से तथा च के जरिए छ से अप्रत्यक्ष संबंध दिखाये गये हैं। चित्र 2 में क का व्यक्तिगत तंत्र भी दिखाया गया है। उसके व्यक्तिगत तंत्र में चित्र 1 के अहं के साथ-साथ त, थ, द भी शामिल हैं। आप देखते हैं कि ये दो व्यक्तिगत तंत्र आपस में जड़े रहे हैं। क और ख अहं-केंद्रित और गैर-अहं-केंद्रित दोनों तंत्रों में शामिल हैं।

रेखाचित्र में चित्र 1 और चित्र 2 दोनों में ही अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र दिखाये गये हैं। चित्र 1 में केवल अहं का व्यक्तिगत तंत्र दिखाया गया है। इससे पता चलता है कि उससे क, ख, ग, घ, ङ, छ ज, जुड़े हैं। इनमें ख और छ अप्रत्यक्ष संबंध हैं। चित्र 2 में क और अहं के बीच आपसी, दोनों तरफ के, संबंध हैं। इस तरह दो अहं-केंद्रित तंत्र जुड़ सकते हैं और व्यापक सामाजिक तंत्र बनाते हुए फैल सकते हैं।

27.4.2 अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र की व्याख्या में आने वाली समस्याएँ

इन सिद्धांतों को व्यवहारिक विश्लेषण में लागू करने में निम्नलिखित छः समस्याएँ सबसे उल्लेखनीय हैं :

1) संपर्क की प्रकृति
2) अहं का केंद्र में होना
3) आपसी व्यवहार (लेन-देन) का स्वरूप
4) सामाजिक संबंधों के प्रकार
5) सदस्यों की सक्रियता
6) सीमा निर्धारण

1) संपर्क की प्रकृति

दो लोगों के बीच सामाजिक संपर्क महज औपचारिक अभिवादन तक सीमित हो सकता है या निरंतर संपर्क और एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदारी की भावना तक घनिष्ठ भी हो सकता है। पास-पड़ोस या काम करने के स्थान पर महज अभिवादन वाले अनेक संपर्क हो सकते हैं पर ज़रूरत पड़ने पर इन सभी से मदद की उम्मीद नहीं की जा सकती। ये लोग व्यक्ति-विशेष को हमेशा मदद देने को तत्पर भी नहीं होंगे।

सामाजिक संपर्क केवल ऐसा विस्तृत दायरा है जिसमें से "अहं" को बार-बार परख कर, अंदाज से या मौका पड़ने से अपने सामाजिक तंत्र के सदस्यों को चुनना होता है। जब तक एक तरफा या आपसी स्थायी संबंध नहीं बनते, सामाजिक संपर्क से निश्चित तंत्र नहीं बन सकता।

2) अहं का केंद्र में होना

अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र के लिए यह बहुत ज़रूरी शर्त है। व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों से परस्पर लाभदायक संबंधों से सामाजिक तंत्र बन सकता है। पर ऐसी स्थिति में किसी एक व्यक्ति का केंद्र में होना ज़रूरी नहीं है। हो सकता है, कोई भी व्यक्ति ऐसे तंत्र के केंद्र में न हो। तंत्र संबंधों की केवल ऐसी शृंखला भी हो सकती है, जिसमें बड़ी-छोटी कड़ियाँ अलग-अलग स्थानों पर उलझी हों।

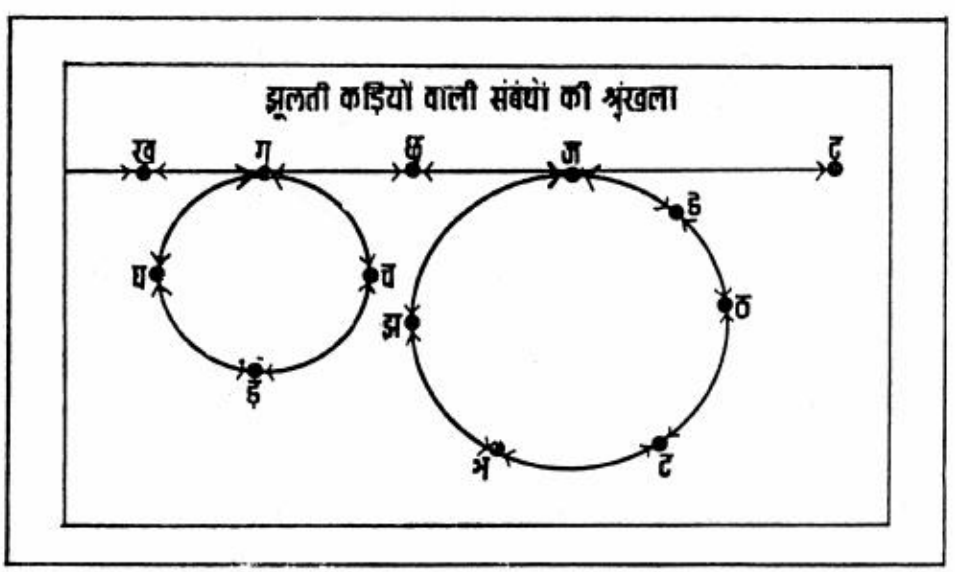

व्यक्तिगत तंत्र में शृंखलाबद्ध या उलझे आपसी संबंध होने पर ऐसा हो सकता है कि कोई एक सदस्य अन्य सदस्यों को, किसी एक समय में सक्रिय या गतिशील बना रहा हो। ऐसी स्थिति में उसे तंत्र का केंद्र माना जाएगा। इस तरह अलग-अलग गतिविधियों के समय केंद्र भी बदलते रहेंगे। ऐसे शृंखलाबद्ध संपर्क--गैर-अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र कहलाते हैं।

इस स्थिति को देखते हुए अहं-केंद्रित और गैर-अहं-केंद्रित तंत्रों के बीच अंतर करना ज़रूरी हो जाता है। अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र में अहं सदस्यों की भर्ती करता है और संबंधों का केंद्र-बिंदु होता है। जबकि गैर-अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र किसी व्यक्ति-विशेष की पहल पर नहीं बनता और न ही कोई व्यक्ति इसका केंद्र या समन्वय करने वाला होता है। इस संदर्भ में, अनेक क्षेत्रों से आये लोग किसी खास काम के लिए थोड़े समय के लिए एक तंत्र बनाते हैं।

उदाहरण के लिए, ऊपर के चित्र में हम कल्पना करें कि ग, घ का पुत्र है। घ डॉक्टर ङ से प्रार्थना करता है कि वह अन्य डॉक्टर च से सिफारिश कर दे ताकि वह अपने अस्पताल में ग की डॉक्टरी जाँच करा दे। इस गतिविधि में घ ने काम शुरू कराया। वह इस गतिविधि का केंद्र माना जा सकता है। इसी तरह किसी खास वक्त में ङ किसी काम में पहल कर सकता है। अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र में ये सभी काम केंद्र या अहं से संबद्ध होने चाहिए और हर बार उसे ही इनका समन्वय करना चाहिए।

चित्र से हमें यह भी पता चलता है कि ऐसे उलझे तंत्र में किसी काम को करवाने या किसी फायदे का उद्देश्य रहता है। हर व्यक्ति किसी न किसी लाभ को पाने का प्रयास करता है जैसे सिफारिशी चिट्ठी, डॉक्टर से जांच का मौका, सूचना प्राप्त करना आदि। ग, घ, ङ, च जैसे छोटे दायरे के संपर्क ज्यादा करीबी हैं। जबकि क, ख, ग, छ के संपर्क इतने घनिष्ठ अंदरूनी तंत्र से नहीं जुड़े हैं।

3) आपसी व्यवहार का स्वरूप

व्यक्तिगत तंत्र के सदस्यों के आपसी संपर्कों को आपसी व्यवहार (लेन-देन) कहा जाता है। कभी-कभी बाज़ार के सामान्य सौदे के पीछे कई संपर्क हो सकते हैं। इस प्रकार व्यवहार या लेन-देन ऐसे क्रमिक संपर्क हैं जो व्यवस्थित आपसी लेन-देन से निर्धारित होते हैं। आपसी व्यवहार में यह मान लिया जाता है कि दोनों संबद्ध पक्ष संतुष्ट हैं और लेन-देन,को अपने लिए फायदेमंद मानते हैं। लेकिन इसमें भी दो बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए।

पहली बात यह है कि हर लेन-देन में लाभ का आकलन असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। दूसरे जब एक व्यक्ति दूसरे की कोई भलाई करता है तो सामान्य तौर पर वह बदले में कुछ पाने की तुरंत मांग नहीं करता। बदले की वस्तु बाद में मिल सकती है या मांगी जा सकती है या आपसी व्यवहार और लेन-देन की लंबी प्रक्रिया के बाद मिल सकती है।

4) सामाजिक संबंधों के प्रकार

इस संदर्भ में, सौहार्दपूर्ण और स्वार्थपूर्ण संबंधों के बीच अंतर महत्वपूर्ण है। सौहार्दपूर्ण संबंध में व्यक्ति को संबंध होने मात्र से संतुष्टि मिलती है। लेकिन स्वार्थपूर्ण संबंध किसी लाभ की प्राप्ति के लिए बनाये जाते हैं। ये साधन मात्र हैं, अपने आप में लक्ष्य नहीं। चूंकि व्यक्तिगत तंत्र व्यक्तियों द्वारा अपने लाभ के लिए ही बनाये जाते हैं, अतः वे मूलतः स्वार्थपूर्ण होते हैं। उन्हें कई बार सौहार्दपूर्ण स्वरूप देने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए, किसी संस्थान में काम करने वाला व्यक्ति अगर संस्थान के मालिक की पत्नी को "माताजी" कहता है तो उसका असली इरादा स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के लिए मालिक की पत्नी के जरिये उसकी कृपा पाना होता है। इन स्वार्थपूर्ण इरादों के लिए वह सौहार्दपूर्ण संबंधों का इस्तेमाल करता है। व्यक्तिगत तंत्र का विश्लेषण करते समय इन दो तरीकों के संबंधों के बीच फर्क करना बड़ा मुश्किल हो जाता है। लेकिन यह फर्क बड़ा महत्वपूर्ण है।

5) सदस्यों की सक्रियता

व्यक्तिगत तंत्र की पहचान में एक बड़ी समस्या यह पता लगाने की है कि अहं तंत्र के सदस्यों को कितना सक्रिय कर पाता है। पहले से यह बताना आसान नहीं है कि ऐसे व्यक्ति तंत्र का कोई सदस्य अहं की प्रार्थना पर निश्चित रूप से उसके अनुरूप काम करने लगेगा। फिर भी, किसी सदस्य की सक्रियता को निर्धारित करने वाले चार बड़े कारक हैं--

क) अहं और सदस्य के एक-दूसरे के सापेक्ष संसाधनों की क्या स्थिति है? (सदस्य को समाजशास्त्र की भाषा में प्रति-अहं (आल्टर) कहते हैं)
ख) प्रति-अहं अह पर किस हद तक निर्भर है।
ग) अहं और प्रति-अहं के बीच बिचौलियों की संख्या।

घ) अहं जो काम करवाना चाहता है, उसका प्रति-अहं पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

इन चार कारकों के आधार पर हम निम्न सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं –

क) प्रति-अहं के पास अहं की तुलना में जितने कम संसाधन होंगे, उसकी अहं की इच्छा के अनुसार काम करने की संभावना उतनी ही ज्यादा होगी।

ख) प्रति-अहं अहं पर जितना ज्यादा निर्भर होगा, उसकी अहं की इच्छा के अनुसार काम करने की संभावना उतनी ही ज्यादा होगी।

ग) अहं और प्रति-अहं के बीच बिचौलिये जितने ज्यादा होंगे, अहं की इच्छा के अनुसार काम करने की उसकी संभावना उतनी ही कम होगी।

घ) अहं के काम से प्रति-अहं के हितों पर बुरा असर पड़ने की संभावना जितनी कम होगी, उसकी अहं की इच्छा के अनुसार काम करने की संभावना उतनी ही ज्यादा होगी।

6) सीमा-निर्धारण

व्यावहारिक विश्लेषण में किसी व्यक्तिगत तंत्र की सीमा का निर्धारण करना सबसे मुश्किल होता है। इस उद्देश्य के लिए, दो मानदंड सुझाये जाते हैं। कुछ की राय है कि व्यक्ति (अहं) का जितने लोगों से संपर्क है, वे सभी उसके व्यक्तिगत तंत्र में शामिल हो जाते हैं। लेकिन कुछ लोगों को इस तर्क पर यह आपत्ति है कि संपर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को किसी काम के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। उनकी राय है कि सही मानदंड यह होना चाहिए कि किसी काम के लिए वास्तव में कितने लोगों को निश्चित रूप से तैयार किया जा सकता है। लेकिन इस मानदंड में भी दिक्कत यह है कि काम के लिए तैयार करने का आधार रखने पर व्यक्तिगत तंत्र और एक गतिविधि के लिए बने सेट के बीच फर्क मुश्किल हो जाएगा। क्योंकि गतिविधि से जुड़ा सेट किसी खास गतिविधि (काम) के लिए बना होता है। जबकि व्यक्तिगत तंत्र के संपर्क केवल किसी काम के पूरे होने की अवधि तक ही नहीं चलते, बल्कि ज्यादा स्थायी होते हैं। इसलिए किसी काम के लिए बने सेट की सीमा में फेरबदल हो सकता है, जबकि व्यक्तिगत तंत्र की सीमा अपेक्षाकृत स्थायी होती है। लेकिन इस सीमा को स्पष्ट नहीं बताया जा सकता।

आध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) प्रश्न का उत्तर दिये गये रिक्त स्थान में लिखें।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर का मिलान करें।

1) व्यक्तिगत तंत्र की आकार-संबंधी और संपर्क पर आधारित विशेषताएँ बताएँ। उत्तर तीन पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

2) अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र की परिभाषा दें। उत्तर तीन पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

27.5 व्यक्तिगत तंत्र और सामाजिक ढांचा

यह महत्वपूर्ण बात है कि व्यक्तिगत तंत्र में जब कोई व्यक्ति समन्वय करने वाले के रूप में उभरता है तो यह तंत्र अहं-केन्द्रित तंत्र बन जाता है और अहं-केन्द्रित व्यक्तिगत तंत्र फिर समूह का रूप ले सकता है। ये सब बातें, सामाजिक संबंधों में परिवर्तन और संपर्कों से जुड़ी अतिरिक्त विशेषताएँ हासिल करने पर निर्भर करती हैं। परिवर्तन विपरीत दिशा में भी हो सकता है। समूह कमजोर होकर व्यक्तिगत या अहं-केन्द्रित तंत्र में भी बदल सकता है। यह सब एक व्यक्ति के समन्वयकर्ता के रूप में उभरने या ऐसा न हो पाने पर निर्भर करता है। इस प्रकार, व्यक्तिगत तंत्र सामाजिक ढांचे को जोड़ने और बिखेरने वाली दोनो प्रवृत्तियों पर निर्भर करते हैं। ये तंत्र सामाजिक ढांचे के जोड़ने और बिखराने वाले पक्षों को समझने में भी मदद करते हैं। ये सामाजिक ढांचे के स्वरूप और उसमें परिवर्तनों को भी स्पष्ट करते हैं।

27.5.1 व्यक्तिगत तंत्र और औपचारिक संगठन

हम व्यक्तिगत तंत्रों और औपचारिक संगठनों के संबंध के जरिए सामाजिक ढांचे और व्यक्तिगत तंत्र के संबंध को स्पष्ट कर सकते हैं। ऐसा करने से पहले हम बताएंगे कि औपचारिक संगठन क्या हैं।

1) औपचारिक संगठनों की प्रकृति

ज्यादा तकनीकी ब्यौरों में न जा कर, हम कह सकते हैं कि औपचारिक संगठन ऐसे सामाजिक समूह हैं, जिनके विधिवत (औपचारिक रूप से) निर्धारित लक्ष्य हों। इसके सक्षम अधिकारी होते हैं। अधिकारियों से अपेक्षा की जाती है कि वे औपचारिक संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपने अधिकारों का उपयोग करें। ये संगठन सभी जगह लागू होने वाले, निर्वैयक्तिक (यानी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि से प्रभावित न होने वाले) कायदे-कानूनों से चलाए जाते हैं और उम्मीद की जाती है कि ये कायदे-कानून सभी पर निष्पक्ष रूप से लागू हों।

2) औपचारिक संगठन का उदाहरण

विश्वविद्यालय को औपचारिक संगठन का उदाहरण माना जा सकता है। शिक्षा दिलाने का इसका लक्ष्य औपचारिक रूप से निर्धारित है। इसमें कुलाधिपति, कुलपति, डीन, विभागाध्यक्ष आदि अधिकारी होते हैं। हर अधिकारी को कुछ निर्धारित अधिकार होते हैं ताकि कर्मचारियों और प्राध्यापकों की नियुक्ति, छात्रों के प्रवेश, शैक्षिक कार्यों का प्रशासन और परीक्षाएँ कराने जैसे विश्वविद्यालय के कार्य कराये जा सकें।

3) पारंपरिक समाज में औपचारिक संगठन

भारत जैसे पारंपरिक समाज में परिवार, रिश्तेदारी, जाति, धर्म और भाषा से जुड़े विभिन्न समूह व्यक्ति को अनौपचारिक और निजी संबंधों के जरिए अपना काम करने में मदद देते हैं। औपचारिक संगठनों की शुरुआत से यहां गंभीर समस्या पैदा हो गई। भारतीय व्यक्तिगत और अनौपचारिक संबंधों से एक दूसरे से जुड़े होते हैं। यह उनके स्वभाव का हिस्सा है और ऐसे संबंधों के बीच वे खुद को सुरक्षित भी महसूस करते हैं। लेकिन औपचारिक संगठन तो सभी जगह लागू होने वाले ऐसे नियमों से चलते हैं जिनका व्यक्तिगत संबंधों से कुछ लेना-देना नहीं होता। इसलिए जाति जैसे पारंपरिक समूहों वाले समाज में औपचारिक संगठनों के होने से परस्पर विरोधी स्थितियाँ पैदा हो गई हैं।

27.5.2 "संपर्क-सूत्र" की धारणा

ऐसा समाज, जहां व्यक्तिगत आधार पर अपने काम कराये जाते रहे हैं, निर्वैयक्तिक आधार पर काम करने वाली व्यवस्था में असुरक्षित महसूस करता है। आपने लोगों को "संपर्क-सूत्रों" (सोर्स) की बातें करते और औपचारिक संगठनों के भीतर या उनके जरिए काम कराने के लिए ऐसे "सोर्स" तलाशते देखा होगा। "संपर्क-सूत्र" या "सोर्स" ऐसा व्यक्ति माना जाता है जिसकी मदद से किसी औपचारिक संगठन के अधिकारों और सुविधाओं को अपने हित में इस्तेमाल किया जाता है, चाहे ऐसा करना संगठन के लक्ष्यों के अनुकूल हो या प्रतिकूल।

27.5.3 साधन तंत्र एवं साधन समूह

हम ऐसे तंत्रों और समूहों को संपर्क या तंत्र या समूह कहते हैं, इन्हें समग्र तंत्र से अलग किया जा सकता है। इनका आधार औपचारिक संगठनों के अधिकारों का निजी लाभ के लिए मिल-जुलकर इस्तेमाल करना है। ये अहं-केंद्रित या गैर-अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र हो सकते हैं।

व्यक्तिगत सम्पर्कों के सदस्यों के बीच अनेक प्रकार के संबंध हो सकते हैं। ये खून के रिश्तों, जाति, परिवार या सहपाठिता पर आधारित हो सकते हैं। व्यक्ति के अपने सम्पर्कों के सदस्यों के प्रति, आपसी गतिशीलता के आधार पर अलग-अलग तरह के संबंध हो सकते हैं। इन तंत्रों में आपसी लेन-देन से स्वार्थपूर्ण रिश्ते पनपते हैं। ऐसे तंत्र में कौन सदस्य किस समय किस हद तक काम आयेगा, यह अनिश्चित होता है। इसलिए ऐसे तंत्र की निश्चित सीमा नहीं बांधी जा सकती। अब हम देखें कि सम्पर्कों पर आधारित तंत्र वाले समूह क्या हैं और ऐसे समूह और तंत्र कैसे काम करते हैं।

1) सम्पर्कों पर आधारित तंत्र वाले समूह

जब किसी साधन तंत्र के सदस्य नियमित रूप से एक-दूसरे का भला करने लगते हैं और इस सदस्यों के बीच एकता, पहचान और भाईचारे की भावना पनप जाती है तो ऐसा साधन तंत्र तब साधन समूह में बदल जाता है। इस समूह की सीमा साफ-साफ पहचानी जा सकती है और सदस्यों

के बीच निश्चित और नियमित सम्पर्क रहता है।

2) सम्पर्कों से बने तंत्र और उन पर आधारित समूहों के कार्यों की प्रकृति

इन कार्यों को व्यक्ति, औपचारिक संगठन या भारतीय समाज -- तीनों बिंदुओं से समझा जा सकता है। व्यक्ति के लिए ये कारगर और लाभप्रद होते हैं क्योंकि इनसे उसके हितों की पूर्ति होती है, चाहे इसका तरीका औपचारिक संगठन की कार्यप्रणाली के अनुरूप हो या उसका उल्टा। इन समूहों से उसे मदद का पक्का भरोसा होता है। औपचारिक संगठन के काम करने में ये बाधक होते हैं। दूसरे शब्दों में ये इन संगठनों के लक्ष्यों की प्राप्ति में इसलिए बाधक होते हैं क्योंकि ये संगठन के लक्ष्य की बजाय व्यक्तिगत हितों को आगे ले आते हैं। ऐसे तंत्र सामाजिक ढांचे पर बड़ा असर डालते हैं। इन तंत्रों और समूहों में निहित सामाजिक संबंध व्यक्तिगत और विशेष प्रकार के होते हैं। ये परम्परागत सामाजिक ढांचे से अलग प्रकार के होते हैं। परम्परागत ढांचा ज्यादा आदर्शवादी और न्यायपूर्ण आधार वाले समूहों पर टिका होता है। परम्परागत समूह आपसी प्रेम, आदर और जिम्मेदारी की भावना से भी जुड़े होते हैं। इसके विपरीत संपर्कों पर आधारित तंत्र स्वार्थपूर्ण संबंधों पर टिके होते हैं, ये स्वार्थ समाज के व्यापक सम्पर्कों पर प्रभाव डालते हैं। परम्परागत और सम्पर्कों से बने, दोनों में व्यक्तियों के आपसी दायित्व निश्चित नहीं होते। इससे सामाजिक संबंधों में अनिश्चितता और प्रवाह आता है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी **क)** दिये गये रिक्त स्थान पर उत्तर लिखें।

ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कर लें।

1 सम्पर्कों पर आधारित तंत्र क्या है? पांच पंक्तियों में बतायें।

.....

.....

.....

.....

.....

2 क्या किसी सम्पर्क से बने तंत्र वाले समूह से व्यक्ति बिना ब्याज कर्ज ले सकता है?

[हाँ] [नहीं]

27.6 सारांश

आपको पहले सामाजिक तंत्र के बारे में बताया गया और इन्हें सामाजिक संबंधों के संदर्भ में समझाया गया। इस परिप्रेक्ष्य में, व्यक्ति अपने हितों के लिए सामाजिक संबंध बनाते हैं और समाज को पूरा तंत्र बनाने वाली सामाजिक संबंधों की श्रृंखला के रूप में देखा जा सकता है।

फिर व्यक्तिगत तंत्र और सामूहिक तंत्रों के बीच अंतर स्पष्ट किया गया। इसके बाद व्यक्तिगत तंत्रों की आकार-संबंधी और सम्पर्क पर आधारित विशेषताएँ बतायी गयीं। आकार संबंधी विशेषताएँ हैं—आश्रय, सघनता, सुलभता और विस्तार (दायरा)। सम्पर्क पर आधारित विशेषताएँ हैं—स्वरूप, संबंधों की दिशा, स्थायित्व, घनिष्ठता और सम्पर्कों की बारंबारिता। आश्रय के आधार पर व्यक्तिगत तंत्रों को अहं-केंद्रित (जिनका कोई समन्वयकर्ता हो) और गैर-अहंकेंद्रित (जिनका कोई भी समन्वयकर्ता न हो) तंत्रों में बांटा गया। लेकिन किसी खास स्थिति में, खास उद्देश्य के लिए या किसी खास काम (गतिविधि) के सेट में तंत्र का कोई भी सदस्य अन्य सदस्यों को प्रेरित और गतिशील बना सकता है। ऐसे सेट में उस व्यक्ति का अहं समन्वयकर्ता का काम करता है।

इकाई में व्यक्तिगत तंत्र की पहचान में आने वाली समस्याओं की भी चर्चा की गयी। ये समस्यायें हैं—

1 सम्पर्कों की प्रकृति
2 अहं का केंद्र में होना
3 लेन-देन की प्रकृति

4 सामाजिक संबंधों के प्रकार
5 सदस्यों की सक्रियता
6 सीमा निर्धारण

इसके बाद व्यक्तिगत तंत्रों और सामाजिक ढांचे के आपसी संबंधों की चर्चा की गयी। परम्परागत समाज में एक औपचारिक संगठन का उदाहरण देकर इस संबंध को स्पष्ट किया गया। यह बताया गया कि व्यक्तिगत तंत्र और समूह, औपचारिक संगठनों के अधिकारों के जरिये अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए बनाये जाते हैं। ऐसे तंत्रों और समूहों को संपर्कों पर आधारित या समूह कहा जाता है।

शब्दावली

आश्रय : अहं का अपने तंत्र के केंद्रित सदस्य के रूप में काम करना।
सघनता : किसी तंत्र में एक-दूसरे को जानने वाले लोगों का अनुपात।
संबंधों की दिशा : संबंध एकतरफा हैं या दोनों तरफ से हैं।
सौहार्दपूर्ण संबंध : ऐसे संबंध, जिनके होने मात्र से संतोष मिलता है। इनके साथ स्वार्थ नहीं जुड़ा होता।
औपचारिक संगठन : ऐसा सामाजिक संमूह जिसके लक्ष्य विधिवत् (औपचारिक रूप से) निर्धारित किये गये हैं।
आकार-संबंधी विशेषताएँ : ऐसे गुण, जो किसी वस्तु का आकार या स्वरूप बनायें जैसे व्यक्तिगत तंत्र के सघनता, सुलभता आदि गुण।
व्यक्तिगत तंत्र : अहं के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों का समूह।
विस्तार : तंत्र में व्यक्ति विशेष से नियमित सम्पर्क रखने वाले व्यक्तियों का दायरा।
समग्र तंत्र : सामाजिक संबंधों की शृंखला, जिसमें पूरा समाज ही आ जाता है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bott, Elizabeth, 1971. *Family and Social Networks.* Tavistock Publications: London.

Mayer, Adrian C, 1966. The Significance of Quasi-Groups in the Study of Complex Societies. In M. Banton (ed.), *The Social Anthropology of Complex Societies.* Tavistock Publications: London. pp. 97-119.

Persell, C.H. 1987. *Understanding Society.* Harper and Row Publishers: New York, (Chapter IV).

Sharma, K.N., 1975. *Institutions, Networks and Social Change.* Indian Institute of Advanced Study: Simla. Chapters 5,6,7,8, pp. 91-197.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 सामाजिक तंत्र की बुनियादी इकाई दो व्यक्तियों के बीच का आपसी संबंध है।
2 बच्चे के जन्म के साथ ही सामाजिक तंत्र का बनना शुरू हो जाता है।

बोध प्रश्न 2

1 व्यक्तिगत तंत्र की आकार पर आधारित विशेषताएँ निम्न हैं :
   1 आश्रय
   2 सघनता
   3 सुलभता
   4 विस्तार

   सम्पर्क पर आधारित विशेषताएँ निम्न हैं :
   1 स्वरूप
   2 संबंधों की दिशा
   3 स्थायित्व
   4 घनिष्ठता
   5 बारंबारिता

2 जब कोई व्यक्ति या अहं तंत्र का मुख्य आश्रय होता है और वही इसका समन्वय करता है तो अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र बनने लगता है।

बोध प्रश्न 3

1 सम्पर्कों पर आधारित तंत्र समग्र तंत्र का ही हिस्सा है। इसका आधार सदस्यों के बीच फायदों की मिल-बांट होता है। ये आंशिक तंत्र हैं और अहं-केंद्रित या गैर-अहं-केंद्रित व्यक्तिगत तंत्र हो सकते हैं।

2 नहीं

इकाई 28 सामाजिक प्रकार्य की संकल्पनाएँ

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 प्रकार्य की परिभाषा
28.3 प्रकार्य और सामूहिक भावना
28.3.1 अपराध का प्रकार्य
28.4 प्रकार्य : सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य
28.4.1 प्रकार्य की संकल्पना और जादू
28.5 प्रकार्य : जैविक परिप्रेक्ष्य
28.5.1 संरचना और कार्य
28.6 प्रकार्य : पद्धतिमूलक परिप्रेक्ष्य
28.7 प्रकार्य : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य
28.7.1 धार्मिक प्रकार्य और दुष्कार्य
28.7.2 व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य
28.8 प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रयोग
28.9 प्रकार्यात्मक विश्लेषण की सीमाएँ
28.10 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप बता सकेंगे कि :

- दुर्खाइम का सामाजिक कार्य के बारे में दृष्टिकोण क्या है?
- कार्य की संकल्पना के साथ जादू का क्या संबंध है?
- समाज की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ क्या हैं?
- व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य क्या है? और
- प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रयोग और सीमाएँ क्या हैं?

28.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम सामाजिक प्रकार्य की संकल्पना की चर्चा करेंगे। यहां आपको सामाजिक प्रकार्य के अर्थ और इस संकल्पना से संबद्ध महत्वपूर्ण विचारों के बारे में बताया जाएगा। पहले तो हम एमिल दुर्खाइम के मतानुसार सामाजिक प्रकार्य और सामुदायिक भावना का वर्णन करेंगे। उसके बाद मालिनोव्स्की की दृष्टि से सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य और सामाजिक प्रकार्य के साथ इसके संबंधों पर प्रकाश डाला जाएगा। प्रकार्य की संकल्पना के साथ जादू का क्या संबंध है, इस पर भी उनके विचारों का उल्लेख किया जाएगा। इसके बाद इस इकाई में यह बताया जाएगा कि समाज और जैविक संरचना के बीच किस प्रकार का जैव सादृश्य है। इस जैविक परिप्रेक्ष्य में रैडक्लिफ-ब्राउन के योगदान का, विशेष रूप से संरचना और प्रकार्य के संबंध में उनके विश्लेषण का, उल्लेख किया गया है। उसके बाद टालकॉट पारसन्स के पद्धति-मूलक परिप्रेक्ष्य की चर्चा की गई है, जिसमें "सामाजिक पद्धति" को अध्ययन की एक इकाई के रूप में माना गया है। हमने पूर्वोक्त प्रकार्यात्मक धारणा पर रॉबर्ट के. मेर्टन के आलोचनात्मक विश्लेषण की भी इस इकाई में चर्चा की है। और अन्त में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के उपयोग और उनकी सीमाओं पर प्रकाश डाला गया है।

28.2 प्रकार्य की परिभाषा

"प्रकार्य" शब्द अंग्रेज़ी के शब्द (Function) का पर्याय है। सुप्रसिद्ध अमरीकी समाजशास्त्री रॉबर्ट के मेर्टन ने (Function) शब्द के पाँच अर्थ बताएं हैं। अंग्रेजी में "फंक्शन" का पहला अर्थ है–समारोह। जैसे "रिपब्लिक डे फंक्शन" (गणतंत्र दिवस समारोह)। इसका दूसरा अर्थ है पेशा या व्यवसाय। तीसरा अर्थ है : कार्यालय में किसी व्यक्ति का कार्य विशेष, जैसे किसी "पदाधिकारी का कार्य"। अंग्रेजी में "फंक्शन" शब्द का चौथा अर्थ है : "फलन"। यह गणित का शब्द है। यदि हम क को ख का "फलन" मानते हैं तो इसका अर्थ है कि ख में परिवर्तन से क में भी परिवर्तन आएगा। समाजशास्त्र और सामाजिक मानव-विज्ञान में (Function) का पांचवा अर्थ है: सामाजिक प्रक्रिया जो समाज के रख-रखाव में सहायक होती है।

हिन्दी में पाँचवे अर्थ में (Function) का अर्थ है "प्रकार्य"। मानव समाज का यह दृष्टिकोण "प्रकार्यवाद" के रूप में जाना जाता है। विस्तृत अर्थ में कभी-कभी यह "संरचनात्मक प्रकार्यवाद" के रूप में इस्तेमाल होता है। सामान्य रूप से प्रकार्यवाद समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान **में एक सैद्धान्तिक और सुव्यवस्थित परिप्रेक्ष्य है जिसमें समाज को एक-दूसरे से संबंधित और एक-दूसरे पर निर्भर विभिन्न अंगों की एक इकाई के रूप में देखा जाता है। सामाजिक इकाई या पद्धति के इन एक-दूसरे से संबंधित अंगों की समाज की स्थिरता और स्थायित्व में अपनी विशेष भूमिका है।** प्रकार्यवाद समाज के विभिन्न अंगों और समूची सामाजिक पद्धति के लिए कार्यों या परिणामों के रूप में सांस्कृतिक कार्यकलापों **या रीति-रिवाजों** को समझने और समझाने की चेष्टा करता है।

28.3 प्रकार्य और सामूहिक भावना

फ्रेंच समाजशास्त्री एमिल दुर्खाइम (1858-1917) ने सामाजिक प्रकार्य की संकल्पना का सुव्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि समाज स्वयं में एक वास्तविकता है जिसका स्थान उन व्यक्तियों से कहीं ऊँचा है जो उसे बनाते हैं। वह समाज के सभी लोगों का कुल योग नहीं है वरन् स्वयं में एक सत्य है और एक विशिष्ट व्यक्तित्व है। उन्होंने मनोवैज्ञानिक या जैविक तथ्य के रूप में नहीं वरन् स्वयं समाज के रूप में सामाजिक जीवन का विश्लेषण और स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। दुर्खाइम ने "सामाजिक तथ्यों" को सामाजिक जीवन के विश्लेषण का केन्द्र बनाया है। वे कहते हैं कि समाज के सदस्य "सामाजिक तथ्यों" से बंधे हैं। वे जो कुछ करते हैं, जो कुछ सोचते हैं या जो कुछ महसूस करते हैं, वह सब "सामाजिक तथ्यों" से नियंत्रित होता है। दुखाइम कहते हैं कि सामाजिक तथ्यों को उन वस्तुओं के समान जाँचा जाना चाहिए जो समाज में रहने वाले व्यक्तियों की भावना से रहित हैं।

दुर्खाइम ऐतिहासिक और प्रकार्यात्मक इन दोनों सिद्धांतों में अंतर करते हैं। ऐतिहासिक सिद्धांत सामाजिक संस्थाओं और सांस्कृतिक विशेषताओं के उद्भव से जुड़ा है। 19वीं शताब्दी के विकासवादी मानवविज्ञानी जैसे जेम्स फ्रेज़र और एडवर्ड टेलर इसी दृष्टि के समर्थक थे। दुर्खाइम उनसे सहमत नहीं। उन्होंने प्रकार्यात्मक अन्वेषण का समर्थन किया है। उसके अनुसार सामाजिक जीवन को उसके कार्यों मे जाँचा और परखा जाना चाहिए। उनका मत है कि सामाजिक या सांस्कृतिक तथ्य के निरंतर अस्तित्व के कारणों को उसके प्रकार्य में, समाज के लिए उसकी उपयोगिता में ढूँढ़ा जाना चाहिए। **उन्होंने परिभाषा दी है कि सामाजिक संस्थाओं का प्रकार्य सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति है।**

दुर्खाइम कहते हैं कि समाज की अपनी कुछ आधारभूत आवश्यकताएँ या प्रकार्यात्मक पूर्वाकांक्षाएँ हैं, जिनकी पूर्ति समाज के स्थायित्व और निरंतरता को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता समाज की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है। यह आवश्यकता सहमति या "सामूहिक भावना" से पूरी होती है, जिसमें सामान्य प्रतिमानों, विश्वासों और आस्थाओं का समावेश है।

प्रकार्यात्मक विश्लेषण दुर्खाइम का प्रमुख कार्य का केन्द्र-बिन्दु है। उन्होंने अपनी पुस्तक "**डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी**" (1897) में समाज में श्रम-विभाजन का विश्लेषण किया है "**वि एलिमेंट्री फार्म्स ऑफ रिलिजियस लाइफ**" (1917) में धार्मिक आस्थाओं और रीति-रिवाजों के एकता लाने के प्रकार्यों की जाँच की है। उन्होंने धर्म के प्रकार्यों का सामाजिक सम्बद्धता और एकता के कारकों के रूप में विश्लेषण किया है। धार्मिक आस्थाएँ और रीति-रिवाज लोगों में एकता की भावना जगाते हैं। एकता की यह भावना धार्मिक विधि-विधानों में प्रतीकात्मक रूप में प्रकट होती है।

28.3.1 अपराध का प्रकार्य

दुर्खाइम ने अपराध और असामान्य व्यवहार की चर्चा परंपरा से हटकर की है। अपराध विज्ञान अपराध को एक विकृति या रोग के रूप में देखता है और मनोरोगात्मक तथ्य के रूप में उसकी व्याख्या करता है। दुर्खाइम इस दृष्टिकोण को नहीं मानते। वे कहते हैं कि अपराध सामाजिक जीवन का एक सामान्य और सकारात्मक पहलू है। दुर्खाइम के अनुसार समाज के सामान्य नियमों और मूल्यों से कुछ सीमा तक विचलन अपरिहार्य है, क्योंकि कोई भी समाज ऐसा नहीं है जहाँ उसके नियमों और मूल्यों का शत प्रतिशत अनुपालन किया जाता हो।

दुर्खाइम तर्क देते हुए कहते हैं कि अपराध एक सामान्य बात है। इससे समाज के नैतिक मूल्यों और नियमों को बल मिलता है। अपराध से समाज के सामान्य नियमों का उल्लंघन होता है, इस-लिए क्रोध और नफरत की सामूहिक भावना उभरती है। और यही भावना समाज के मूल्यों और नियमों को मजबूत और दृढ़ बनाती है। दर्खाइम के शब्दों में : "अपराध सही और गलत की चेतना को एकत्र और सुदृढ़ करता है।"

दुर्खाइम के प्रकार्यात्मक विचार ने कई समाजशास्त्रियों और नृतत्वशास्त्रियों को प्रभावित किया है, विशेष रूप से ब्रिटेन के सामाजिक नृतत्वशास्त्री ए.आर. रैडक्लिफ़-ब्राउन को और कुछ हद तक ब्रॉनिस्लॉ मालीनोव्स्की को, जिन्होंने इस संकल्पना का अपने सैद्धांतिक और व्यावहारिक अनुसंधान कार्य में व्यापक उपयोग किया है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपना उत्तर नीचे दिये गये रिक्त स्थान पर लिखिए।
ख) अपना उत्तर इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलाइए।

1 "प्रकार्य" का क्या अर्थ है? पाँच पँक्तियों में व्याख्या कीजिए।

2 दुर्खाइम के अनुसार "अपराध" का क्या अर्थ है? पाँच पँक्तियों मे लिखिए।

28.4 प्रकार्य : सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

मालीनोव्स्की (1884-1942) का कथन है कि संस्कृति स्वयं में एक वास्तविकता है। वे संस्कृति की उन विकासवादी और प्रसारवादी व्याख्याओं के विरुद्ध थे जिन्होंने 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश मानवविज्ञान को प्रभावित किया था। जहाँ एक ओर फ्रेज़र और टेलर जैसे विकासवादी नृतत्वशास्त्री अतीत के आधार पर सामाजिक संस्थाओं के उद्भव और विकास का वर्णन करते हैं वहाँ प्रसारवादी नृतत्वशास्त्री डब्ल्यू. जे. पैरी और इलियट स्मिथ एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में संस्कृतियों के प्रसार के अध्ययन द्वारा मानव इतिहास की पुनर्रचना या पुनर्गठन का यत्न करते हैं।

मालीनोव्स्की संस्कृतियों को "समष्टि" रूप में लेते हैं क्योंकि वे निरंतर कार्यशील इकाइयाँ हैं। उनके अनुसार प्रत्येक प्रथा या सांस्कृतिक विशेषता किसी खास प्रकार्य की पूर्ति करती है। उनके शब्दों में :

"संस्कृति का प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण इस सिद्धांत पर आधारित है कि प्रत्येक सभ्यता में हर प्रथा, भौतिक वस्तु, विचार और विश्वास किसी प्रकार्य-विशेष की पूर्ति करता है। प्रकार्यात्मक नृतत्वशास्त्रियों का संबंध मुख्यत: संस्थाओं, रीति-रिवाजों, साधनों और विचारों के प्रकार्यों से है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सांस्कृतिक प्रक्रिया नियमों के अधीन है और ये नियम संस्कृति के वास्तविक तत्वों के प्रकार्य में ही देखे जा सकते हैं।"

मालीनोव्स्की कहते हैं कि संस्थाएँ ही संस्कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाइयाँ हैं। उनके अनुसार एक सामाजिक संस्था किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले कार्यकलापों का समूह है। सामाजिक संस्थाएँ भूख और यौन जैसी व्यक्ति की आधारभूत शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का प्रतिरूप हैं। मालीनोव्स्की के अनुसार मानवीय आवश्यकताएँ अथवा इच्छाएँ मूलत: शरीर क्रियात्मक हैं परन्तु आदतों से उनमें परिवर्तन आता है। शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की यह संकल्पना उनके प्रकार्यात्मक सिद्धांत की धुरी है।

28.4.1 प्रकार्य की संकल्पना और जादू

"आर्गोनाइट्स ऑफ दि वेस्टर्न पेसिफिक" (1922) नामक अपनी पुस्तक में मालीनोव्स्की ने ट्रॉब्रिएण्ड द्वीप निवासियों के सामाजिक ढाँचे को स्थायी रूप देने और बनाये रखने में जादू और धार्मिक विधि विधानों की भूमिका का विश्लेषण किया है। उन्होंने देखा कि अनिश्चितता और मन का चिंता की स्थिति में जादू का सहारा लिया जाता है। जादू संकट की घड़ी में व्याकुलता या चिंता को दूर करने की महत्वपूर्ण आवश्यकता को पूरा करता है। मालीनोव्स्की के अनुसार जादू का

प्रकार्य है: अनिश्चितता और भय की स्थिति में आदिम समाजों के व्यक्तियों की आशाओं और आस्थाओं को बढ़ावा देना। हालाँकि समाज में जादू की भूमिका की इतनी सरल व्याख्या आलोचना का विषय रही है।

28.5 प्रकार्य : जैविक परिप्रेक्ष्य

रैडक्लिफ़-ब्राउन, एमिल दुर्खाइम के सामाजिक प्रकार्यवाद से बहुत प्रभावित थे। उनका कहना था कि मानव समाज कठोर प्राकृतिक नियमों से नियंत्रित एक प्राकृतिक व्यवस्था है। उनके अनुसार सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंग एक-दूसरे से संबंधित हैं और एक-दूसरे पर निर्भर हैं। विभिन्न अंगों के बीच ये संबंध उसे अखंडित बनाए रखते हैं।

रैडक्लिफ़-ब्राउन समाज और जैविक संरचना के बीच समरूपता के समर्थक थे। वे कहते थे कि संस्कृतियों और सामाजिक पद्धतियों का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान विशेष रूप से जीवविज्ञान और प्राणिविज्ञान की प्रणाली से किया जाना चाहिए। रैडक्लिफ़-ब्राउन भी मालीनोव्स्की की तरह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के समर्थक थे। समकालिक परिप्रेक्ष्य स्वाभाविक रूप से वर्तमान से जुड़ा है और इसके अनुसार समाज का विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण करते समय हमें अतीत के किसी विशेष संदर्भ की आवश्यकता नहीं। दूसरी ओर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समाज के वर्तमान ढाँचे को अतीत और सामाजिक वास्तविकता के बदलते हुए पहलू पर दृष्टिपात किए बिना अच्छी प्रकार नहीं समझा जा सकता। रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना था कि सामाजिक जीवन की आधारभूत नियमितताओं के नियमों को ढूँढ़ निकालना हमारे लिए संभव और आवश्यक है।

28.5.1 संरचना और कार्य

रैडक्लिफ़-ब्राउन कहते थे कि जैविक पद्धति की तीन विशेषताएँ हैं : रचना विज्ञान (जिसका संबंध जीव की संरचना से है), शरीर क्रियाविज्ञान (जिसका संबंध जीव क्रिया व्यापारों से है) और विकास (जिसका संबंध इस जीव के विकास से है)। ये ही विशेषताएँ हमें इसी रूप में मानव समाज में मिलती हैं। मानो ये भी जीव हों। जैसे—पहले स्थान पर है : सामाजिक ढाँचा—जिसमें हम विभिन्न लोगों को विभिन्न भूमिकाओं में सामाजिक दृष्टि से एक-दूसरे से जुड़ा हुआ पाते हैं। दूसरे स्थान पर है : सामाजिक या सांस्कृतिक गतिविधियाँ जो समूचे सामाजिक तंत्र से जुड़ी हैं। रैडक्लिफ़-ब्राउन ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **"स्ट्रक्चर एण्ड फंक्शन इन प्रिमिटिव सोसाइटी"**, (1952) में कहा है : "प्रत्येक व्यक्ति सुनिश्चित सामाजिक संबंधों द्वारा एक समेकित इकाई से जुड़ा है। जैविक ढाँचे के समान सामाजिक ढाँचे की तारतम्यता इकाई में आने वाले परिवर्तनों से नहीं टूटती। अगर एक (मृत्यु होने से या अन्यथा) समाज को छोड़ कर जाता है। तो दूसरा आ जाता है। व्यक्तियों और (उन्हें एक गुट करने वाले) संगठित समूहों की गतिविधियों और अन्तः क्रियाओं से युक्त सामाजिक जीवन की इस प्रक्रिया से तारतम्यता बनी रहती है। सामाजिक ढाँचे की यह तारतम्यता ही सामुदायिक सामाजिक जीवन है। अपराध के लिए दण्ड या मरने पर अन्त्येष्टि क्रिया जैसे किसी भी पुनरावर्ती क्रियाकलाप की "समष्टि रूप सामाजिक जीवन" में अपनी भूमिका है और इसी से ढाँचे की तारतम्यता बनी रहती है।"

रैडक्लिफ़-ब्राउन का कहना था कि समाज की मूल आवश्यकता समाज के सदस्यों की रुचियों का पारस्परिक तालमेल या अनुकूलन है। दुर्खाइम ने सामाजिक संस्थाओं के कार्य की सामाजिक जीव की आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में व्याख्या की है। रैडक्लिफ़-ब्राउन "आवश्यकताओं" को "अस्तित्व की आवश्यक शर्तों" के रूप में लेते हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) प्रश्नों के उत्तर के लिये नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग कर।
ख) अपने उत्तर इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलाएँ ।

1 प्रकार्यवादियों के अनुसार सामाजिक संस्थान व्यक्ति की आधारभूत शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं का उत्तर हैं।

हाँ [ ] नहीं [ ]

2 रैडक्लिफ़-ब्राउन का समकालिक परिप्रेक्ष्य से क्या तात्पर्य है? तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए:

.....

28.6 प्रकार्य : पद्धतिमूलक परिप्रेक्ष्य

सभी प्रकार्यवादी यह कहते हैं कि आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सामाजिक पद्धति के अस्तित्व और स्थायित्व के लिए आवश्यक है। अमरीकी समाजशास्त्र के वरिष्ठ टॉलकॉट पार्सन्स (1902-1979) के अनुसार किसी भी सामाजिक पद्धति की चार प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षाएं हैं : (क) अनुकूलन (ख) लक्ष्य प्राप्ति (ग) समाकलन और (घ) ढाँचे को बनाए रखना।

अनुकूलन का अर्थ है : पद्धति और पर्यावरण के बीच आपसी संबंध। पार्सन्स कहते हैं कि सामाजिक पद्धतियों का पर्यावरण पर कुछ अंश तक नियंत्रण आवश्यक है। उनके अनुसार इस आधारभूत कार्य की पूर्ति अर्थव्यवस्था से होती है। **लक्ष्यप्राप्ति** का अर्थ है : लक्ष्य के लिए सामाजिक पद्धति की आवश्यकता और लक्ष्य प्राप्ति के लिए उसके सदस्यों की गतिविधियों का संचालन। इस कार्य की पूर्ति राज्य व्यवस्था से होती है। **समाकलन** का अर्थ है : संघर्षों का समन्वय एवं समायोजन करना और सामाजिक पद्धति के विभिन्न अंगों के बीच तालमेल बिठाना। पार्सन्स के अनुसार इस कार्य की पूर्ति न्याय व्यवस्था से होती है। **ढाँचे का बनाए रखने का अर्थ है** आधारभूत मूल्यों और प्रतिमानों के ढाँचे को बनाए रखना। इस कार्य की पूर्ति परिवार, धर्म और शिक्षा पद्धति से होती है, पार्सन्स के "समाज की कार्यात्मक पूर्वपेक्षाओं" के इस दृष्टिकोण की यह कह कर आलोचना की गयी है कि इस बात की जाँच करना कठिन है कि ये पूर्वापेक्षाएँ अनुभव के आधार पर मान्य हैं या नहीं।

28.7 प्रकार्य : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य

समकालिक अमरीकी समाजशास्त्रियों में सर्वाधिक प्रभावशाली रॉबर्ट के. मर्टन (1910) ने "प्रकार्यात्मक विश्लेषण" में उल्लेखनीय योगदान किया है। उन्होंने "प्रकार्य" शब्द के सामान्य और सामाजिक अर्थ में प्रत्यक्ष अन्तर किया है। उन्होंने प्रकार्यात्मक इकाइयों को समझाने और स्पष्ट करने का यत्न किया है। मर्टन ने तीन अभिधारणाओं का उल्लेख किया है, जो प्रकार्यात्मक सिद्धांत के प्रचलित विचारों पर आधारित हैं जिससे समाजशास्त्रीय विश्लेषण में उनकी निरर्थकता को सिद्ध किया जा सके। पहली अभिधारणा है : समाज की प्रकार्यात्मक एकता जिसके अनुसार समूची सामाजिक पद्धति के लिए सामाजिक या सांस्कृतिक गतिविधियाँ आवश्यक हैं। दूसरी अभिधारणा है : सार्वभौम प्रकार्यवाद जिसके अनुसार सभी सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ सामाजिक प्रकार्यों की पूर्ति करती हैं। मर्टन के अनुसार तीसरी अभिधरणा है : अनिवार्यता, जिसके अनुसार ये सामाजिक गतिविधियाँ समाज के लिए अनिवार्य हैं।

मर्टन प्रकार्यात्मक विश्लेषण की इन प्रचलित अभिधारणाओं की आलोचना करते हैं। वे कहते हैं कि पहली अभिधारणा में सभी समाजों के पूर्ण समाकलन को स्वीकार किया गया है, हालाँकि हम यह नहीं मान सकते कि सभी समाज पूर्णरूपेण समेकित हैं। छोटे और आदिम समाज समेकित हो सकते हैं लेकिन आज के बड़े और जटिल शहरी औद्योगिक समाज नहीं। व्यापक या सार्वभौम प्रकार्यवाद की दूसरी अभिधारणा है कि सामाजिक पद्धति का प्रत्येक पहलू सकारात्मक कार्य का निष्पादन करता है। वे इसे गलत समझते हैं क्योंकि समाज के सभी पहलू समूचे समाज के लिए प्रकार्यात्मक नहीं। वे प्रकार्यात्मक, अकार्यात्मक या दुष्कार्यात्मक हो सकते हैं। वे तीसरी अभिधारणा की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि सभी सांस्कृतिक क्रियाकलाप, जैसे धर्म, समूचे समाज के लिए अनिवार्य नहीं।

28.7.1 धार्मिक प्रकार्य और दुष्कार्य

मर्टन अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए धर्म का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि नृतत्वशास्त्री अशिक्षित समाज के अनुभव के आधार पर धर्म की एकीकरणात्मक (integrative) भूमिका की बात करते हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने इस अनुभव का सामान्यीकरण करते हुए इस विचार का प्रतिपादन किया है कि धर्म सभी समाजों में एकीकरण का कार्य करता है। वे कुछ खास तरह के समाजों में धर्म की एकता खंडित करने की (असंघटनात्मक) भूमिका को

नकारते हैं। उस समाज को जहाँ कई धर्मों का बोलबाला है, धार्मिक समूहों में वैरभाव का और गहरे संघर्षों का सामना करना पड़ता है। आज का भारत इसका एक जीता-जागता उदाहरण है। यहाँ आप विभिन्न धर्मों के असंघटनात्मक परिणाम को देख सकते हैं। हालाँकि समकालीन भारतीय समाज में धार्मिक बहुविधता स्वयं में साम्प्रदायिक विसंगति और वैरभाव का कारण नहीं, लेकिन विभिन्न धार्मिक समूहों और सम्प्रदायों द्वारा साम्प्रदायिक घृणा और शत्रुता की आग को भड़काने के लिए धार्मिक विधि-विधानों और अनुष्ठानों का प्रायः दुरुपयोग किया जाता है। मर्टन कहते हैं कि किसी संस्था या सामाजिक एकक के विभिन्न परिणाम हो सकते हैं। वे प्रकार्यात्मक भी हो सकते हैं और दुष्कार्यात्मक भी। मर्टन इस विचार की आलोचना करते हैं कि कुछ प्रकार्य समाज के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य हैं या प्रत्येक प्रकार्य की पूर्ति के लिए कुछ सामाजिक या सांस्कृतिक तत्व आवश्यक है। वे कहते हैं कि वैकल्पिक सामाजिक एकक भी समूह या समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक कार्यों की पूर्ति करते हैं। अन्य शब्दों में, जैसा कि मर्टन (1957) ने कहा है : जिस प्रकार एक ही वस्तु के कई प्रकार्य हो सकते हैं, उसी प्रकार एक ही प्रकार्य का निष्पादन विभिन्न वस्तुओं से हो सकता है।

28.7.2 व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य

मर्टन सामाजिक कार्यकलापों की दुनिया में व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्यों के बीच अन्तर करते हैं—यह प्रकार्यात्मक विश्लेषण के क्षेत्र में शायद उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है। व्यक्त प्रकार्य सामाजिक व्यवहार के वे परिणाम हैं जो **अभीष्ट, प्रत्याशित और स्वीकृत** हैं। अव्यक्त कार्य, दूसरी ओर, सामाजिक व्यवहार के वे परिणाम हैं जो **न अभीष्ट हैं और न ही स्वीकृत**। मर्टन कहते हैं कि सामाजिक व्यवहार के अव्यक्त प्रकार्यों पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक है। अव्यक्त प्रकार्य सामाजिक जीवन के प्रति हमारी समझ में उल्लेखनीय वृद्धि कर सकते हैं। उनके अनुसार अव्यक्त प्रकार्यों का अध्ययन युक्तियुक्त प्रतीत होने वाले रीति-रिवाजों और प्रथाओं के विश्लेषण को स्पष्ट कर सकता है। आइए अब हम सामाजिक प्रथा के ऐसे ही दो उदाहरणों पर दृष्टिपात करें।

1) वर्षा लाने के लिए धार्मिक अनुष्ठान

कई ऐसे धार्मिक अनुष्ठान या विधिविधान हैं जो अव्यक्त प्रकार्यों के अन्तर्गत आते हैं और मात्र इसलिए किए जाते हैं कि उनसे सामूहिक एकता और सामुदायिक तादात्म्य बढ़ता है। मर्टन उत्तरी एरीजोना के होपी इंडियनों द्वारा वर्षा लाने के लिए किए जाने वाले ऐसे ही एक धार्मिक अनुष्ठान का उदाहरण देते हैं। होपी इंडियन वर्षा लाने के लिए भव्य अनुष्ठान करते हैं जो उसके परिणाम की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह अनुष्ठान इस विश्वास से किया जाता है कि वर्षा आएगी अतः इसकी व्यक्त भूमिका (प्रकार्य) उल्लेखनीय नहीं है, क्योंकि इससे वस्तुतः वर्षा नहीं आती। हालांकि इस अनुष्ठान की अव्यक्त भूमिका (प्रकार्य) महत्वपूर्ण है। क्योंकि इससे होपी इंडियनों को एक सामूहिक गतिविधि में भाग लेने का अवसर मिलता है। यह भागीदारिता सामूहिक एकता और सामुदायिक तादात्म्य को बढ़ाती है।

2) ध्यानाकर्षी उपभोग कार्य

सुप्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री थोर्नस्टीन वेबलेन (1857-1929) ने धनी वर्ग की उपभोगवृत्ति का बोधगम्य विश्लेषण किया है। महँगी वस्तुएँ खरीदने (व्यक्त प्रकार्य) से उपभोक्ता की इच्छाओं की पूर्ति होती है। "ध्यानाकर्षी उपभोग प्रकार्य" इससे वेबलेन का तात्पर्य "अव्यक्त प्रकार्य" से है। उन्होंने देखा कि ध्यानाकर्षी या विशिष्ट उपभोग से सामाजिक स्तर और सम्मान में वृद्धि होती है। धनी लोग महँगी वस्तुएँ सिर्फ इसलिए नहीं खरीदते कि वे बढ़िया हैं, लेकिन इसलिए खरीदते हैं कि वे महँगी हैं। महँगी वस्तुएँ खरीदना खरीददार के उच्च सामाजिक स्तर का द्योतक है। वेबलेन ने मोमबत्ती की रोशनी में आयोजित रात्रि भोज और महँगी मोटरें रखने के उदाहरण दिए। मोमबत्ती का व्यक्त प्रकार्य प्रकाश देना है और मोटरकार का परिवहन। किन्तु रात्रि भोज में मोमबत्ती की रोशनी और मारुति या जिप्सी रखने के अव्यक्त प्रकार्य बिल्कुल भिन्न हैं और कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे व्यक्ति की हैसियत बड़ी होती है और उसकी उच्च सामाजिक स्थिति का पता चलता है।

28.8 प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रयोग

प्रकार्यवाद ने सामाजिक विज्ञान और सामाजिक नृतत्वशास्त्र में सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य के रूप में मानव समाज और सामाजिक प्रक्रिया को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रकार्यवाद का मुख्य योगदान यह है कि यह समाज की संपूर्णता पर बल देता है और उसके भागों के अंत: संबंध पर आग्रह करता है। यह समाज को एक गतिशील (on-going) व्यवस्था मानता है, जिसका अध्ययन उसकी समग्रता में किया जाना चाहिए।

आधुनिक नृतत्वशास्त्र के ब्यौरेवार तथा विस्तृत क्षेत्र-अध्ययन में प्रकार्यात्मक दिशा का प्रमुख हाथ रहा है। साकल्यवादी दृष्टिकोण, जो प्रकार्यवाद का ही एक लक्षण है, छोटे पैमाने पर आदिम समाजों के अध्ययन में विशेष रूप से उपयोगी रहा है। प्रकार्यवाद का एक और गुण यह है कि इससे प्रकट रूप में अविवेकी लगने वाले विश्वासों और सांस्कृतिक प्रतिरूपों को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए सिर के शिकार की प्रक्रिया ही लीजिए, जो ब्राजील और बोलीविया के ओकास (Aucas), पश्चिम अफ्रीका के गनवरी, बोर्नियों के दयाक सुमात्रा के लम्पोंग और असम के नागाओं में प्रचलित है। जब शत्रु किसी युद्ध या लड़ाई में मारा जाता था तो उसका सिर काट लिया जाता था और स्मारक के रूप में लाया जाता था। इन लोगों में सिरों को काटने का कार्य अविवाहित योद्धा को समाज के सामने अपनी प्रतिष्ठा को जीतने के लिए अपनी शारीरिक क्षमता और योग्यता सिद्ध करने का अवसर प्रदान करता था।

मर्टन ने व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्यों के बीच जो अन्तर किया है, वह बहुत स्पष्ट है क्योंकि उन्होंने सामाजिक व्यवहार के उन परिणामों पर ध्यान केन्द्रित किया है जो न व्यक्ति को अभीष्ट हो सकते हैं और न ही स्वीकृत किंतु फिर भी समाज की स्थिरता और स्थायित्व में उनकी भूमिका सकारात्मक है।

28.9 प्रकार्यात्मक विश्लेषण की सीमाएँ

प्रकार्यवाद की बहुधा यह कह कर आलोचना की जाती है कि यह "**सोद्देश्यवाद**" पर ज़ोर देता है। यह आलोचना वस्तुत: युक्तियुक्त है। इसमें कहा जाता है कि समाज के विभिन्न अंगों का अस्तित्व उनके अपने प्रकार्यात्मक परिणामों के कारण है। अन्य शब्दों में यहाँ परिणाम को कारण के रूप में लिया गया है। इसी प्रकार प्रकार्य को उद्देश्य के बराबर माना गया है जो कि गलत है। उदाहरण के लिए अगर हम यह कहते हैं कि धर्म का समाज में इसलिए अस्तित्व है कि समाज में नैतिक आचरण बना रहे तो हम यहाँ कारण अर्थात् धर्म के अस्तित्व का स्पष्टीकरण करने के लिए समाज की नैतिकता के परिणाम की ओर उन्मुख होते हैं। प्रकार्यवाद के आलोचकों का विश्वास है कि इस प्रकार का स्पष्टीकरण तर्कशास्त्र के नियमों की अवज्ञा करता है क्योंकि बाद में आने वाली वस्तु या घटना उसका कारण नहीं बन सकती जो पहले आ या घट चुकी है। (कोहेन 1979 : 45) मानव व्यवहार के निश्चित् दृष्टिकोण के कारण प्रकार्यवाद की भी आलोचना की जाती है। मनुष्य जो कुछ करता है वह सामाजिक पद्धति से सुनिश्चित् होता है और मनुष्य वहाँ समाज की शक्ति से नियंत्रित स्वचलित यंत्र के समान कार्य करता है और मनुष्य का उस पर अपेक्षाकृत कम या कोई नियंत्रण नहीं होता।

पेर्सी कोहेन (1979 : 56) प्रकार्यवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं : "यह सामाजिक जीवन में नियामक तत्वों पर आवश्यकता से अधिक जोर देता है और सामाजिक एकता के मूल्य पर सामाजिक संघर्ष के महत्व को कम करता है, यह सामाजिक पद्धति की सामंजस्यपूर्ण प्रकृति को रेखांकित करता है और सामाजिक परिवर्तन को नहीं मानता : मानने की बात तो दूर वह इसे असामान्य समझता है।" आलोचना के इन तत्वों में से पहला सही नहीं क्योंकि सभी कार्यवादियों ने मालीनोव्स्की के समान सामाजिक जीवन में नियामक तत्वों को बहुत महत्वपूर्ण नहीं माना है। दूसरी आलोचना पहली से जुड़ी है क्योंकि अगर समाज के सभी सदस्य समाज के नियमों और मूल्यों का पालन करते हैं तो संघर्ष का कोई कारण ही नहीं रह जाएगा। लेकिन देखा गया है कि मानव द्वारा नियमों और मूल्यों का पालन करने के बावजूद स्पर्धा से संघर्ष उठ खड़े होते हैं—यह स्पर्धा पद प्राप्ति के लिए या सामाजिक व आर्थिक वस्तु आदि हासिल करने के लिए हो सकती है।

प्रकार्यवाद के विरुद्ध तीसरी आलोचना यह है कि इसमें सामाजिक ढाँचे की सामंजस्यपूर्ण प्रकृति को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यह सच है कि रॉबर्ट के. मर्टन ने भी अपनी पुस्तक "**सोशल थियोरीज एण्ड सोशल स्ट्रक्चर**" (1973) में इसका उल्लेख किया है। मर्टन कहते हैं कि छोटे समुदाय में धर्म की निश्चय ही लोगों को एक करने की भूमिका है लेकिन बड़े बहुधर्मीय समाज में यह बड़े-बड़े संघर्षों का कारण बन सकता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सभी सामाजिक और सांस्कृतिक विधानों को सभी के लिए सकारात्मक मान लेना ठीक नहीं। वे कुछ के लिए नकारात्मक भी हो सकते हैं इसीलिए उन्होंने "दुष्कार्य" विचार का प्रतिपादन किया।

प्रकार्यवाद की आलोचना का चौथा बिन्दु यह है कि उसमें सामाजिक परिवर्तन को नहीं माना जाता। उसके अनुसार सभी सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों की भूमिका सकारात्मक है और उनका अस्तित्व सिर्फ़ इसलिए है क्योंकि वे समूची सामाजिक पद्धति को चलाने में सहायक हैं। इसलिए कार्यवाद के सिद्धांत में हम यह मानकर चलते हैं कि समाज के सभी पहलू एकदम सही हैं और इसीलिए परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः वे समाज के स्थिरीकरण और स्थायित्व पर इस हद तक ज़ोर देते हैं कि परिवर्तन उनके लिए असामान्य तत्व बन जाता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रकार्यवाद के आलोचक अगर सामाजिक परिवर्तन के पहलू की उपेक्षा करने वाले बिन्दु को दृष्टिगत करते हुए प्रकार्यवाद की आलोचना करते हैं तो वे ठीक ही हैं।

प्रकार्यवाद की कुछेक सैद्धांतिक आलोचनाएँ भी हैं, जैसे इसमें समाज की यथास्थिति (स्टेटस को) पर ज़ोर दिया जाता है। प्रकार्यवादी जिस ढंग से समाज में स्तरण (स्ट्रैटिफिकेशन) का उल्लेख करते हैं, उससे कुछ लोगों द्वारा जनता के शोषण के पहलू की पूर्णरूपेण उपेक्षा की जाती है। वस्तुतः इस प्रकार वे मुट्ठी भर लोगों द्वारा जनता पर प्रभुत्व जमाने वाले पहलू को न्यायोचित ठहराते हैं। उन पर यह दोषारोपण किया गया है कि वे अपने सिद्धांतों में रूढ़िवादी पूर्वाग्रहों को प्रतिबिम्बित करते हैं और उन्हें बढ़ावा देते हैं। वे समाज के सभी पहलुओं को अच्छा ही समझते हैं (देखिए कोहेन 1979 : 59)।

संघर्षवादी मत के प्रवर्तकों ने प्रकार्यवाद की कटु आलोचना की है। वे कहते हैं कि सामाजिक व्यवस्था संघर्षों और मतभेदों का परिणाम है सामंजस्य का नहीं, जैसा कि प्रकार्यवादी मानते हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) नीचे दिये गये खाली स्थान पर अपना उत्तर लिखिए।
ख) इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपना उत्तर मिलाइएँ।

1 टेलकॉट पेर्सन्स के अनुसार किसी भी सामाजिक पद्धति की चार कार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ कौन-सी हैं? लगभग दस पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 मर्टन के अनुसार व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

28.10 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक प्रकार्य, इसकी परिभाषा और इसके विभिन्न प्रयोगों के बारे में पढ़ा। हमने देखा कि प्रकार्य और प्रकार्यवाद के प्रयोगों के संबंध में दुर्खाइम, रैडक्लिफ़-ब्राउन, पार्सन्स और मर्टन के विचार कितने भिन्न है। दुर्खाइम के विश्लेषण से पता चलता है कि

अपराध किसी एक हद तक सामान्य सी बात है। इससे वस्तुत: समाज मजबूत होता है। हमने यहाँ उनके द्वारा प्रतिपादित प्रकार्य और सामूहिक चेतना के आपसी संबंधों पर भी प्रकाश डाला है। जादू मनुष्य को अनिश्चितता और भय की स्थिति से कैसे उभारता है—इस संबंध में मालीनोव्स्की के विचारों को आपने जाना। उसके बाद टॉलकॉट पार्सन्स द्वारा प्रतिपादित पद्धतिमूलक परिप्रेक्ष्य की चर्चा की गई है। मर्टन के व्यक्त और अव्यक्त प्रकार्य प्रकार्यवाद को नया आयाम प्रदान करते हैं। अन्त में प्रकार्यात्मक विश्लेषण के प्रयोग और सीमा संबंधी हमारी चर्चा से आपने जान लिया होगा कि मानव के सामाजिक जीवन को समझने के लिए सामाजिक सिद्धांत के और अधिक विकास की अभी कितनी गुंजाइश है।

शब्दावली

ऐतिहासिक : ऐतिहासिक धारणा में किसी भी समाज के अतीत और वर्तमान दोनों पर विचार किया जाता है। मान्यता यह है कि यह अतीत को जाने बिना वर्तमान को नहीं समझा जा सकता।
प्रसारवाद : यह एक मानव वैज्ञानिक धारणा है जिसका 19वीं शताब्दी में डब्ल्यू. जे. पेरी, इलियट स्मिथ और अन्य विद्वानों ने प्रतिपादन किया था। सभ्यता की कुछेक आदिकालीन सांस्कृतिक पद्धतियों के प्रसार को दृष्टिगत करते हुए मानव इतिहास के पुनर्निर्माण का प्रयत्न ही इस धारणा का आधार है।
दुष्कार्य : सामाजिक व्यवहार के वे परिणाम जो सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता और स्थायित्व पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।
प्रकार्य : वह प्रक्रिया जिसमें किसी पद्धति के एक दूसरे से जुड़े अंग उसकी स्थिरता और स्थायित्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
अव्यक्त प्रकार्य : सामाजिक क्रिया के वे परिणाम जो अभीष्ट और स्वीकृत नहीं है।
व्यक्त प्रकार्य : सामाजिक क्रिया के वे परिणाम जो अभीष्ट और स्वीकृत हैं।
समकालिक : यह विचार कि किसी भी समाज के वर्तमानकालीन ढाँचे के अध्ययन के लिए अतीत को जानने की आवश्यकता नहीं।
सोद्देश्यवाद : यह एक ऐसी धारणा है जिसमें गलती से परिणाम को कारण और कार्य को उद्देश्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। आलोचकों ने प्रकार्यवाद की यह कहकर आलोचना की है कि यह प्रकृति में सोद्देश्यवादी है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Inkeles. Alex, 1964. *What is Sociology* Prentice-Hall : New Delhi. (Chapter 3, pp. 28-46).

Cohen, Percy, 1968. *Modern Social Theory.* Heineman Educational Books Ltd. London. (Chapter 3, pp. 34-68).

Levy, Morion J., 1968. Functional Analysis. David L. Sills (ed.). *International Encyclopaedia of the Sciences.* Macmillan and Free Press : New York. (Vol. 6. pp. 21-42).

Merton, Robert K., 1957. *Social Theory and Social Structure.* The Free Press : Glencoe Illinois. (Chapter I).

Radcliffe-Brown, A.R., 1952. *Structure and Function in Primitive Society.* The Free Press : Glencoe, Illinois. (Chapter IX, pp. 178-87).

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 "प्रकार्य" शब्द के मुख्यत: तीन अर्थ हैं। सबसे पहले इसका प्रयोग "व्यवसाय" के अर्थ में किया जाता है। दूसरा अर्थ है : कार्यालय में किसी व्यक्ति का कार्य विशेष जैसे किसी "पदाधिकारी का कार्य" और समाजशास्त्र में प्रकार्य शब्द का अर्थ है : सामाजिक प्रक्रिया जो समाज के रखरखाव में सहायक होती है।

2 दुर्खाइम के अनुसार अपराध एक रोगात्मक तथ्य या विकृति नहीं है, यह एक सामान्य कार्य है। उनके अनुसार अपराध किसी एक हद तक नैतिक दृष्टि से समाज को मजबूत बनाता है। अपराधी अपने अपराध से सामान्य नियमों का उल्लंघन करता है और उस कृत्य के विरुद्ध घृणा की सामुदायिक भावना को उभारता है।

बोध प्रश्न 2

1 हाँ।

2 रैडक्लिफ़-ब्राउन "समकालिक परिप्रेक्ष्य" के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि समाज का अध्ययन समाज के समकालिक पहलुओं के आधार पर किया जा सकता है, उसके लिए समाज के कार्यों, नियमों और रीतिरिवाजों के अध्ययन के लिए इतिहास के पन्ने पलटने की आवश्यकता नहीं।

बोध प्रश्न 3

1 टॉलकॉट पार्सन्स के अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था की निम्नलिखित चार प्रकार्यात्मक पूर्वाकांक्षाएँ होती हैं :

1) अर्थव्यवस्था पर्यावरण के साथ अनुकूलन का कार्य करती है।
2) राज्यव्यवस्था समाज के सदस्यों की गतिविधियों के निर्देशन के लिए लक्ष्य निर्धारण का कार्य करती है।
3) न्याय व्यवस्था समाज के विभिन्न अंगों के समाकलन का काम करती है।
4) परिवार, धर्म और शिक्षा पद्धति समाज के **नियमों और मूल्यों के आधारभूत ढाँचे** को बनाए रखने का कार्य करती है।

2 व्यक्त प्रकार्य उन क्रियाओं के परिणाम हैं जो अभीष्ट, प्रत्याशित और स्वीकृत हैं और अव्यक्त प्रकार्य वे हैं जो अभीष्ट या स्वीकृत नहीं हैं।

इकाई 29 सामाजिक स्तरण

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 सामाजिक स्तरण क्या है
  29.2.1 सामाजिक स्तरण के आधार या आयाम
29.3 सामाजिक स्तरण के प्रकार
  29.3.1 आयु वर्ग व्यवस्था
  29.3.2 दास व्यवस्था
  29.3.3 भूमि के स्वामित्व पर आधारित व्यवस्था
  29.3.4 जाति व्यवस्था
  29.3.5 वर्ग व्यवस्था
  29.3.6 नस्ल और नृजातियता
29.4 सामाजिक स्तरण के अध्ययन के लिए सैद्धान्तिक दृष्टिकोण
  29.4.1 प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
  29.4.2 द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण
29.5 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सामाजिक स्तरण की संकल्पना की व्याख्या कर सकेंगे,
- उसके तीनों आयामों का वर्णन कर सकेंगे,
- सामाजिक स्तरण के छः प्रकारों का वर्णन कर सकेंगे, और
- सामाजिक स्तरण के प्रकार्यात्मक और द्वन्द्वात्मक सिद्धान्तों का विवरण दे सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरण समाज में मौजूद असमानता का एक पहलू है। सभी मानव समाजों में सामाजिक व्यवस्थाओं से उत्पन्न असमानताएँ विद्यमान रहती हैं अतः समाजशास्त्रियों के विचार हेतू यह एक महत्वपूर्ण विषय है।

इस इकाई में बताया गया है कि सामाजिक स्तरण क्या है और उसके आधारों या आयामों के जरिए सामाजिक स्तरण के आम सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। यह भी बताया गया है कि मूलतः सामाजिक स्तरण कितने प्रकार का होता है और समाजशास्त्र में उससे संबंधित वर्तमान सिद्धान्त क्या हैं।

29.2 सामाजिक स्तरण क्या है

स्तरण समाज को श्रेष्ठता और हीनता के संबंधों के आधार पर विभिन्न दर्जों में बांटने की व्यवस्था है। विभिन्न दर्जों के बीच यह सम्बंध कुछ प्रतिमानों से संचालित होते हैं। विश्लेषण की दृष्टि से स्तरण सामाजिक इकाइयों को उनके मूल्यांकन के आधार पर दर्जा प्रदान करने की प्रक्रिया है। यथार्थ रूप में यह समाज में सुविधाओं और लाभों के अनुपातिक वितरण से सम्बद्ध है। वास्तव में यह कुछ सिद्धान्तों से बंधी एक प्रक्रिया है। समाज में सुविधाओं के वितरण के आधार इन्हीं सिद्धान्तों से तय होते हैं।

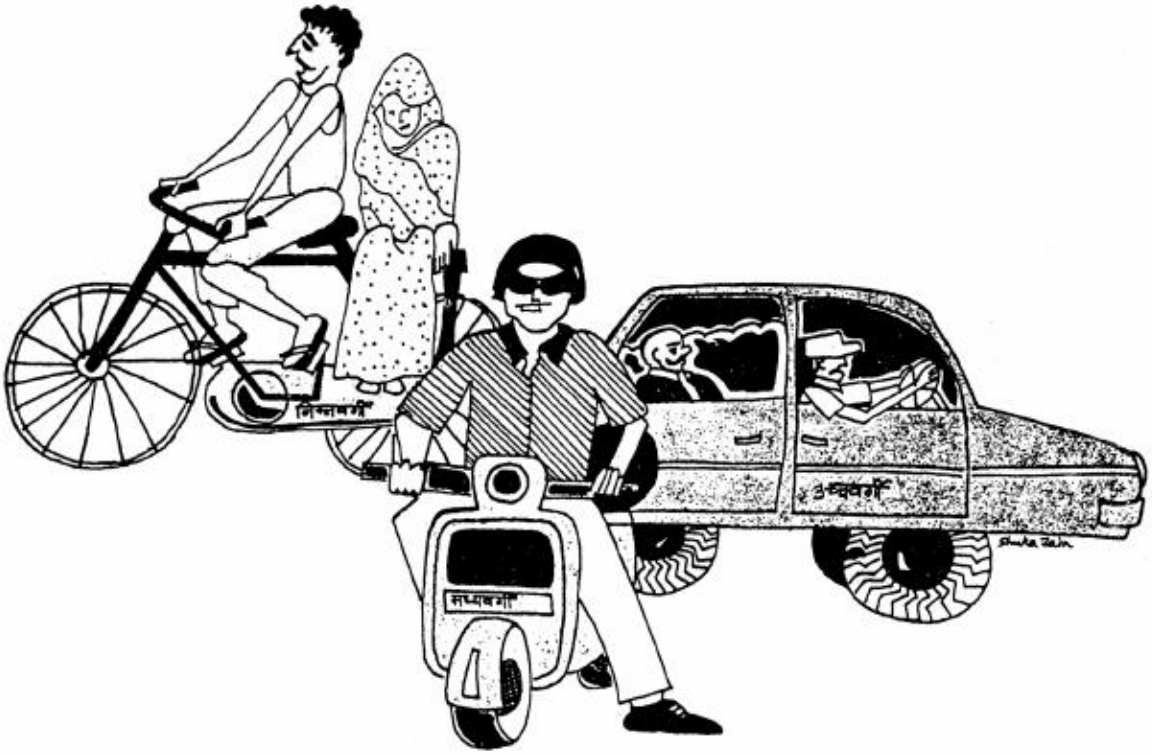

सामाजिक स्तरीकरण

29.2.1 सामाजिक स्तरण के आधार या आयाम

सामाजिक स्तरण के आधार या आयाम, भेद-निरूपण के वे विभिन्न स्तर हैं, जिन्हें किसी दिये गये समाज के लोगों का मूल्यांकन करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। ये आयाम निम्नलिखित हैं:

1) **वर्ग** : यह सम्पदा के स्तर पर अन्तर करने से सम्बद्ध है। इसे आर्थिक भिन्नता भी कहा जा सकता है।
2) **शक्ति** : यह समाज में शक्ति के भिन्न-भिन्न वितरण से संबंधित है।
3) **प्रस्थिति** : यह सामाजिक सम्मान या प्रतिष्ठा के वितरण से सम्बद्ध है।

वैसे तो अधिकांश मामलों में यह तीनों आयाम एक-दूसरे के पूरक हैं। किन्तु प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वैबर (1974) ने वर्ग, शक्ति और प्रस्थिति के बीच भेद किया है। वैबर के अनुसार वर्ग एक आर्थिक श्रेणी है, जो 'बाज़ार की स्थिति' की उपज है। जबकि प्रस्थिति पर आधारित समूह प्रतिष्ठा या सम्मान पर टिकी सामाजिक व्यवस्था के अंग हैं। किसी व्यक्ति की प्रस्थिति या हैसियत समाज में उसकी प्रतिष्ठा पर निर्भर होती है। सामाजिक प्रतिष्ठा जीवन की विभिन्न शैलियों से प्रकट होती है। विश्लेषण की दृष्टि से भले ही वर्ग और प्रस्थिति पर आधारित समूहों को स्वतंत्र इकाई माना जाए परन्तु वास्तव में वे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। सत्ता या शक्ति की यह धारणा ही वैबर के सामाजिक स्तरण के सिद्धान्त की कुंजी है। सम्पत्तिवान और सम्पत्तिविहिन दोनों ही तरह के लोगों की एक ही प्रस्थिति हो सकती है। अतः आर्थिक स्थिति से प्राप्त शक्ति सदैव सामाजिक या कानूनी शक्ति के समान नहीं होती।

ऐसी मान्यता है कि स्तरण का वैबर का सिद्धान्त मार्क्स के वर्ग सिद्धान्त की प्रतिक्रिया में जन्मा था। हम कह सकते हैं कि वैबर स्तरण संबंधी विश्लेषण के जनक हैं। यह विश्लेषण सबसे अधिक अमरीका में विकसित हुआ। दूसरी ओर मार्क्स स्तरण सिद्धान्त के प्रतिपादक नहीं थे। उनकी राय में उत्पादन के साधनों में मौजूद विरोध और विरोधाभासों का महत्व सबसे अधिक है। मार्क्स के वर्गभेद के सिद्धान्त के जवाब में ही वैबर ने स्तरण के बारे में अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया और स्तरण के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आधारों के बीच भेद पर जोर दिया।

इस प्रकार वैबर ने सामाजिक स्तरण के अध्ययन को बहुआयामी दृष्टिकोण दिया। ई एस ओ-4 में आप सामाजिक स्तरण के अध्ययन से सम्बद्ध दृष्टिकोणों पर पहलूओं के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त करेंगे। यहां हम इस बात पर चर्चा करेंगे कि मानव समाजों में कितने प्रकार के सामाजिक स्तरण प्रचलित हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का उपयोग करें।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों मिलाएँ।

1) सामाजिक स्तरण के तीन आधार क्या हैं? एक पंक्ति में उत्तर दें।

.....

2) वर्ग और प्रस्थिति पर आधारित समूह में भेद कीजिए। तीन पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

29.3 सामाजिक स्तरण के प्रकार

मोटे तौर पर सामाजिक स्तरण निम्नलिखित प्रकार से होता हैं :

1) आयु वर्ग व्यवस्था
2) दास व्यवस्था
3) भूमि के स्वामित्व पर आधारित व्यवस्था
4) जाति व्यवस्था
5) वर्ग व्यवस्था और
6) नस्ल/नृजातीय स्तरण।

इनमें से प्रत्येक व्यवस्था की व्याख्या और उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए स्पष्ट और ठोस सिद्धांत मौजूद हैं। कुछ मामलों में समाज के एक स्तर से निकल कर दूसरे स्तर में जाने के लिए काफी कुछ लचीलापन है जबकि कुछ मामलों में इसकी गुंजाइश न के बराबर है। सामाजिक स्तरण के विभिन्न प्रकारों के निम्नलिखित वर्णन से मानव समाजों में स्तरण की प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँगी।

29.3.1 आयु वर्ग व्यवस्था

फोर्ट्स और ईवान-प्रिचर्ड (1940) ने जिस प्रकार के समाज को 'राज्य विहीन' कहा है उनमें केन्द्रीय शासन नहीं होता। वैसे तो प्रधान का कोई पद होता ही नहीं और यदि होता भी है तो उस पर आसीन व्यक्ति के पास धार्मिक स अधिक रस्मी अधिकार होते हैं। ऐसे समाज में स्तरण आयु के आधार पर किया जाता है। इस तरह का स्तरण कुछ पूर्व अफ्रीकी समाजों की विशेषता है। पूर्व अफ्रीका में मसाई और नन्दी कबीलों में आयु का सिद्धान्त प्रमुख रूप से प्रचलित है। वहां आयु के अनुसार पद और वरिष्ठता के आधार पर अधिकारों के उपयोग के बीच पूरा तालमेल रहता है। आयु के आधार पर निर्धारित स्तरों को 'समवयस्क श्रेणी' या एक समान आयु की श्रेणी कहते हैं। एक निश्चित वर्ष अन्तराल में जन्में सभी व्यक्ति (मूलतः पुरुष) एक श्रेणी में आते हैं। प्रथम समवयस्क श्रेणी में कम से कम छः या सात वर्ष से लेकर अधिक से अधिक 15 वर्ष तक के लोग हो सकते हैं।

अधिकांश मामलों में प्रथम समवयस्क श्रेणी की सदस्यता सामान्यता किशोरवस्था के आसपास समाप्त हो जाती है और नयी श्रेणी प्रारम्भ हो जाती है। नयी समवयस्क श्रेणी में जाने के लिए आमतौर पर कुछ रस्में पूरी करनी पड़ती है जैसे सुन्नत या शरीर पर छापे लगवाना। इन रस्मों को पूरा करने के बाद प्रत्येक सदस्य बचपन से निकलकर अपने कबीले का पूर्ण सदस्य बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति एक समवयस्क श्रेणी का सदस्य होता है और जीवन भर उसी से जुड़ा रहता है। अन्य सदस्यों के साथ वह अगली श्रेणी में चला जाता है। इन समाजों में यह समवयस्क श्रेणियाँ ही समाज का ढांचा तय करती हैं क्योंकि जीवन के हर क्षेत्र से जुड़े लोग इनके सदस्य होते हैं। यही श्रेणियाँ तय करती हैं कि व्यक्ति किस से विवाह करेगा, कौन सी जमीन का स्वामी बनेगा या किस समारोह में शामिल होगा, आदि-आदि। अतः प्रत्येक स्तर की सदस्यता के

आधार पर ही समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति या हैसियत तय होती है।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकांश समुदायों में एक समवयस्क श्रेणी का सदस्य एक निश्चित आयु स्तर का भी सदस्य होता है। ये स्तर एक दूसरे से बिलकुल अलग होते हैं ताकि एक व्यक्ति एक बार में एक ही स्तर में रहे। सामान्यत: बचपन पार करने के बाद एक व्यक्ति कनिष्ठ योद्धा से वरिष्ठ योद्धा बनेगा। फिर वह कनिष्ठ श्रेणी से वरिष्ठ श्रेणी (बुजुर्ग) बनेगा। योद्धा युद्ध करते हैं और बाहरी हमलों से अपने कबीलों की रक्षा करते हैं जबकि श्रेष्ठी या बुजुर्ग निर्णय लेते हैं और विवाद सुलझाते हैं। वे अपने पुरखों की आत्माओं से भी सम्पर्क रखते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण इकाई में समवयस्क श्रेणियाँ विभिन्न स्तरों से गुजरती हैं। अर्थात् एक श्रेणी के सभी सदस्य एक ही साथ एक स्तर से दूसरे स्तर पर पहुंचते हैं। अत: सबकी सामाजिक प्रस्थिति एक साथ बदलती है। हम जिस तरह के समाजों में रहते हैं उनमें अधिकांशत: एक व्यक्ति अकेला बचपन से वयस्क होता है और फिर वृद्धावस्था में पहुंचता है, जबकि समवयस्क श्रेणी व्यवस्था वाले समाजों में विशाल श्रेणियों के सदस्यों में सामूहिक रूप से इस तरह के परिवर्तन होते हैं।

सामाजिक स्तरण की व्यवस्था की दृष्टि से आयुवर्ग व्यवस्था से खुले समाज को बढ़ावा मिलता है जिसमें जीवन भर के लिए किसी का कोई निश्चित पद या दर्जा नहीं होता। हर व्यक्ति अपने समय पर बुजुर्ग बनता है और उसे निर्णायक अधिकार मिलता है अत: इस व्यवस्था में स्तरण का प्रारूप बदले बिना ही व्यक्ति में परिवर्तन हो जाता है।

29.3.2 दास व्यवस्था

स्तरण की दास व्यवस्था अब समाप्त हो चुकी है। दास प्रथा सन् 1833 में ब्रिटेन में तथा 1865 में अमेरिका में खत्म कर दी गयी थी। इस व्यवस्था का कानूनी ढांचा बहुत मजबूत था। इस व्यवस्था में मुख्य जोर आर्थिक असमानता पर था जिसके कारण कुछ श्रेणियों के लोगों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। वैसे तो एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज (1968) में दासता संबंधी लेख में आदिम, प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक दास प्रथा में भेद किया गया है, किन्तु यहां हम दो ही प्रकार की दासता का जिक्र करेंगे– प्राचीन दासता और आधुनिक दासता। प्राचीन दास प्रथा प्राचीन रोम और यूनान में प्रचलित थी। वहां आमतौर पर विदेशी युद्धबंदी ही दास हुआ करते थे। आधुनिक दासता में औपनिवेशिक शक्तियों के विस्तार और नस्लवादी विचारधारा ने दास प्रथा को बढ़ावा दिया। इसके अन्तर्गत दास अपने मालिक की सम्पत्ति होता है। उसका न कोई राजनीतिक अधिकार होता है न सामाजिक। उसे काम करते रहने पर मजबूर किया जाता है। अपने दासों की मेहनत के सहारे जिन्दा मालिकों ने एक कुलीन वर्ग को जन्म दिया। कहा जाता है कि दास प्रथा में कमी का मूल कारण दास मजदूरों की अकर्मण्यता थी। प्राचीन दास प्रथा कुछ हद तक सुधारवादी थी क्योंकि उसमें मालिकों का दण्ड देने का अधिकार सीमित था और दासों को भी कुछ व्यक्तिगत अधिकार थे। रोमन साम्राज्य में ईसाई पादरियों ने भी दास को बन्धनमुक्त करने का समर्थन किया।

29.3.3 भूमि के स्वामित्व पर आधारित व्यवस्था

इस प्रकार का सामाजिक स्तरण मध्यकालीन यूरोप के सामंती समाजों में प्रचलित था। इसमें समाज में विभिन्न स्तरों की एक पूरी शृंखला होती है जिसमें से प्रत्येक स्तर दूसरे से भिन्न होता है। और कानून तथा रीति-रिवाजों के सहारे इस अन्तर का सख्ती से पालन किया जाता है। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी पहचान यह है कि समाज में व्यक्ति की हैसियत इस बात पर निर्भर है कि उसके पास कितनी जमीन-जायदाद है। हालांकि यह व्यवस्था जाति व्यवस्था की अपेक्षा कम रूढ़ थी पर इसमें भी सामाजिक हैसियत विरासत में मिलती थी। हर गुट के कानून सम्मत स्पष्ट अधिकार होते थे। व्यवस्था में सबसे प्रमुख स्थान शाही परिवार और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे सैनिक कुलीन वर्ग का होता था। ये कुलीन वर्ग ही जमीन के मालिक होते थे। इन्हीं के समान पंडित-पुरोहितों या कुल गुरुओं का दर्जा होता था जो कुलीन वर्गों से सम्बद्ध होते थे। इनके नीचे व्यापारी और दस्तकार आते थे। शुरू में समूची जनसंख्या में इसका अनुपात बहुत कम था किन्तु बाद में इन्हीं के चारों तरफ मध्यम वर्ग पनपने लगा। सबसे नीचे किसानों और मजदूरों का स्थान था। कानूनी अधिकारों और कर्तव्यों के मुताबिक हर गुट की अपनी प्रस्थिति होती थी। इनके बीच के अन्तर का प्रमाण यही था कि एक समान अपराधों के लिए अलग-अलग दण्ड दिये जाते थे। जापान जैसे देशों में सामंतवादी व्यवस्था और आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्थाओं के साथ संबंध भली-भांति देखे जा सकते हैं।

इन गुटों में श्रम के विभाजन की व्यवस्था थी। कुलीन वर्गों का कर्तव्य था सबकी रक्षा करना, पुरोहितों का धर्म था सबके लिए प्रार्थना करना और आम आदमी का कर्तव्य था सबके लिए अन्न उपजाना। और फिर ये गुट राजनीतिक समूह भी बन जाते थे। अत: यह कहा जा सकता है कि

परंपरागत सामंती व्यवस्था में केवल दो ही प्रमुख गुट थे। कुलीन और पुरोहित। 12 वीं शताब्दी के बाद ही यूरोपीय सामंती व्यवस्था में शहरी मध्यवर्ग का तीसरा गुट उभरा। शुरू में जिसकी अलग पहचान थी लेकिन बाद में उसने सारी व्यवस्था ही बदल दी। यदि हम सामंती गुटों को राजनीतिक समूह मानें तो मजदूरों को गुट का दर्जा नहीं दिया जा सकता क्योंकि उनके पास कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होते थे।

सामाजिक स्तरण की इस व्यवस्था की सबसे अच्छी व्याख्या मध्यकालीन यूरोप में सम्पत्ति और राजनीतिक सत्ता के स्वरूप तथा उनके बीच के संबंध से हो सकती है।

29.3.4 जाति व्यवस्था

वैसे तो भारत की जाति प्रथा की तुलना अन्य प्रकार के सामाजिक स्तरण से की जा सकती है किन्तु फिर भी यह उन सबमें अनोखी है। भारत के भूसबंधों पर आधारित समाज से इनका अनूठा संबंध है। इसके अन्तर्गत मूलतः सीमित सामाजिक गुट, क्षेष्ठता और हीनता के निश्चित क्रम में व्यवस्थित होते हैं। सामाजिक रूप से स्वीकार्य और उस पर आरोपित स्तरण की दृष्टि से यह सामाजिक स्तरण का सबसे कठोर रूप है।

जाति व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ हैं–

1) ऐसी सामाजिक व्यवस्था की सदस्यता वंश परम्परागत से मिलती है और जीवन-भर निश्चित रहती है
2) प्रत्येक जाति एक ही गोत्र वाले लोगों का समूह होती है।
3) विभिन्न जातियों के बीच आपसी सम्पर्क और एक साथ खाने पीने पर प्रतिबंधों से समाज में दूरियाँ बढ़ती हैं।
4) जातिगत नामों और जाति विशेष के परम्परागत रीति-रिवाज़ों को अपनाते रहने से जातिगत चेतना बढ़ती है, और
5) व्यावसायिक विशेषज्ञता। धार्मिक मान्यताओं के माध्यम से इस व्यवस्था को युक्तिसंगत बनाया गया है।

जाति प्रथा दो स्तरों पर प्रचलित है। एक तो राष्ट्रीय स्तर पर जहाँ पूरे समाज को चार वर्णों में वर्गीकृत किया गया है (ब्राह्मण), (पुरोहित), क्षत्रिय, (राजा), वैश्य, (वणिक), और शूद्र (मज़दूर)। दूसरे ग्रामीण स्तर पर, जहाँ स्थानीय समुदायों को 'जाति' नामक समूहों में बाँटा जाता है। इस व्यवस्था में किसी परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं है। विभिन्न संस्कारों और शुद्धीकरण के माध्यम से ही एक जाति के लोग अपने से ऊंची जाति में प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में नीची जाति के सदस्य ऊंची जाति के रंग-ढंग और रीति-रिवाज़ अपनाते हैं और अपनी मूल जाति से सभी संबंध तोड़ लेते हैं।

जाति व्यवस्था की अलग-अलग विशेषताओं को अन्य समाजों में भी देखा जा सकता है जहां हर समूह को दूसरे अलग रखने के नियम का सख्ती से पालन होता है। किन्तु जाति प्रथा इतने व्यापक रूप में तो भारत में और भारत से बाहर बसे हिन्दुओं में तथा भारत में गैर हिन्दू समूहों में ही प्रचलित है। जाति प्रथा की मजबूत पकड़ और परिवर्तन की लहर ने भारत में सामाजिक स्तरण के स्वरूप को प्रभावित किया है। इसके बारे में आप ई एस ओ-04 में पढ़ेंगे।

29.3.5 वर्ग व्यवस्था

वर्ग व्यवस्था सामाजिक स्तरण की अब तक वर्णित व्यवस्थाओं से बहुत भिन्न होती है। सामाजिक वर्गों को न तो कोई कानूनी और न ही धार्मिक मान्यता प्राप्त होती है। ये वर्ग तो औद्योगिक व्यवस्थाओं में विकसित अपेक्षाकृत खुले समूह होते हैं।

सामाजिक स्तरण की वर्ग व्यवस्था का बुनियादी आधार है आर्थिक सम्पदा और आमदनी पर आधारित सामाजिक तंत्र। रहन-सहन की विभिन्न शैलियों और खपत के विभिन्न रूपों से यह अन्तर पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। कहीं-कहीं हमें बातचीत और वेसभूषा के रंग ढंग से भी अन्तर दिखाई पड़ता है। वर्ग व्यवस्था की एक आम पहचान यह है कि इसमें वर्गों के सदस्य अपनी पीढ़ी के भीतर और पीढ़ी के बाहर भी ऊंचे या नीचे हर वर्ग में प्रवेश कर सकते हैं।

वर्गों की संकल्पना का अध्ययन करते समय दो बुनियादी प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि वर्गों की पहचान निश्चित करने के लिए क्या तरीका अपनाया जाए और दूसरे यह कि क्या समान भौतिक सुख सुविधाओं और सम्पति वाले लोगों को तब भी एक वर्ग का सदस्य माना जा सकता है जबकि दूसरे लोग और वे स्वयं भी अपने को एक सचेत वर्ग न मानते हों। पहली समस्या के बारे

में मैक्स वैबर का मत है कि सम्पदा, शक्ति और जीवन शैली की वर्ग निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका है। अधिकांश समाजशास्त्री वर्ग निर्धारण के लिए आमतौर पर एक साथ कई तरीके अपनाते हैं। दूसरी समस्या के बारे में आम सहमति यह है कि वर्ग की परिभाषा करते समय वर्ग चेतना का मुद्दा उसमें शामिल नहीं किया जाना चाहिए। प्रत्येक मामले में अलग-अलग चर्चा करते समय इस मुद्दे पर विचार किया जाना चाहिए।

सामान्यत: अधिकांश समाजशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि प्रत्येक समाज में उच्च, मध्यम और श्रमिक वर्ग होते हैं। कभी-कभी कुछ समाजों में कृषक वर्ग को चौथे वर्ग के रूप में शामिल किया जाता है। समाज में वर्गों की भूमिका और वर्ग विशेष के भीतर तथा विभिन्न वर्गों के बीच के सम्बंधों के बारे में समाजशास्त्रियों ने अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाए हैं और सामाजिक स्तरण के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का विकास किया है। इन सिद्धान्तों और दृष्टिकोणों की संक्षिप्त जानकारी हम आपको इकाई के अन्त में देंगे। ई एस ओ -04 में इनका विस्तार से वर्णन किया जाएगा।

हम देखते हैं कि औद्योगिक समाजों में सामाजिक वर्ग प्रस्थिति समूहों (Status groups) के साथ रहते हैं। इसी के आधार पर मैक्स वैबर ने इन दोनों के बीच भेद करने और उनके परस्पर सम्बंध को स्पष्ट करने का प्रयास किया। मैक्स वैबर ने बड़े आसान तरीके से इन दोनों के बीच का अन्तर स्पष्ट किया। उसकी दलील थी कि सामाजिक वर्गों को इस आधार पर क्रमबद्ध किया जाता है कि माल के उत्पादन और प्राप्ति के ढंग से उनका क्या संबंध है, जबकि प्रस्थिति समूहों को माल की खपत के तरीकों के अनुसार क्रमबद्ध किया जाता है। वर्गों और प्रस्थितियों के बीच के अन्तर को समझने का यह ढंग कुछ ज्यादा ही सरल प्रतीत होता है। वैबर के बाद अनेक समाजशास्त्रियों ने वर्ग और प्रस्थिति की धारणाओं का अध्ययन किया है। यहां यह बता देना उचित होगा कि औद्योगिक समाजों में सामाजिक स्तरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करना बहुत कठिन काम है। विकासशील समाजों के संदर्भ में तो ऐसा करना और भी कठिन है, क्योंकि उनमें सामाजिक वर्ग तो मात्र एक अंग है और प्रस्थिति समूह, जातियाँ या जातियों जैसे समूह, नस्ल और नृजातीय समूह एक साथ मौजूद रहते हैं।

29.3.6 नस्ल और नृजातियता

सामाजिक स्तरण का अन्तिम प्रकार है नस्ल और नृजाति के आधार पर स्तरण। नस्ल का विचार बहुत नया है जैविक दृष्टि से नस्ल का अर्थ है ऐसे लोगों का विशाल वर्ग, जिनके शारीरिक लक्षण पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक समान होते हैं जैसे—त्वचा का रंग, बाल, चेहरे की बनावट, सिर का आकार आदि। प्रारम्भ में नृतत्वशास्त्रियों ने नस्लों का वर्गीकरण करने की चेष्टा की थी, किन्तु वे सफल न हो सके, क्योंकि विभिन्न नस्लों के बारे में आधुनिक अध्ययनों से मालूम हुआ कि विशुद्ध नस्लें लगभग पूरी तरह गायब थीं। अत: सबसे नयी विचारधारा के अनुसार सभी इंसान एक ही समूह के सदस्य हैं। ताजा आनुवांशिक अनुसंधानों से संकेत मिलता है कि सभी इंसानों में डी एन ए प्रजनन) के 95 प्रतिशत अणु समान होते हैं और बाकी पांच प्रतिशत के कारण ही शारीरिक बनावट में अन्तर आता है। शारीरिक बनावट और रंग रूप में विभिन्न नस्लों के बजाय एक नस्ल के भीतर भिन्नता पायी जाती है। अत: नस्लों का वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टिकोण की कसौटी पर नेरर्थक सिद्ध हो गया।

समाजशास्त्रियों की नज़र में नस्ल, लोगों का ऐसा समूह है जिसे समाज दूसरे समूहों की अपेक्षा जैविक दृष्टि से भिन्न मानता है। अत: लोगों को जनमत के आधार पर किसी नस्ल का सदस्य माना जाता है और जनमत समाज में प्रभावशाली समूह की इच्छाओं से संचालित होता है वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं। नस्लवादी समाज में, जैसे दक्षिण अफ्रीका में, यह आम धारणा है कि शारीरिक बनावट और रंग रूप का व्यक्ति के चरित्र, बुद्धि और अन्य गुणों तथा क्षमताओं से गहरा संबंध है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से समाजशास्त्री नस्लों के परस्पर संबंधों को स्तरण का रूप मानते हैं। इनमें शारीरिक बनावट के आधार पर सम्पदा और सत्ता का असमान बटवारा होता है। ऐसी परिस्थितियों में हमें किसी न किसी रूप में नस्लवादी विचारधाराओं की झलक दिखाई पडती है।

नृजाति के बारे में कहा जा सकता है कि यदि नस्ल का आधार, सावजनिक मान्यता प्राप्त शारीरिक लक्षण हैं तो, नृजाति का आधार सांस्कृतिक लक्षण हैं। अत: नृजातीय समूह समान (सांस्कृतिक धरोहर सीखी हुई न कि विरासत में मिली हुई) वाले लोगों का साझा समूह है। इस समूह की भाषा, इतिहास, राष्ट्रीयता जीवन शैली समान हो सकती है।

पिछली शताब्दी में बड़े पैमाने पर हुए पलायन के कारण समाजशास्त्रियों को नृजातीय समूहों की

स्थिति को जांचने परखने का अवसर मिला। उदाहरण के लिए शिकागो के समाजशास्त्रियों ने देखा कि नृजातीय समूह कई पीढ़ियों तक लुप्त रहे और फिर उनका संशोधित रूप सामने आया। गैलनर (1964:163) ने इस स्थिति का बहुत उपयुक्त शब्दों में वर्णन किया है, "पोत्र वही सब याद रखना चाहता है जो पुत्र ने भूलना चाहा था।" किन्तु समाजशास्त्रियों का यह भी कहना है कि जब समाज में प्रभावशाली समूहों ने कुछ समूहों को, जिन्हें नृजातीय अल्पसंख्यक माना जाता था, सामाजिक सुविधाओं का लाभ उठाने से रोका तो नृजातीय समूहों के समाज में घुलमिल कर लुप्त हो जाने की प्रक्रिया में बाधा पड़ी। इस स्थिति ने नृजातीय संघर्षों को जन्म दिया। संघर्ष की ऐसी परिस्थितियों के कारण ही समाजशास्त्रियों के लिए सामाजिक स्तरण का अध्ययन करना बहुत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो गया है। इसीलिए सामाजिक स्तरण के विभिन्न सिद्धांतों की भी संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक है। अब हम दो मुख्य सिद्धान्तों, प्रकार्यात्मक सिद्धान्त और द्वन्द्वात्मक सिद्धान्तों पर चर्चा करेंगे।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) **पदों** के नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर की जांच करें।

1 आयु के आधार पर निश्चित स्तरों को क्या नाम दिया गया है एक पंक्ति में उत्तर दें।

.....

2 दास व्यवस्था की दो मुख्य किस्मों के नाम लिखें। एक पंक्ति में उत्तर दें।

.....

3 कौन से सामाजिक स्तरण का संबंध भू-स्वामित्व से है? एक पंक्ति में उत्तर दें।

.....

4 भारत में जाति प्रथा कौन से दो स्तरों पर प्रचलित है। चार पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

5 सामाजिक स्तरण के छः प्रकारों में से कौन सा स्तरण औद्योगिक समाजों में आमतौर पर पाया जाता है? एक पंक्ति में उत्तर दें।

.....

6 समाजशास्त्र में नस्ल की क्या परिभाषा है? तीन पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

29.4 सामाजिक स्तरण के अध्ययन के लिये सैद्धान्तिक दृष्टिकोण

कम से कम चार सामाजिक प्रक्रियाएँ स्तरण से सम्बद्ध हैं 1) विभेदीकरण 2) क्रम विन्यास, 3) मूल्यांकन और 4) पुरस्कार

1) विभेदीकरण का अर्थ है भूमिकाओं, अधिकारों और दायित्वों का बटवारा। समाज में विभिन्न दर्जों में भेद करने से प्रत्येक का कार्य अलग-अलग और स्पष्ट हो जाता है। समूह विशेष द्वारा भूमिकाओं और दायित्वों का सफल निर्वाह कर लेने पर प्रोत्साहन और पुरस्कार दिया जाता है।
2) लोगों को प्रस्थिति के हिसाब से क्रमबद्ध करने के लिए उनके व्यक्तिगत गुणों, उनकी दक्षता और उनके कार्यों के परिणामों को ध्यान में रखा जाता है।

3) विभिन्न प्रस्थितियों का मूल्यांकन समाज में प्रचलित मूल्यों पर निर्भर करता है। यह इस बात पर भी निर्भर है कि उस देश प्रस्थिति को कितनी प्रतिष्ठा और वरीयता दी जाती है। मूल्यांकन के मापदंड वस्तुनिष्ठ, नैतिक और व्यक्तिनिष्ठ हो सकते हैं
4) पुरस्कार और दण्ड इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति अथवा समूह का प्रदर्शन कैसा रहा और मूल्यांकन के लिए समाज ने क्या मापदण्ड अपनाएँ।

स्तरण में शामिल इन प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए अनेक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण रखे गये हैं। इनमें कार्यमूलक और द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोणों का प्रमुख स्थान है।

29.4.1 प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

काम के विभाजन के आधार पर भेद करने की प्रथा सभी मानव समाजों में प्रचलित व्यवस्था का अपरिहार्य अंग है। यह तो स्वाभाविक है कि समाज में एक ही व्यक्ति सभी या अधिकांश काम पूरे नहीं कर सकता। और जो कार्य वह नहीं करता था उसके लिए दूसरों पर निर्भर रहना होगा। इसी तरह दूसरे व्यक्ति भी उन कामों के लिए उस पर निर्भर रहते हैं जो उसे सौंपे गए हैं। अतः अलग-अलग कामों के लिए अलग-अलग आकांक्षाओं और क्षमताओं वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। ये व्यक्ति अपनी अलग-अलग आकांक्षा, क्षमता और प्रदर्शन के कारण ही एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। उनके कार्यों का महत्व भी अलग-अलग ढंग से आंका जाता है और काम के महत्व के अनुसार ही उसका पुरस्कार भी दिया जाता है।
पुरस्कार अथवा पारिश्रमिक का यह साक्षेप स्वरूप ही स्तरण और श्रेणी तंत्र को जन्म देता है।

स्तरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के प्रतिपादकों, जैसे किंग्सले डेविस और विलबर्ट ई. मूर ने प्रकार्यात्मक स्तरण की आवश्यकता पर बल दिया है। उनका कहना है कि यह एक सार्वभौम प्रक्रिया है अतः इसके उपयोगी सार्थक परिणाम निकलने चाहिए और समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिए यह परम आवश्यक है। उनकी दृष्टि में यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके जरिए समाज यह सुनिश्चित करता है कि सबसे महत्वपूण स्थानों पर सावधानी पूर्वक ऐसे लोगों को नियुक्त किया जाए जो सबसे अधिक योग्य और निपुण हों। उनकी राय में चूंकि इन प्रमुख पदों के लिए काफी अधिक प्रशिक्षण और सम्मानजनक पारितोषिक आवश्यक हैं इसीलिए उनके लिए सम्मान और धन दोनों ही प्रकार से अधिक ऊंचा पुरस्कार मिलता है। इससे लोगों को अपनी कार्यकुशलता बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार स्तरण की व्यवस्था से असमान प्रतिभा की समस्या का समाधान हो जाता है। इस सिद्धान्त से हम स्तरण की वर्तमान व्यवस्था को भली प्रकार समझ सकते हैं। इसकी मदद से समाज के विभिन्न हिस्सों को सम्पूर्ण समाज से और एक हिस्से को दूसरे हिस्से से जोड़ा जा सकता है। किन्तु टयूमिन (1969) और डॉरिनडॉर्फ (1959) आदि समाजशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की बुनियादी मान्यताओं को चुनौती दी है। उदाहरण के लिए डेविस और मूर की यह कह कर आलोचना की गयी कि उन्होंने सामाजिक स्तरण को विशेष भूमिकाओं की मौजूदगी या श्रम विभाजन के साथ उलझा दिया। वास्तव में सामाजिक स्तरण श्रम के आधार पर किये जाने वाले अन्तर के ब्याज समाज में असमान रूप से सुविधा सम्पन्न समूहों और व्यक्तियों की व्यवस्था है। रक्त संबंध की भूमिका, सांस्कृतिक आदान प्रदान और अवसरों की उपलब्धता आदि कारक काफी हद तक सामाजिक स्तरण का स्वरूप निर्धारित करते हैं। एक और आलोचना यह है कि डेविस और मूर का दृष्टिकोण सामाजिक असमानता के विशिष्ट स्वरूप और कारणों की व्याख्या करने की दृष्टि से बहुत अधिक सामान्य है। इसमें स्तरण के सम्भावित नकारात्मक परिणामों और सामाजिक सम्पर्क के सापेक्ष अवसरों को अनदेखा किया गया है।

रॉल्फ डॉरिनडॉर्फ (1959) का कहना है कि स्तरण की उत्पत्ति 'परस्पर संबंधित तीन तत्वों, नियम, कानून और सत्ता' से होती है। प्रत्येक समाज में नियमों और कानूनों की व्याख्या के संचालन हेतु सत्ता का एक ढांचा होता है। उसमें 'संस्थागत सत्ता' की व्याख्या होती है। 'दमन' और 'दमित' के संदर्भ में सत्ता की यह व्याख्या ही सामाजिक स्तरण की परिभाषा है। डॉरिनडॉर्फ के अनुसार प्रकार्यात्मक सिद्धान्त सामाजिक स्तरण के आधार के रूप में सत्ता, अधिकार और सुविधा के वितरण की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता।

29.4.2 द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण के अनुसार स्तरण का कारण उसका प्रकार्यात्मक होना नहीं बल्कि अल्प संसाधनों के लिए समूहों की होड़ है। अतः समाज में विभिन्न कार्यों का पूरा करने की बजाय, स्तरण, समाज में संसाधनों और सत्ता के अन्यायपूर्ण बटवारे का परिचायक है। ताकतवर लोग संसाधनों के लिए होड़ में बाकी लोगों का शोषण करते हैं। पुरस्कार या पारिश्रमिक के असमान वितरण क कारण समाज की आवश्यकताएँ नहीं ताकतवर समूहों के अपने हित हैं। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के समर्थक विचारकों का यह भी कहना है कि समाज में प्रभावशाली समूहों द्वारा एक निश्चित

विचारधारा अपनाए जाने से उनके प्रभुत्व का औचित्य सिद्ध हो जाता है। और फिर यदि किसी व्यवस्था को जीवित रहना है और अपना विस्तार करना है तो उसके अधीनस्थ समूहों को भी व्यवस्था के साथ चलना होगा अन्यथा समाज में अस्थिरता उत्पन्न हो जाएगी।

स्तरण की व्यवस्थाओं के इतिहास पर दृष्टिपात करने से द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण आसानी से समझ में आ जाता है। टयूनिम (1969) ने प्रकार्यात्मक सिद्धान्त को द्वन्द्वात्मक नजरिए से देखा और नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जिसके अनुसार स्तरण व्यवस्था प्रकार्यात्मक होने के बजाय अकर्मण्य है। पहली बात तो यह है कि स्तरण के कारण समाज में कम सुविधा सम्पन्न या अधीनस्थ समूहों के लिए अवसर सीमित हो जाते हैं, जिससे पूरे समाज की प्रतिभा की हानि होती है। दूसरे स्तरण की प्रक्रिया यथास्थिति बनाए रखने में मदद देती है, तब भी जब यथास्थिति निष्क्रिय और निरर्थक हो जाती है। इसका कारण यह है कि विशिष्ट वर्ग समाज को यह समझा देता है कि मौजूदा असमानताएँ प्राकृतिक, युक्तिसंगत और नैतिक दृष्टि से उचित है। तीसरे, स्तरण व्यवस्था में पुरस्कारों के अनुचित वितरण से कम सुविधा सम्पन्न वर्गों में बगावत, संदेह और अविश्वास को बढ़ावा मिलता है। इसके फलस्वरूप समाज में अशांति और अव्यवस्था फैलती है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मार्क्स ने स्तरण का कोई सिद्धान्त नहीं दिया। इसके बावजूद अधिकांश द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त, वर्गों और वर्ग संघर्ष की मार्क्सवादी विचारधारा के जवाब में ही विकसित हुए। मार्क्स के अनुसार उत्पादन साधनों का विकास ही प्रगति का आधार है। उत्पादन प्राप्त करने के उद्देश्य से ही वर्ग बनते है। ऐतिहासिक कारणों से जब एक वर्ग समाज में उत्पादन के साधनों पर कब्जा कर लेता है, तब बाकी वर्ग इस वर्ग के अधीनस्थ हो जाते हैं जिससे विभिन्न वर्गों के बीच बैर उत्पन्न होता है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सामाजिक वर्गों की निर्णायक भूमिका है। मार्क्स के अनुसार समाज में जिनके हाथ में सत्ता है वे विचारों, मान्यताओं और दृष्टिकोणों के प्रवाह पर नियंत्रण कर लेते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि समाज में वही विचारधारा, पनपें, जो उनके हितों के सबसे अधिक अनुकूल हों। ऐसी स्थिति में विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष होता है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के प्रतिपादन में अनेक समाजशास्त्रियों ने मार्क्स के विचारों की आलोचना की है। सामाजिक स्तरण के बारे में ई एस ओ -04 में द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं की विस्तार से चर्चा की गई है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) प्रश्नों के उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें,
ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर की जांच करें।

1 स्तरण की व्याख्या से सम्बद्ध चार सामाजिक प्रक्रियाएँ क्या हैं? दो पंक्ति में उत्तर दें।

.....

.....

2 वे दो तरीके बताइए जिनसे प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण सामाजिक स्तरण के अध्ययन में समाजशास्त्रियों की मदद करता है। तीन पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

3 द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अनुसार समाज में स्तरण का मुख्य कारण क्या है? एक पंक्ति में उत्तर दें।

.....

29.5 सारांश

इस इकाई में श्रेष्ठता और हीनता के आधार पर समाज को श्रेणीबद्ध करने के लिए सामाजिक स्तरण की व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही उसके तीन आयामों, वर्ग, अधिकार और प्रस्थिति की चर्चा की गई है। उसके बाद मानव समाजों में प्रचलित स्तरण के छः प्रकारों का वर्णन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक स्तरण से सम्बद्ध विभिन्न प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए सैद्धान्तिक दृष्टिकोण विकसित करना कितना महत्वपूर्ण है।

हमने सामाजिक स्तरण के अध्ययन के लिए प्रकार्यात्मक और द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोणों की भी चर्चा की है।

शब्दावली

कुलीनतंत्र : एक उच्च वर्ग जिसमें वंशानुगत कुलीन वर्ग शामिल है।
बघेर : बरो या एक छोटे शहर का निवासी।
सहभोजिन्य : वह संबंधी जो स्वाभाविकतः एक साथ बैठकर भोजन करते हैं।
कामनर : आम व्यक्तियों में से एक जो पदरहित है।
भूस्वामित्व : भूमि में किस हद तक किसी की रुचि है या भूमि पर किसी की कितनी सम्पत्ति है अर्थात् भूस्वामित्व का अधिकार।
मूल्यांकित पदनिर्धारण : किसी पद का उसके ऊंचे या निम्न मूल्य के आधार पर निर्धारण।
सामंत व्यवस्था : सामंतों का अपने आसामियों से संबंध।
दासमुक्ति : दास प्रथा से औपचारिक मुक्ति।
नई दुनिया : पश्चिमी गोलार्ध विशेष रूप से उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका के महादेश।
कृषकदास : जमीन एवं मालिक से संबंध हुआ बुर्जआ वर्ग की सेवा करने वाले वर्ग का व्यक्ति।
दास : मालिक के बंधक में प्रस्तुत किया गया व्यक्ति।
सामाजिक गतिशीलता : किसी समाज की वर्गीकृत सामाजिक स्तर के भीतर ही प्रस्थिति में परिवर्तन।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Beteille, Andre (ed.). 1976. *Social Inequality* Penguin Books : London.
Bottomore, T.B. 1965. *Classes in Modern society* George Allen and Unwin London.
Tumin, Malvin M. 1969. *Social Stratification* Prentice Hall of India : Delhi.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 सामाजिक स्तरण के तीन आधार हैं :
1) वर्ग 2) प्रस्थिति 3) शक्ति
2 वर्ग तो व्यक्ति की आय पर आधारित आर्थिक श्रेणी है जबकि प्रस्थिति व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है।

बोध प्रश्न 2

1 आयु के आधार पर निर्धारित स्तरों को 'समवयस्क श्रेणी' कहते हैं
2 दास व्यवस्था की दो मुख्य किस्में हैं—प्राचीन दासता और आधुनिक दासता।
3 भू-स्वामित्व व्यवस्था—इस सामाजिक स्तरण का आधार भू-सम्पत्ति पर व्यक्ति के स्वामित्व से जुड़ा है।
4 जाति प्रथा दो स्तरों पर प्रचलित है। एक तो अखिल भारतीय स्तर पर, जहां पूरे समाज को चार वर्णों में बांट दिया गया है—ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। दूसरे ग्रामीण स्तर पर जहां स्थानीय समुदाय 'जाति' समूहों में बंटे हैं।
5 औद्योगिक समुदायों में सामाजिक स्तरण की सबसे आम व्यवस्था वर्गों पर आधारित है।
6 समाजशास्त्र की दृष्टि से नस्ल ऐसे लोगों का समूह है जिन्हें समाज दूसरों की तुलना में जैविक दृष्टि से भिन्न मानता है।

बोध प्रश्न 3

1) सामाजिक स्तरण से सम्बद्ध चार प्रक्रियाएं हैं
1) विभेदीकरण, 2) क्रमविन्यास, 3) मूल्यांकन और 4) पुरस्कार।
2) प्रकार्यात्मक सिद्धान्त एक तो समाज में प्रचलित स्तरण की व्यवस्था को समझने में मदद करता है। दूसरे यह समाज के विभिन्न हिस्सों को सम्पूर्ण समाज से और एक हिस्से को दूसरे से जोड़ने में मदद करता है।
3) द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अनुसार समाज में स्तरण का मुख्य कारण यह है कि विभिन्न समूहों में अल्प संसाधनों के लिए होड़ मची रहती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(उन विद्यार्थियों के लिए जो अतिरिक्त अध्ययन करना चाहते हैं।)

Banton, Michael, 1965. *Roles : An Introduction to the Study of Social Relations.* Tavistock Publications : London. Chapters 3,4,5 and 7, pp. 42-126 and 151-171

Bottomore, T.B., 1962. *Sociology : A Guide to Problems and Literature.* Vintage Books : New York

Cohen, Percy, 1968. *Modern Social Theory.* Heineman Educational Books Ltd : London. Chapter 3, 34-68

Cuff, E.C. and Payne, *Perspectives Sociology* (Second Edition).

G.C.F., (Ed.), 1984. George Allen and Unwin : London. pp. 28-30

Durkheim, E., 1915. *The. Elementary Forms of the Religious Life.* (Trans. J.S. Swain in 1965). The Free Press : Glencoe

1964. *The Division of Labour in Society.* The Free Press : Glencoe. Chapter I, pp. 49-69.

1982. *The Rules of Sociological Method.* (First Published in 1895). Macmillan : New York.

Evans-Pritchard, E.E., *The Nuer* Clarendon Press : Oxford 1940.

Firth, Raymond, 1956. *Elements of Social Organization* Walts and Company : London.

Leach Edmund, 1968. *Social Structure. In* David I. Sills (ed.) *International Encyclopaedia of Social Sciences.* Macmillan Company and the Free Press : Glencoe.

Levi Strauss, C. 1953. Social Structure in A.L. Kroeber (ed.) *Anthropology Today An Encyclopaedic Inventory.* The University of Chicago Press : Chicago and London. pp. 524-553.

Linton, R., 1936. *The Study of Man.* D. Appleton Century Co. : New York. Chapter VIII, pp. 113-131.

Malinoish, B., 1922. *Argoncents of the Western Pacific.* Ranfledge & Kegan Paul : London.

Merton, R.K., 1957. *Social Theories and Social Structure.* The Free Press : Glencoe. Chapter IX, pp. 281-386.

Mitchell, J.C., 1969. *Social Network in Urban Situations.* Manchester University Press : Manchester

Nadel, S.F., 1957. *The Theory of Social Culture,* Colen and West : London

Radcliffe-Brown, A.R., 1952. *Structure and Function in Primitive Society.* The Free Press : Glencoe, Chapter IX, pp. 178-187.

Southall, Aidan, 1959. On Operational Theory of Role. *Human Relations* 12 : 17-34.

खण्ड

8

सामाजिक नियंत्रण, परिवर्तन और विकास

इकाई 30

सामाजिक नियंत्रण 5

इकाई 31

सामाजिक विचलन 15

इकाई 32

सामाजिक संघर्ष की प्रकृति 25

इकाई 33

सामाजिक परिवर्तन 34

इकाई 34

सामाजिक विकास 45

संदर्भ ग्रंथ सूची 54

विशेषज्ञ समिति

प्रो.टी.एन. मदान (अध्यक्ष)
इंस्टीट्यूट ऑफ इकोनोमिक ग्रोथ
दिल्ली

प्रो.डी.एन. धनागरे
पूना विश्वविद्यालय
पुणे

प्रो. योगेन्द्र सिंह
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली

प्रो. आंद्रे बेते
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
माउंट कारमल रोड
मुंबई

प्रो. ए.पी. बर्नबास
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त
विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

पाठ लेखक

प्रो. पी.एन. पिम्पले
पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़

प्रो. के.एल. शर्मा
पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़

प्रो. आर.एस. श्रीवास्तव
जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर

संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. जी.एस. राव
डॉ. एस.के. पांडा.

पाठ्यक्रम संपादक

प्रो. विक्टर एस. डिसूजा
माउंट कारमल रोड
बांद्रा

समाजशास्त्र संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त
विश्वविद्यालय

डॉ. शोभित जैन
डॉ. त्रिभुवन कपूर
कु. अर्चना सिंह
डॉ. देबल के. सिंहराय
श्रीमती वी. जगन्नाथन

अनुवाद

संकाय सदस्य
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
श्री राकेश वत्स

सामग्री निर्माण

प्रोफेसर कपिल कुमार
निदेशक
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

अप्रैल, 1998 (पुनः मुद्रित)

©इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1989

ISBN-81-7091-407-8

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGSY-01/350

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी के लिए विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी नई दिल्ली-110068 से सम्पर्क करें।

खण्ड परिचय : सामाजिक नियंत्रण, परिवर्तन और विकास

खण्ड 7 में आप समाजशास्त्र की मुख्य धारणाओं के बारे में अध्ययन कर चुके हैं। इस खण्ड में आप सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन में प्रयुक्त होने वाली कुछ और धारणाओं के बारे में पढ़ेंगे। सामाजिक नियंत्रण, विचलन, संघर्ष और परिवर्तन के संदर्भ में व्यक्तियों या समूहों के सामाजिक व्यवहार के किये गये विश्लेषण से हम सामाजिक प्रक्रियाओं के बारे में अच्छी प्रकार जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। समाज के सदस्यों द्वारा स्वीकृत सामाजिक नियम तथा प्रतिमान सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करने के तरीके हैं। स्वीकृत प्रतिमानों में विचलन के कारण तथा विभिन्न सामाजिक समूहों में संघर्ष के कारण समाज में परिवर्तन की स्थितियाँ बनने लगती हैं। सामाजिक परिवर्तनों की अपनी समझ को समसामयिक सामाजिक जीवन के साथ संबद्ध करने के लिये हमें सामाजिक विकास को समझना आवश्यक है। इस खण्ड में इन सब धारणाओं की चर्चा की गयी है कि ये किस प्रकार सामाजिक व्यवहार के समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रयुक्त होती हैं।

इकाई 30 में सामाजिक नियंत्रण की धारणा की चर्चा की गयी है। सामाजिक नियंत्रण द्वारा समाज में व्यवहार को नियमित किया जाता है।

इकाई 31 में स्वीकृत प्रतिमानों से विचलित व्यवहार को देखा गया है। यहाँ हमने यह बताया है कि समाजशास्त्र में कहा जाने वाला विचलित व्यवहार, समाज की सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना के कुछ विशेष लक्षणों का परिणाम होता है।

इकाई 32 में समाज में अव्यवस्था तथा अस्थिरता के महत्वपूर्ण क्षेत्र को लिया गया है। सामाजिक जीवन में संघर्ष की स्थायी स्थितियाँ समाज में परिवर्तन की स्थिति की ओर संकेत करती हैं।

इकाई 33 में सामाजिक परिवर्तन की वैश्विक (Universal) प्रक्रिया को लिया गया है। और इस प्रक्रिया के विभिन्न सिद्धांतों और घटकों की चर्चा की गयी है।

इकाई 34 में सामाजिक परिवर्तन की जटिल पद्धतियों की जांच की गयी है। विशेष कर उन पद्धतियों की जिन्हें समाज में अपनाया जाता है, नियोजित किया जाता है और एक दिशा दी जाती है। इस तरह के परिवर्तनों को सामाजिक विकास कहा जाता है। इस धारणा की सहायता से हम समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अपने देश में हुए विकास को देख सकते हैं।

इकाई 30 सामाजिक नियंत्रण

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 अर्थ एवं प्रकृति
  30.2.1 परिभाषाएँ
  30.2.2 संबंधित संकल्पनाएँ
30.3 सामाजिक नियंत्रण के लक्ष्य
30.4 सामाजिक नियंत्रण के तरीके
  30.4.1 अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण
  30.4.2 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण
30.5 सामाजिक नियंत्रण की क्रिया विधि (Mechanisms), साधन और परिणाम
  30.5.1 सामाजिक नियंत्रण की क्रिया विधि के प्रकार
  30.5.2 सामाजिक नियंत्रण के साधन
  30.5.3 सामाजिक नियंत्रण के परिणाम
30.6 सामाजिक नियंत्रण पर सीमाएँ
30.7 सारांश
  शब्दावली
  कुछ उपयोगी पुस्तकें
  बोध प्रश्नों के उत्तर

30.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करके के बाद आप :

- सामाजिक नियंत्रण की प्रकृति और अर्थ को समझ सकेंगे,
- विभिन्न तरीकों से हासिल किए जाने वाले उद्देश्यों और सामाजिक नियंत्रण को बनाए रखने के लिए प्रत्येक समाज द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली सामाजिक क्रिया विधि की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेंगे।
- व्यक्ति और समाज पर नियंत्रण के प्रभावों के परिणामों पर विचार-विमर्श कर सकेंगे और
- उन महत्वपूर्ण पहलुओं की पहचान कर सकेंगे जो सामाजिक नियंत्रण की प्रभावशीलता को सीमित बनाते हैं।

30.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में सामाजिक नियंत्रण के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया गया है। समाज के सदस्यों पर कुछ हद तक नियंत्रण के बगैर संगठित सामाजिक जीवन संभव नहीं है। समाज में व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सामाजिक नियंत्रण जरूरी होता है। सामाजिक व्यवस्था से हमारा क्या आशय है? सामाजिक व्यवस्था का मतलब लोगों, उनके संबंधों और रीति रिवाजों से है, जो आपस में मिल कर एक समाज के कार्य को अंजाम देते हैं (हॉर्टन एण्ड हंट : 1981) जब तक व्यवहार का पता न हो कोई भी समाज कारगर ढंग से काम नहीं कर सकता। सुव्यवस्था भूमिकाओं के एक व्यापक तंत्र पर निर्भर करती है। सामाजिक नियंत्रण के जरिए पारस्परिक अधिकारों और कर्तव्यों को लागू किया जाता है।

इस इकाई में हम सबसे पहले सामाजिक नियंत्रण से संबंधित संकल्पनाओं की पड़ताल करेंगे। फिर कुछ परिभाषाओं की मदद से सामाजिक नियंत्रण के अर्थ और प्रकृति पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। इस विचार-विमर्श के बाद सामाजिक नियंत्रण के लक्ष्यों और तरीकों पर चर्चा होगी। फिर सामाजिक नियंत्रण की विभिन्न क्रियाविधियों, साधनों और परिणामों पर विचार किया जाएगा। और अंत में हम उन तत्वों की चर्चा करेंगे जो सामाजिक नियंत्रण की प्रभावशीलता को सीमित बनाते हैं।

30.2 अर्थ एवं प्रकृति

'सामाजिक नियंत्रण' का संबंध मोटे तौर पर समाज में व्यवस्था और स्थिरता बनाए रखने से है। सीमित तौर पर इसका इस्तेमाल नियमों, अदालतों, पुलिस जैसे व्यवस्था बनाए रखने के विशेष प्रकार के साधनों को निर्दिष्ट करने में किया जा सकता है। इसका इस्तेमाल सामाजिक संस्थानों और उनके अंतः संबंधों को श्रेणीबद्ध करने में भी किया जाता है क्योंकि इससे सामाजिक स्थिरता में सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए, कानूनी, धार्मिक, राजनीतिक संस्थानों आदि में। सामाजिक नियंत्रण समाजशास्त्रीय विवेचन के अत्यंत बुनियादी विषयों में से एक है और यह स्थिरता तथा परिवर्तन की प्रकृति एवं कारणों के बारे में सभी वर्कों में मौजूद रहता है।

30.2.1 परिभाषाएँ

आइए सामाजिक नियंत्रण की संकल्पना को जानने के लिए इसकी कुछ परिभाषाओं पर विचार करें।

कुछ परिभाषाएँ सामाजिक नियंत्रण के 'व्यवस्था' संबंधी पहलू पर प्रकाश डालती हैं। उदाहरण के लिए मैक आइवर और पेज (1985) ने सामाजिक नियंत्रण को एक ऐसा तरीका बताया है जिसमें समूची सामाजिक व्यवस्था लगातार एक दूसरे से जुड़ी रहकर अपने को बरकरार रखती है। कुछ अन्य लोग सामाजिक नियंत्रण को एक ऐसा साधन मानते हैं जिसके जरिए समाज अपने आपको स्थापित करता है और व्यवस्था बनाए रखता है।

अन्य प्रकार की परिभाषाएँ समूह के आदर्शों और आकांक्षाओं की अनुरूपता के पहलू को सामाजिक नियंत्रण में अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व मानती हैं। उन सभी साधनों और प्रक्रियाओं पर जोर दिया जाता है, जिनके जरिए कोई समूह या समाज अपने सदस्यों को अपनी अपेक्षा के अनुरूप ढालता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक नियंत्रण उन तरीकों को निर्दिष्ट करता है, जिनका इस्तेमाल समाज अपने गुमराह सदस्यों को ठीक रास्ते पर लाने के लिए करता है। जब हम सामाजिक नियंत्रण शब्द का इस्तेमाल करते हैं, तो, वास्तव में उन प्रक्रियाओं और साधनों का उल्लेख करते हैं जो सामाजिक आदर्शों से विचलन को रोकते हैं। (होर्टन एण्ड हंट-1981, बर्गर 1963, ऑगबर्न और निमकोफ 1978)

सामाजिक नियंत्रणों के अर्थ के बारे में इन सभी परिभाषाओं से निम्नलिखित मुख्य बातें उभर कर सामने आई हैं :

क) यह शब्द मुख्य रूप से उन साधनों और प्रक्रियाओं का उल्लेख करता है जिनसे कुछ निश्चित लक्ष्य हासिल किए जाते हैं।

ख) सामाजिक नियंत्रण से जो दो सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य हासिल किए जाते हैं वे हैं :
- समूह के आदर्शों और आकांक्षाओं से अनुरूपता।
- समाज में व्यवस्था कायम करना।

ग) नियंत्रण में प्रभाव, समझाने-बुझाने या बाध्यता के तत्व होते हैं। व्यक्ति या समूह को एक खास तरीके से कार्य करने का निर्देश दिया जाता है। कोई व्यक्ति चाहे अथवा न चाहे उससे अनुरूपता की उम्मीद की जाती है या उसे इसके लिए मजबूर किया जाता है।

घ) सामाजिक नियंत्रण की संभावनाएँ व्यापक हैं। इसका भिन्न-भिन्न स्तरों पर उपयोग हो सकता है। एक समूह अपने सदस्यों पर नियंत्रण कर सकता है या कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति पर नियंत्रण की कोशिश कर सकता है। नियंत्रण की संभावनाएँ विचलकों (deviants) के प्रबंध से लेकर सामाजिक योजना तक फैली हुई हैं।

30.2.2 संबंधित संकल्पनाएँ

यहाँ हम सामाजिक नियंत्रण से संबंधित कुछ संकल्पनाओं पर विचार करेंगे।

1) आत्मनियंत्रण की संकल्पना

आत्म नियंत्रण का मतलब यह है कि एक खास स्थिति में सही ढंग से कार्य करने के लिए किसी व्यक्ति पर बाह्य नियंत्रण थोपने की जरूरत नहीं होती। इस दृष्टि से आत्मनियंत्रण, एकरूपता कायम करने के लिए, सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि को बल प्रदान करता है। लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि आत्मनियंत्रण स्वयं सामाजिक नियंत्रण में उत्पन्न होता है। वास्तव में सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया में ही व्यक्ति के अंदर आत्मनियंत्रण की भावना का विकास होता है। आत्मनियंत्रण और सामाजिक नियंत्रण के संबंधों को निम्नलिखित तरीके से समझा जा सकता है :

लीक से हटकर व्यवहार करने से रोकने के लिए समाज व्यक्ति पर कुछ प्रतिबंध (दंड आदि) लगाता है। लेकिन कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने कार्यों के परिणाम को पहले ही भांप लेते हैं और अपने आप को संयमित कर लेते हैं। इस प्रकार आत्म नियंत्रण भी सामाजिक नियंत्रण का ही एक रूप है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक नियंत्रण और आत्मनियंत्रण दोनों का एक अन्य प्रक्रिया—समाजीकरण से निकट का संबंध है। आगे हम उसी पर विचार करेंगे।

2) समाजीकरण

समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके ज़रिए कोई व्यक्ति बचपन से ही अपने समूह की सांस्कृतिक विशेषताओं को सीखता और ग्रहण करता है ताकि वह समूह अथवा समाज में एक सदस्य के रूप में शामिल होने के योग्य बन सके। उदाहरण के लिए बचपन में अभिभावक बच्चे पर पुरस्कार, दंड और अनुशासन की एक प्रणाली के जरिए अपनी अपेक्षाएँ थोपते हैं। कोई व्यक्ति दूसरों के व्यवहार को देख कर और विभिन्न स्थितियों में अपने खुद के आचरण के परिणामों और प्रतिक्रियाओं के अनुमान लगाकर भी बहुत कुछ सीखता है। इस तरह वह व्यक्ति क्या सही है और क्या गलत, इस बारे में आत्म संयम विकसित कर लेता है। सीखने की प्रक्रिया के जरिए हम अधिकतर, समूह की अपेक्षाओं के अनुसार काम करने लगते हैं। और अक्सर हम यह सब जानबूझ कर नहीं करते। आप इस बारे में अपने रोजमर्रा के जीवन से कई दृष्टांत ले सकते हैं जिनमें आप छोटे-बड़े ऐसे अनेक काम करते हैं जिन्हें आपको करना होता है—मगर यह पता नहीं होता कि आप ऐसा क्यों कर रहे हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया के विफल होने पर ही व्यक्ति अपने समूह की अपेक्षाओं के विपरीत काम करता है। ऐसी स्थिति में प्रतिबंध लगाना अनिवार्य बन जाता है।

सामाजिक नियंत्रण, समाजीकरण की प्रक्रिया में भी मदद करता है। समाजीकरण में चूंकि सीखने की प्रक्रिया शामिल होती है अतः इसमें पुरस्कार और दंड की प्रणाली की आवश्यकता होती है। इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण और समाजीकरण का आपस मे संबंध है। दोनों ही समूह के मानदंडों का पालन किए जाने और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के अंतिम उद्देश्य की दिशा में एक दूसरे की मदद करते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1 सामाजिक नियंत्रण से कौन से महत्वपूर्ण लक्ष्य हासिल किए जाते हैं? अपना उत्तर तीन पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

2 सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख तत्व क्या हैं? दो पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

30.3 सामाजिक नियंत्रण के लक्ष्य

सामाजिक नियंत्रण की कई परिभाषाओं की समीक्षा से यह स्पष्ट हो चुका है कि सामाजिक नियंत्रण से अनेक महत्वपूर्ण लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं। उनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं :

1) **समानुरूपता**

सामाजिक नियंत्रण का एक उद्देश्य समाज में समानरूपता लाना है। व्यवहार में परिवर्तन को नियंत्रित करने या रोकने या प्रस्तुत करने के लिए सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि का उपयोग किया जाता है। जैसा कि हम आगे इकाई 31 में देखेंगे—निर्धारित मानदंडों से भिन्न व्यवहार कई तरह से समाज के लिए नुकसानदेह होते हैं। सामाजिक नियंत्रण का उद्देश्य इस तरह के विचलित व्यवहार के नुकसानदेह परिणामों से समाज की रक्षा करना है।

2) **एकरूपता**

सामाजिक नियंत्रण का एक उद्देश्य व्यवहार में एकरूपता लाना है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि समाज के सभी व्यक्तियों को एक जैसा व्यवहार करना चाहिए। इसका मतलब यह है कि विभिन्न लोगों द्वारा की जाने वाली एक दूसरे से जुड़ी अनेक गतिविधियों में कुछ तालमेल होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि सड़क का उपयोग करने वाले लोगों द्वारा कुछ समान नियमों (उदाहरण के लिए बाएँ चलना आदि) का पालन नहीं किया जाएगा तो सड़क पर यातायात कठिन हो जाएगा। यदि सभी टीमों द्वारा समान नियमों का पालन नहीं किया गया तो कोई भी खेल नहीं खेला जा सकता। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहार में कुछ एकरूपता की न केवल उम्मीद की जाती है, बल्कि वह आवश्यक भी है।

3) **एकता**

सामाजिक नियंत्रण का यह एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है। जैसा कि मैकाइवर और पेज (1985) ने स्वीकार किया है कि सामाजिक नियंत्रण से समाज में व्यवस्था और एकता कायम होती है। समाज कई हिस्सों या इकाइयों से मिलकर बना है। सामाजिक एकता और स्थायित्व सुनिश्चित करने के लिए इन विभिन्न हिस्सों को एक दूसरे के साथ तथा समूचे समाज के साथ एक संतुलन बनाए रखना पड़ता है। सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि का उद्देश्य इन हिस्सों में और हिस्सों तथा समूचे समाज के बीच संतुलन बनाए रखना है।

4) **निरंतरता**

समूह की संचित संस्कृति के रखरखाव और संरक्षण के लिए भी सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है। व्यक्तियों को समूह में प्रचलित मान्यताओं और मूल्यों के अनुरूप व्यवहार करने के लिए मजबूर या प्रेरित करके इन सांस्कृतिक विशिष्टताओं की निरंतरता को सुनिश्चित किया जाता है। उदाहरण के लिए जब अभिभावक परिवार के रीति-रिवाजों या परिपाटी के अनुसरण के लिए अपने बच्चों पर जोर डालते हैं तभी पीढ़ियों तक उनकी निरंतरता सुनिश्चित रहती है।

5) **सामाजिक परिवर्तन**

सामाजिक नियंत्रण का उपयोग न केवल वर्तमान पद्धतियों को सुरक्षित रखने के लिए बल्कि कभी-कभी मन चाहे सामाजिक परिवर्तन के लिए भी किया जाता है। हमारे देश में कुछ सामाजिक रीति–रिवाजों, दृष्टिकोण और व्यवहार में

वांछित परिवर्तन के लिए समझाने-बुझाने, प्रेरित करने और बाध्य करने के अनेक तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है। विवाह के लिए उम्र निर्धारित करना, दो बच्चों वाले परिवार के आदर्श और छुआछूत तथा दहेज प्रथा की समाप्ति, आदि सामाजिक परिवर्तन लाने के प्रयत्न के कुछ उदाहरण हैं जो सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधनों द्वारा किये गये हैं।

30.4 सामाजिक नियंत्रण के तरीके

सामाजिक नियंत्रण के तरीकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। (क) अनौपचारिक (ख) औपचारिक। अनौपचारिक तरीके अनियमित और अलिखित होते हैं। इनमें नियम, कार्यक्रम और संगठन का अभाव होता है। अनौपचारिक तरीकों में कभी-कभी प्रशंसा, निन्दा, नुक्ताचीनी, निर्वासन का भाव निहित होता है। औपचारिक तरीकों को संहिताबद्ध किया जा सकता है, उनकी सूची बनाई जा सकती है और संगठित या नियमित किया जा सकता है, जैसे पदोन्नति, पदावनति उपहास, मुद्रा भुगतान, जनसम्पर्क आदि के मामले में होता है। (देखें होर्टन एण्ड हंट, 1981) अब हम प्रत्येक तरीके पर विस्तार से विचार करेंगे :

30.4.1 अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण

इसे प्राथमिक सामाजिक नियंत्रण भी कहा जाता है क्योंकि यह उन समूहों में अत्यन्त प्रभावकारी होता है जिन्हें समाजशास्त्री प्राथमिक समूह कहते हैं। प्राथमिक समूह अपेक्षाकृत अधिक समरूप, लघु, ठोस, और अन्तरंग होते हैं। इनके सदस्य व्यक्तिगत निष्ठा की भावना के जरिए एक दूसरे से और समूह से जुड़े होते हैं। परिवार, खेल समूह, पड़ोसी, ग्रामीण समुदाय और सहज आदिम समाज इस तरह के ठोस सामाजिक समूहों के कुछ उदाहरण हैं। इस तरह के समाजों में प्रत्येक व्यक्ति लगातार सामाजिक नियंत्रण की अत्यन्त सूक्ष्म और शक्तिशाली क्रियाविधि से घिरा होता है। परिवार में वह अपने अभिभावकों और परिवार के सदस्यों के नियंत्रण में रहता है। परिवार, पड़ोसियों या सगोत्रीय समूहों के नियंत्रण में और ये सभी समूचे समाज के चौकस नियंत्रण में रहते हैं इसलिए कोई भी व्यक्ति या समूह सामाजिक नियंत्रण की गिरफ्त से बच नहीं सकता।

हम कह सकते हैं कि इस तरह की सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक नियंत्रण व्यक्तियों और समूहों के चारों ओर सजे समकेन्द्रीय घेरों के रूप में मौजूद होता है। इस प्रकार के नियंत्रण की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह अनौपचारिक, स्वतः स्फूर्त, और अनियोजित होता है। आमतौर पर समूह निर्धारित रास्ते से हट रहे समाज के सदस्यों की निन्दा, नुक्ताचीनी, तिरस्कार, आलोचना, बहिष्कार करता है और कभी-कभी बल प्रयोग और जोर-जबर्दस्ती के जरिए अपनी असहमति व्यक्त करता है। चूँकि समूह ठोस होता है, बंधन मजबूत होते हैं, सदस्य एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं और व्यक्ति के सम्मुख किसी दूसरे समूह की सदस्यता का कोई विकल्प नहीं होता। अतः वह अपने समूह की अस्वीकृति की उपेक्षा नहीं कर सकता और अपने समूह की अपेक्षाओं के अनुरूप अपने को ढाल लेता है।

नियंत्रण के ये तरीके न केवल प्राथमिक समूहों और संबंधों के बहुतायत वाले आदिम समाजों में कारगर होते हैं, बल्कि हम लोगों जैसे आधुनिक जटिल समाजों में, खासतौर से द्वितीयक समूहों के भीतर अत्यन्त कारगर होते हैं, जहाँ संगठन के लक्ष्यों को हासिल करने के लिए इस तरह के अनौपचारिक नियंत्रण का इस्तेमाल किया जाता है।

30.4.2 औपचारिक सामाजिक नियंत्रण

इसे द्वितीयक सामाजिक नियंत्रण भी कहते हैं क्योंकि यह आमतौर पर बड़े द्वितीयक सामाजिक समूहों में पाया जाता है। हम लोगों जैसे आधुनिक जटिल समाज इस तरह के सामाजिक समूहों के अच्छे उदाहरण हैं। इस तरह के समाजों में ऐसे अनेक समूह होते हैं जिनमें निजी संबंधों को कोई महत्व नहीं दिया जाता और जिनकी शुरुआत कुछ खास उद्देश्यों को लेकर की गई होती है। राजनीतिक दल, मजदूर संघ, कारखाना, कार्यालय, छात्र संघ आदि इस तरह के समूहों के कुछ उदाहरण हैं। इस तरह के द्वितीयक समूहों के सदस्यों में संबंध ज्यादा औपचारिक और कम अन्तरंग होते हैं। इनके संबंध काफी हद तक कानूनों, नियमों, व्यवस्थाओं और मानकीकृत प्रक्रियाओं द्वारा संचालित होते हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि निन्दा, आलोचना या नुक्ताचीनी जैसे अनौपचारिक नियंत्रण यहाँ काम नहीं करते। समाजशास्त्र का अध्ययन करने वाले लोग इस तथ्य से भलीभांति परिचित हैं कि अनौपचारिक समूहों का विकास इस तरह के औपचारिक संगठनों में ही होता है। किसी विश्वविद्यालय या कालेज में अध्यापकों और छात्रों के बीच कुछ खास तरह के गुट बने होते हैं और इन गुटों में अनौपचारिक नियंत्रण ज्यादा कारगर होते हैं। प्रश्न यह है कि औपचारिक संगठनों में विकसित होने वाले इस प्रकार के अनौपचारिक समूह, औपचारिक द्वितीयक नियंत्रणों को या तो रोकते हैं या उन्हें सुगम बनाते हैं और इस प्रकार संगठन के कामकाज को प्रभावित करते हैं।

आमतौर पर द्वितीयक समूहों में अनौपचारिक नियंत्रण स्थान ग्रहण करते हैं। इस तरह के नियंत्रण में रचनात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार के प्रतिबंध लागू किए जाते हैं। रचनात्मक प्रतिबन्ध में पुरस्कार, सम्मान और नकारात्मक प्रतिबंध में दंड, बहिष्कार आदि का उपयोग किया जाता है। बड़े समाज में इस तरह के नियंत्रण के उदाहरण हैं : कानून, पुलिस, अदालत, जेल तथा कानून का परिपालन कराने वाली अन्य एजेंसियाँ। इन अत्यन्त प्रत्यक्ष रूपों के अलावा औपचारिक नियंत्रण के तरीकों में, सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था के लिए जनसंचार के माध्यमों द्वारा सुनियोजित प्रोपेगेंडा यानी प्रचार भी शामिल होता है। बड़े द्वितीयक समूहों में गुमनामी, गतिशीलता में वृद्धि और मानकों तथा मूल्यों में विरोधाभास के कारण अनौपचारिक

नियंत्रण ढीले पड़ जाते हैं। अन्तरंगता कम होती जाती है और सदस्यों में एक दूसरे के प्रति व्यक्तिगत या भावनात्मक सम्बन्ध नहीं होते। वे लगातार एक स्थान से दूसरे स्थान तक या एक समूह से दूसरे समूह में आते-जाते रहते हैं। इस प्रकार वे आसानी से किसी खास समूह के नियंत्रण से बच सकते हैं। यही नहीं एक जटिल समाज में विभिन्न समूहों के आदर्शों और मूल्यों में टकराव बराबर बना रहता है। एक समूह किसी ऐसे आचरण को स्वीकार कर सकता है, जिसे किसी अन्य समूह ने अस्वीकार कर दिया हो। ऐसी परिस्थिति में अन्ततः सामाजिक नियंत्रण को औपचारिक संस्थाओं का सहारा लेना पड़ता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपना उत्तर मिलाइए।

1 सामाजिक नियंत्रण के पाँच प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख करें। अपना उत्तर एक पंक्ति में दें।

.....

2 सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक तरीके का वर्णन तीन पंक्तियों में करें।

.....

.....

.....

3 नौकरशाही में पदोन्नति और पदावनति अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के उदाहरण हैं। सही जगह निशान लगाएँ।
(हाँ/नहीं)

30.5 सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि (Mechanisms), साधन और परिणाम

हर समाज ने नियंत्रण के लिए विभिन्न क्रियाविधियों का विकास किया है। समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधियों को ऐसी सामाजिक व्यवस्थाएँ माना है जो—

क) सामाजिक ढांचे में व्यक्ति के स्थान की वजह से उत्पन्न हो सकने वाले तनावों को रोकती हैं।

ख) तनावों के कारण विचलन को रोकता है (देखें, ब्रेयरली 1947 : 65) उपरोक्त ढांचे के लिहाज से सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधियों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

30.5.1 सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि के प्रकार

1) **निरोधात्मक क्रियाविधि :** इस प्रकार की क्रियाविधि का मकसद यह है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने दी जाए जो विचलन का रूप ले सकती हो।
समाजीकरण, सामाजिक दबाव, भूमिका की प्राथमिकताओं की स्थापना और बल कुछ ऐसी क्रियाविधियाँ हैं जिनके जरिए अनुरूपता को बढ़ावा दिया जाता है, या विचलन की स्थिति उत्पन्न होने से रोका जाता है।

2) **तनावों को काबू में करने की क्रियाविधि :** सामाजिक रुकावटों और सांस्कृतिक असंगतियों से उत्पन्न तनावों को हास्य, खेलकूद, विश्राम, धार्मिक, अनुष्ठान जैसे संस्थागत साधनों के जरिए दूर किया जाता है।

3) **विचलित व्यवहार पर रोक लगाने या बदलने की क्रियाविधि :** समाज अनुरूपता लाने और विचलित व्यवहार को रोकने या बदलने के लिए प्रतिबंधों का इस्तेमाल करता है। इन प्रतिबंधों को निम्नलिखित रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

   क) **मनोवैज्ञानिक प्रतिबंध :** इसमें नकारात्मक प्रतिबंध आते हैं जैसे निन्दा, अस्वीकृति, बहिष्कार। रचनात्मक प्रतिबंधों में समूहों में स्वीकृति, प्रशंसा, अन्तरंग क्षेत्र की घटनाओं के लिए आमंत्रण, पीठ थपथपाकर शाबासी देना और उपहार आदि शामिल हैं।

   ख) **शारीरिक प्रतिबंध :** अधिकतर ये नकारात्मक होते हैं। शारीरिक प्रतिबंध का सबसे महत्वपूर्ण रूप है निष्कासन, शारीरिक दंड और बहिष्कार।

   ग) **आर्थिक प्रतिबंध :** इनमें किसी निष्ठावान कर्मचारी को पुरस्कृत करने, नागरिक नियमों का पालन करने वाले व्यवसायी को ठेका देने जैसे रचनात्मक प्रतिबंध अथवा किसी की आय में कटौती या नुकसान (उदाहरण के लिए हड़ताल जारी रखने से कर्मचारी को रोकने के लिए नियोक्ता द्वारा उसे नौकरी से निकालने की धमकी) तथा आर्थिक बहिष्कार आदि जैसे नकारात्मक प्रतिबंध शामिल हैं।

4) **प्रचार की क्रियाविधि :** मनचाही दिशा में परिवर्तन लाने की एक अन्य महत्वपूर्ण क्रियाविधि है प्रोपेगेंडा यानी प्रचार या जनमत को मोड़ना। प्रोपेगेंडा भावनाओं, दृष्टिकोण और मूल्यों को बदलने में कारगर, उपायों के जरिए सदस्यों के

व्यवहार और अन्तर सम्बन्धों पर जानबूझ कर नियंत्रण करने की एक महत्वपूर्ण क्रियाविधि है। उदाहरण के लिए जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए सरकार द्वारा परिवार नियोजन का प्रचार यानी प्रोपेगेंडा। (देखें होर्टन एण्ड हन्ट 1981)

30.5.2 सामाजिक नियंत्रण के साधन

जैसा कि इस इकाई (30.2.1) में पहले बताया जा चुका है सामाजिक नियंत्रण विभिन्न प्रकार के ऐसे विशिष्ट साधनों को निर्दिष्ट कर सकते हैं, जिनका उपयोग व्यवस्था बनाए रखने में या संस्थानों के वर्गीकरण में समाज कर सकता है, क्योंकि ये विशेष रूप से व्यवस्था और स्थिरता बनाए रखने में मदद करते हैं। आइए, इनमें से कुछ की विस्तार से चर्चा करें :

1) **रीति रिवाज**

प्रत्येक समाज में ऐसे सामाजिक नियम होते हैं, जिनसे कार्य करने के मानकीकृत तरीके विकसित होते हैं। ये तरीके रीति रिवाजों के रूप में जाने जाते हैं, जिन्हें समाज और समूह में मान्यता मिली हुई होती है। किसी व्यक्ति को रीति रिवाजों के अनुरूप ढालने के लिए कुछ हद तक दबाव भी डाला जाता है। यदि इनका उल्लंघन किया जाता है तो समूह कुछ प्रतिबंध लागू करता है या विभिन्न प्रकार के दण्ड निश्चित करता है। दण्ड का हल्का या कड़ा होना इस बात पर निर्भर करता है कि रीति रिवाजों का विधान कितना महत्वपूर्ण है।

रीति रिवाज सामूहिक स्वीकृति के जरिए टिके रहते हैं। रीति रिवाजों के उल्लंघन की स्थिति में अनौपचारिक सामाजिक दबाव झेलना पड़ता है। दूसरी ओर लोकाचारों के उल्लंघन की कड़ी प्रतिक्रिया होती है और दण्ड स्वरूप समूह से बहिष्कृत किया जा सकता है, कड़ी निन्दा की जा सकती है, जेल भेजा जा सकता है या कुछ मामलों में मौत की सजा भी दी जा सकती है। किसी संस्कृति में सही ढंग से काम करने के लिए जरूरी है कि व्यक्ति उपयुक्त लोकाचार (प्रथाओं और परम्पराओं को) सीखे।

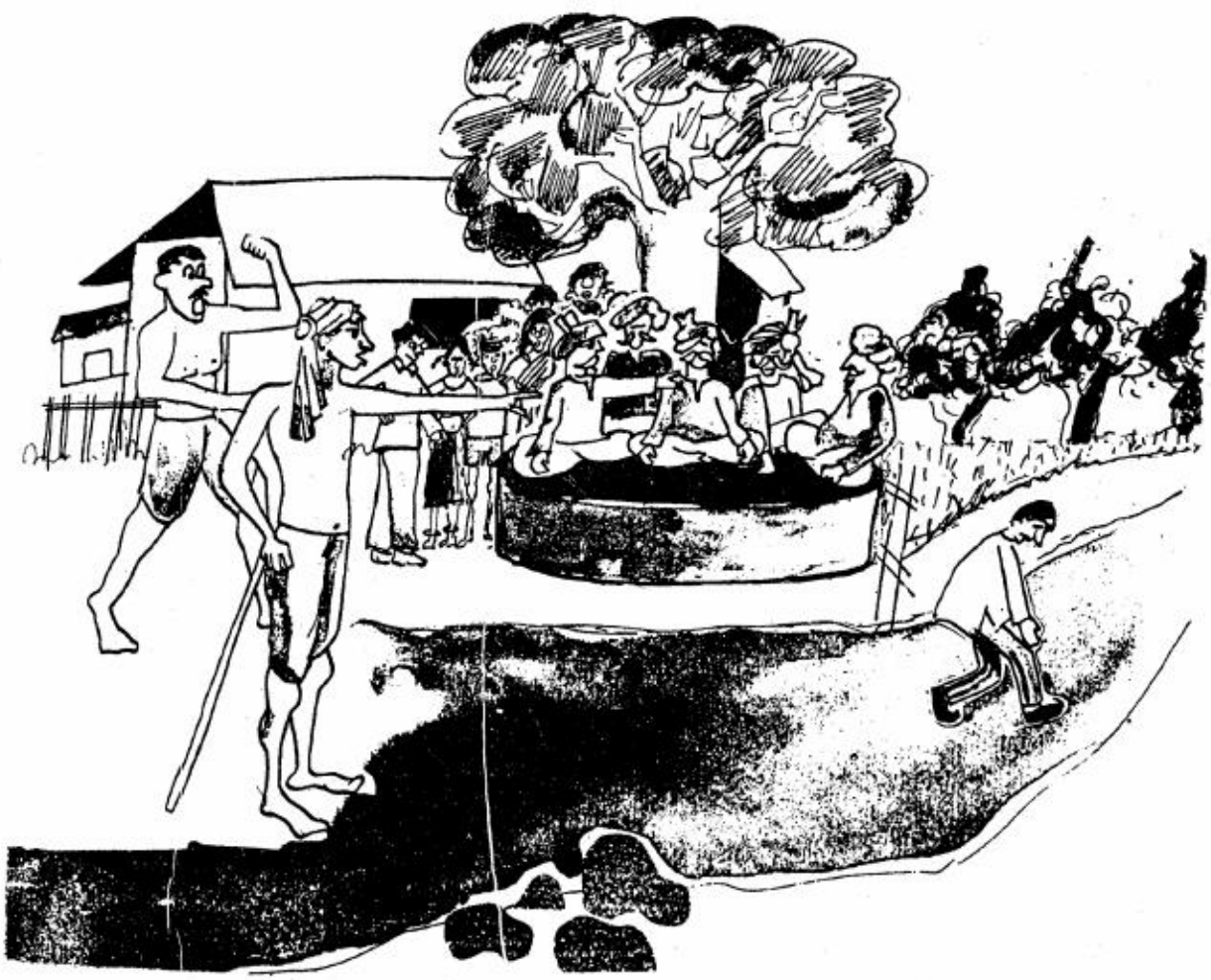

जाति बहिष्कार : सामाजिक नियंत्रण का एक उपाय

2) कानून

समाज यदि जरूरी समझता है तो कुछ नियमों को कानून का रूप दे दिया जाता है। कानून, विधायी संगठनों द्वारा तैयार किए गए नियमों की औपचारिक मानकीकृत अभिव्यक्ति होते हैं, जिनका उपयोग एक विशिचत प्रकार के व्यवहार को व्यवस्थित बनाने में किया जाता है। कानून महज यह नहीं बताता कि किस प्रकार के व्यवहार की अनुमति है और किस प्रकार के व्यवहार की नहीं। वे कानून का उल्लंघन होने पर दण्ड भी सुझाते हैं।

चूँकि अब हम सहज समाजों की बजाए आधुनिक समाज की चर्चा कर रहे हैं अतः सामाजिक नियंत्रण की एक क्रियाविधि के रूप में कानून का बड़ा महत्व है। आधुनिक जटिल समाजों में अधिक अनौपचारिक किस्म के सामाजिक नियंत्रण कमजोर पड़ जाते हैं। कानून भले ही रीति रिवाजों पर आधारित हों—लेकिन इनमें तीन ऐसी विशिष्टताएँ होती हैं जो इन्हें रीति रिवाजों से अलग करती हैं : एक तो इनमें **राजनीतिकता** होती है क्योंकि राज्य की राजनीतिक सत्ता का समर्थन प्राप्त होता है। दूसरे—इनमें **एकरूपता** होती है क्योंकि समूचे राज्य में सभी समूहों या समाज के हिस्सों पर इन्हें लागू किया जा सकता है। तीसरे, इनमें दण्ड देने का अधिकार होता है क्योंकि उल्लंघन की स्थिति में राज्य (अदालतों) द्वारा लगाए गए दण्ड की शक्ति के आधार पर कानून को लागू किया जाता है। कानून का परिपालन कराने वाली पुलिस, अदालत, कारागार जैसी कुछ विशिष्ट एजेंसियाँ होती हैं, लेकिन यदि कानून में लोकाचार या रीति रिवाजों की झलक न मिले तो इसके परिपालन की उपेक्षा किए जाने या कम महत्व दिए जाने की आशंका हो सकती है। उदाहरण के लिए भारत में कानून द्वारा विवाह की न्यूनतम आयु निर्धारित कर दी गई है। लेकिन कई समुदायों में इसकी उपेक्षा की जाती है। जब रीति रिवाजों और कानून में टकराव हो तो कानून को लागू करना कठिन हो जाता है।

3) धर्म

समाजशास्त्रियों की यह जानने में दिलचस्पी है कि धर्म कैसे संगठित होता है और समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने की दृष्टि से उन पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है। वे विभिन्न स्थितियों और अवस्थाओं में लोगों द्वारा विकसित मान्यताओं के बारे में भी जानना चाहते हैं—और यह भी कि बाहरी स्थितियों और अवस्थाओं में परिवर्तन के साथ धार्मिक विश्वास किस प्रकार बदल जाते हैं। सभी धर्मों में निम्नलिखित तत्व होते हैं : (क) पवित्र समझी जाने वाली चीज़ें (ख) कुछ आस्थावान लोग (ग) धार्मिक विधि और संस्कार (घ) पंथ, सिद्धांत या धर्मग्रन्थ जैसे विश्वासों की एक प्रणाली (च) एक खास किस्म का संगठन।

धर्म समाज में स्थिरता और व्यवस्था में योगदान करता है। वह सामाजिक नियमों को बल प्रदान करता है, नियमों के उल्लंघन के लिए प्रतिबंधों की व्यवस्था करता है, और बुनियादी मूल्यों को मजबूत बनाता है (विशेष रूप से लोकाचार के मूल्यों को)। वैज्ञानिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के साथ आज कुछ रीति रिवाजों तथा व्यवहार की धार्मिक और नैतिक व्याख्या को स्वीकार करना या मानना आवश्यक नहीं रह गया है। अधिकांश धर्मों के धर्म ग्रन्थों में सामाजिक संबंधों के बारे में नियमों को शामिल किया गया है। विशेष रूप से विवाह, तलाक और उत्तराधिकार के बारे में ये नियम स्पष्ट हैं।

यद्यपि धार्मिक उपदेशों द्वारा स्वीकृत कुछ आचरणों को कानून चुनौती दे रहा है लेकिन धर्म से जुड़े विश्वासों और अनुभवों को निजी पहचान और सामाजिक समरूपता के लिए अब भी आवश्यक माना जा रहा है।

4) शिक्षा

शिक्षा संस्थान सामूहिक जीवन की जिस महत्वपूर्ण चुनौती का सामना करने में मदद करते हैं, उनमें से एक है समाज के युवा और प्रौढ़ सदस्यों के समाजीकरण के जरिए मानव व्यवहार को नियमित करना। औपचारिक शिक्षा के विभिन्न स्तरों के जरिए समाज के भीतर व्यक्तियों में समाज की संस्कृति की जानकारी दी जाती है। स्कूल और कालेज जब अपनी सामाजिक जिम्मेदारी निभाते हैं तो व्यक्तियों को समाज के बहुत से मूल्यों से परिचित कराते हैं—जैसे नियमों का पालन करना, ईमानदार होना, परिश्रमी होना तथा दूसरों के साथ सहयोग करना आदि। शिक्षा का एक अन्य मूल्य यह है कि छात्रों को उनकी व्यस्क व्यवसायिक भूमिका के लिए तैयार करना। शिक्षा का महत्व इसलिए भी है कि वह सामाजिक और भौतिक पर्यावरण के बारे में जानकारी उपलब्ध कराता है। लेकिन शिक्षा अगर इस तरह के मूल्यों से परिचित कराती है तो इसका मतलब यह नहीं है कि जो व्यक्ति स्कूल या कालेज में पढ़ने जाते हैं, वे सभी इन्हें सीखते हैं और उन्हें स्वीकार करते हैं। जहां शैक्षिक प्रणाली, और शिक्षक तथा समाजीकरण में मदद करने वाले अन्य लोग हमेशा सफल रहते हैं वहाँ विचलन और सामाजिक टकराव नहीं होता।

5) परिवार

दुनिया भर में परिवार द्वारा जो कार्य किए जाते हैं, उनमें से कुछ महत्वपूर्ण कार्य हैं, समाजीकरण, स्नेह और भावनात्मक समर्थन, यौन संबंधों का नियमन और बच्चे पैदा करना आदि। परिवार केवल समाजीकरण की एक महत्वपूर्ण एजेंसी ही नहीं है बल्कि वह सामाजिक नियंत्रण की भी व्यवस्था करता है। परिवार के भीतर ही व्यक्ति के अत्यन्त अन्तरंग और महत्वपूर्ण सामाजिक संबंध होते हैं। मनुष्य की अधिकांश बुनियादी जरूरतें—शारीरिक और मनोवैज्ञानिक—दोनों ही—परिवार के अंदर ही पूरी होती हैं। यद्यपि सामाजिक नियंत्रण के अधिक औपचारिक और दमनकारी उपाय आमतौर पर परिवार में नहीं होते लेकिन निन्दा, आलोचना, असहमति, प्रतिष्ठा में कमी, पुरस्कार वापस लेने आदि जैसे अन्य अनौपचारिक साधन बहुत ही सबल रूप में परिवार में मौजूद होते हैं। वास्तव में तनाव और दबाव की स्थितियों में व्यक्ति हमेशा परिवार के अपने प्रिय और निकट के व्यक्ति से भावनात्मक समर्थन प्राप्त करता है। यह समर्थन वापस लेने मात्र की धमकी ही व्यक्ति को रास्ते पर ला देती है। प्रत्येक परिवार के अपने नैतिक मूल्य और रीति रिवाज होते हैं। इन्हें

परिवार के सदस्यों खासतौर से कम उम्र के सदस्यों पर अनुशासनात्मक उपायों और पुरस्कार तथा दण्ड की प्रणाली के जरिए लागू किया जाता है।

6) **नेतृत्व**
सामाजिक नियंत्रण में यह बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। यह स्वयं पारस्परिक क्रिया की प्रक्रिया में विकसित होता है। नेता समूहों, समुदायों और राष्ट्रों की नियति को दिशा देते हैं। यदि नेता को समूह का समर्थन प्राप्त हो तो उनके सुझावों-निर्देशों से समाज के सदस्य समान मूल्यों और लक्ष्यों की ओर अग्रसर होते हैं और इससे समाज में व्यवस्था और स्थिरता को बढ़ावा देने में मदद मिल सकती है।

7) **जनसंचार का माध्यम**
परम्परागत लघु समाजों में संचार का एकमात्र साधन आमने-सामने का सम्पर्क है। आधुनिक प्रौद्योगिक समाजों में अखबार, रेडियो, टेलीविजन जैसे जनसंचार के साधन न केवल संवाद के माध्यम हैं बल्कि सामाजिक नियंत्रण के भी साधन हैं। उदाहरण के लिए जनमत जागृत करने और प्रचार का काम इन्हीं जनसंचार माध्यमों के जरिए किया जाता है। राजनीतिक समूह तथा आर्थिक तथा व्यवसायिक संगठन और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक समूह जनमत तैयार करने और विशाल जनसंख्या के रवैये और व्यवहार को बदलने या नियंत्रित करने के लिए इन्हीं माध्यमों का उपयोग करते हैं। जनता पर नए मूल्य और रहन-सहन के ढंग, फैशन, इच्छा और विचार आदि थोपे जाते हैं। इसके पीछे मकसद उनके व्यवहार को फिर से निर्देशित और नियंत्रित करके किसी खास दिशा में मोड़ना होता है।

8) **बल**
यद्यपि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संबंधों में बल या शारीरिक दमन के तत्व की उपेक्षा की है या उसे कम महत्व दिया है, मगर सामाजिक नियंत्रण में बल की भूमिका को कम करके नहीं आंका जा सकता। कुछ प्रकार के समाजों में उदाहरण के लिए पुलिस राज या औपनिवेशिक शासन में बल और हिंसा का इस्तेमाल नियंत्रण के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में किया जाता है। वास्तव में यह जोर देकर कहा जा सकता है कि शारीरिक हिंसा सामाजिक नियंत्रण का सबसे पुराना और अन्यतम साधन है। यहाँ तक कि आधुनिक उदारवादी समाजों में भी पुलिस और सशस्त्र सेनाओं की व्यवस्था होती है। इससे यह तथ्य उजागर होता है कि जब अन्य साधन असफल हो जाते हैं तो बहुत से मसलों का जवाब बल और हिंसा के जरिए ही दिया जाता है। दूसरी ओर सांप्रदायिक और जातीय हिंसा इस बात के उदाहरण हैं कि कानूनी तौर पर मान्य न होने पर भी एक दूसरे को नियंत्रित और प्रताड़ित करने के लिए विभिन्न स्वार्थी समूहों द्वारा ताकत का किस प्रकार इस्तेमाल किया जाता है।

30.5.3 सामाजिक नियंत्रण के परिणाम

यद्यपि समाजों में निरन्तर स्थायित्व और समरूपता को बढ़ावा देने के लिए सामाजिक नियंत्रण को आवश्यक माना जाता है लेकिन कभी-कभी यह दुष्क्रियात्मक बन जाता है। सामाजिक नियंत्रण के कुछ दुष्क्रियात्मक पहलू इस प्रकार हैं :

1) **शोषण**
सामाजिक नियंत्रण कभी-कभी शोषण का प्रखर साधन भी बन सकता है। प्रभुत्व वाले कुछ समूह या व्यक्त अपने निहित स्वार्थ को पूरा करने के लिए इसका इस्तेमाल कर सकते हैं। ये स्वार्थ राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक कुछ भी हो सकते हैं। इस तरह के मामलों में वास्तविक इरादे कुछ मोहक उद्देश्यों के आवरण में छिपे होते हैं। सामाजिक नियंत्रण के साधनों का इस्तेमाल करके कोई सत्तारूढ़ पार्टी अपने शासन को स्थायी बनाने या कोई व्यावसायिक संगठन अपने घटिया उत्पादनों को बेचने का प्रयास कर सकता है।

2) **सुधार और परिवर्तन में बाधा**
सामाजिक नियंत्रण परिणामों को सीमित कर सकते हैं और कभी-कभी रचनात्मकता पर रोक लगा सकते हैं, रचनात्मक सुधारों और सामाजिक परिवर्तनों में बाधा डालने की कोशिश कर सकते हैं।

3) **मनोवैज्ञानिक दबाव**
सामाजिक नियंत्रण कुछ व्यक्तियों पर भारी भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक दबाव भी डालते हैं। इसके सबसे अच्छे उदाहरण जेल और मानसिक अस्पताल जैसे संस्थान हैं। सख्त शासन और दमनकारी माहौल कभी-कभी समाज के सदस्यों में मानसिक तनाव और बीमारी उत्पन्न करते हैं। इसी तरह जहाँ अभिभावक कड़ा अनुशासन लागू करते हैं, वहाँ बच्चों के व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। इसी तरह दमनकारी पुलिस राज्य में अनेक व्यक्ति दबाव और तनाव में रहते हैं। इस प्रकार व्यक्ति को सामाजिक नियंत्रण के कारण मनोवैज्ञानिक रूप से नुकसान उठाना पड़ता है।

4) **सामाजिक तनाव**
सामाजिक नियंत्रण से, खासतौर से एक विशाल जटिल समाज में, तनाव पैदा हो सकते हैं। यहाँ विशिष्ट हितों, मान्यताओं और मूल्यों वाले विभिन्न समूहों में एक दूसरे के साथ टकराव हो सकता है। जब कोई एक या अधिक समूह दूसरों पर अपनी मान्यताएँ थोपने की कोशिश करता है तो टकराव और संघर्ष को रोका नहीं जा सकता।

30.6 सामाजिक नियंत्रण पर सीमाएँ

निम्नलिखित कारणों से सामाजिक नियंत्रण की प्रभावशीलता सीमित हो जाती है :

क) प्रत्येक समूह मान्यताओं और मूल्यों के आधार पर संगठित होता है। इन मान्यताओं से विचलन को रोकने के लिए सामाजिक नियंत्रण लगाया जाता है। लेकिन विचलन पर पूरी तरह अंकुश लगाना संभव नहीं होता। निर्धारित मानकों से अलग हटने की प्रवृति हमेशा बनी रहती है। प्रत्येक समूह या समाज को यह निश्चित करना होता है कि किस सीमा तक विचलन को बरदाश्त किया जा सकता है। इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण पर एक यथार्थवादी सीमा निश्चित की जाती है।

ख) सांस्कृतिक निर्देशों में सामंजस्य के स्तर से भी सामाजिक नियंत्रण की प्रभावशीलता सीमित हो जाती है। यदि सांस्कृतिक आदेश अनिश्चित और बेतरतीब हैं तो सामाजिक नियंत्रण सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकते। यही वजह है कि तेजी से बदलते समाजों में जहाँ मान्यताओं में कोई सामंजस्य नहीं है, सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि आमतौर पर कमजोर होती है। व्यक्तियों को यह पता नहीं होता कि एक खास स्थिति में उनसे क्या उम्मीद की जाती है।

ग) किसी जटिल समाज में, जो कि वर्ग, जाति, धर्म, और प्रजाति के आधार पर बंटा होता है, आमतौर पर सभी समूहों पर समान सामाजिक नियंत्रण थोपना संभव नहीं होता। कभी-कभी समान रूप से कानून लागू करने पर भी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। हमारे देश में सबके लिए समान नागरिक कानून के संवैधानिक निर्देश के बावजूद अब तक ऐसा करना संभव नहीं हो पाया है।

घ) सामाजिक नियंत्रण को लागू करने के लिए काफी धन की आवश्यकता होती है। विचलन पर नियंत्रण के लिए अनुपात से अधिक साधनों और ध्यान की जरूरत होती है। पुलिस, जेल, मानसिक अस्पताल जैसी सामाजिक नियंत्रण की एजेंसियों की स्थापना के लिए भारी खर्च करना होता है। हमारे जैसे गरीब देश के लिए अन्य विकास कार्यक्रमों की उपेक्षा करके इतनी बड़ी राशि खर्च करना सीमा के बाहर की बात है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1 व्यवहार के विचलन को रोकने की चार प्रमुख क्रियाविधियाँ कौन सी हैं? अपना उत्तर दो पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

2 सामाजिक नियंत्रण के पाँच प्रमुख साधनों के नाम बताइए। एक पंक्ति में अपना उत्तर लिखिए।

.....

3 परम्परागत समाज में जनसंचार के माध्यम सामाजिक नियंत्रण के एकमात्र साधन हैं। सही उत्तर पर निशान लगाइए।

(हाँ/नहीं)

4 सामाजिक नियंत्रण के तीन दुष्क्रियात्मक पहलुओं का उल्लेख कीजिए। अपना उत्तर तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

30.7 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक नियंत्रण की प्रकृति, दृष्टिकोण, क्रियाविधि और परिणामों पर प्रकाश डाला। हमने इस बात पर विचार किया कि सामाजिक नियंत्रण सामाजिक जीवन का एक व्यापक पहलू है। सामाजिक नियंत्रण का मतलब है प्रत्येक समाज में कुछ नियम और मान्यताएँ हैं जिनका पालन और अनुसरण करना होता है। ऐसा इसलिए है कि कोई भी समाज सामाजिक नियंत्रण के बगैर रह नहीं सकता।

सामाजिक नियंत्रण की दो अच्छाइयाँ इस प्रकार हैं :

क) समाज में व्यवस्था कायम करना और उसे बनाए रखना, तथा

ख) विचलन की प्रवृति और व्यवहार पर अंकुश लगाना।

हमने यह भी सीखा कि विभिन्न समाजों में सामाजिक नियंत्रण के भिन्न-भिन्न तरीके होते हैं। जिन दो प्रकार के नियंत्रणों की हमने चर्चा की वे हैं औपचारिक और अनौपचारिक। इस इकाई में हमने जिन क्रियाविधियों की चर्चा की उनमें मुख्य हैं : रीति रिवाज, कानून, धर्म,शिक्षा, परिवार, नेतृत्व, जनसंचार और बल आदि। इसके बाद हमने सामाजिक और व्यक्तिगत दृष्टि से सामाजिक नियंत्रण के परिणामों की भी चर्चा की। और अन्त में हमने कुछ पहलुओं पर विचार-विमर्श किया जो सामाजिक नियंत्रण की प्रभावशीलता को सीमित बनाते हैं।

शब्दावली

सामाजिक श्रेणियाँ: विश्लेषण के ऐसे तरीके जिनके द्वारा एक जैसी विशेषताएँ रखने वाले लोगों को श्रेणियों में बांटा जाता है जैसे नौकरी करने वाले लोगों का वर्ग, मध्यम वर्ग आदि।

सामाजिक मान्यता: ऐसे काम जिन्हें समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो।

विचलित परिणाम: ऐसे परिणाम जो सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार नहीं होते।

सामाजिक प्रतिबंध: सामाजिक मान्यताओं तथा संस्थाओं को न मानने का सामूहिक विरोध

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Brearley H.C. 1965. The Nature of Social Control. In Joseph S. Rouceketal *Social Control.* Affliated East West Press : New Delhi.

Berger, Peter. 1963 : *Invitation to Sociology.* Double Day and Co : New York. (pp 68-78)

Horton, Paul B and Hunt, Chester. L *Sociology* McGrawhill : London 1981.

MacIver, R.M. & Page, C.H. 1985.*Society.* Macmillan : New Delhi

Ogburn, William. F and Nimcoff, M. 1979. *A Handbook of Sociology.* Eurasia Publishing House : New Delhi. (Chapter VIII)

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 सामाजिक नियंत्रण के दो महत्वपूर्ण लक्ष्य होते हैं, जिन्हें हासिल करना होता है। वे हैं : (1) समूह के आदर्शों और आकांक्षाओं के अनुरूप होना। (2) समाज में व्यवस्था बनाए रखना।

2 सामाजिक नियंत्रण के महत्वपूर्ण तत्व हैं, प्रभाव, समझाना-बुझाना और अनिवार्यता।

बोध प्रश्न 2

1 i) समानरूपता
ii) एकरूपता
iii) एकता
iv) निरंतरता
v) सामाजिक परिवर्तन

2 अनौपचारिक तरीके के सामाजिक नियंत्रण, अनियमित, और अलिखित होते हैं। इसमें विनिमयन, अनुसूची और संगठन का अभाव होता है। अनौपचारिक नियंत्रण में कभी-कभी प्रशंसा, निन्दा, नुक्ताचीनी और निर्वासन की व्यवस्था होती है

3 नहीं

बोध प्रश्न 3

1 i) मनोवैज्ञानिक प्रतिबंध
ii) शारीरिक प्रतिबंध
iii) आर्थिक प्रतिबंध और
iv) प्रोपेगेंडा यानी प्रचार या जनमत को मोड़ना

2 i) रीति रिवाज
ii) कानून
iii) धर्म
iv) शिक्षा और
v) परिवार

3 नहीं

4 i) इससे प्रभुता सम्पन्न वर्ग कमजोर वर्ग का शोषण कर सकते हैं।
ii) इससे मनोवैज्ञानिक दबाव पड़ सकता है।
iii) इससे समाज में तनाव पैदा हो सकता है।

इकाई 31 सामाजिक विचलन

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य
31.1 प्रस्तावना
31.2 विचलन का अर्थ एवं प्रकृति
  31.2.1 विचलन को परिभाषित करने में कठिनाई
  31.2.2 विचलन की परिभाषा में परिवर्तन
31.3 विचलन एवं विचलक की बुनियादी किस्में
  31.3.1 तीन किस्म के विचलन
  31.3.2 पाँच किस्म के विचलक
31.4 विचलन की व्याख्या
  30.4.1 विचलन की जैविक व्याख्या
  31.4.2 विचलन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या
  31.4.3 विचलन की समाजशास्त्रीय व्याख्या
31.5 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

31.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विचलन के अर्थ और उसकी प्रकृति के बारे में विचार-विमर्श करने,
- विचलन की किस्मों का वर्गीकरण करने, तथा
- विचलन की जैविक, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं की समालोचनात्मक जांच करने में समर्थ हो सकेंगे।

31.1 प्रस्तावना

विचलन और नियंत्रण वे मुख्य संकल्पनाएँ हैं जो समाजशास्त्र की केन्द्रीय वैचारिक संरचना से जुड़ी हुई हैं। इस खंड की पूर्ववर्ती इकाई में हमने सामाजिक नियंत्रण की संकल्पना के बारे में विचार-विमर्श किया था। इस इकाई में हम विचलन की प्रकृति और उसके अर्थ के बारे में विचार-विमर्श करेंगे तथा आपको उसके तरीकों से परिचित कराएंगे। इसके बाद इस इकाई में विचलन की जैविक, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

31.2 विचलन का अर्थ एवं प्रकृति

तौर-तरीकों यानी प्रतिमानों की चर्चा किए बगैर विचलन का अध्ययन शुरू नहीं किया जा सकता। प्रतिमान वे निर्धारित मानक हैं जो आचरण का मार्गदर्शन और नियमन करते हैं। ये प्रतिमान समूह द्वारा मान्य होते हैं और समूह के सदस्य इन्हें अपनाते हैं। अतः, प्रतिमानों की चर्चा करके ही हम विचलन के बारे में बातचीत कर सकते हैं अथवा उसे परिभाषित कर सकते हैं। मानव समाज ने प्रतिमानों के अनुसार आचरण में कुछ अंतर की स्वीकृति दी है। सांस्कृतिक प्रतिमानों और संबंधित समाज द्वारा ये अंतर अच्छी तरह परिभाषित हैं। जब हम विचलन की बात करते हैं तो हम अनिवार्यतः प्रतिमान के उल्लंघन की अथवा उस आचरण की चर्चा करते हैं जो किसी तौर-तरीके अथवा आचरण के प्रतिमान से अलग है।

31.2.1 विचलन को परिभाषित करने में कठिनाई

प्रतिमान हर जगह एक जैसे नहीं होते हैं। ये एक समूह से दूसरे समूह, एक समूह के भीतर और कुछ समय के अंतराल के बाद भिन्न-भिन्न होते हैं। उन आचरणों को पहचानना आसान नहीं है जिन्हें सार्वदेशिक रूप से कुछ प्रतिमान या प्रतिमानों से अलग परिभाषित किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, वेश्यावृत्ति को भारत और अमरीका में कानूनी दृष्टि से विचलक आचरण के रूप में देखा जा सकता है लेकिन कतिपय यूरोपीय देशों के कुछ इलाकों में, वेश्याएँ खुले आम धंधा कर सकती हैं। यहाँ हम विचलक के बारे में एक "यथार्थवादी दृष्टिकोण" अपना रहे हैं। आचरणों धारणाओं और मानवीय मेल-जोल

के उत्पादों को उस संस्कृति और समाज के संदर्भ में ही समझा अथवा मूल्यांकित किया जा सकता है जिसका वे एक हिस्सा होते हैं। विचलन के एक यथार्थवादी दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि विचलन की व्याख्या उसी सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में की जा सकती है जिसमें वह होता है। विचलन निरपेक्ष नहीं है बल्कि वह एक खास समाज की सामाजिक आकांक्षाओं, प्रतिमानों और नियमों से जुड़ा हुआ है।

साथ ही, यदि कोई कार्य एक परिस्थिति में विचलक माना जाता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक परिस्थिति में विचलक है। विश्व के अनेक समाजों में आमतौर पर एक सबसे अधिक स्वीकार्य प्रतिमान है "आप नहीं मारेंगे"। किसी व्यक्ति की जान लेना एक अपराध अथवा कानूनी अपराध है क्योंकि यह मानदण्ड एक कानून है। लेकिन युद्ध जैसी स्थिति में एक सिपाही को दुश्मन के सिपाही को मारने की अनुमति दी जाती है। इस प्रकार का आचरण युद्ध में सिपाहियों के लिए मानवीय है। इसलिए, हम यह आशा कर सकते हैं कि परिस्थितियों अथवा स्थितियों के अनुसार विचलन की परिभाषाएँ अलग होंगी।

31.2.2 विचलन की परिभाषा में परिवर्तन

आइए अब हम कुछ उन अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तनों पर विचार करें जो विचलन की परिभाषाओं को प्रभावित करती हैं और कुछ सार्वदेशिक कारणों की दृष्टि से विचलन को परिभाषित करने की समस्या में योगदान देती हैं।

1) **समय के कारण परिवर्तन**
किसी समाज में एक समयावधि में जो कार्य विचलक माना जाता है वह दूसरी समयावधि में गैर-विचलक हो सकता है। उदाहरण के लिए, भारत में कालेज की शिक्षा ग्रहण करने वाली स्त्रियों को 19वीं सदी में "विचलक" कहा जाता था। लेकिन आज, उच्च शिक्षा ग्रहण करने वाली स्त्रियों को विचलक नहीं माना जाता।

2) **संस्कृति के कारण परिवर्तन**
एक स्थान या संस्कृति में जिस आचरण को विचलक माना जाता है उसे दूसरी में गैर-विचलक माना जा सकता है। कुछ संस्कृतियों में एक से अधिक पत्नी रखने की स्वीकृति दी जाती है। यह पुरुष की उच्च वित्तीय और सामाजिक हैसियत का द्योतक हो सकता है। कुछ अन्य समाजों में एकपत्नीत्व का कड़ा नियम निर्धारित किया गया है और एक से अधिक स्त्री से विवाह करना सामाजिक और कानूनी रूप से दण्डनीय अपराध है।

एक संस्कृति या एक खास समाज भी उप-संस्कृतियों में विचलन की परिभाषा में भी कई अंतर है। एक बड़े सार्वभौम नगर में पुरुष-स्त्री के मेलजोल को विचलक नहीं भी माना जा सकता है। लेकिन, एक गांव या छोटे कस्बे में ऐसा नहीं भी हो सकता है। इसी प्रकार, डेटिंग और किशोरों में धूम्रपान के बारे में आबादी के विभिन्न वर्गों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। एक उप-संस्कृति में अक्सर ऐसे प्रतिमान हो सकते हैं जिन्हें उसी समाज की अन्य उप-संस्कृतियों में विचलक माना जाता है।

3) **सामाजिक स्थिति के कारण परिवर्तन**
सामाजिक हैसियत (समाज में आदमी का जो स्थान होता है) के साथ भी विचलन अलग-अलग हो सकता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों के लिए कतिपय आचरणों को अधिक स्वीकृति दी जाती है। अनौपचारिक अवसर पर पुरुषों का कमर से ऊपर कोई वस्त्र न पहनना स्वीकार्य होता है। लेकिन यदि महिलाएँ ऐसा करती हैं तो उन्हें विचलक माना जाता है। समाज में आचरणों, विश्वासों और प्रतिबंधों की काफी विविधता पायी जाती है। आचरण और प्रतिबंध से संबंधित अर्थों एवं परिभाषाओं में भी अंतर पाया जाता है।

31.3 विचलन एवं विचलक की बुनियादी किस्में

समाजशास्त्रियों ने विचलन को कई प्रकार से वर्गीकृत किया है। विचलन को आँकने या परिभाषित करने का आधार जो भी हो, हम कह सकते हैं कि आचरण को कतिपय समूह केन्द्रीय आचरण/आकांक्षाओं से कुछ दृष्टि से भिन्न माना जाता है। निम्नांकित तीन प्रकार के विचलन (देखें होर्टन एवं हंट 1981) की सूची बनाई जा सकती है।

31.3.1 तीन किस्म के विचलन

1) **सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक विचलन**
सांस्कृतिक विचलन में आदमी एक संस्कृति के प्रतिमानों से विचलित होता है जबकि मनोवैज्ञानिक रूप से विचलित होने वाला व्यक्ति व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक एवं स्नायविक (न्यूरोटिक) संगठन में प्रतिमानों से विचलित होता है। एक ही व्यक्ति में दोनों प्रकार देखे जा सकते हैं।

2) **व्यक्तिगत एवं समूह विचलन**
व्यक्तिगत विचलन में, एक व्यक्ति एक उप-संस्कृति के प्रतिमानों से विचलित होता है अथवा अलग हटता है। उदाहरण के लिए, पड़ोस में एक शिक्षित एवं सम्मानित परिवार का एक लड़का नशीले पदार्थ लेता है और पढ़ाई पूरी किए बगैर बीच में ही स्कूल से अलग हो जाता है। समूह विचलन में विचलक उप-संस्कृति के प्रतिमान होते हैं जिनकी भर्त्सना समाज की पारंपरिक नैतिकता द्वारा की जाती है। उदाहरण के लिए, नुक्कड़ पर बेरोजगार युवकों का गिरोह, जो हर तरह

की गैर कानूनी गतिविधियों में लिप्त रहता है। यह गिरोह बड़ा ही सुसंगठित होगा और उसकी अपनी निजी भाषा (आर्गट के नाम से लोकप्रिय) तथा खास किस्म का आचरण एवं व्यवहार होगा अर्थात् वे एक अलग उप-संस्कृति विकसित करते हैं। समाज के अन्य लोगों द्वारा इस समूह के सदस्यों के आचरण और उनकी गतिविधियों की भर्त्सना की जाती है।

3) **प्राथमिक और माध्यमिक विचलन**

प्राथमिक विचलन उस व्यक्ति द्वारा प्रतिमान के किये गये उल्लंघन से संबंधित है जो विचलक नहीं है और जो अपने जीवन में बुनियादी तौर पर समनुरूप रहा है। विचलन की कार्रवाई नगण्य होती है या उसे बर्दाश्त किया जाता है या उसे छिपाया जाता है ताकि उसे विचलक न करार दिया जाए। उदाहरण के लिए कभी-कभार बिना टिकट यात्रा करना, बिना दाम चुकाए चुपके से एक सेब अपने थैले में डाल लेना आदि। माध्यमिक विचलन वह है जो सार्वजनिक तौर पर विचलक करार दिए जाने के बाद किया जाता है। उसे विचलक घोषित किया जाता है। विचलक करार दिए जाने की प्रक्रिया प्रायः वह बिंदु होता है जहाँ से पीछे लौटना मुश्किल होता है। यह बढ़कर अलगाव, संभावित बर्खास्तगी, समाज अथवा जाति बहिष्कार और कभी-कभार कैद की सजा तक पहुँचा देता है। विचलक अन्य विचलकों की संगति में पड़ सकता है। अगर उसे विचलन के आचरण से अलग होने का मौका मिले तब भी वह विचलन को जारी रखना पसंद करता है।

31.3.2 पाँच किस्म के विचलक

आइए हम पाँच प्रकार के विचलकों पर नजर डालें और विचलन की प्रकृति के बारे में जानने का प्रयास करें (देखिए डिनित्ज एट.अल. 1969 : 13)।

1) **सनकी**

"सनकी" के रूप में विचलन की परिभाषा व्यवहार की पद्धतियों की तुलना में शारीरिक विशेषताओं पर अधिक प्रकाश डालती है। यहाँ, विचलन का मतलब (आँकड़े की दृष्टि से) औसत प्रतिमान से महज भिन्नता है। "सनकी" वे होते हैं जो सामान्य व्यवहार (curve) के अंतिम छोर पर रहते हैं। इस परिभाषा की अपर्याप्तता यह है कि मनोवृत्ति संबंधी और आचरण संबंधी विशेषताओं को आबादी में उसी रूप में शामिल नहीं किया जाता जैसे कि शारीरिक विशेषताओं को किया जाता है। दूसरे, अंतिम छोरों पर रहने वालों को भी आवश्यक रूप से "अवांछनीय" नहीं समझा जाता। अर्थात् मानसिक रूप से पिछड़े व्यक्ति को एक प्रतिभावान व्यक्ति के बराबर नहीं माना जाता (हालाँकि दोनों ही अंतिम छोरों पर होते हैं)।

2) **गुनाहगार**

विचलक को धार्मिक-सैद्धांतिक नियमों, धर्मादेशों, शास्त्रों, और धर्म-सिद्धांतों के आधार पर "गुनाहगार" माना जाता है। ऐसे विचलनों के लिए जो शब्दावली इस्तेमाल की जाती है उसमें गुनाहगार (sinner) उन कतिपय प्रतिमानों और धर्म-सिद्धांतों का उल्लंघन करता है जिन्हें वह स्वीकार करता है, विधर्मी (heretic) धर्म-सिद्धांतों अथवा आदेशों को अस्वीकार करता है, और धर्मत्यागी (apostate) न केवल विश्वास अथवा सिद्धांत को नामंजूर करता है बल्कि वह कुछ अन्य वैकल्पिक प्रतिमानों और परम्पराओं को अपनाता है। यह समूह के विचार से "वैचारिक विश्वासघात" होता है।

3) **अपराधी**

विचलक को कानूनी संहिताओं, विशेषकर दण्ड संहिता के अनुसार "अपराधी" कहा जाता है। समाज और समूह कल्याण के लिए हानिकारक कार्यों को रोकने के लिए प्रकट रूप से कानून बनाए जाते हैं। जो लोग इन कानूनों का उल्लंघन करते हैं उन्हें विचलक माना जाता है और वे दण्ड के भागी होते हैं। लेकिन सभी कानून समाज के लिए उतने हानिकारक नहीं हैं। चार प्रकार के कानून हैं जो चार किस्म के विचलन कार्यों के लिए हैं और ये सभी कार्य समाज के लिए समान रूप से हानिकारक नहीं हैं। पहला, वे कानून हैं जो ऐसे कार्यों को रोकते हैं जिनसे समाज को निश्चित रूप से खतरा है और जिन्हें सहन नहीं किया जा सकता जैसे हत्या, चोरी आदि। ऐसे कानूनों के बारे में आमतौर पर सामाजिक सहमति होती है। दूसरा, कुछ ऐसे कार्य जो अनिवार्य रूप से अनैतिक या असामान्य नहीं हैं। मगर वे सार्वजनिक व्यवस्था या सार्वजनिक कल्याण में हस्तक्षेप करते हैं और इसलिए वे अवैध होते हैं, यातायात नियमों का उल्लंघन इसका उदाहरण है। तीसरा, कुछ दण्ड संहिताएँ जिनके तहत कुछ कार्य अपराध होते हैं मगर इन अपराधों का कोई शिकार नहीं होता, इन कार्यों से दूसरों को कोई नुकसान या चोट नहीं पहुँचती और ये अन्य दण्डनीय अपराधों की तरह दुर्भावपूर्ण नहीं हैं। नशेबाज, समलिंगी और नशे में धुत व्यक्ति इस प्रकार के विचलकों के उदाहरण हैं जिनके आचरण पर, मुख्यतः कतिपय नैतिक मान्यताओं को लागू करने के लिए, अपराध का ठप्पा लगाया जाता है। चौथा, ऐसे कानून हैं जिनके अंतर्गत उन कार्यों पर रोक लगायी गयी है जो इच्छुक व्यक्तियों के साथ अपराध है। अवैध जुआ और वेश्यावृत्ति ऐसे कुछ उदाहरण हैं जिनमें "शिकार" सक्रिय रूप से दण्डनीय सेवाओं में हिस्सा बँटाता है। इन सबका मतलब यह है कि कतिपय कार्यों पर रोक लगाने वाले कुछ कानून आम सहमति पर आधारित हो सकते हैं और उन्हें व्यापक समाज में आसानी से स्वीकृति मिल सकती है। लेकिन कतिपय कार्यों पर रोक लगाने वाले अधिकांश कानूनों, खासतौर पर अपराध और नैतिकता की सीमा रेखा वाले कानूनों के कार्यक्षेत्र के बारे में महत्वपूर्ण सवाल पैदा होते हैं। विचलन (अपराध) की कानूनी परिभाषा हमेशा नैतिकता के सहमत मानदण्डों पर आधारित नहीं भी हो सकती है। अनेक परिस्थितियों में, यह कानून की निरंकुश प्रक्रिया और समाज के विभिन्न हितों के समूह के विशिष्ट दबाव का परिणाम हो सकता है।

4) **बीमार**

विचलक को "बीमार" मानने की अवधारणा रोग के नमूने पर आधारित है और इसे रोगविज्ञान के ढांचे में परिभाषित किया गया है। इस दृष्टि से, विचलक की जिम्मेदारी और इच्छा का इससे सम्बन्ध नहीं होता। जब विचलक को "बीमार" या असामान्य माना जाता है तो उसके प्रति समाज की प्रक्रिया दण्ड देने के बदले उसका इलाज कराने की हो जाती है। अब ऐसी आचरण को किसी बीमारी का लक्षण मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है जिसे पहले अनैतिक, आपराधिक या भ्रष्ट माना जाता था। उदाहरण के लिए, नशीले पदार्थों का आदी, भयानक नशेबाज और समलिंगी को अब ज्यादातर अपराधी की बजाय बीमारी का "शिकार" माना जाता है। फिर भी, इन्हें सामाजिक रूप से अवांछनीय आचरण की दृष्टि से विचलक समझा जाता है। विचलन की पहचान कतिपय आंतरिक या मनोरोग के लक्षणों पर आधारित है। इनमें, मूल रूप से मनोयोग की स्थितियों के अलावा, शत्रुता, अपराध, लज्जा, पलायन, आदि जैसी निरंतर मनोरोग की अवस्था शामिल हो सकती है। यह स्पष्ट है कि "सामान्य" और "असामान्य" के रूप में इन स्थितियों की परिभाषा विभिन्न संस्कृतियों में अलग-अलग होती है और यह "बीमार" व्यक्तियों की सामाजिक-आर्थिक हैसियत पर भी निर्भर करती है। इस प्रकार "बीमार" के रूप में विचलक की इस परिभाषा में अनेक कठिनाइयाँ शामिल होती हैं।

5) **असंगत (alienated)**

"असंगत" व्यक्ति के रूप में विचलक की परिभाषा में समाज से अलग हुए हिप्पी जैसे वर्ग के लोग शामिल होते हैं। आधुनिक औद्योगिक समाज में अनेक लोग समाज के मूल्यों और प्रतिमानों से स्वयं को अपरिचित और अलग-थलग महसूस करते हैं। वे शक्तिहीनता और अर्थहीनता की भावना से जूझते रहते हैं। वे अपने माहौल पर नियंत्रण पाने या अपने भाग्य का फैसला करने में स्वयं को लाचार महसूस करते हैं। वे शायद ही ऐसा अवसर पाते हैं जब खुद को सही या "समूचे" व्यक्ति के रूप में दिखा सकें। एक विशाल, विभाजित, निर्वैयक्तिक और अनियंत्रित सामाजिक व्यवस्था के सम्मुख निजी अर्थ पूरी तरह समाप्त हो जाता है। वे बड़े समाज की मानवीय व्यवस्था से इस रूप में खुद को अलग पाते हैं कि "वे समाज में तो हैं मगर समाज के नहीं हैं।" जैसे-जैसे आधुनिक औद्योगिक समाज की परिस्थितियों में परायापन बढ़ता जा रहा है, इस प्रकार के असंगत विचलकों की संख्या भी बढ़ रही है और आत्महत्या, हिप्पी, नशीले पदार्थों के आदी होना, से लेकर कुछ ऐसे अर्द्ध-धार्मिक आंदोलन बढ़ रहे हैं जिनमें व्यक्ति के जीवन को कुछ "अर्थ" देने का वायदा होता है।

सामाजिक विचलन के इतने प्रकार और इतनी जटिलताएँ हैं कि इसे वर्गीकृत करने की कोई सार्वदेशिक व्यावहारिक प्रणाली नहीं हो सकती। आइए हम यह कहकर इस खंड को समाप्त करें कि विचलन को परिभाषित करने में हमें उन समूहों को अलग दिखाना चाहिए जिनके दृष्टिकोण को हम ले रहे हैं और संदर्भ बिंदु के रूप में हम किस मानवीय व्यवस्था (धर्म, कानूनी) पर विचार कर रहे हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलाइए।

1 आप विचलन का क्या अर्थ समझते हैं? अपना उत्तर लगभग तीन पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

2 विचलन को परिभाषित करने में आने वाली कम से कम तीन मुख्य कठिनाइयों के बारे में बताइए।

.....

.....

.....

3 पाँच किस्म के विचलकों के बारे में बताइए

.....

.....

.....

31.4 विचलन की व्याख्या

विचलन की इतनी व्यापक किस्मों के होते हुए इसके बारे में व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है।

वैज्ञानिकों ने विचलन की व्याख्या के लिए अनेक किस्म के सिद्धांत बताए हैं। जैविक सिद्धांत में आनुवंशिकता, शरीर रचना संबंधी या शरीर विज्ञान संबंधी कारणों पर प्रकाश डाला गया है। मनोवैज्ञानिक व्याख्या में व्यक्तित्व, उद्देश्य, छेड़छाड़, निराशा या अन्य व्यक्तिपरक कारणों पर विचार-विमर्श किया गया है। समाजशास्त्री आमतौर पर सामाजिक सांस्कृतिक कारणों पर ज़ोर देते हैं। इनमें से कुछ व्याख्याओं में दूसरों के मुकाबले कुछ अधिक अनुभवजन्य समर्थन है लेकिन यह निर्विवाद है कि सभी व्याख्याएँ मानवीय आचरण, चाहे वे विचलक हों या गैर-विचलक, की जटिलताओं के बारे में हमारी समझदारी को बढ़ा सकती है।

31.4.1 विचलन की जैविक व्याख्या

विचलन के जैविक सिद्धांत आमतौर पर इटली के चिकित्सक मनोचिकित्सक सी. लोम्ब्रोसो (1835-1909) से शुरू होते हैं। लोम्ब्रोसो की रुचि अपराध के वैज्ञानिक अध्ययन में थी। उन्होंने कहा कि आपराधिक कार्य के बदले अपराधी, खासतौर पर अपराधी की शारीरिक विशेषताओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्हें विश्वास था कि आदमी "जन्मजात अपराधी" होता है। उनके निष्कर्ष 400 कैदियों की इटली के सिपाहियों के एक समूह के साथ की गयी तुलना पर आधारित थे। लोम्ब्रोसो ने पाया कि कैदियों में कतिपय शारीरिक असमान्यताएँ थीं जैसे सिर के आकार-प्रकार में विचलन, आँख में खराबी, झुकी नुई नुड्डी, काफी लंबी बाँहें आदि। इसमें उन्हें विश्वास हुआ कि आपराधिक प्रवृत्तियाँ विरासत में मिलती है और संभावित अपराधी कतिपय शारीरिक विशेषता या शरीर के प्रकार से पहचाने जा सकते हैं। लेकिन बाद के शोधकर्ताओं ने उनके निष्कर्षों को नामंजूर कर दिया। उनका कहना था कि शारीरिक प्रकार जैसी कोई बात नहीं होती (देखिए हूटन एवं हंट : 1981)।

लोम्ब्रोसो — अकेला वैज्ञानिक नहीं था जो — यह मानता था कि शारीरिक विशेषताएँ और विचलक आचरण परस्पर जुड़े हुए हैं। अमरीकी मनोरोगशास्त्री-चिकित्सक शेल्डन ने 1940 के दशक में शरीर के प्रकार को आचरण से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने लोगों का वर्गीकरण तीन प्रकार की शरीर रचना के हिसाब से किया। गोलाकार जो मुलायम, गोल और आमतौर पर मोटे होते हैं, मध्याकार जो मजबूत मांसपेशियों वाले, गठीले और बलिष्ठ होते हैं तथा एक्टोमार्फ जो दुबले पतले और कमजोर होते हैं। उन्होंने इन शारीरिक प्रकार वालों को कतिपय स्वाभाविक और आचरण संबंधी प्रवृत्तियों से जोड़ा। देखा गया कि एक खास प्रकार की शरीर रचना वाले अर्थात् मध्याकार, गठीले, मजबूत मांसपेशियों वाले (वही : 1981 :) लोगों में अपराधी होने का प्रतिशत काफी अधिक होता है। अन्य जैविक व्याख्याओं की तरह, इस सिद्धांत को भी अपर्याप्त पाया गया। उदाहरण के लिए, शारीरिक रूप से चुस्त-दुरुस्त लड़कों को दुबले-पतले लड़कों के मुकाबले अपराध में कहीं अधिक भर्ती किया जा सकता है। न्यायाधीशों को दुबले-पतले या मोटे लड़कों की अपेक्षा गठीले लड़कों में कहीं अधिक खतरा नजर आ सकता है। अभी हाल में यह कहा गया कि शारीरिक हिंसा वाले अपराधों के साथ एक विशिष्ट आनुवांशिक स्थिति को जोड़ा जा सकता है। कुछ हिंसक अपराधियों में अतिरिक्त क्रोमोसोम पाया गया है। उनमें सामान्य एक्स वाई के मुकाबले एक्स वाई वाई क्रोमोसोम होते हैं। लेकिन, अन्य निष्कर्षों से संकेत मिलता है कि एक्स वाई वाई वाले अधिकांश पुरुषों को किसी भी अपराध के लिए कभी दण्ड नहीं दिया गया है। इससे मालूम होता है कि एक्स वाई वाई क्रोमोसोम विचलन का कारण नहीं है। (इशेलमान एवं कैशियों : 1983 : 159-160)।

विचलन की जैविक व्याख्याओं को मुख्यतः इसलिए नामंजूर किया गया है क्योंकि वे यह बता नहीं पाते कि एक ही प्रकार के जैविक गुणों वाले, दूसरे व्यक्ति उसी प्रकार का आचरण क्यों नहीं करते। जैविक व्याख्या में विचलन में जबर्दस्त अंतर और साथ ही उसकी संबंधित प्रकृति के बारे में भी नहीं बताया गया है।

31.4.2 विचलन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

इन व्याख्याओं में विचलक आचरण में संलग्न व्यक्ति के बारे में बताया गया है। मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में शरीर के प्रकार के बजाय व्यक्ति के दिमाग पर जोर दिया गया है। इन व्याख्याओं में व्यक्तित्व का गठन, शिक्षा, लक्ष्य, दिलचस्पी, इरादा, इच्छाशक्ति, निराशा, अहं, चिंता, अपराध आदि व्यक्तिपरक कारणों के साथ ही आचरण के सामाजिक संदर्भ पर भी ध्यान दिया जाता है।

मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं का एक समूह विचलन को बीमारी से जोड़ते हुए कहता है कि विचलन मनोवैज्ञानिक असामान्यता या मानसिक बीमारी से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए उसका कहना है कि मानसिक रूप से बीमार लोग नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं या अत्यधिक शराब पीते हैं। मानसिक रूप से बीमार लोग विचलन के कार्य कर सकते हैं लेकिन यह सिद्धांत उन लोगों में विचलन पर लागू नहीं होता जो मानसिक रूप से बीमार नहीं हैं। इसमें यह भी नहीं बताया गया है कि मानसिक रूप से बीमार कुछ लोग विचलक क्यों नहीं हैं।

कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में कहा गया है कि विचलन निराशा से पैदा होता है। जब जरूरतें पूरी नहीं होती तो निराशा उत्पन्न होती है और फिर यह आक्रमण तक पहुँचा देता है। धन के अभाव से उत्पन्न निराशा से आदमी बच्चों पर अत्याचार, डकैती और यहाँ तक कि हत्या जैसी आक्रामक कार्रवाई भी कर सकता है। इस व्याख्या के साथ एक कठिनाई यह है कि निराशा की बड़ी व्यापक परिभाषा दी गयी है और इसमें कोई भी आचरण शामिल हो सकता है। इसमें हमें यह नहीं बताया गया है कि कुछ लोग निराश हैं वे विचलन के कार्य क्यों नहीं करते।

विचलन के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत फ्रायड (1856-1939) की कृतियों पर आधारित हैं। फ्रायड को मानने वाले सिद्धांतवादियों ने विचलन को अति अहं (सुपर ईगो) और विवेक से जोड़ा।

कहा गया कि कमजोर अहं वाला व्यक्ति अपनी भावनाओं पर नियंत्रण पाने में असमर्थ होता है या वह नियोजित एवं विवेकसंगत रास्ता अपनाता है। सहज बोध अचेतन आवश्यकताओं और विवेक पर आधारित इन व्याख्याओं के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उन्हें अनुभव के आधार पर जाँचना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। विचलन की व्याख्या करने वाले जैविक सिद्धांतों की तरह, मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में भी विचलन की संबंधित प्रकृति का पर्याप्त हवाला नहीं है इसमें सामाजिक संदर्भ, विचलन की दर में अंतर और विचलन के प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया पर भी विचार नहीं किया गया है।

31.4.3 विचलन की समाजशास्त्रीय व्याख्या

समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में विचलन के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ को ध्यान में रखते हुए विचलन की व्याख्या करने की कोशिश की गयी है। इन व्याख्याओं में विचलन के कार्य और उसे करने वाले दोनों को शामिल किया गया है।

यहाँ हम जिन सिद्धांतों पर विचार करेंगे वे हैं :

1) अनोमी सिद्धांत—इसमें सांस्कृतिक रूप से निर्धारित साध्यों और उन्हें हासिल करने के लिए सामाजिक रूप से स्वीकृत तरीकों के बीच मूल्य के संघर्ष पर ध्यान दिया गया है।

2) सामाजिक सांस्कृतिक शिक्षा सिद्धांतों का संबंध इस बात से है कि लोग किस प्रकार आपस में मेलजोल करते हैं और विचलन सीखते हैं।

3) लेबल सिद्धांत कार्य के अर्थ, परिभाषा और मतलब पर ध्यान देता है।

4) संघर्ष सिद्धांत के अनुसार सत्ता वाले समूह कमजोर समूहों के कार्य को विचलक बताते हैं ताकि उनका शोषण किया जा सके।

1) अनोमी

विचलक आचरण के एक सामान्य सिद्धांत को विकसित करने के लिए अनोमी की अवधारणा बहुत महत्वपूर्ण रही है। अनोमी का शाब्दिक अर्थ है प्रतिमान न होने की स्थिति। लेकिन समाजशास्त्र में जो अर्थ इस्तेमाल किया जाता है वह इससे अलग है। यहाँ इसका अर्थ प्रतिमान का न होना या प्रतिमान की स्पष्टता का अभाव नहीं है। दोनों ही मामलों में हमारे सामने विचलक आचरण को परिभाषित करने की समस्या आ सकती है। अनोमी का मतलब एक ऐसी सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति है जिसमें या तो प्रतिमान के साथ संघर्ष रहता है या प्रतिमान को लेकर द्वंद्व की स्थिति बनी रहती है। विचलक आचरण के सामान्य सिद्धांत के लिए अनोमी के निहितार्थों को सामने लाने का श्रेय अमरीकी समाजशास्त्री राबर्ट के. मर्टन (1968) को जाता है। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि किस प्रकार कुछ सामाजिक संरचनाएँ समनुरूप आचरण की बजाय गैर-अनुरूप आचरण में संलग्न रहने के लिए समाज में कुछ व्यक्तियों पर एक निश्चित दबाव डालती है। मर्टन ने उन सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों को बताने का प्रयास किया जो विभिन्न सामाजिक संरचनाओं में विभिन्न दर एवं किस्म के विचलक आचरण को पैदा करती है।

अनोमी और विचलक आचरण के अपने सिद्धांत को विकसित करने के लिए मर्टन ने सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं के दो महत्वपूर्ण तत्वों का पता लगाया। पहला है सांस्कृतिक लक्ष्य, उद्देश्य, और हित। सांस्कृतिक रूप से निर्धारित इन लक्ष्यों को समाज के सभी लोगों के लिए वैध लक्ष्य माना जाता है। यह माना जाता है कि लोग इन लक्ष्यों

को पाने का प्रयास करेंगे। दूसरा, वास्तविक संरचाएँ भी इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए स्वीकृत उपाय या तरीके प्रदान करती है, यह भी कि इन लक्ष्यों को पाने के तरीके मानवीय रूप से नियंत्रित हैं। फिर, मर्टन समाज में अवसर संरचना की भी बात करते हैं। यानी, सामाजिक रूप से स्वीकृत उपायों से इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की सुविधाओं और अवसरों का वास्तविक वितरण। चूंकि आबादी के विभिन्न वर्गों में इन अवसरों का वितरण एक समान नहीं है, इसलिए लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वैध तरीकों तक पहुँच असमान है।

ऊपर लिखी बातों से यह अर्थ निकलता है कि जहाँ सांस्कृतिक लक्ष्य सबके लिए एक समान है उन्हें प्राप्त करने के संस्थागत उपाय सबके लिए समान रूप से उपलब्ध नहीं हैं। लक्ष्यों को पाने के वैध उपायों और अवसरों तक पहुँच में इस भेदभाव में तनाव यानी निराशा और अन्याय की भावना पैदा होती है। जब लोग सामाजिक संरचना के उपायों, जो उन्हें समान रूप से उपलब्ध नहीं है, के जरिए सांस्कृतिक रूप से निर्धारित आकांक्षाओं को पाने में असमर्थ होते हैं तो वे उन्हें पाने के लिए वैकल्पिक, अवैध तरीके अपना सकते हैं। अनोमी के सिद्धांत में, विभिन्न समाजों में विचलक आचरण की दर और पद्धति के बारे में बताने का प्रयास किया गया है। जैसा कि स्वयं मर्टन ने देखा है, अमरीका की तुलना में कई गरीब देशों जैसे कि भारत में अपराध की दरें काफी कम हैं। गरीबी के बावजूद भारत में अपराध की कम दर का कारण यह है कि गरीबी भी हर समाज में एक जैसी नहीं होती। यह अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों पर अंतः निर्भर करती है। जब आगे बढ़ने की कोई संभावना न हो, जैसा कि एक बंद समाज में होता है, तो गरीबी के कारण अपराध की दर नहीं बढ़ती। एक बार जब हमारे देश में संवैधानिक मूल्य, जैसे सबके लिए समान अवसर, नागरिकों के समक्ष व्यवस्थित किए जाते हैं तो आकांक्षा के स्तर बढ़ते हैं और ऐसा लगता है कि आगे बढ़ने की संभावना सबके लिए मौजूद है। इन संभावनाओं और वर्तमान असमान सामाजिक संरचना के कारण असंतोष और निराशा—"सामाजिक संरचना का तनाव"—उत्पन्न हो सकता है और इससे अपराध, गुंडागर्दी तथा हिंसा की दर बढ़ सकती है।

मर्टन के सिद्धांत की भी आलोचना हुई है। आलोचकों का कहना है कि इसमें गलत ढंग से यह माना गया है कि सांस्कृतिक लक्ष्यों की एक अकेली प्रणाली में समूचा समाज हिस्सा बंटाता है। उनका कहना है कि इसमें यह भी व्याख्या नहीं की गयी है कि क्यों कुछ लोग एक प्रतिक्रिया चुनते हैं जबकि दूसरे लोग अन्य प्रतिक्रिया चुनते हैं। कुछ ने यहाँ तक बताया है कि कतिपय किस्म के विचलन—बलात्कार, 1960 के दशक में हिप्पियों के आचरण—को उनके विश्लेषण में शामिल नहीं किया गया है। अन्य आलोचकों का कहना है कि मर्टन के सिद्धांत में विचलन के विकास में समाज की प्रतिक्रियाओं के प्रभाव को नजरअंदाज किया गया है। (इशेलमान एवं कैशियों : 1983 : 163)।

इन आलोचनाओं के बावजूद अनोमी सिद्धांत में व्यापक किस्म के सामाजिक आचरण की जांच-पड़ताल के लिए एक ढाँचा प्रस्तुत किया गया है।

2) सामाजिक-सांस्कृतिक शिक्षा सिद्धांत

इन सिद्धांतों में उन प्रक्रियाओं पर ध्यान दिया गया है जिनसे होकर विचलन कार्य सीखे जाते हैं और उन परिस्थितियों के बारे में बताया गया है जिनमें यह शिक्षा संपन्न होती है। इन सिद्धांतों में लोगों के समूहों और वे किस प्रकार इन समूहों द्वारा निर्धारित प्रतिमानों को सीखते है इस पर जोर दिया गया है। विचलन पर खास तौर पर ध्यान देने वाले कुछ सिद्धांत हैं :

क) उप-संस्कृति या संस्कृति प्रेषण सिद्धांत

उप-सांस्कृतिक व्याख्याओं में विचलक परंपराओं के अस्तित्व और प्रेषण प्रवृतियों और समाज के कुछ समूहों या क्षेत्रों में आचरण पर जोर दिया गया है। संस्कृति में कुछ मूल्य, विश्वास, ज्ञान, प्रवृतियाँ और समाज के सदस्यों के विचार शामिल होते हैं। लेकिन एक समाज के भीतर समाज संस्कृति की अनेक किस्में होती हैं जो उन समूहों में पायी जाती हैं जो व्यापक समाज से मानवीय दृष्टि से अलग होते हैं। उनका अर्थ "एक संस्कृति के भीतर एक और संस्कृति" से होता है। इस प्रकार, कुछ उप-संस्कृतियाँ ऐसी हैं जो विचलक विश्वासों और मूल्यों को कायम रखते हुए उसे समर्थन प्रदान करती हैं। इसका अर्थ यह है कि खास-खास व्यक्ति विचलक कार्य करते हैं क्योंकि उन्होंने उन मानवीय व्यवस्थाओं से खुद का तादात्म्य स्थापित कर लिया है और उनके सामने ये व्यवस्थाएँ है जो व्यापक समाज के साथ केन्द्रीय रूप से संघर्षरत हैं। दूसरे शब्दों में, इस मामले में व्यक्तियों को उन गतिविधियों के लिए समूह का समर्थन मिलता है जिन पर व्यापक समाज द्वारा दण्ड का ठप्पा लगाया हुआ है। इन समूहों की उप-संस्कृतियाँ व्यापक समाज के सीधे विरोध में हैं। उदाहरण के लिए कुछ अपराधी, समलिंगी अपचारी या नशीले पदार्थों के आदी लोग विचलकों का अपना अलग समूह बना सकते हैं। इनमें से हरेक की कुछ प्रवृतियाँ, विश्वास, मूल्य और आचरण-पद्धतियाँ हो सकती हैं जिनका पालन उस समूह के सदस्य किया करते हैं।

अनेक समाजशास्त्रियों ने व्यापक किस्म के विचलक आचरण खास तौर पर अपराध, अपचार, नशीले पदार्थ की लत, समलैंगिकता आदि के विश्लेषण में उप-संस्कृति की धारणा पर ध्यान दिया है। यह धारणा "शिकागो समाजशास्त्री" के नाम से प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों के एक दल द्वारा किये गये शहरी अध्ययन के पहले से ही मौजूद थी। उन्होंने 1920 के दशक में बताया कि शहर के अनेक क्षेत्रों खासकर गंदी बस्तियों में पूर्ण विकसित और निरंतर मौजूद ऐसी मूल्य और प्रतिमान प्रणालियाँ थीं जो "सम्मानित" समाज से अलग थीं। ये अपराध, अपचार, वेश्यावृति, आदि संगठित किस्म के आचरण में परिलक्षित होती थीं। ऐसी प्रणालियाँ आसानी से युवा पीढ़ी में उनके समाजीकता की प्रक्रिया के एक अंग में प्रेषित हो जाती थीं।

ख) **विभेदक संबंध सिद्धांत**

विभेदक संबद्ध सिद्धांत सदरलैंड (1939) द्वारा निकाला गया था। उन्होंने इस सवाल का जवाब देने का प्रयास किया कि "क्यों कुछ लोग विचलक आचरण की ओर आकर्षित होते हैं जबकि दूसरे नहीं होते?" खास तौर पर उन्होंने यह पता लगाने का प्रयास किया कि लोगों के विभिन्न समूहों में अपराध की दरों में अंतर क्यों होता है।

सदरलैंड (1939) ने यह मत व्यक्त किया कि विचलन उन लोगों की संगत में सीखा जाता है जो इन मूल्यों को मानते है: विचलक आचरण को सीखने के लिए कई प्रकार के इरादे, कार्य, तर्कसंगतता, विवेक और विचलन के कार्य को करने संबंधी खास तकनीक। लोगों को विचलक तब समझा जाता है जब वे प्रतिमानों और कानूनों के उल्लंघन के पक्ष वाली अधिक परिभाषाएँ हासिल कर लेते हैं और न कि ऐसे उल्लंघन का केवल विरोध ही करते रह जाते हैं। उन्होंने बताया कि समूह में व्यक्तियों के विचलक आचरण में निरंतरता, अवधि, प्राथमिकता और गहनता की दृष्टि से अंतर हो सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि उन्होंने विभिन्न मानदंडों वाले समूहों के साथ अपना कितना समय गुजारा है। समूह में शामिल होने के अंतर "विभेदक संबद्ध" के रूप में जाने जाते हैं।

उन्होंने यह नहीं माना कि किसी भी व्यक्ति के विचलक बनने के लिए अपराधियों के साथ संपर्क एक आवश्यक शर्त है। विचलन के पक्ष वाली परिभाषाओं के संपर्क में आना ही काफी है। इन संपर्कों अथवा खुलाव का प्रभाव एवं उसकी आवृत्ति हर व्यक्ति में अलग-अलग होती है। सदरलैंड के सिद्धांत को 1970 के दशक के अंत के आस-पास मनोविज्ञान के आचरण-संबंधी सिद्धांत के हिसाब से संशोधित कर सामाजिक शिक्षा सिद्धांत कर दिया गया। आलोचकों का कहना है कि सामाजिक-सांस्कृतिक शिक्षा सिद्धांतों में यह नहीं बताया गया है कि विचलन की उत्पत्ति कैसे हुई अथवा किस प्रकार कतिपय आचरणों को विचलक के रूप में परिभाषित किया गया। यह भी कहा गया है कि उन सिद्धांतों में उन लोगों पर ध्यान नहीं दिया गया है जो समूह के एक हिस्से के बजाय अकेले ही विचलन के कार्य करते हैं। (इशेलमान एवं कैशियों : 1983 : 165)।

3) **लेबल सिद्धांत**

अब तक जिन सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है उनमें लोगों और कार्य के हिसाब से विचलन पर तथा विचलन सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान दिया गया है। लेबल सिद्धांत में खासतौर पर किसी व्यक्ति को "विचलक" घोषित करने के बाद के परिणामों पर ध्यान दिया गया है। एक समाज किस प्रकार विचलन की परिभाषाएँ तैयार करता है। ये ठप्पे अथवा लेबल किस प्रकार और किन लोगो द्वारा कतिपय लोगों पर लगाए जाते हैं? ठप्पा लग जाने के बाद इसका व्यक्ति के आचरण पर क्या प्रभाव पड़ता है? सामाजिक प्रतिमानों की उत्पत्ति की प्रवृत्ति और सामाजिक प्रतिक्रिया या उन लोगों पर ठप्पा लगाना जिनका आचरण इन प्रतिमानों से अलग है—इन्हीं बातों पर ध्यान दिया गया है। इस दृष्टिकोण का आधार दो सूत्री है, पहला, यह इस बात पर ध्यान आकर्षित करता है कि सामाजिक विचलन, जैसी कि सामाजिक प्रतिमानों द्वारा परिभाषा दी गयी है, सापेक्ष है—जो चीज एक समय में और एक संदर्भ में विचलन है वही दूसरे समय या संदर्भ में विचलक नहीं भी हो सकती, दूसरे, "विचलकों" को पहचानने, उसकी प्रक्रिया और विचलक घोषित करने में सामाजिक लोगों की (सामाजिक नियंत्रण या सामाजिक प्रतिक्रिया) भूमिका विचलन पैदा करने में या विचलन तक पहुँचने में महत्वपूर्ण ढंग से स्वाधीन एवं परिवर्तनशील है।

लेबल सिद्धांत में तीन स्तरों के विश्लेषण को मान्यता दी गयी है। (स्विन 1971)। पहला, व्यापक समाज, जिसमें विभिन्न हितों वाले समूह हैं और जो विभिन्न किस्म के आचरण को विचलक घोषित करता है, दूसरा, संबंधित व्यक्ति जिन विभिन्न व्यक्तियों के रोजाना संपर्क में आता है और जो उसे किसी न किसी प्रकार का ठप्पा लगाते हैं, और तीसरा, नियंत्रण के सरकारी और संगठनात्मक एजेण्ट जो सामाजिक प्रतिक्रिया को लागू करते हैं और व्यक्ति पर विचलक का ठप्पा लगाते हुए उसे विचलक का जीवन अपनाने को बाध्य करते हैं। आप इसे एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। यह एक आम अनुभव है कि जिस बच्चे को माता-पिता या अध्यापक द्वारा लगातार "खराब", "मूर्ख", या "मंदबुद्धि" बच्चा कहा जाता है वह धीरे-धीरे अपने नकारात्मक आत्म मूल्यांकन को स्वीकार करने लगता है और फिर वह उसी तरीके से वास्तव में व्यवहार करने लगता है।

लेबल लगाने के परिप्रेक्ष्य का तात्पर्य यह है कि यह हमारा ध्यान समाज में नियम बनाने की प्रक्रियाओं और उन लोगों के हितों तथा गतिविधियों की ओर ले जाता है जो किसी व्यक्ति पर विचलक का लेबल या ठप्पा लगाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य का घनिष्ठ संबंध प्रतीकात्मक अंतरक्रियावाद (जार्ज एच. मीड का सामाजिक,सिद्धांत) जैसी सुप्रसिद्ध समाजशास्त्रीय परंपराओं. और घटना क्रिया विज्ञान तथा मानव जाति प्रणाली विज्ञान से है (लोगों को विचलन की स्थितियों, पुलिस की रोजमर्रा की गतिविधियों, अदालतों, सामाजिक कार्यकर्ताओं आदि का कैसा अनुभव होता है—जैसा कि गारफिन्केल और सिसौरेल ने किशोर न्याय के अपने विश्लेषण में विश्लेषित किया है)। लेबल लगाने संबंधी विश्लेषण सामाजिक संघर्ष की विचारधारा से भी जुड़ा हुआ है। विचलन की सामाजिक परिभाषा और किसी व्यक्ति पर विचलक का ठप्पा लगाने में समाज में विभिन्न हितों वाले समूहों के बीच सामाजिक संघर्ष के पहलू शामिल हैं।

लेबल सिद्धांत के भी आलोचक रहे हैं। इनका कहना है कि इस सिद्धांत में विचलन के कारण के बारे में नहीं बताया गया है। इसका इस्तेमाल यह बताने के लिए नहीं किया जा सकता कि किसी को किस संदर्भ में विचलक घोषित किया जाएगा। अनुभव के आधार पर लेबल सिद्धांत का परीक्षण करना मुश्किल है। कुछ अपराधशास्त्रियों ने यह भी बताया

है कि लेबल सिद्धांत अपर्याप्त है। यह हरेक विचलन को लेबल पर निर्भर बनाता है जैसे कि बिना लेबल कोई विचलन होगा ही नहीं (इशेलमान एवं कैशियों : 1963 : 169)।

4) **द्वंद्व का सिद्धांत**

संघर्ष सिद्धांत के अनुसार अधिकांश समाज में अनेक समूह होते हैं जिनके मूल्य अलग-अलग और अक्सर परस्पर विरोधी रहते हैं। समाज में सबसे मजबूत समूह के पास कमजोर और अधीन समूहों के मूल्यों को विचलक घोषित करने की सत्ता और शक्ति होती है। उदाहरण के लिए क्विने (1979) ने अपराध का वर्णन मानव आचरण की परिभाषा के रूप में किया है जो राजनीतिक रूप से संगठित समाज में अधिकृत एजेंटों द्वारा वांछनीय है। ये एजेंट अक्सर उस किसी भी आचरण को अपराधी कह देते हैं जो उनके हितों के प्रतिकूल होता है। जन संचार माध्यमों के जरिए अपराध की इन परिभाषाओं को प्रचारित कर शक्तिशाली लोग अपने हितों को दूसरों पर थोपते हैं। इस प्रकार चोरी, डकैती से संबंधित कानूनों का उद्देश्य शक्तिहीन मजदूरों की अपेक्षा शक्तिशाली पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करना है।

अनेक द्वंद्व सिद्धांतवादियों का कहना है कि उनके निष्कर्षों से राजनीतिक कार्रवाई शुरू हो सकेगी। उनकी मान्यता है कि इससे एक क्रांतिकारी चेतना पैदा करने और शक्तिशाली द्वारा शक्तिहीनों पर जुल्म को समाप्त करने में मदद मिलेगी।

अन्य सिद्धांतों की तरह, द्वंद्व के सिद्धांत के भी आलोचक रहे हैं।
कुछ आलोचनाएँ इस प्रकार की जा रही हैं :

1) इसमें कारणों की तलाश नहीं की गयी है।

2) इसमें उन अपराधों और विचलनों के बारे में नहीं बताया गया है जो बुनियादी तौर पर गैर-राजनीतिक हैं।

3) इसमें यह मान लिया गया है कि आदर्श कम्युनिस्ट समाज में (जो पूँजीवादी शासन का तख्ता पलटने के बाद बनेगा) हत्या, डकैती, बलात्कार, और अन्य अपराध उस समय गायब हो जाएँगे जब उन्हें अपराधी बनाने की "शक्ति" समाप्त कर दी जाएगी। (इशेलमान एवं कैशियों : 1983 : 164)।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) उत्तर को इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलाइए।

1 विचलन के लिए आमतौर पर कितनी प्रमुख किस्म की व्याख्याएँ दी गयी है। अपना उत्तर लगभग दो पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

2 जैविक सिद्धांतवादियों ने किस पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया है। अपना उत्तर केवल एक पंक्ति में दीजिए।

.....

3 समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में मनोवैज्ञानिक संदर्भ की दृष्टि से विचलन की व्याख्या की गयी है। सही का निशान लगाइए।

(हाँ/नहीं)

4 विचलन की प्रमुख समाजशास्त्रीय व्याख्याओं के बारे में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

31.5 सारांश

इस इकाई में आपको विचलन के अर्थ एवं उसकी प्रकृति के बारे में बताया गया है। विचलन एक सापेक्ष अवधारणा है और उसकी परिभाषा एक समूह से दूसरे समूह तथा समय के अनुसार अलग-अलग है। विचलन को सार्वदेशिक रूप से परिभाषित करना कठिन है क्योंकि विचारों के बारे में विभिन्न समाजों के प्रतिमान और मूल्य अलग-अलग होते हैं।

हमने यह भी चर्चा की है कि विचलन का वर्गीकरण कितने तरीकों से किया गया है और फिर यह सवाल भी उठता है कि विचलन क्यों होता है। हमने जीव विज्ञान, मनोविज्ञान और समाज विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में विचलन की विभिन्न व्याख्याओं की रूपरेखा दी है। समाज विज्ञान में विचलक आचरण को समाज की सांस्कृतिक और सामाजिक संरचनाओं की कुछ विशेषताओं के परिणाम के रूप में लिया जाता है।

शब्दावली

अनोमी : एक ऐसी सामाजिक अवस्था जिसमें मूल्य परस्पर विरोधी, कमजोर और गैर हाजिर होते हैं।

सामाजिक हैसियत : व्यक्ति की समाज में जो हैसियत होती है अर्थात् पिता, माता, व्यवसाय संबंधी हैसियत जैसे अध्यापक, छात्र, आदि।

असंगत : एक मनोवैज्ञानिक अवस्था जहाँ व्यक्ति महसूस करता है कि वह बाकी दुनिया से कटा हुआ है।

सहजबोध : एक जटिल आचरण पद्धति जो जैविक रूप से विरासत में मिली है और जो एक जाति के सदस्यों के लिए एक समान है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Horton, P.B. & Hunt, C.L. , 1981. *Sociology* McGraw – Hill : London

Eshleman, J.R. & Casheon, B.G., 1983. *Sociology : An Introduction* Little Brovin and Co. Boston : Toronto.

Johnson, H., 1966. *Sociology : A Systematic Introduction :* Allied Publishers : New Delhi

Lemert, E., 1951. *Social Pathology* McGraw – Hill : New York

Merton, R., 1968. *Social Theory and Social Structure*—Amering Pub. Co.: New Delhi.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 विचलन का संबंध प्रतिमानों के उल्लंघन अथवा उस आचरण से है जो कुछ प्रतिमानों या मानक आचरण से अलग होता है।

2 विचलन को परिभाषित करने में तीन मुख्य कठिनाइयाँ हैं :
- क) समय के कारण परिवर्तन
- ख) संस्कृति के कारण परिवर्तन
- ग) सामाजिक स्थिति के कारण परिवर्तन

3 सनकी
गुनाहगार
अपराधी
बीमार
असंगत

बोध प्रश्न 2

1 तीन किस्म की व्याख्याएँ हैं :
जैविक, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय

2 जैविक सिद्धांतवादी आनुवंशिकता, शरीर रचना या शरीर विज्ञान संबंधी कारकों पर ध्यान देते है।

3 नहीं

4 अनोमी
सामाजिक-सांस्कृतिक शिक्षा सिद्धांत
विभेदक संबद्ध सिद्धांत
लेबल सिद्धांत
द्वंद्व का सिद्धांत

इकाई 32 सामाजिक संघर्ष की प्रकृति

इकाई की रूपरेखा

32.0 उद्देश्य
32.1 प्रस्तावना
32.2 सामाजिक संघर्ष की समाजशास्त्रीय अवधारणा
  32.2.1 आर्थिक नियतिवाद का दृष्टिकोण
  32.2.2 सामाजिक संबंधों का दृष्टिकोण
32.3 सामाजिक संघर्ष के तत्व
32.4 सामाजिक संघर्ष के कार्य
  32.4.1 संघर्ष के सकारात्मक परिणाम
  32.4.2 संघर्ष की दुष्क्रियाएँ
32.5 सामाजिक संघर्ष की किस्में
  32.5.1 वर्ग संघर्ष
  32.5.2 राजनीतिक संघर्ष
  32.5.3 सांप्रदायिक/जातीय संघर्ष
  32.5.4 गुट-संबंधी संघर्ष
32.6 सामाजिक परिवर्तन की एक शर्त के रूप में संघर्ष
32.7 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

32.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नांकित के बारे में विचार-विमर्श कर सकेंगे :

- सामाजिक संघर्ष की प्रकृति
- सामाजिक संघर्ष के समन्वयात्मक और विघटनकारी पहलू
- मानव समाज में आमतौर पर होने वाले सामाजिक संघर्ष की किस्में।

32.1 प्रस्तावना

सामाजिक संघर्ष समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इस इकाई में, हम सामाजिक संघर्ष की बुनियादी संकल्पना और सामाजिक संघर्ष की प्रकृति के बारे में कार्ल मार्क्स तथा मैक्स वेबर के योगदान पर विचार-विमर्श कर रहे हैं। इसके बाद, इस इकाई में समाज में संघर्ष के विभिन्न कार्यों के बारे में बताया गया है। अंत में, हम लगभग हर समाज में पाये जाने वाले संघर्ष की किस्मों के बारे में विचार-विमर्श करेंगे।

32.2 सामाजिक संघर्ष की समाजशास्त्रीय अवधारणा

अगर हमें समाजशास्त्री की प्रमुख चिंताओं पर नजर डालनी हो तो हम मुख्यता दो चिंताएँ पाते हैं: पहली, वह चिंता जो सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक स्थिरता और सहमति की प्रकृति पर प्रकाश डालने का प्रयास करती है और दूसरी, परिवर्तन, अव्यवस्था, अस्थिरता तथा सामाजिक संघर्ष से संबंधित चिंता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य व्यापक रूप से क्रियात्मकता अर्थात् सहमति पर आधारित और उस संघर्ष की श्रेणियों में आते हैं जो मुख्यता अस्थिरता और परिवर्तन के तत्वों के बारे में जानकारी देता है।

प्राकृतिक विज्ञान में विकासवादी दृष्टिकोण के प्रभाव के अंतर्गत, अनेक आरंभिक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया की भी चर्चा की है। लेकिन, यह विचार-विमर्श 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' की डार्विन की विचारधारा की परंपरा में कमोबेश अनजाने में होने वाली स्वशासी परस्पर क्रियाओं पर केन्द्रित रहा। इस चरण के बाद व्यवस्था की समस्याओं या सामाजिक एकता की समस्याओं की जांच-पड़ताल की गयी जिससे समाजशास्त्र और सामाजिक मानव विज्ञान की क्रियात्मक विचारधारा पनपी।

लेकिन, कार्ल मार्क्स एक महत्वपूर्ण सामाजिक चिंतक थे जिन्होंने सबसे पहले व्यवस्थित ढंग से सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया का विश्लेषण किया। फिर भी, समाजशास्त्र में सैद्धांतिक दृष्टि से विचार-विमर्श मुख्यतः सामाजिक संरचना और सामाजिक संगठन की व्याख्याओं पर ही केन्द्रित रहा। यह दौर लगभग वर्तमान सदी के पूर्वार्द्ध तक जारी रहा। 1950 के दशक के बाद ही सामाजिक संघर्ष की निश्चित और व्यवस्थित जांच पड़ताल का काम शुरू किया गया। आइए हम सामाजिक संघर्ष के कुछ दृष्टिकोणों को देखें ताकि सामाजिक संघर्ष की प्रकृति को समझा जा सकें।

आज संघर्ष सिद्धांतवादी इस बात पर जोर देते हैं कि संघर्ष सामाजिक जीवन की एक चिरस्थायी विशेषता है और इसके परिणामस्वरूप समाज में निरंतर परिवर्तन की स्थिति बनी रहती है। उनके अनुसार संघर्ष में व्यापक हित एवं समूह शामिल होते हैं। ये हित आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी, धार्मिक, सामाजिक और नैतिक होते हैं। जो समूह शामिल होते हैं उनमें वृद्ध के खिलाफ युवा स्त्री के खिलाफ पुरुष, एक जातीय समूह के खिलाफ दूसरे समूह, एक जाति के खिलाफ दूसरी जाति, एक धार्मिक समूह के खिलाफ दूसरे धार्मिक समूह, मालिकों के खिलाफ मजदूर, आदि हैं। संघर्ष क्यों होते हैं और सामाजिक जीवन में क्यों बने रहते हैं—इस सवाल का मोटे तौर पर जवाब यह हो सकता है कि शक्ति, प्रतिष्ठा, धन और अन्य संसाधनों जैसी चीजें सबके लिए समान रूप से उपलब्ध नहीं हैं—ये चीज़ें कम मात्रा में पायी जाती हैं। जिनके पास ये चीज़ें हैं या जिन्हें इन दुर्लभ वस्तुओं पर नियंत्रण प्राप्त हैं वे हमेशा दूसरों को नुकसान पहुँचा कर भी अपने हितों की रक्षा करने की कोशिश करेंगे। इसके परिणामस्वरूप, परस्पर विरोधी हितों वाले समूहों के बीच संघर्ष शुरू होता है।

32.2.1 आर्थिक नियतिवाद का दृष्टिकोण

सामाजिक संघर्ष के क्षेत्र में कार्ल मार्क्स (1818-1883) का योगदान बड़े ही महत्व का रहा है। वे मानते थे कि सामाजिक संघर्ष सभी सामाजिक परिवर्तनों का स्रोत है। उन्होंने संघर्ष को **विपरीत आर्थिक हितों वाले दो वर्गों के बीच सामाजिक संबंध के रूप में देखा**। एक पूँजीवादी समाज में दो वर्ग बुर्जुआ (या मालिक या साधनसंपन्न यानी जिनके पास उत्पादन के साधन हैं) और सर्वहारा (मजदूर वर्ग या वे साधनहीन लोग जिनके पास उत्पादन के साधन नहीं हैं) हैं। "साधनसंपन्न" लोगों की आर्थिक शक्ति उन्हें अन्य क्षेत्रों जैसे राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी शक्ति प्रदान करती है। मार्क्स के अनुसार, एक वर्ग द्वारा शक्ति का अधिग्रहण हमेशा दूसरे वर्ग की कीमत पर होता है। शक्ति के असमान वितरण का विरोध साधनहीन वर्ग द्वारा किया जाता है जो अपने को संगठित करके क्रांतिकारी कार्रवाई द्वारा साधनसंपन्न लोगों के शासन को पलटने की कोशिश करता है। इसके परिणामस्वरूप जो नई सामाजिक व्यवस्था आती है वह (जहाँ कोई वर्ग नहीं होगा) पुरानी व्यवस्था से बेहतर होती है। इस दृष्टि से सामाजिक संघर्ष को सामाजिक प्रगति के माध्यम के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार, मार्क्स ने आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र में हो सामाजिक संघर्ष पर विचार किया। उनका विश्लेषण मुख्यतया पूँजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष के विश्लेषण पर केन्द्रित था।

बुर्जुआ और सर्वहारा वर्गों के विरोधी आर्थिक हित: सामाजिक संघर्ष की मार्क्सवादी दृष्टि

32.2.2 सामाजिक संबंधों का दृष्टिकोण

मैक्स वेबर (1864-1920) ने भी जोर दिया कि सामाजिक संघर्ष को सामाजिक जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। उन्होंने बताया कि संघर्ष एक सामाजिक संबंध है जिसकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं।
महत्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

1) संबंध के भीतर कार्रवाई जानबूझकर इस प्रकार की जाती है कि कार्य करने वाले या समूह अपनी इच्छा को दूसरे कार्य करने वालों या समूह पर थोप सकें।

2) दूसरे की इच्छा के खिलाफ अपनी इच्छा को पूरा करने के प्रयास से दूसरे में इस जबरदस्ती के खिलाफ एक प्रतिरोध उत्पन्न होता है। इसलिए वेबर जोर देते हैं कि किसी भी संबंध को संघर्ष संबंध कहे जाने के लिए उसमें निम्नांकित तत्वों का होना जरूरी है :

   क) शक्ति और जानबूझकर उस शक्ति का उपयोग
   ख) इस जबरदस्ती का सामना करने वाले समूह अथवा व्यक्ति की ओर से प्रतिरोध।

वेबर ने यह नहीं माना कि संघर्ष केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित होता है। उन्होंने कहा कि प्रतिष्ठा और शक्ति जैसे संसाधनों और साथ ही संपत्ति तथा अन्य किस्म की भौतिक संपदा की कमी से संघर्ष शुरू होता है। उन्होंने पाया कि संगठनों और नौकरशाही में भी संघर्ष हो सकता है। उन्होंने बताया कि बड़े औद्योगिक, सरकारी, धार्मिक संसाधनों का प्रबंध कार्य देखने वाले नेताओं के पास काफी शक्ति होती है। वे समाज में तथा समाज से बाहर (अर्थात् बहुराष्ट्रीय निगम) भी अन्य समूहों की इच्छा पर अपनी इच्छा थोप सकते हैं और उन्होंने ऐसा किया भी है।

सामाजिक संघर्ष की प्रकृति के बारे में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे संघर्ष संबंध के बारे में निम्नांकित पहलू उभर कर सामने आते हैं :

1) संघर्ष मूल्यों को लेकर की गई लड़ाई है या यह हैसियत शक्ति और अन्य दुर्लभ संसाधनों के प्रति दावों को लेकर उत्पन्न हुई लड़ाई है,

2) इन वांछित मूल्यों या वस्तुओं का लाभ उठाने के लिए संघर्ष संबंध में कम से कम दो पक्ष शामिल होते हैं।

3) संघर्षरत पक्षों का उद्देश्य अक्सर अपने प्रतिद्वंद्वियों को प्रभावहीन करना, चोट पहुँचाना या उन्हें समाप्त कर देना होता है,

4) संघर्ष एक समूह के भीतर या कई समूहों के बीच हो सकता है,

5) संघर्ष लंबे अरसे से बरकरार हैं और यह सामाजिक जीवन की एक चिरस्थायी विशेषता है।

32.3 सामाजिक संघर्ष के तत्व

सामाजिक संघर्ष के इन तमाम विवरणों से हम सामाजिक संघर्ष के आवश्यक तत्वों के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

1) सामाजिक संघर्ष में, आवश्यक रूप से दो या अधिक **सामाजिक** वर्गों के बीच **विरोध** पर ध्यान केन्द्रित रहता है। यह मजदूर संघ, राजनीतिक दल, व्यावसायिक संगठन, परिवार, आदि जैसा एक **सामाजिक समूह** हो सकता है। यह मजदूर वर्ग, पूँजीपति वर्ग, निचला वर्ग, ऊँचा वर्ग, मध्यम वर्ग जैसा **वर्ग** भी हो सकता है। इन सभी उदाहरणों में जो बात निहित है वह यह कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग के संबंध में क्या करना है इसके बारे में सामाजिक अपेक्षा स्पष्ट होती है। सामाजिक संघर्ष पैदा होने के लिए, कम से कम दो ऐसे सामाजिक वर्ग होने चाहिए जो न केवल एक दूसरे से संबंधित लगते हों बल्कि एक दूसरे के विरोधी भी दिखते हों।

2) संघर्ष की हरेक अवस्था में शक्ति या सत्ता का तत्व शामिल होता है। अगर दूसरे पर अपनी इच्छा थोपने का कोई प्रयास नहीं है तो सामाजिक संघर्ष का संबंध हो ही नहीं सकता। संघर्ष संबंध किसी समूह में या सत्ता के वितरण पर आधारित होता है।

   कार्य करने वाले या समूह द्वारा दूसरे पर अपनी इच्छा थोपने से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है जहाँ दूसरा कार्य करने वाला या समूह इस जबर्दस्ती को मंजूर नहीं करता।

3) संघर्ष में शत्रुता की भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ शामिल हो सकती हैं।

4) संघर्ष के वस्तुपरक आधार और उसके व्यक्तिपरक आधार के बीच भेदभाव करना जरूरी है। जैसा कि हम पहले कह चुके है, संघर्ष धन, आमदनी, शक्ति, प्रतिष्ठा, क्षेत्र के ऊपर प्रभुत्व, आदि अनेक किस्म की दुर्लभ भौतिक और गैर-भौतिक वस्तुओं के वितरण को लेकर शुरू हो सकता है। संघर्ष के ऐसे अवसरों को शत्रुतापूर्ण आक्रामक रवैये, असंतोष की भावना, घृणा, आदि व्यक्तिपरक तत्वों से अलग किया जाना जरूरी है। ये तत्व संघर्ष संबंध में भी हो सकते है।

5) संघर्ष में अनेक प्रकार के हित हो सकते हैं। ये हित आर्थिक भी हो सकते हैं अर्थात्—समाज में उपलब्ध संसाधनों और लाभों पर नियंत्रण। यह सामाजिक अर्थात् प्रतिष्ठा को लेकर या राजनीतिक अर्थात् एक कानूनी अधिकार के प्रति दावा करने को लेकर या धार्मिक भी हो सकते हैं। धार्मिक हितों की माँग होती है कि परालौकिक जगत के बारे में उसकी व्याख्या को वैध स्वीकार किया जाए। हित या रुचियाँ जो भी हों, जब दो या अधिक पक्षों के हित परस्पर विरोधी होते हैं तो संघर्ष उत्पन्न होता है।

6) संघर्ष संबंध में अक्सर दो परिस्थितियाँ शामिल होती हैं :
शक्तिशाली और शक्तिहीन, शोषक और शोषित तथा वह जिसके पास नियंत्रण का अधिकार है और जिसके पास यह अधिकार नहीं है, के पक्ष और विरोध् की स्थितियाँ। अवश्य ही, ऐसे अनेक समूह हो सकते हैं जिनमें सत्ता के लिए होड़ लगी हो और जरूरी नहीं कि वह सत्ता या शक्ति किसी खास सामाजिक समूह के हाथों में केन्द्रित हो। कई बार, जब किसी खास मसले को लेकर अनेक समूह एक दूसरे के साथ होड कर रहे हों तो निश्चय ही उस मसले के पक्ष में या विरोध में विभिन्न गुटों का गठबंधन हो जाता है।

7) संघर्ष छोटे समूह तक सीमित रह सकते हैं या इसके अंतर्गत पूरा विश्व (जैसा कि विश्वयुद्धों से स्पष्ट है) भी आ सकता है। संघर्ष के मसलों के महत्व को देखते हुए संघर्ष की गंभीरता अलग-अलग हो सकती है। संघर्ष में शामिल मसले का मुद्दा छोटे-मोटे स्थितिजन्य मतभेदों से लेकर पूरे समाज के मूलभूत कायाकल्प तक का हो सकता है।

8) संघर्ष दो समाजों के बीच (जैसे दो देशों के बीच लड़ाई) या फिर एक ही समाज समूहों के बीच हो सकता है। एक समूह में भी कई गुट हो सकते हैं जिनका किसी मसले या अनेक मसलों को लेकर आपस में संघर्ष हो सकता है (जैसे कांग्रेस पार्टी के भीतर हितों और विचारधाराओं का बँटवारा हो सकता है)।

9) संघर्ष की परस्परक्रिया अनेक रास्ते अख्तियार कर सकती है। हो सकता है कि शक्तिशाली समूह इसे आरंभ होते ही दबा दे या फिर यह लंबे समय तक खिंच सकता है। इसमें कम या अधिक हिंसा भी शामिल हो सकती है। समूहों के बीच हिंसात्मक संघर्षों में अक्सर बलप्रयोग होता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलाइए।

1 मार्क्स के अनुसार संघर्ष का बुनियादी कारण राजनीतिक शक्ति और अधिकार का असमान वितरण है (सही उत्तर पर निशान लगाइए)।

हाँ ( ) नहीं ( )

2 वेबर के अनुसार संघर्ष का बुनियादी कारण केवल आर्थिक नहीं है। (सही उत्तर पर निशान लगाइए)

हाँ ( ) नहीं ( )

3 पूँजीवादी समाज के दो संघर्षरत वर्ग (मार्क्स के अनुसार) हैं :

.....

.....

4 निम्नांकित में से कौन सामाजिक संघर्ष का तत्व नहीं है :

1) विरोधी आर्थिक हित

2) दो या अधिक समूहों की उपस्थिति

3) दो समूह के सदस्यों के बीच समरुचि

32.4 सामाजिक संघर्ष के कार्य

सामाजिक संघर्ष के तत्वों के बारे में ऊपर किए गए विचार-विमर्श से आप पूछ सकते हैं कि "क्या संघर्ष समाज के लिए दुक्रियात्मक है?" संघर्ष को केवल विनाश की ऐसी प्रक्रिया के रूप में ही नहीं माना जाना चाहिए जिससे अव्यवस्था उत्पन्न होती है और सामाजिक व्यवस्था टूटती है। डॉरेनडॉर्फऔर कोसर जैसे विचारकों ने सामाजिक संघर्ष के समन्वयात्मक स्वरूप पर ध्यान दिया है।

32.4.1 संघर्ष के सकारात्मक परिणाम

कोसर ने सिम्मेल के अग्रणी और अतदृष्टि वाले कार्य के आधार पर यह बताया है कि संघर्ष के कुछ सकारात्मक परिणाम हो सकते हैं। एक तो दूसरे समूह के साथ संघर्ष करके एक खास समह की सामाजिक एकता भीतर-ही-भीतर बढ़ती है।

समूह के भीतर बेहतर समन्वय और बेहतर संरचनात्मक व्यवस्था होती है। हम सब इस अवस्था से पूरी तरह परिचित हैं। जब भी हमारे देश को बाहरी हमले का सामना करना पड़ा है,, सारा राष्ट्र अपने सभी आंतरिक मतभेद भुलाकर एकजुट होकर एक व्यक्ति के रूप में खड़ा रहा है। कई बार, सत्ता में रहने वाले धूर्त राजनीतिज्ञ आंतरिक समस्याओं से लोगों का ध्यान हटाने के लिए जानबूझकर बाहरी खतरे का झूठा हौवा खड़ा कर सकते हैं। दूसरा, संघर्ष से दो गैर संबंधित समूहों का गठबंधन बन सकता है जिसके फलस्वरूप सहयोगी परस्पर क्रिया की संभावना बढ़ती है। तीसरे, संघर्ष से विभिन्न पक्षों के बीच सहयोग के कुछ अप्राधिकृत क्षेत्र उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान रेड क्रॉस की शुरुआत हुई। चौथा, संघर्ष की परस्पर क्रिया से उन मसलों का स्पष्टीकरण हो सकता है जो शायद पहले पूरे तरह स्पष्ट न हो पाए हों, और इस प्रकार, विपक्ष की समझदारी बढ़ सकती है तथा आपसी सहयोग के नए रास्ते खुल सकते हैं।

32.4.2 संघर्ष की दुष्क्रियाएँ

निश्चिय ही, सामाजिक संघर्ष की अनेक दुष्क्रियाएँ भी हैं जैसे समूह में मतभेदों का बढ़ना जिसके परिणामस्वरूप समूह टूट तक जाता है। उदाहरण के लिए, गृह युद्ध के फलस्वरूप देश का एक हिस्सा एक स्वाधीन राज्य बन सकता है उदाहरणार्थ, पाकिस्तान का एक हिस्सा अलग होकर स्वाधीन बांग्लादेश बना। इसके अलावा, जान-माल की क्षति की दृष्टि से संघर्ष की क्या कीमत चुकानी पड़ती है उसमे हम इतनी भली-भांति परिचित हैं कि उसके विस्तार में जाने की जरूरत नहीं। यह भी संभव है कि संघर्षरत समूह संबद्ध समूहों के भीतर इतना गहरा संदेह और शत्रुता उत्पन्न कर सकते हैं जो लंबे समय तक जारी रहता है और जिससे समूह में अस्थिरता बनी रहती है। एक समूह द्वारा दूसरे समूह को पूरी तरह समाप्त कर देने पर ही एक बार बोए गए संघर्ष के बीज फिर अंकुरित नहीं होंगे।

सामाजिक संघर्ष के कार्यों के बारे में विचार-विमर्श के बाद हम इसकी किस्मों के बारे में विचार करेंगे।

32.5 सामाजिक संघर्ष की किस्में

हालाँकि, संघर्षों की किस्में तय करने के लिए अनेक किस्म के मानदंडों का इस्तेमाल किया जा सकता है जैसे हितों पर आधारित संघर्ष, इस बात पर आधारित संघर्ष कि परिवर्तन धीरे होना चाहिए अथवा तत्काल पूर्ण परिवर्तन होना चाहिए, या समय की अवधि की दृष्टि से संघर्ष या संघर्ष की संभावना की दृष्टि से संघर्ष। यहाँ हम संक्षेप में संघर्ष की चार प्रमुख किस्मों की चर्चा करेंगे। जो लगभग सभी समाज में होते देखे जाते हैं।

क) वर्ग संघर्ष जो समाज में विद्यमान स्तरण व्यवस्था पर आधारित हैं।

ख) राजनीतिक संघर्ष जो राजनीतिक शक्ति के अधिग्रहण और उसके लिए होड़ पर आधारित हैं।

ग) सांप्रदायिक/जातीय संघर्ष जो मुख्यतः समूह के अस्तित्व की बातों पर आधारित हैं।

घ) गुट-संबंधी संघर्ष जो उन छोटे समूहों में होते हैं जो छोटे समुदायों में शक्ति या सत्ता के पदों का दावा करते हैं।

इन संघर्षों पर अलग-अलग विचार करने से पहले यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि एक और किस्म का संघर्ष है जिसे युगों से ऐतिहासिक महत्व मिलता रहा है। कुछ ही आधुनिक समाजशास्त्रियों ने इस किस्म के संघर्ष का व्यवस्थित अध्ययन किया है। यह संघर्ष है "युद्ध"। कोम्टे और स्पेंसर जैसे प्रारंभिक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन लाने में युद्ध और विजय के महत्व को पहचाना था। हाल ही में यह एहसास बढ़ा है कि समाजशास्त्री परमाणु युग में युद्ध की समस्या को नजरअंदाज नहीं कर सकते। युद्ध और शांति के बारे में हाल में किए गए अध्ययनों में युद्ध भड़काने वाली परिस्थितियों और कारणों तथा युद्ध से बचने के उपायों पर ध्यान दिया गया है। इन अध्ययनों से हिंसात्मक संघर्षों (खासकर ऐसे संघर्ष जिनमें बल प्रयोग किया जाता है) की जटिल प्रक्रिया के बारे में विचारों को स्पष्ट करने में मदद मिली है। युद्ध, विजय, क्रांति जैसे हिंसात्मक संघर्षों ने बड़ी सामाजिक इकाइयों, सामाजिक स्तरण के नए प्रकार तथा समाज के भीतर समूहों में और कई समाजों के बीच नए किस्म के संबंधों की उत्पत्ति में योगदान दिया है।

32.5.1 वर्ग संघर्ष

सभी जटिल समाजों की अपनी सामाजिक स्तरण व्यवस्था होती है जो समाज के सभी सदस्यों को प्रतिष्ठा, शक्ति और पुरस्कार की भिन्नता के हिसाब से श्रेणीबद्ध करती है। समाज द्वारा विभिन्न वर्गों के बीच लाभों का यही असमान वितरण विभिन्न वर्गों के बीच संघर्ष का आधार बनता है। मार्क्स ने जोर दिया था कि वर्गों के बीच संघर्ष ही आमूलचूल परिवर्तन का स्रोत है।

उनके अनुसार, वर्ग संघर्ष आर्थिक हितों पर आधारित है। उन्होंने देखा कि जिस तरीके से आर्थिक कार्य किए जाते हैं और सहवर्ती सामाजिक परिवर्तन होता है उसी के अनुसार मानव समाज विकास के विभिन्न चरणों से गुजरता है। उन्होंने साधनसंपन्न और साधनहीन वर्गों के बीच अंतर किया। उन्होंने कहा कि हर प्रकार के समाज में ये दोनों समूह मौजूद रहे हैं। गुलाम समाज में मालिक और गुलाम होते हैं। सामंतवादी समाज में जमींदार और किसान होते हैं और पूँजीवादी समाज में पूँजीपति और मजदूर होते हैं।

मार्क्स की वर्ग-विचारधारा की शक्ति इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने शोषक संबंध की दृष्टि से दो वर्गों को परस्पर जुड़े हुए देखा है। **साधनसंपन्न** वर्ग को उत्पादन के साधनों पर अपने स्वामित्व के कारण **साधनहीन** पर हुक्म चलाने का अधिकार होता है। जब **साधनहीनों** को अपनी शोषित अवस्था का पता चलता है तो वे अपना **एक वर्ग** बना लेते हैं और क्रांतिकारी संघर्ष में अपने हितों के लिए लड़ना शुरू कर देते हैं। उनकी विजय समाज के आधार यानी उत्पादन के स्वामित्व को ही बदल देती है। इससे उत्पन्न उत्पादन का तरीका पहले के मुकाबले अधिक प्रगतिशील होता है।

वर्ग संघर्ष संबंधी मार्क्स के विश्लेषण में, वर्ग संघर्ष का मुख्य कारण उत्पादन के तरीकों पर निजी स्वामित्व की व्यवस्था है। उधर, पूँजीवादी समाज में मजदूर वर्ग जब यह समझने लगता है कि हर समाज में शोषण का मुख्य कारण निजी स्वामित्व है तो वे निजी संपत्ति को ही खत्म करने के उद्देश्य से क्रांतिकारी संघर्ष शुरू कर देते हैं।

32.5.2 राजनीतिक संघर्ष

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संघर्ष में एक महत्वपूर्ण तत्व शक्ति या सत्ता होता है। राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने और उसके वितरण को केन्द्र में रखकर की गयी गतिविधियों के इर्द-गिर्द सामाजिक संबंध गठित किए जा सकते हैं। शक्ति की वैधता पर केंद्रित मानवीय गतिविधियों के ये क्षेत्र किसी भी समाज के राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र होते हैं। किसी भी राजनीतिक संस्था का मुख्य कार्य पूरे समाज में उपलब्ध संसाधनों और लाभों का साधिकार आवंटन होता है। इसी कारण, शक्ति के पीछे लोग भागते हैं। लेकिन संसाधन और लाभ की कमी होती है इसलिए इन संसाधनों और लाभों पर एकाधिकार पाने की होड़ मच सकती है। जिस समूह का संसाधनों और लाभों पर नियंत्रण होगा वह अपने समूह के हित के लिए उनका इस्तेमाल करने की कोशिश करेगा। इसलिए राजनीतिक संघर्ष को उस मांग के रूप में देखा जा सकता है जो समाज के विविध समूह संसाधनों और लाभों पर नियंत्रण को लेकर करते हैं।

राजनीतिक शक्ति के लिए संघर्ष उन सामाजिक समूहों में होता है जिनका समाज में खास हित होता है। राजनीतिक समाजशास्त्रियों का कहना है कि आदमी जिस तरीके से मतदान करता है वह राजनीतिक दल द्वारा पोषित हितों पर निर्भर करता है। समाज में विविध हित होते हैं जो एक साथ मिलकर अपने हित साधन के लिए राजनीतिक व्यवस्था पर अपना दावा करते हैं। ये हित मुख्यतया आर्थिक होते हैं मगर धार्मिक, व्यावसायिक, आदि अन्य प्रकार के हित भी हो सकते हैं। तब राजनीतिक संघर्ष भिन्न-भिन्न हितों का संघर्ष है।

राजनीतिक संघर्ष में, समाजशास्त्रियों ने तीन मुख्य समूहों की पहचान की है—राजनीतिक दल, हितों वाले समूह और दबाव डालने वाले समूह। राजनीतिक दल एक संगठन है जिसका उद्देश्य शासन करने के लिए सत्ता प्राप्त करना है। हितों वाले समूह समाज के एक खास वर्ग के हितों को बढ़ावा देते हैं। दबाव डालने वाले समूह, हितों वाले समूह हैं जो न केवल अपने सदस्यों के हितों को बढ़ावा देता है बल्कि सरकार पर इस ढंग से कार्य करने के लिए दबाव भी डालते हैं ताकि उनके खास हितों को बढ़ावा मिल सके। मजदूर संघ, अध्यापकों, डाक्टरों, वकीलों के व्यावसायिक संगठन दबाव डालने वाले समूहों के उदाहरण हैं। हितों वाले समूह और दबाव डालने वाले समूह राजनीतिक अखाड़े में सक्रिय रहते हैं लेकिन स्वयं शासन नहीं करना चाहते। राजनीतिक प्रभावक्षेत्र में शासन करने की इच्छा मुख्य रूप से राजनीतिक दलों में होती है।

राजनीतिक दल विभिन्न विचारधाराओं और विभिन्न कार्यशैलियों के आधार पर गठित किए जा सकते हैं। आमतौर पर इनका गठन खास हितों को आगे बढ़ाने के लिए किया जाता है। भारत में, कम्युनिस्ट पार्टी मजदूर वर्ग के हितों पर ध्यान देती है। लोकदल का संबंध मुख्यतया किसानों से है जबकि मुसलमानों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए मुस्लिम लीग है। राजनीतिक दल यथासंभव अधिकाधिक हितों वाले समूहों को शामिल करके अपने आधार को व्यापक बनाने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए कांग्रेस पार्टी हालाँकि एक समाजवादी समाज स्थापित करने की बात करती है लेकिन वह समाज के अन्य वर्गों के साथ ही पूँजीपतियों, धनी व्यापारी वर्गों के हितों का भी ख्याल रखती है। जब कोई दल शासन करने के लिए सत्ता में आता है उसके लिए वैधता प्राप्त करना आवश्यक होता है। सत्तारूढ़ दल जितने अधिक समूहों के हितों को संरक्षण देता है उतनी ही अधिक वैधता प्राप्त करने में समर्थ होता है। दलों की व्यवस्थाओं के भीतर भी, खासकर उन समाजों में जहाँ दो या अधिक दलों की ताकत सत्तारूढ़ दल जितनी ही होती है राजनीतिक संघर्ष हो सकते हैं।

कुछ राजनीतिक संघर्ष, वर्ग संघर्ष की अभिव्यक्ति होते हैं। राजनीतिक संघर्ष चुनावों में मतदान और चुनाव अभियान की शक्ल ले सकते हैं या प्रदर्शन, हड़ताल के रूप में इन संघर्षों को सड़कों पर लाया जा सकता है या चरम स्थिति में ये संघर्ष रक्तरंजित राजनीतिक क्रांति का रूप ले सकते हैं।

32.5.3 सांप्रदायिक/जातीय संघर्ष

इन दिनों जब भी हम कोई समाचारपत्र पलटते हैं हमें धार्मिक समूहों, जातियों या भाषायी समुदायों के बीच हिंसात्मक संघर्षों की खबरें पढ़ने को मिलती हैं। हम मुसलमानों और हिंदुओं के बीच संघर्ष, उच्च जातियों और अनुसूचित जातियों के बीच दक्षिण अफ्रीका, ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका में श्वेत और अश्वेत लोगों, श्रीलंका में सिंहली भाषियों और तमिल-भाषियों के बीच या भारत में हिंदी भाषी और अहिंदी भाषियों के बीच संघर्ष के बारे में पढ़ते-सुनते हैं।

इस किस्म के संघर्ष के मुख्य पहलुओं पर विचार करने से पहले हमें 'सांप्रदायिक' और 'जातीय' शब्दों के अर्थ को अवश्य स्पष्ट कर देना चाहिए। सांप्रदायिक संबंध वह होता है जिसमें परस्पर क्रिया वाले सदस्यों के हित एक जैसे होते हैं। यह संकल्पना हमारा ध्यान हितों विश्वासों और भावनाओं की समानता की अटूट शक्ति की ओर खींचती है। सामान्य तौर पर

'जातीय' शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया जाता है : नस्ल या सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न लोगों का वर्ग या उनसे संबंधित वर्ग। जातीय समूहों में समूह सदस्यता की वे कतिपय किस्में आती हैं जो राष्ट्रीयता, धर्म, भाषा या क्षेत्र पर आधारित होती हैं अर्थात् ऐसे लोग जो समान मूल के होते हैं या समान संस्कृति का अंग होते है या माने जाते हैं प्रभुत्व वाले समूह के हाथों जिस जातीय समूह को दुर्भाव और भेदभाव झेलना पड़ता है उसे अक्सर अल्पसंख्यक कहते हैं। उदाहरण के लिए, उत्तरी अमरीका या दक्षिण अफ्रीका में अश्वेत लोग अल्पसंख्यक हैं।

आम तौर पर जब हम सांप्रदायिक या जातीय संघर्षों की चर्चा करते हैं, हम उन दो या अधिक समूहों के बीच संघर्ष की बात कर रहे होते हैं जहाँ सदस्यता कुछ जन्मगत विशेषताओं पर निर्भर करती है। यह विशेषता धर्म, रंग, भाषा या क्षेत्र कुछ भी हो सकती है। यहाँ यह अवश्य बताया जाना चाहिए कि भारत में जब हम सांप्रदायिक आयामों की चर्चा करते हैं तो हम आम तौर पर किसी समुदाय की धार्मिक पहचान की बात करते हैं। भारत में न सिर्फ धर्म पर आधारित संघर्षों का बल्कि भाषा और क्षेत्रीयता पर आधारित संघर्षों का भी लंबा इतिहास रहा है।

सांप्रदायिक या जातीय संघर्षों का विश्लेषण करते समय समाज वैज्ञानिकों ने उन अनेक किस्म के व्यक्तिपरक और वस्तुपरक कारणों की पहचान की है जो संघर्षों की उत्पत्ति, रुख और संकल्प को प्रभावित करते देखे जाते हैं। कुछ का मानना है कि जरूरत, जरूरतें पूरी करना, जाति केन्द्रित भावनाएँ दुर्भावना वाली प्रवृत्तियाँ, निराशा की भावना, शत्रुता, आक्रमण, आदि मनोवैज्ञानिक कारण इस प्रकार के संघर्ष की व्याख्या करने में बहुत महत्वपूर्ण हैं। समाजशास्त्रियों का विश्वास है कि सांप्रदायिक संघर्ष, संघर्ष संबंध की आम प्रक्रिया का एक उदाहरण हैं जो इसलिए हमे उन हितों पर ध्यान देना होगा जो दो समुदायों में परस्पर विरोधी होते हैं। समाज में जहाँ संसाधनों की कमी है और जहाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था खुद को समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा पेश की गयी विविध माँगों के बीच फँसा हुआ पाती है, वहाँ संघर्ष की गुंजाइश रहती है। जिन समाजों में संसाधनों का वितरण व्यक्तिगत कार्यकलाप के आधार पर होता है, हितों का विरोध आमतौर पर वर्ग संघर्ष का रूप ले लेता है। जिस समाज में संसाधनों का वितरण आरोपित हैसियत पर आधारित समूहों के हिसाब से होता है, हितों का विरोध सांप्रदायिक रूप ले सकता है। हम भारत में अक्सर भूमिहीन मजदूरों, जो कमोबेश अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्ग के होते हैं, तथा जमींदारों, जो अधिकतर गैर अनुसूचित जाति के होते हैं, के बीच संघर्ष देखते हैं। अमरीका और दक्षिण अफ्रीका में ज्यादातर चमड़ी का रंग वह आधार रहा है जिसके कारण अश्वेतों को निम्न दर्जा दिया गया है। दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों से उनके संसाधन छीन लिए गए हैं और वे भेदभाव, असमान व्यवहार, हिंसा तथा पृथक्करण के शिकार हैं। सांप्रदायिक और जातीय संघर्षों में वस्तुपरक हित और व्यक्तिपरक तत्व दोनों ही शामिल होते हैं।

32.5.4 गुट संबंधी संघर्ष

समाजशास्त्री आम तौर पर, छोटे समुदायों जैसे ग्रामीण समुदायों में होने वाले संघर्षों को गुट संबंधी संघर्ष कहा करते हैं। एक गुट एक गांव में अनौपचारिक मगर साफ तौर पर अलग किया गया समूह है जिसमें विभिन्न वर्गों के लोग शामिल होते हैं। यह समूह इसी प्रकार के अन्य संगठित समूह के साथ संघर्ष के संबंध में जुटा होता है। भारतीय संदर्भ में, ग्रामीण समुदायों को न सिर्फ जाति के हिसाब से बाँट कर भेदभाव किया जाता है बल्कि उन्हें प्रभुत्व के लिए संघर्ष में जाति के हिसाब से ऊपर से नीचे की ओर टुकड़ों में भी बाँटा जाता है। भारत मे, हम देख सकते हैं कि आम तौर पर एक व्यक्ति गुट का नेता होता है, जिसके इर्द-गिर्द अन्य सदस्य जुटते हैं। वह आम तौर पर गांव के एक सबसे संपन्न परिवार का होता है और उसके पास काफी बड़ी मात्रा में जमीन होती है। गुट के अन्य सदस्य आम तौर पर उसकी अपनी जाति के और उसके रिश्ते-नातेदार हुआ करते हैं। लेकिन गुट संबंधी संघर्ष में अन्य जातियों तथा निचली जातियों के सदस्य भी उनके साथ आ जुड़ते हैं। अधिकांश मामलों में, ये लोग आर्थिक तौर पर उस पर निर्भर होते हैं जैसे कि भूमिहीन मजदूर जो उसकी जमीन पर काम करते हैं।

सत्ता, प्रभुत्व (आर्थिक और राजनीतिक) और प्रतिष्ठा की इच्छा गुट का लक्ष्य हो सकती है। गुट संबंधी संघर्ष की शुरुआत आम तौर पर एक खास घटना से होती है जिसमें समुदाय का एक शक्तिशाली व्यक्ति एक अन्य शक्तिशाली सदस्य द्वारा खुद को अपमानित महसूस करता है फिर यह लड़ाई पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है। संघर्ष एक मुद्दे पर केन्द्रित नहीं रहता है, यह अनेक क्षेत्रों में पाया जा सकता है। गुट संबंधी संघर्ष अक्सर हिंसात्मक शारीरिक संघर्षों का रूप ले लेते हैं। भारत के गांवों में प्रमुख तथा शक्तिशाली जातियों या परिवारों के बीच लड़ाइयाँ कई पीढ़ियों तक जारी रहती है। भारत के गाँवों में स्वशासी निकायों की स्थापना के साथ ही गुट संबंधी संघर्ष अब सामान्यतः इन्हीं संस्थाओं के जरिए चलाए जाते हैं। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि भारत के गाँवों में 'पंचायत राज' की स्थापना के साथ गुट संबंधी संघर्ष अब पहले के मुकाबले काफी कम हो गए हैं।

32.6 सामाजिक परिवर्तन की एक शर्त के रूप में संघर्ष

ऊपर किये गये विचार-विमर्श से यह स्पष्ट है कि संघर्ष सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण तत्व है और इसे सामाजिक परिवर्तन की एक शर्त के रूप में देखा जा सकता है। समाज में सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है और यह व्यवस्था परस्पर निर्भरता, सहयोग, संघर्ष गठबंधन और लोगों के बीच दरार की शक्तियों के बीच एक जटिल परस्परक्रिया का परिणाम होती है। संसाधनों पर नियंत्रण पाने के लिए कुछ लोगों और समूहों के पास अन्य लोगों और समूहों की अपेक्षा अधिक शक्ति होती है। शक्ति के स्रोत सबके लिए समान रूप से उपलब्ध नहीं होते। सामाजिक संघर्ष शक्ति के इसी असमान वितरण का

परिणाम होता है। अधिकतम शक्ति वाले लोग, कम शक्ति वाले लोगों को दबाकर अपनी इच्छा एवं हितों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। आधुनिक समाज में भी, लोगों के हित अक्सर परस्पर विरोधी होते हैं। इससे अक्सर सामाजिक संघर्ष पैदा होता है।

इस सबका मतलब यह नहीं है कि संघर्ष को सामाजक जीवन में केवल एक विभाजक कारण के रूप में ही देखा जा सकता है। सुम्मेल (1858-1918) से लेकर अब तक के समाजशास्त्रियों ने संघर्षों के क्रियात्मक पहलुओं को मान्यता दी है। उनका कहना है कि संघर्ष आपस में जोड़ने वाला हो सकता है तथा बाहरी खतरे का सामना करने वाले समूह में सहयोग और सौहार्द बढ़ सकता है। मसले साफ हो जाते हैं और विवाद सुलझ जाते हैं जिससे संघर्ष में शामिल हर व्यक्ति संतुष्ट हो सकता है तथा वे आपस में दोस्त बन सकते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की एक शर्त के रूप में संघर्ष को कई कोणों से देखा जा सकता है। संघर्ष से इकाइयाँ मज़बूत हो सकती हैं, नए किस्म का सामाजिक स्तरण हो सकता है या स्तरण की वर्तमान पद्धति को नये तरीके से मज़बूत किया जा सकता है। संघर्ष के परिणामस्वरूप नए आविष्कार हो सकते हैं। उदाहरण के लिए मजदूरों और उत्पादन के साधनों के मालिकों/ नियंत्रकों के बीच हुए संघर्ष से मजदूर संघों का सामाजिक आविष्कार हुआ। समाजों के बीच लड़ाई से युद्धकला की नई तकनीक विकसित हुई। लड़ाई की ही बदौलत शांति बनाए रखने वाली संस्था यानी संयुक्त राष्ट्र की स्थापना हुई।

सामाजिक संघर्ष, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक नियंत्रण से घनिष्ठ रूप से परस्पर जुड़ा होता है। संघर्ष के समर्थक विचारक जोर देते हैं कि सत्ता, अधिकार, धन, प्रतिष्ठा और समाज के अन्य दुर्लभ तथा वांछनीय संसाधनों पर नियंत्रण को लेकर जो संघर्ष और छोटे-मोटे झगड़े होते हैं, उनसे समाज को बेहतर ढंग से समझा और विश्लेषित किया जा सकता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ख) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलाइए।

1 उस समाजशास्त्री का नाम बताइए जिसने यह बताया कि संघर्ष के कुछ सकारात्मक परिणाम होते हैं।

.....

2 गुट-संबंधी संघर्ष से आप क्या समझते हैं? उत्तर लगभग तीन पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

3 राजनीतिक संघर्षों में शामिल तीन प्रमुख समूह कौन-से हैं? लगभग तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

32.7 सारांश

इस इकाई में हमने जिन महत्वपूर्ण मुद्दों की चर्चा की है आइए, सारांश में उसे देखें। हमने सामाजिक संघर्ष की परिभाषा बताई—सबसे आसान स्तर पर इसका मतलब दो सामाजिक वर्गों में विरोध है। हमने कुछ महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय योगदानों से संघर्ष की प्रकृति की रूपरेखा की जानकारी दी। फिर हमने विस्तार में जाँच-पड़ताल की कि सामाजिक संघर्ष के बारे में मार्क्स का क्या कहना था। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में संघर्ष पर जोर दिया। हमने संघर्ष के बारे में वेबर के विचारों की भी आपको जानकारी दी। हमने संघर्ष के क्रियात्मक और दुष्क्रियात्मक पहलुओं के बारे में बताया। संघर्ष की किस्मों के बारे में हमने वर्ग संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष, सांप्रदायिक/जातीय संघर्ष और गुट संबंध संघर्ष की चर्चा की। अंत में, हमने सामाजिक परिवर्तन की एक शर्त के रूप में संघर्ष की प्रक्रिया के बारे में विचार-विमर्श किया।

शब्दावली

सामाजिक संघर्ष : विरोधी हितों पर आधारित सामाजिक संबंध।

सामाजिक स्तरण : श्रेणीबद्ध संबंधों की एक व्यवस्था। इसका संबंध विभिन्न समूह के लोगों द्वारा भौतिक वस्तुओं, धन, शक्ति आदि को असमान रूप से अपने कब्जे में रखने के फलस्वरूप समाज में व्याप्त असमानता से है।

जातीय : इसका संबंध नस्ल या संस्कृति की दृष्टि से अलग वर्ग के लोगों से है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bottomore., 1987. *'Sociology' A Guide to Problems and Literature.* Allen and Unwin : London.

Coser, Lewis., 1956. *The Function of Social Conflict.* Free Press : New York.

Dahrendorf, Ralph., 1959. *Class and Class Conflict in Industrial Society.* Stanford University Press : Stanford.

Eshleman J.R. 1983. *Sociology : An Introduction.* Little Brown and Co. : Boston and Toronto.

Johnson, H. 1986. *Sociology : Systematic Introduction.* Allied Publishers : Bombay (11th reprint).

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 नहीं

2 हाँ

3 पूँजीपति और सर्वहारा

4 (3) दो समूह के सदस्यों के बीच समरुचि

बोध प्रश्न 2

1 कोसर

2 ये वे संघर्ष हैं जो गुट के भीतर या छोटे समूहों में होते हैं। इन संघर्षों का आधार सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक हो सकता है।

3 तीन प्रमुख समूह हैं—राजनीतिक दल, हितों के समूह और दबाव डालने वाले समूह।

इकाई 33 सामाजिक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

33.0 उद्देश्य

33.1 प्रस्तावना

33.2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ तथा उसकी प्रकृति

33.2.1 सामाजिक परिवर्तन के तीन पहलू

33.2.2 कुछ सह धारणाएँ

33.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

33.3.1 विकासवादी सिद्धांत

33.3.2 चक्रीय सिद्धांत

33.3.3 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत

33.3.4 द्वंद्व का सिद्धांत

33.4 सामाजिक परिवर्तन के घटक

33.4.1 सामाजिक परिवर्तन के तीन मुख्य स्रोत

33.4.2 परिवर्तन की उत्पत्ति के आंतरिक एवं बाहरी कारण

33.4.3 सामाजिक परिवर्तन के प्रति मान्यता तथा प्रतिरोध

33.4.4 परिवर्तन की दिशा एवं गति को प्रभावित करने वाले कुछ तथ्य

33.5 सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण की उपयोगिता

33.6 सारांश

शब्दावली

कुछ उपयोगी पुस्तकें

बोध प्रश्नों के उत्तर

33.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति की व्याख्या और विश्लेषण कर सकेंगे,
- सामाजिक परिवर्तन के महत्वपूर्ण सैद्धांतिक दृष्टिकोणों को रेखांकित कर सकेंगे,
- और उन घटकों के बारे में बता सकेंगे जो सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

33.1 प्रस्तावना

परिवर्तन जटिल, संश्लिष्ट तथा सतत् चलती रहने वाली प्रक्रिया है। समाजशास्त्र मुख्य रूप से समाज में आने वाले परिवर्तन का अध्ययन है। अपने उदय काल से ही समाजशास्त्र 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों के विभिन्न समाजों में आये परिवर्तन से संबंधित रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्र के अनेक सिद्धांतों में परिवर्तन, क्रमिक विकास, प्रगति तथा विकास जैसे शब्दों का उपयोग या तो एक दूसरे के स्थान पर या सभी का उपयोग एक ही अर्थ में किया गया। कुछ अन्य मामलों में इन सभी शब्दों का उपयोग अलग-अलग अर्थों में किया गया, पर मुख्य रूप से उन्हें सैद्धांतिक रूप से परस्पर संबद्ध शब्द माना गया। बाद में इसकी आलोचना की गयी और इस आलोचना का मुख्य आधार था इन शब्दों के सामाजिक संदर्भ में प्रयोग करने की उपयुक्तता। गर्थ व मिल्स (1954) ने परिवर्तन का निर्धारण करने के लिए छह मुख्य प्रश्न प्रस्तावित किये। बॉटोमोर (1987 : 278) के अनुसार ये प्रश्न इस प्रकार हैं :

1) क्या परिवर्तन होता है?

2) यह कैसे परिवर्तित होता है?

3) परिवर्तन की दिशा क्या है?

4) परिवर्तन की गति क्या है?

5) परिवर्तन क्यों हुआ या यह कैसे संभव हुआ?

6) सामाजिक परिवर्तन की मुख्य वजहें क्या हैं?

इन्हीं प्रश्नों के आधार पर इस अध्याय में विचार किया जायेगा कि :

क) सामाजिक परिवर्तन का अर्थ तथा उसकी प्रकृति क्या है और क्रमिक विकास तथा विकास जैसे शब्द कैसे सामाजिक परिवर्तन से अलग हैं।

ख) सामाजिक परिवर्तन से संबंधित कुछ सिद्धांत तथा सामाजिक परिवर्तन के लिए जिम्मेदार कुछ प्रमुख वजहें और

ग) समाजशास्त्र के अध्ययन में सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत का कैसे उपयोग किया जाता है।

33.2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ तथा उसकी प्रकृति

परिवर्तन शब्द का उपयोग बहुत व्यापक अर्थों में किया जाता है। यद्यपि हमारे आस-पास हमेशा परिवर्तन होता ही रहता है,पर उसे हम सामाजिक परिवर्तन नहीं कहते। इस प्रकार हर साल होने वाला भौतिक या परिवर्तन ऋतुओं में आने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। समाजशास्त्र में हम सिर्फ सामाजिक ढांचे तथा सामाजिक संबंधों में आये बदलाव को ही परिवर्तन मानते हैं।

'इंटरनेशनल एनसाईक्लोपीडिया ऑफ सोशल साईसेज़' के अनुसार सामाजिक ढांचे या लोगों के पारस्परिक व्यवहार में आये महत्वपूर्ण बदलाव ही सामाजिक परिवर्तन है। बदलाव किसी समाज के मानदंडों, जीवन मूल्यों, सांस्कृतिक उपादानों और प्रतीकों में भी आ सकता है। परिवर्तन की एक अन्य व्याख्या के अनुसार परिवर्तन के लिए अन्य क्षेत्रों से कहीं ज्यादा आवश्यक समाज व्यवस्था में बदलाव आना है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में समय के साथ संस्थाओं, परस्पर व्यवहार, काम काज, आराम के क्षण बिताने के तौर तरीकों, विभिन्न लोगों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिकाओं तथा सामाजिक मानदंडों में बदलाव आ सकता है।

33.2.1 सामाजिक परिवर्तन के तीन पहलू

इन परिभाषाओं तथा अन्य परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि :

क) सामाजिक परिवर्तन वास्तव में बदलाव की अनिवार्य प्रक्रिया है, परिवर्तन जिस दिशा में हो रहा है इसका इससे कोई संबंध नहीं है।

ख) विभिन्न समाजों में होने वाले परिवर्तन संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों से संबंधित है तथा इसी की एक कड़ी है। कई बार सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के बारे में जानना भी उपयोगी होगा किन्तु कुछ समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन तथा सांस्कृतिक परिवर्तन में भेद करते है। सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक ढाँचे में आए परिवर्तन के रूप में (इसमें समाज की जनसंख्या में आया परिवर्तन भी शामिल है) या विशेष रूप से सामाजिक संस्थाओं के आपसी संबंधों में आए हुए परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया गया है। वे मानते हैं कि सामाजिक परिवर्तन मुख्यतः मानव व्यवहार से संबंधित है जब कि सांस्कृतिक परिवर्तन में ज्ञान, विचारों, कलाओं, धार्मिक मान्यताओं, मानदंडों, विश्वासों तथा प्रतीक पद्धति आदि में परिवर्तन होता है। यह भेद काल्पनिक है क्योंकि यह निर्णय करना कठिन ही नहीं बल्कि लगभग असंभव है कि किस तरह का परिवर्तन हो रहा है। उदाहरण के लिए संस्कृति के एक अंग के रूप में आधुनिक प्रौद्योगिकी का विकास आर्थिक ढाँचे में आए परिवर्तनों से बहुत करीब से जुड़ा है।

ग) सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में तथा गति में भिन्नता हो सकती है। हम छोटे स्तर पर परिवर्तन तथा बड़े पैमाने पर हुए परिवर्तन की बात कर सकते हैं। परिवर्तन चक्रीय (एक स्थिति से शुरू होकर फिर उसी स्थिति में आना) हो सकता है जैसे प्रशासनिक संगठनों में बार-बार केंद्रीकरण तथा विकेंद्रीकरण होना। या यह परिवर्तन क्रांतिकारी भी हो सकता है। क्रांतिकारी परिवर्तन का उदाहरण होगा किसी एक में सत्ता का तख्ता पलट दिया जाना। परिवर्तन में अल्प अवधि के परिवर्तन (प्रवासियों की संख्या में कमी या बढ़ोत्तरी) तथा आर्थिक ढांचे में लंबे समय के लिए आया परिवर्तन भी शामिल किया जा सकता है। सामाजिक संस्थाओं के विकास या ह्रास या उनके आकार में, सदस्य संख्या में आए परिवर्तन को भी सामाजिक परिवर्तन में शामिल किया जा सकता है। इसी तरह विशेष विशेषीकरण तथा प्रशासनिक परंपराओं की प्रक्रिया को जारी रखना अथवा प्रौद्योगिक या सामाजिक क्षेत्र में हुई खोज की वजह से परंपराओं से हटने को भी परिवर्तन कहा जा सकता है। ('इंटरनेशनल एंसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साईसेज' भाग 13 : पृष्ठ 366)। परिवर्तन के क्षेत्र भी भिन्न होते हैं और इसी वजह से यह समाज को अनेक स्तरों पर प्रभावित कर सकता है तथा संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बदल सकता है। उदाहरण के लिए औद्योगीकरण, जिस ने समाज को कई स्तरों पर प्रभावित किया था, इसकी तुलना में लकड़ियों को रगड़ कर आग जलाने की जगह माचिस का प्रयोग, जिसने समाज को सीमित आयमों में प्रभावित किया। कुछ परिवर्तन बहुत तेजी से होते हैं और कुछ परिवर्तन काफी देरी से। बहुत से पश्चिमी राष्ट्रों ने औद्योगीकरण के लिए बहुत समय लिया, किंतु विकासशील देश औद्योगिकीकरण के लिए औद्योगीकृत देशों का अनुकरण करते हुए या उनसे तकनीकी योग्यता उधार लेकर बहुत तेजी से आगे बढ़ रहे हैं।

आज अधिकतर समाजशास्त्री मानते हैं कि परिवर्तन प्रत्येक समाज का सहज, अनिवार्य तथा शाश्वत अंग है। जब हम परिवर्तन की बात करते हैं तो हम किसी व्यक्ति के अनुभवों में आये परिवर्तन को नहीं बल्कि सामाजिक ढांचे, सामाजिक संस्थाओं तथा समाज के सदस्यों के आपसी संबंधों में आये बदलाव की बात करते है।

33.2.2 कुछ सह-धारणाएँ

सामाजिक परिवर्तन को सहज धारणा माना जाता है। इस धारणा के साथ जिन दो अन्य शब्दों का अक्सर इस्तेमाल किया जाता है वे हैं विकास (evolution) तथा प्रगति (growth)।

(1) विकास से निरंतरता (continuity) तथा परिवर्तन की दिशा का बोध होता है। यह वृद्धि (growth) से अलग है। परिवर्तन की दिशा को वृद्धि कहते हैं और यह आकार तथा गुणवत्ता पर आधारित होती है। विकास का अर्थ इससे कहीं गूढ़ है विकास न सिर्फ आकार में बल्कि ढांचे में आये परिवर्तन को भी कहते हैं।

(2) प्रगति—इस का अर्थ है एक निर्धारित लक्ष्य की ओर प्राप्ति के लिए होने वाला परिवर्तन। इसका आधार मूल्यांकन है।

सभी परिवर्तनों को न तो विकास कहा जा सकता है और न ही प्रगति। परिवर्तन किस दिशा में हो रहा ह यह मूल्यांकन पर आधारित नहीं होना चाहिए। (परिवारों के छोटे होते जा रहे आकार तथा आर्थिक इकाइयों के आकारों का बढ़ते जाना इतिहास के अध्ययन का विषय है। सामाजिक परिवर्तन मूल्य निरपेक्ष शब्द है क्योंकि समाजशास्त्री किसी परिवर्तन का अध्ययन इस रूप में नहीं करते कि वह अच्छा है या बुरा, वांछनीय है या अवांछनीय। हाँ यह मानना पड़ेगा कि किसी समाज में हो रहे परिवर्तनों का मूल्यांकनविहीन विश्लेषण करना वास्तव में मुश्किल काम है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) प्रश्नों का उत्तर देने के लिए नीचे दिये गये खाली स्थान का उपयोग कीजिए।
ख) अपने उत्तरों की तुलना इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से कीजिए।

1) दो पंक्तियों में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

2) सामाजिक परिवर्तन की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं। उत्तर चार पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित शब्दों में अंतर बताइये।
परिवर्तन, क्रमिक विकास तथा विकास। छह पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

33.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

समाजशास्त्र में परिवर्तन के प्रमुख सिद्धांतों को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए रेखीय (linear) तथा चक्रीय (cyclical) परिवर्तन में भेद किया जा सकता है। जिन लोगों ने पहले प्रकार के परिवर्तन की चर्चा की है उन में प्रमुख है कौम्टे (Comte), स्पेंसर (Spencer), हॉबहाऊस (Hobhouse), तथा मार्क्स और दूसरे प्रकार के परिवर्तन करने वालों में प्रमुख हैं स्पेंगलर, परेटो, टॉयन्बी तथा सोरोकिन। इस इकाई में हम परिवर्तन की जिन परिकल्पनाओं पर संक्षिप्त रूप से चर्चा करेंगे वे निम्नलिखित हैं :

1) विकासवादी सिद्धांत (The evolutionary perspective)

2) चक्रीय सिद्धांत (The cyclical perspective)

3) संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत (The structural function)

द्वंद्व का सिद्धांत (The conflict perspective)

3.3.1 विकासवादी सिद्धांत

समाज का विकासवादी सिद्धांत जीव विज्ञान के विकासवादी सिद्धांत से लिया गया है। उदाहरण के लिए स्पेंसर ने सामाजिक तथा जैव विज्ञान के बीच की तुलना समाज तथा प्राणी से की। स्टेबिनस (1987) ने विकासवादी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए कहा कि इस सिद्धांत में निम्नलिखित कारणों में से एक या अधिक को आधार माना जाता है। और ये कारण हैं परिवर्तन, तारतम्य (order) दिशा तथा महत्ता (pertestability)।

1) परिवर्तन के सिद्धांत के अनुसार वर्तमान व्यवस्था अपने आरंभिक रूप में लगातार हो रहे सुधार का परिणाम है।

2) कुछ विकासवादियों ने परिवर्तन के सिद्धांतों में यह बात जोड़ी कि परिवर्तन में एक क्रमबद्धता अवश्य होनी चाहिए।

3) कुछ अन्य विकासवादियों ने परिवर्तन तथा क्रमबद्धता के सिद्धांतों में दिशा का सिद्धांत भी जोड़ा और कहा कि एक सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का एक प्राकृतिक या स्वाभाविक रेखीय क्रम होता है। परिवर्तन की विकासवादी प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक समाज आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। उदाहरण के लिए काम्टे ने समाज का दिशामूलक सिद्धांत दिया। उसका कहना था कि एक समाज अपने विकासक्रम में धार्मिक स्थिति से अतिभौतिक स्थिति में तथा अतिभौतिक स्थिति से विधेयात्मक स्थिति में विकसित होता है। दुर्खाइम ने समाजों का वर्गीकरण सरल एवं जटिल समाजों में किया। सरल समाज जिसमें कभी-कभी सदस्यों की समानता के आधार पर एकता होती है (जिसे उसने मशीनी समानता कहा) उसने जटिल समाज के बारे में भी लिखा। उसने जटिल समाज को "आर्गेनिक सोसाइटी" की संज्ञा दी। उसका कहना था यह उन लोगों का समूह है जो विशेषज्ञता या काम काज के मामले में एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। इस सिद्धांत से भी दिशापरक पद्धति (directional evolutionary pattern) का बोध होता है।

कहा जाता है कि विकासवादी सिद्धांत में अक्सर प्रगति तथा परिवर्तन की सामान्य दिशा में भेद करना मुश्किल हो जाता है। इस सिद्धांत की सामान्य मान्यता है कि सभी समाज पश्चिमी देशों की राह पर चलकर कुछ समय में औद्योगिक देश हो कर ही प्रगति करते हैं। इस सिद्धांत का सर्वाधिक मुखर रूप पूर्ण दक्षता (perfectibility) के सिद्धांत के रूप में उजागर हुआ। समाज उच्च औद्योगिक स्तर प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं। कुछ ही वर्ष पहले प्रतिपादित विकासवादी सिद्धांत (लेस्की एंड लेंस्क : 2) 19वीं तथा 20वीं शताब्दी के आरंभिक विकासवादी सिद्धांतों की तुलना में कहीं अधिक तात्कालिक है। ये नवविकासवादी सिद्धांतकार यह नहीं मानते कि परिवर्तन का मार्ग एक ही तरह का होता है। वे यह मानते हैं कि श्रम के बँटवारे के मामले में एक समान रवैया विद्यमान है। वे मानते हैं कि विभिन्न समाजों में प्रगति की धारणाएँ भिन्न होती हैं (कौनकिन जे.ई. 1984, 477-479)। तथा ये धारणाएँ सापेक्ष होती हैं। पुराने सिद्धांत की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि अक्सर उन्हें प्रयोग द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता था और कई बार ये सिद्धांत जाति पर आधारित होते थे।

33.3.2 चक्रीय सिद्धांत

परिवर्तन के चक्रीय सिद्धात का मूल आधार यह है कि सामाजिक परिवर्तन जहाँ से प्रारंभ होता है अंत में फिर वहीं पहुँच कर समाप्त होता है। इस बीच की स्थिति को चक्रीय स्थिति कहते हैं। यह स्थिति चक्र की तरह पूरी होने के बाद बार-बार इस प्रक्रिया को दोहराती है। ग्रीक, चीन तथा भारत की सभ्यताएँ ऐसा उदाहरण हैं जिनकी व्याख्या चक्रीय सिद्धांत के आधार पर की जा सकती है।

कुछ चक्रीय सिद्धांत निराशावादी दृष्टिकोण लिए हुए हैं जिनके अनुसार ह्रास अर्थात् धीरे-धीरे नष्ट होने की प्रक्रिया को टाला नहीं जा सकता। ओसवाल्ड स्पेनगलर (1918) का कथन था कि हर समाज जन्म विकास, ह्रास से होता हुआ अंत में पूरी तरह नष्ट हो जाता है। रोमन साम्राज्य शक्तिशाली होता चला गया लेकिन क्रमशः धराशायी भी हो गया। इसी तरह ब्रिटिश साम्राज्य धीरे-धीरे मजबूत हुआ लेकिन धीरे-धीरे कमजोर भी होता गया। स्पेनगलर विश्वास करते हैं कि कोई भी समाज, चाहे विकास की ओर बढ़े या ह्रास की ओर, हमेशा बना नहीं रहता। पारेतो (1916) ने अपने सिद्धांत 'संस्कृति का परावर्तन' में कहा कि इतिहास अपने को दुहराता है। इस सिद्धांत के अनुसार सामाजिक परिवर्तन विभिन्न समूहों में राजनैतिक शक्ति हासिल करने के लिए हुए संघर्ष के कारण होता है। किंतु उनका सिद्धांत बहुत महत्वपूर्ण नहीं माना गया क्योंकि जो उदाहरण उन्होंने लिए वे प्राचीन रोम में हुए 'संम्भ्रांत संस्कृति के परिवर्तन' की सीमित घटनाओं पर आधारित थे। उन्होंने राजनैतिक परिवर्तन के अपने सिद्धांत में वर्तमान समाज में लोकतांत्रिक सरकार के विकास को स्थान ही नहीं दिया।

हाल ही में सोरोकन (1957) और टोयन्बी (1934-56) के सिद्धांतों में चक्रीय सिद्धांत के लक्षणों की चर्चा की गई है। सोरोकन का सिद्धांत 'मुख्य सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन' पर आधारित है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई भी सामाजिक सांस्कृतिक पद्धति (उदाहरण के लिए समाज या सभ्यता) अपनी सामर्थ्य और गुणों के कारण बदलती है। यह सिद्धांत परिवर्तन के अन्य सिद्धांत 'सीमित संभावना सिद्धांत' से जुड़ा है। किसी भी पद्धति में परिवर्तनों की संख्या सीमित होती है। उदाहरण के लिए किसी भी समाज में होने वाले परिवर्तनों के आकार-प्रकार तथा व्यवहार के नए स्वरूप। किसी भी पद्धति में संयोजन एक सीमा तक ही हो सकता है। उसके बाद यदि वह नष्ट न हो तो फिर से परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। इस तरह से सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया के इतिहास की पुनरावृत्ति अथवा संगति होती है। अपने विश्लेषण में सोरोकन ने संस्कृति को तीन मुख्य प्रकारों में बाँटा है—वैचारिक, आदर्शवादी, भौतिक। किसी भी समाज के इतिहास में एक चक्र में

ये परिवर्तन होते रहते हैं और लगातार होते रहते हैं। वैचारिक संस्कृति आध्यात्मिक, रहस्यवादी तथा अनिश्चित होती है। भौतिक संस्कृति विज्ञान के क्षेत्र में आती है और इसका आधार प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभव है। आदर्शवादी संस्कृति वैचारिक और भौतिक संस्कृतियों के गुणों के लिए हेय होती है। संस्कृति के ये तीनों भेद वास्तविकता के तीन दृष्टिकोण माने जाते हैं। इन संस्कृतियों के परिवर्तन के आधार सोरोकन द्वारा दिए वे दो सिद्धांत हैं जिनका उल्लेख पहले किया गया है।

सोरोकन का विश्लेषण मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। पर इसका कारण यह नहीं है कि उन्होंने किसी खास सामाजिक परिवर्तन के बहुत सारे ऐतिहासिक उदाहरणों तथा टिप्पणियों को लिया है बल्कि इसलिए है कि उन्होंने किसी भी समाज का विकास या ह्रास देखने की बजाए सिर्फ उसमें आए परिवर्तन को देखा है। (स्टेबिन्स : 1987 : 490-491, ऐश्लेमैन और कैशिन : 1983 : 532)।

33.3.3 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत

पिछली इकाइयों में यह बताया गया था कि संरचनात्मक प्रकार्यवाद की जड़ें प्रारंभिक समाजशास्त्रियों के अध्ययन में रही हैं विशेष रूप स दुर्खाइम और वेबर के अध्ययन में। समकालीन समाजशास्त्रियों में से टी. पारसन तथा मर्टन का अध्ययन इसका उदाहरण हैं।

संरचनात्मक प्रकार्यवादी यह मानते हैं कि मानव शरीर की तरह समाज भी सामाजिक संस्थाओं की अनुशासित पद्धति है। हर संस्था का कार्य समाज को बनाए रखना है। जब भी कोई घटना, चाहे वह समाज के अंदर घटे या बाहर उसके अनुशासन को भंग करती है, ये संगठन सामाजिक स्थिरता को बनाए रखने के लिए फेरबदल या परिवर्तन करते हैं। इन विद्वानों का कहना है कि ये परिवर्तन आकस्मिक या तीव्र गति की बजाए धीरे-धीरे होते हैं ; वे परिवर्तन जो बहुत तेजी से आते हैं उनका सामाजिक सांस्कृतिक पद्धति पर पड़ने वाला असर टिकाऊ नहीं होता है। इन विद्वानों के अनुसार परिवर्तन के मूल स्रोत हैं :

1) बाहरी प्रभाव से उत्पन्न परिवर्तन के कारण समंजन या तारतम्य (युद्ध या अतिक्रमण)

2) संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक परिवर्तन के कारण विकास (उदाहरणतः जन्म अथवा मृत्यु दर के आधार पर जनसंख्या में परिवर्तन)

3) सामाजिक समूह के सदस्यों द्वारा नवीकरण (innovation) (उदाहरण के लिए खोज/आविष्कार)

इन विद्वानों के अनुसार सामाजिक एकरूपता तथा स्थिरता को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण तत्व सामाजिक मूल्यों के प्रति आम सहमति है (स्टेबिन्स : 1987 : 488)।

(Cultural lag) 'सांस्कृतिक पश्चता' शब्द का प्रयोग अक्सर भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति के बीच साम्यता की स्थिति दिखाने के लिए किया जाता है। इस शब्द को गढ़ने वाले भी आर्बन (1886-1959) का कहना है कि 'सांस्कृतिक पश्चता' तब उत्पन्न होती है जब संस्कृति के ऐसे दो हिस्से परिवर्तनन की अलग-अलग गति के कारण एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं, जो पहले एक-दूसरे के अनुरूप थे। उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि अभौतिक संस्कृति (मान्यता, विश्वास, विचारधारा पारिवारिक संबंध, धर्म) अक्सर भौतिक संस्कृति (प्रौद्योगिकी, उत्पादन के साधन, आर्थिक पद्धति) से पिछड़ जाती है। उदाहरण के लिए परिवार नियोजन तकनीक काफी आगे बढ़ गई है, लेकिन उसे स्वीकार करने में लोग काफी समय ले रहे हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो परिवार नियोजन को सिरे से नकार देते हैं और बड़े परिवार में विश्वास रखते हैं। परिणामतः जनसंख्या वृद्धि या प्राकृतिक संसाधनों में कमी के कारण समाज में तनाव पैदा हो जाता है। तनाव की इस स्थिति को समझने और उसके अनुरूप अपने को ढालने तथा परिवर्तित विचारधारा को अपनाने में लोगों को समय लगता है। किंतु समाज को सुचारु ढंग से चलाने के लिए वे अपने आप को परिवर्तन के अनुरूप ढालते ही हैं।

इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए आलोचकों का कहना है कि संरचनात्मक क्रियान्वयनवादी परिप्रेक्ष्य के आधार पर हम परिवर्तन की व्याख्या एक निश्चित सीमा तक ही कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि यह सिद्धांत आकस्मिक या क्रांतिकारी परिवर्तनों को स्थान ही नहीं देता। यह सिद्धांत समाज में लम्बे समय तक सतही एकता की संभावना (उदाहरण के लिए मंदी के दौरान) को भी नहीं स्वीकारता। (एश्लेमैन और कैसिन : 1983 : 533)

33.3.4 द्वंद्व का सिद्धांत

द्वंद्व के सिद्धांत का यह मानना है कि सामाजिक जीवन का केन्द्र या आधार विरोधी तत्वों का द्वंद्व है। द्वंद्वात्मक सिद्धांत की उत्पत्ति के आधार प्रारंभिक समाजशास्त्र में भी मिलते हैं, विशेष रूप से मार्क्स के लेखन में। द्वंद्व सिद्धांतवादी यह नहीं मानते कि समाज निर्विघ्न उच्च और जटिल स्तर तक पहुँच सकता है। उनके अनुसार समाज की हर क्रिया, विश्वास, और अन्तःक्रिया को विरोधी प्रतिक्रिया जकर होती है। वर्तमान/आधुनिक जीवन उत्तेजक या विस्फोटक तत्वों से भरा हुआ है। उदाहरणतः गर्भपात को कानूनी करार देने पर इसके विरोध में आंदोलन उठ खड़ा हुआ, नारी मुक्ति आंदोलन ने समाज के अन्य पुरुष एवं महिलाओं को उकसाया जो इसके विरोध में हैं, चीन संबंधों में स्वतंत्रता के आंदोलन की तो खुली भर्त्सना हुई। इस सिद्धांत की सबसे बड़ी कमी यही है कि संघर्ष अथवा द्वंद्व को ही यह सामाजिक परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण कारण मानता है तथा उस पर जरूरत से ज्यादा बल दिया जाता है (स्टेबिन्स आर : 1987 : 489)।

अभी हाल में हुए समाजशास्त्रीय लेखन में सामाजिक परिवर्तन का एक और सिद्धांत उभरा है विकास का सिद्धांत (development perspective)। इस के तीन मुख्य आधार हैं (1) आर्थिक प्रगति का अध्ययन। अर्थशास्त्री तथा काफी हद तक समाजशास्त्री भी यह मानते हैं कि आर्थिक जीवन की वृद्धि का परिणाम किसी भी देश की उन्नति का सूचक है। उदाहरण के लिए किसी भी देश की सम्पन्नता को सकल राष्ट्रीय उत्पादन या प्रति व्यक्ति आय के आधार पर मापा जा सकता है (2) समाज का प्रौद्योगिकी आधार पर विकसित अथवा अल्पविकसित माना जाना। कभी ऐसा होता है कि औद्योगीकरण पर बल दिये जाने के कारण औद्योगीकृत समाज उन समाजों से अधिक विकसित माने जाते हैं जो कृषि प्रधान हैं (3) पूँजीवादी देशों की समाजवादी अथवा साम्यवादी देशों से तुलना।

बहुत से समाजविज्ञानी समाजवादी अर्थव्यवस्था तथा संगठनों की तुलना पश्चिमी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था व संगठनों से करते हैं। (स्टेबिन्स : 1987 : 442)। इस संबंध में हम अभी विस्तार से कुछ नहीं बता रहे हैं क्योंकि अगली इकाई में हम इसी का अध्ययन करेंगे। इस समय याद रखने वाली बात यही है कि सामाजिक परिवर्तन के संबंध में 'विकासवादी सिद्धांत ने विस्तृत तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य के लिए लागू किये जाने की आवश्यकता पर पूरी तरह प्रकाश डाला। ताकि विकासशील देशों की आपस में तथा तकनीकी दृष्टि से विकसित देशों से जटिल तथा बहुमुखी संबंधों पर ध्यान दिया जा सके। विभिन्न सिद्धांतों के अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कोई एक सिद्धांत इतना समर्थ नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया की पूरी व्याख्या कर सके।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) प्रश्नों का उत्तर देने के लिए नीचे दिये गये खाली स्थान का उपयोग करें।

ख) अपने उत्तरों की तुलना इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से कीजिए।

1) दो पंक्तियों में उन चारों सिद्धांतों के नाम दीजिए जिन पर सामाजिक विकास के सिद्धांत आधारित है।

.....

.....

2) संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक सिद्धांत की दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन की छह पंक्तियों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) द्वंद्वात्मक सिद्धांत का मुख्य तर्क क्या है? चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

33.4 सामाजिक परिवर्तन के घटक

परिवर्तन क्यों होता है अथवा इसके आधार क्या हैं, तथा वे कौन-से तत्व हैं जो इसकी गति को प्रभावित करते हैं। इन सबसे जुड़ी समस्याएँ मूल रूप से सामाजिक परिवर्तन की आम समस्याओं से जुड़ी हैं। आमतौर पर उन तत्वों की चर्चा तो की जाती है जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं लेकिन परिवर्तन के पीछे कारण क्या है इस पर ध्यान नहीं दिया जाता है। क्यों? कारण से तात्पर्य यह है कि किसी भी पुर्वानुमानित प्रभाव के लिए किसी फिनोमिना या घटना का होना आवश्यक और पर्याप्त है। इसे "आवश्यक" इसीलिए माना गया है कि हम कारण के अभाव में अपेक्षित प्रभाव नहीं ग्रहण कर सकते। पर्याप्त से अभिप्राय यह है कि कारण ही एक ऐसा आधार है जिसके द्वारा प्रभाव पैदा करना संभव है। समाज विज्ञानों में "आवश्यकता" तथा "पर्याप्तता" को सिद्ध करना बहुत कठिन है। बेहतर यही है कि हम सामाजिक परिवर्तन के कारण की बजाय परिवर्तन के घटकों पर बातचीत करें। (हॉर्टन तथा हंट : 1981 देखिए)।

33.4.1 सामाजिक परिवर्तन के तीन मुख्य स्रोत

कतिपय समाजशास्त्रियों का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन मूलतः तीनों दिशाओं में से किसी एक या एक से अधिक दिशा में हो सकते हैं :

क) **खोज** (discovery) : अनुभव तथा समझ के आधार पर पाया गया मानवीय ज्ञान खोज है। उदाहरण के लिए शरीर क्रिया विज्ञान में रक्त संचार की खोज। यह खोज संसार के ज्ञान के भंडार में एक और योगदान है। लेकिन कोई भी खोज केवल इस आधार पर नहीं कि इसकी जानकारी है बल्कि व्यवहार में लाई जाने वाली ही सामाजिक परिवर्तन का अंग बनती है

ख) **आविष्कार** : पहले से उपलब्ध ज्ञान का नये तरीके से उपयोग या संयोजन आविष्कार कहलाता है। उदाहरण के लिए पहले से उपलब्ध विचारों के आधार पर नई स्वचालित गाड़ी का संयोजन करना। यद्यपि प्रयोग या विचार पहले से उपलब्ध था किंतु उसका संयोजन नया है। आविष्कार भौतिक (प्रौद्योगिक) भी हो सकते हैं तथा सामाजिक (वर्णमाला, मजदूर संघ) भी। हर आविष्कार रूप में (आकार तथा क्रिया) प्रकार्य में (जो यह करता है) या अर्थ में (दूरगामी परिणामों में) या सैद्धांतिक आधारों में (आधारभूत सिद्धांत तथा नियम) नया हो सकता है।

ग) **प्रसार** (diffusion) : एक समूह से दूसरे समूह तक सांस्कृतिक आदान-प्रदान, सांस्कृतिक तत्वों का फैलना प्रसार कहलाता है। यह समाज के भीतर और दो समाजों के बीच सक्रिय रहता है। जब भी कोई दो भिन्न सामाजिक समूह एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं तो एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। प्रसार दो तरफा प्रक्रिया है। जब अंग्रेज़ भारत आए तो उनकी भाषा हमने अपनाई और चाय हमारे खान-पान का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। प्रसार हर क्षेत्र में नहीं होता। सहूलियत के अनुरूप ही एक समाज के लोग दूसरे की आदतों या संस्कारों को अपनाते हैं। उदाहरणार्थ बहुत से हिंदुस्तानियों ने भले ही अंग्रेज़ी भाषा को अपना लिया हो लेकिन गोमांस खाने की उनकी आदत को नहीं अपनाएँगे। आमतौर पर जिन आदतों या संस्कारों को अपनाया जाता है उनके रूप, व्यवहार, अर्थ में सुविधा के अनुरूप परिवर्तन किया जाता है।

33.4.2 परिवर्तन की उत्पत्ति के आंतरिक एवं बाहरी कारण

परिवर्तन की शुरुआत कहाँ और कैसे होती है यह बता पाना बहुत कठिन है। कुछ समाजशास्त्री बाहरी और भीतरी कारणों में भेद करते हैं अर्थात् बाहरी वे हैं जिनका आधार समाज के बाहर होता है तथा आंतरिक वे होते हैं जिनका आधार समाज के भीतर मिलता है। किंतु व्यवहार में किसी भी परिवर्तन का कारण शायद ही कभी पूरी तरह बाहरी या भीतरी होता है। कहा जा सकता है दुनिया के विभिन्न भागों में युद्धों और अतिक्रमों के कारण अनेक समाजों में कई परिवर्तन आए हैं। यह भी कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में विकासशील देशों में गति से जो परिवर्तन आ रहे हैं उनकी वजह पश्चिमी देशों में हुआ तकनीकी विकास है। इनमें से अधिकतर देश पश्चिमी देशों के उपनिवेश (अधीन) रहे हैं। इसके बावजूद जिन समाजों को शुरू में बाहरी प्रोत्साहन मिला है उनमें सामाजिक परिवर्तन का आधार बड़े पैमाने पर उसी समाज के भीतरी समूहों की गतिविधियों पर आधारित रहा है। समाजशास्त्रीय विश्लेष का मुख्य भाग यह जानकारी प्राप्त करना है कि समाज के कौन से अंग तथा क्षेत्र मुख्य रूप से प्रभावित रहे हैं और एक क्षेत्र किस तरह दूसरे क्षेत्र से प्रभावित हो रहा है। (बौटोमोर, 1987-88)।

33.4.3 सामाजिक परिवर्तन के प्रति मान्यता तथा प्रतिरोध

इस विषय पर बात करते हुए हमें मुख्य रूप से सामाजिक परिवर्तन के मामले में मान्यता तथा प्रतिरोध पर विचार करना होगा। नए विचार तथा खोज मुश्किल से ही पूरी तरह से मान्यता प्राप्त करती है। सामाजिक परिवर्तन के संबंध में जो घटक महत्वपूर्ण हैं वे हैं समाज की मान्यताएँ, नवीकरण की उपयोगिताएँ, तत्कालीन समाज की सभ्यता से उनका तादात्मय, निहित स्वार्थ। ये कारण सामाजिक परिवर्तन में काफी महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

33.4.4 परिवर्तन की दिशा एवं गति को प्रभावित करने वाले कुछ तथ्य

सामाजिक परिवर्तन के दो मुख्य पक्ष हैं, दिशा एवं गति। यहाँ हम उन कारणों की व्याख्या करेंगे जो इन दोनों को प्रभावित करते हैं

1) **भौगोलिक स्थिति, जनसंख्या, पर्यावरण**

इन कारणों से अचानक परिवर्तन आ सकता है या सामाजिक परिवर्तन में रुकावट आ सकती है। जलवायु, प्राकृतिक संसाधन, देश की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक विपदाएँ भी परिवर्तन के मुख्य कारण हो सकते हैं। बाढ़ जैसी प्राकृतिक विपदा पूरे समाज को समाप्त कर सकती है, उन्हें किसी दूसरी जगह जाने के लिए, या नए सिरे से निर्माण करने के लिए विवश कर सकती है। इसी प्रकार जनसंख्या में जन्म, मृत्यु या स्थानांतरण (दूसरी जगह जाना) से आई वृद्धि या कमी की वजह से राजनैतिक या आर्थिक संगठनों के सामने गंभीर समस्या उत्पन्न हो सकती है। आजकल विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की गतिविधियों से भौगोलिक परिवर्तन तथा प्राकृतिक विपदाएँ उत्पन्न हो रही हैं। उपजाऊ मिट्टी के बह जाने, पानी तथा हवा के प्रदूषण से नए मानदंड और कानून बनाए जा सकते हैं कि संशोधन का उपयोग तथा अपशिष्टों का इस्तेमाल कैसे किया जाए।

2) प्रौद्योगिकी

सामाजिक परिवर्तन का एक बहुत महत्वपूर्ण कारण है प्रौद्योगिकी किसी भी समाज के परिवर्तन को किस प्रकार प्रभावित करती है : यह जानने के लिए ऑबर्न की "कल्चर लैग" पढ़िए। आधुनिक उद्योगों, यातायात के साधनों, चिकित्सा, शल्य चिकित्सा, संचार साधनों, अंतरिक्ष एवं कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी आदि से सभी समाजों के लोगों की विचारधाराएँ, मान्यताएँ एवं व्यवहार प्रभावित हुए हैं। एक सामान्य सा उदाहरण है मोटर गाडियाँ तथा यातायात के आधुनिक साधनों की वजह से एक-दूसरे से बहुत दूर रहने वाले लोग भी अब एक-दूसरे से मिलकर अपनी-अपनी सभ्यता का विस्तार कर रहे हैं। संचार तथा यातायात सुविधाओं में तकनीकी प्रगति के कारण विभिन्न समाजों में अवकाश के समय किये जाने वाले कार्यों का स्वरूप बदल गया है, सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में मदद मिली है तथा नए सामाजिक संबंधों की स्थापना को बल मिला है।

3) मूल्य तथा विश्वास

सामाजिक परिवर्तन में मूल्यों की भूमिका के बारे में एम. वेबर की पुस्तक "द प्रोटेस्टेन्ट एथिक एंड दि स्पिरिट ऑफ कैपेटिलिज्म" में विस्तार से बताया गया है। वेबर का कथन है कि कुछ ऐतिहासिक स्थितियों में सिद्धांत अथवा विचार स्वतंत्र रूप से सामाजिक परिवर्तन की दिशा को प्रभावित कर सकते हैं। उन्होंने यह बताने की कोशिश की कि आधुनिक पूँजीवाद की जड़ें मूलतः विरचित प्रधान प्रोटेस्टेंट मत के धार्मिक मूल्यों में निहित हैं।

विसंगत मूल्यों तथा विश्वासों में विरोध (या द्वंद्व) परिवर्तन का मुख्य कारण हो सकता है। उदाहरण के लिए ऊँची नस्ल या जाति संबंधी मान्यताएँ पद (status) तथा अवसर (opportunity) की बराबरी की मान्यताओं से टकरा सकती हैं। इसी को ध्यान में रखते हुए नए कानून बनाए गए कि नस्ल या जाति के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद न किया जाए। किसी भी समाज के सदस्यों के बीच संघर्ष सदा से परिवर्तन तथा नवीकरण का कारण या स्रोत रहा है और रहेगा। उदाहरण के लिए पश्चिमी यूरोप में राजनैतिक/लोकतंत्र की स्थापना मुख्य रूप से वर्ग संघर्ष का परिणाम कही जा सकती है।

तकनीकीकरण सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण उपादान विभिन्न समाजों में लोगों की अभिवृत्तियों और व्यवहार को प्रभावित करने वाला

1) महान व्यक्तित्व—सामाजिक परिवर्तन में व्यक्ति विशेष की भूमिका

पहले भी यह कहा गया है कि सामाजिक परिवर्तन में प्रतिभाशाली व्यक्तियों तथा नेताओं के योगदान का बहुत महत्व है। इस प्रकार के महा व्यक्तियों ने जब भी किसी स्थिति विशेष का सामना किया तो अपनी प्रतिभा के बल पर वे अधिक से अधिक लोगों की छिपी हुई आकांक्षाओं, आशंकाओं और भय को लगातार सामने लाते रहे। इस तरह के व्यक्तियों में एक चमत्कार, एक करिश्मा भी होता था (आगे चलकर बाद की इकाइयों में हम मैक्स वेबर की नेतृत्व के प्रकारों के विश्लेषण के बारे में पढ़ते हुए इस तरह के नेतृत्व के बारे में और पढ़ेंगे)। इन नेताओं ने अपने व्यक्तिगत गुणों के आधार पर ही ऊँचा स्थान पाया तथा अपने समय में हुई घटनाओं पर अपनी मान्यताओं की छाप छोड़ी। (बौटोमोर, 1987, 283)।

अन्य और भी कई घटक हैं किंतु उनके बारे में हम तब बात करेंगे जब परिवर्तन के संबंध में क्यों, कब, कैसे तथा किस अनुपात में आदि प्रश्नों की विवेचना करेंगे। अब तक हम पढ़ चुके हैं कि भौगोलिक, जनसंख्या संबंधी, पर्यावरण संबंधी, औद्योगिक, महान व्यक्तित्व आदि कारण औद्योगीकरण, नगरीकरण, आधुनिकीकरण आदि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं तथा परिवर्तन की अन्य सुनियोजित तथा अनियोजित प्रक्रियाओं से जुड़े हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं का अध्ययन हम आने वाली इकाइयों में करेंगे।

33.5 सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण की उपयोगिता

सामाजिक परिवर्तन के उदय, दिशा, स्वरूप तथा परिणाम की व्याख्या किसी एक सिद्धांत या तथ्य के आधार पर नहीं की जा सकती। परिवर्तन वस्तुतः इतनी जटिल प्रक्रिया है कि इसके कारणों, सीमाओं, परिणामों आदि को निश्चित स्वरूप नहीं दिया जा सकता। पिछले कुछ वर्षों में समाजशास्त्रियों ने अपने अनुसंधान के आधार पर परिवर्तन की निश्चित प्रक्रिया एवं समाज पर उसके प्रभाव की व्याख्या की है।

यद्यपि समाजशास्त्रियों का कथन है कि परिवर्तन का अध्ययन पूर्णता वस्तुपरक है किंतु अभी भी आधुनिक सामाजिक विचारधारा से प्रगति के विचार को अलग नहीं किया जा सकता है। बौटोमोर (1987) के अनुसार इस विचार की पुष्टि एक ओर औद्योगिक देशों के आर्थिक विकास के लिये किए जा रहे प्रयत्नों को देख कर होती है तो दूसरी ओर तीसरी दुनिया के देशों में देखकर भी। अब तो वे यह महसूस करते है कि इससे अपरिमित तथा अनियंत्रित आर्थिक प्रगति के क्रांतिकारी विकास को बल मिला है। पर्यावरण पर प्रौद्योगिकी प्रगति के प्रभाव ने (कई औद्योगिक तथा उद्योग की ओर बढ़ते हुए देशों में) पर्यावरण संबंधी कई सशक्त आंदोलनों को गति दी है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा निरंतर बढ़ते उपभोक्ताओं में तेजी से वृद्धि को ध्यान में रख कर एक 'अच्छे समाज' के रूप और प्रकृति के बारे में अक्सर विवाद होते रहते हैं। बौटोमोर (1987-29)।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : क) प्रश्नों का उत्तर देने के लिए नीचे दिये गये खाली स्थान का उपयोग कीजिए।
ख) अपने उत्तरों की तुलना इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से कीजिए।

1 परिवर्तन की तीन मुख्य दिशाएँ बताइये।

.....

.....

.....

2. परिवर्तन की उत्पत्ति के दो मुख्य स्रोतों के बारे में एक पंक्ति में बताइए।

.....

3 सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में उन पाँच मुख्य तत्वों के बारे में बताइये जो परिवर्तन की मान्यता व उसके प्रतिरोध को प्रभावित करते हैं। आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4 उन चार तत्वों के बारे में बताइए जो परिवर्तन की गति तथा दिशा को प्रभावित करते हैं। पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

33.6 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया के भिन्न-भिन्न तत्वों का अध्ययन किया। हमने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा तथा इसकी प्रकृति के बारे में चर्चा की। हमने इस पर भी चर्चा की कि परिवर्तन का क्षेत्र कितना फैला हुआ है। उसके बाद हमने बताया कि सामाजिक परिवर्तन विकास तथा उन्नति से कैसे भिन्न है। इस अध्ययन के दौरान हमने परिवर्तन से जुड़े सैद्धांतिक पक्ष के अंतर्गत विकासवादी, चक्रीय, प्रकार्यात्मक तथा द्वंद्वात्मक सिद्धांतों पर बातचीत की। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कोई एक सिद्धांत इतना सक्षम नहीं है कि परिवर्तन की पूरी तरह व्याख्या कर सके। अलग-अलग समय पर अलग-अलग सिद्धांत, भौगोलिकता, प्रौद्योगिक मान्यताएँ, महान व्यक्तित्व आदि संयुक्त रूप से परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। खोज, आविष्कार तथा प्रसार ये तीन मुख्य दिशाएँ हैं जिन की ओर परिवर्तन होता है, तथा परिवर्तन समाज के आंतरिक, बाह्य प्रभाव पर आधारित होता है। परिवर्तन की मान्यता तथा प्रतिरोध कुछ तत्वों के व्यवहार या क्रिया रूप पर आधारित है।

शब्दावली

सामाजिक परिवर्तन : वे बदलाव जो किसी भी समाज की रूपरेखा और सामाजिक पद्धति की कार्यप्रणाली में आते हैं।

विकास : परिवर्तन की पद्धति विशेष (मूल रूप से अंतर्मुखी) जो परिवर्तन की निरंतरता और दिशा के बारे में उनकी परिभाषा और रूपरेखा को ध्यान में रखते हुए बताती है।

प्रगति : निश्चित लक्ष्य की दिशा में होने वाले परिवर्तन/बदलाव।

सांस्कृतिक पश्चता : वह अवधि जिसमें भौतिक संस्कृति में अभौतिक संस्कृति के मुकाबले में तेजी से परिवर्तन आए।

प्रसार : वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से एक संस्कृति की विशेषताएँ दूसरी संस्कृति तक जा पहुँचे।

नवीकरण : खोज तथा आविष्कार का संयुक्त रूप।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bottomore, T 1987. *Sociology. A Guide to Problems and Literature* (III Edition) Allen and Unwin, London

Broom, L and Selznick, P 1968. *Sociology. (IV Edition)* Harper and Row New York.

Conklin, J.E. 1984. *Sociology. An Introduction.* Macmillan New York.

Davis, K 1981. *Human Society.* Subject Publications : New Delhi.

Horton, P.B. and Hunt, C.L. 1981. *Sociology.* McGraw Hill London

Ogburn W.F. and Nimcoff. M (1979) *A Handbook of Sociology.* Emasca Publishing House : New Delhi.

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 सामाजिक परिवर्तन सामाजिक ढाँचे तथा सामाजिक संबंधों में आए बदलाव को कहते हैं।

2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है बदलाव की प्रक्रिया और इसका परिवर्तन की गुणवत्ता से कोई संबंध नहीं है। संस्कृति में आए परिवर्तन समाज में आए परिवर्तनों से संबद्ध होते हैं। परिवर्तन के क्षेत्र तथा गति में भी भिन्नता हो सकती है।

3 परिवर्तन का अर्थ है सामाजिक ढाँचे तथा आपसी संबंधों में आने वाला परिवर्तन। इस का परिवर्तन की गुणवत्ता तथा दिशा से कोई संबंध नहीं है। क्रमिक विकास लगातार एक दिशा में होने वाली वृद्धि को कहते हैं। विकास का अर्थ है निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में परिवर्तन।

बोध प्रश्न 2

1 परिवर्तन के चार सिद्धांत हैं—क्रम, दिशा, प्रगति तथा पूर्णता।

2 किसी भी समाज की संस्कृति अथवा सभ्यता परिवर्तन के उन स्तरों से गुजरती है जिनका आरंभ और अंत एक-सा होत है। इस सिद्धांत के अनुसार परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था को भंग करता है किंतु समाज में रहने वाले स्थिरता (समाज में) लाने के लिए उसे अपने अनुरूप ढालते हैं। परिवर्तन आमतौर पर, क्रमिक तथा समंजित होता है तथा सामाजिक सांस्कृतिक प्रणाली को भंग नहीं करता।

3 मुख्य तर्क यह कि कोई भी क्रियाकलाप, मान्यता अथवा विचार विनिमय की विरोधी प्रतिक्रिया होती है। सामाजिक समूह के द्वंद्व का परिणाम ही सामाजिक परिवर्तन कहलाता है।

बोध प्रश्न 3

1 खोज, आविष्कार तथा प्रसार तीन दिशाएँ हैं जिस ओर परिवर्तन होता है।

2 परिवर्तन समाज के आंतरिक तथा बाह्य कारणों के फलस्वरूप होता है।

3 पाँच मुख्य तत्व हैं :
   क) समाज की मान्यताएँ तथा विशेष विचारधाराएँ जिनमें परिवर्तन हुआ है।
   ख) नवीकरण की प्रत्यक्ष उपयोगिता
   ग) वर्तमान तथा नवीकरण में साम्यता/संगति।
   घ) निहित स्वार्थ
   च) परिवर्तन लाने वालों की भूमिका

4 परिवर्तन की गति तथा दिशा को प्रभावित करने वाले चार तत्व हैं :
   क) भौगोलिक स्थिति जनसंख्या पर्यावरण।
   ख) प्रौद्योगिकी
   ग) मान्यता एवं विश्वास
   घ) महान व्यक्तियों की भूमिका।

इकाई 34 सामाजिक विकास

इकाई की रूपरेखा

34.0 उद्देश्य
34.1 प्रस्तावना
34.2 सामाजिक विकास की प्रकृति और अर्थ
34.3 सामाजिक विकास से संबंधित प्रमुख धारणाएँ
  34.3.1 विकास के आधार पर तीन दुनियाएँ
  34.3.2 विकास के सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम
  34.3.3 सामाजिक विकास के विभिन्न तरीके
34.4 स्वतंत्रता के बाद भारत में विकास
  34.4.1 समाजवादी रास्ता और मिश्रित अर्थव्यवस्था
  34.4.2 कार्यक्षेत्र के आधार पर विकास
  34.4.3 सामुदायिक विकास और सहकारिता आंदोलन
  34.4.4 लक्ष्य-समूह नियोजन
34.5 सारांश
शब्दावली
कुछ उपयोगी पुस्तकें
बोध प्रश्नों के उत्तर

34.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सामाजिक विकास की धारणा की प्रकृति और अर्थ पर विचार कर सकेंगे,
- सामाजिक विकास के बारे में प्रचलित धारणाओं को समझा सकेंगे, और
- भारत के विकास का विवरण दे सकेंगे।

34.1 प्रस्तावना

इकाई 33 में हमने सामाजिक परिवर्तन की जटिल प्रकृति पर विचार किया। सामाजिक परिवर्तन की गतिशीलता ने अनेक धारणाओं को जन्म दिया, जिनमें से "विकास" की धारणा ने बहुत ध्यान आकर्षित किया है। आज हम इस शब्द का इस्तेमाल सामाजिक परिवर्तन की पेचीदा पद्धतियों का विश्लेषण करने के लिए करते हैं, खास कर ऐसे परिवर्तनों के लिए जिन्हें एक समाज में नियोजित तरीके से दिशा दी गयी है, योजनाबद्ध किया गया है, और पनपाया गया है। अब हमारे पास 'विकास का समाजशास्त्र' भी विकसित हो गया है।

सामाजिक परिवर्तन की इस धारणा की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। इस इकाई में सबसे पहले विकास की धारणा की व्यापक प्रकृति और अर्थ को स्पष्ट किया गया है। हम सामाजिक विकास के बारे में आधुनिक विचारों की चर्चा कर रहे हैं, इसमें दुनिया के तीन तरह के देशों में विकास की स्थिति और सामाजिक विकास के बारे में कुछ नये दृष्टिकोणों की चर्चा शामिल है। अंत में हम भारत में चलाई जा रही मिश्रित विकास व्यवस्था पर विचार करेंगे।

34.2 सामाजिक विकास की प्रकृति और अर्थ

विकास बड़ी व्यापक धारणा है, सामाजिक परिवर्तन से जुड़ी होने के बावजूद यह उससे अलग है। परिवर्तन **मूल्य-निरपेक्ष** धारणा है जबकि विकास **मूल्य-परक** धारणा है। अर्थात् विकास का मतलब है—अपेक्षित परिवर्तन की प्रक्रिया। हर परिवर्तन से विकास नहीं होता। अपेक्षित दिशा में नियोजित परिवर्तन ही विकास कहा जा सकता है। इस तरह, विकास की विशिष्ट प्रकृति का ध्यान रखना जरूरी है।

दूसरे, विकास के सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोणों में भेद करना भी हमारे लिए बहुत आवश्यक है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह स्पष्ट रूप से समझ जाएँगे। सामाजिक विकास से हमारा तात्पर्य विकास की प्रक्रिया के सामाजिक दृष्टिकोण से है।

व्यापक धारणा के आधार पर, सामाजिक विकास को व्यक्ति और समाज में ऐसा बदलाव कहा जा सकता है, जिससे व्यक्ति की नैतिक, सामाजिक, शारीरिक और भौतिक स्थिति बेहतर हो सके। हालाँकि समतापूर्ण विकास हमारा अपेक्षित लक्ष्य रहा है, पर अभी तक यह "आदर्श" मात्र ही बना हुआ है। विकास के प्रयासों के बावजूद, समाज, क्षेत्र और स के बीच विकास के विभिन्न पक्षों में असमानताएँ बढ़ती जा रही हैं। जब हम विभिन्न क्षेत्रों को देखते हैं और यह पाते हैं कि कुछ देश ज्यादा विकसित हैं, तो हमें इन विभिन्नताओं का पता चलता है।

ऐसी तुलनाओं से ही अल्पविकास (Underdevelopment) और अतिविकास (Overdevelopment) जैसी धारणाएँ बनी हैं। इन धारणाओं में विभिन्न आर्थिक मापदंडों के आधार पर विकास का आकलन किया जाता है। ये आर्थिक मापदंड हैं—प्रति व्यक्ति आय, **सकल राष्ट्रीय उत्पाद**, जीवन-स्तर और तकनीकी प्रगति। "अति" और "अल्प" विकास के निर्धारण के क तरीके हैं। सबसे सरल तरीका यह है, कि औद्योगिक क्षमता और सामाजिक उपयोगिता के बीच का अनुपात देखा जाए। इसका अर्थ यह है कि जो देश अपनी जनता की जरूरतें पूरी करने के लिए पर्याप्त वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर पाते, उन्हें अल्पविकसित देश माना जाए, और जो जरूरत से ज्यादा उत्पादन करते हैं, उन्हें अतिविकसित देश माना जाए। अतिविकसित देशों की श्रेणी में अमेरिका और सोवियत संघ को रखा जा सकता है और अल्पविकसित देशों में एशिया और अफ्रीका के अनेक देश आ सकते हैं।

लेकिन यह विवादास्पद प्रश्न है कि क्या किसी देश के बारे में पूरी तरह अल्पविकास या अतिविकास जैसी धारणाओं को लागू किया जा सकता है। इसके साथ ही भारत जैसे आर्थिक रूप से कम विकसित देश स्वयं को अल्पविकसित कहलाना पसंद नहीं करते क्योंकि ये देश अपने को सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पूरी तरह विकसित मानते हैं। वे "अल्पविकसित" की बजाय "विकासशील" देश कहलाना ज्यादा पसंद करते हैं।

देशों को विकासशील और विकसित कहने के पीछे एक महत्वपूर्ण तर्क यह भी है कि विकसित देश, विकासशील देश के लिए "आदर्श" बन जाता है। विकासशील देश विकसित देशों की आर्थिक और तकनीकी प्रणालियों की नकल करने और उन्हें अपनाने का प्रयास कर सकते हैं।

इस वर्गीकरण की धारणा से ज्यादा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जहाँ विकासशील देश तकनीक, कौशल और वित्तीय सहायता के लिए विकसित देशों पर निर्भर रहें, वहीं विकसित देशों ने उनका शोषण करने का प्रयास किया। इसे ही विकास की निर्भरता का सिद्धांत कहा जाता है। विकसित देशों की शोषक प्रवृत्तियों को समझते हुए ही विकासशील देशों ने आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने का प्रयास किया। इस तरह, विकास को आँकने का एक महत्वपूर्ण मानदंड यह भी बन गया कि किसी देश में किस हद तक विदेशी आर्थिक निर्भरता की बजाय आत्म-निर्भरता आ गयी है। कोई भी देश जितना अधिक आत्म-निर्भर होगा, उसे उतना ही विकसित माना जाएगा। इससे विकासशील देशों में स्वदेशी उत्पादन बढ़ाकर विकसित देशों से आयात कम करने की प्रवृत्ति पनपी।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : क) प्रश्नों के उत्तर नीचे दिये गये खाली स्थान पर लिखें।
ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों की जाँच करें।

1 परिवर्तन और विकास के बीच अंतर बताएँ। चार पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

2 विकास की निर्भरता का सिद्धांत क्या है? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

34.3 सामाजिक विकास से संबंधित प्रमुख धारणाएँ

विकास के बारे में समकालीन समाजशास्त्रीय विचारों के विश्लेषण की शुरुआत हम विकास के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष से संबंधित कुछ आधुनिक विचारों की चर्चा से कर सकते हैं।

लेकिन विकास से संबंधित प्रमुख धारणाओं के विश्लेषण से पहले दुनिया भर के तीन तरह के देशों यानि "विकास के आधार पर तीन दुनियाओं" को संक्षेप में समझ लेना उपयोगी रहेगा। इस शताब्दी के मध्य से ही यह शब्द समाजशास्त्रियों में बड़ा प्रचलित हो गया है।

34.3.1 विकास के आधार पर तीन दुनियाएँ

पहली दुनिया में उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के देश आते हैं, जिनमें पूँजीवादी तरीके की विकास-प्रक्रिया अपनायी गयी है। दूसरी दुनिया सोवियत संघ और अन्य साम्यवादी देशों की है, जहाँ विकास के लिए समाजवादी प्रणाली अपनायी गयी है। तीसरी दुनिया एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के कम विकसित या विकासशील देशों की है। इनमें से ज्यादातर देशों को इस शताब्दी के मध्य के आस-पास ही औपनिवेशिक शासन से राजनीतिक आजादी मिल पायी है। हालाँकि इन देशों पर पहली और दूसरी दुनिया के देशों का असर पड़ना स्वाभाविक ही है, फिर भी इन्होंने अपनी राष्ट्रीय नीतियाँ और विकास का अपना रास्ता तय किया है। पहली और दूसरी दुनिया के देशों में विकास के मामले में बुनियादी रूप से आर्थिक प्रगति पर ध्यान दिया गया है।

1) पहली दुनिया में विकास की पूँजीवादी प्रणाली

इस प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ हैं—(क) संपत्ति और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व (ख) निजी उद्यमों के जरिए आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा, (ग) निजी उद्यमों पर राज्य की ओर से कम से कम कायदे-कानून और नियंत्रण लागू किया जाना। इस तरह, पूंजीवादी प्रणाली में प्रतियोगिता पर आधारित मुक्त अर्थव्यवस्था पर जोर दिया गया है।

2) दूसरी दुनिया में विकास की समाजवादी प्रणाली

यह प्रणाली पूँजीवादी तरीके के एकदम विपरीत है। इसमें संपत्ति और उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियंत्रण है, उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र में हैं और सभी आर्थिक गतिविधियों पर राज्य का नियंत्रण है। इस तरह, यह नियंत्रित अर्थव्यस्था वाली प्रणाली है।

पूँजीवादी प्रणाली पर मुख्य आरोप यह है कि राज्य के न्यूनतम नियंत्रण के कारण इस प्रणाली में श्रमिक वर्ग (सर्वहारा) को अपना उचित हिस्सा नहीं मिलता और उनका शोषण होता है। देश के संसाधनों का बड़ा हिस्सा पूँजीपति हड़प जाते हैं। इससे समाज में असमानता आती है। कुछ लोग बहुत धनी हो जाते हैं जबकि ज्यादातर लोग बहुत गरीब रहते हैं।

इसलिए पूँजीवादी प्रणाली को शोषक और विषमतापूर्ण बताया गया है। इसके विपरीत, समाजवादी प्रणाली को शोषण रहित और समतापूर्ण बताया गया है। निजी स्वामित्व और राज्य के नियंत्रणों के न होने को कमजोर वर्गों के शोषण और आमदनी की विषमता के प्रमुख कारणों में माना गया है। इसलिए समाजवादी देश निजी संपत्ति की इजाजत नहीं देते। उनकी पक्की राय है कि ऐसा करने से शोषण और असमानता की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

इसी प्रकार, दोनों ही प्रणालियों में विकास संबंधी धारणाओं में भी अंतर है। पूँजीवादी प्रणाली में आर्थिक प्रगति पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है और इस प्रगति के फायदों के समान वितरण पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता। समाजवादी प्रणाली में संसाधन जुटाने और आय के समान वितरण पर बराबर ध्यान दिया जाता है और सामाजिक व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है ताकि ज्यादा सामाजिक न्याय सुनिश्चित किया जा सके।

इस चर्चा से दोनों प्रणालियों के बीच एक और अंतर स्पष्ट होता है। पूँजीवादी प्रणाली श्रमिकों और पूँजीपतियों के हितों के बीच किसी तरह के टकराव नहीं मानती। इस प्रणाली में दोनों वर्गों को एक-दूसरे का पूरक और एक-दूसरे पर निर्भर माना जाता है। यह भी मान लिया जाता है कि संपत्ति के स्वामित्व और आय के वितरण के बारे में सामाजिक नियम सर्वसम्मत होते हैं।

इसलिए, इस प्रणाली के अनुसार आर्थिक ढाँचे को बदलने की कोई जरूरत नहीं है। इसके विपरीत, समाजवादी प्रणाली में श्रमिकों और पूँजीपतियों के हितों में बुनियादी टकराव माना गया है। इस प्रणाली के अनुसार, नियम सर्वसम्मति पर आधारित नहीं हैं, बल्कि शक्तिशाली लोगों द्वारा कमजोर वर्ग पर थोपे गये हैं।

इससे ताकतवर वर्ग कमजोर वर्ग का शोषण करता है। ऐसी स्थिति में समाज में टकराव की स्थिति आती है अंततः शोषित वर्ग क्रांति कर देता है ताकि पूरी व्यवस्था में ही आमूल परिवर्तन हो जाए। इस तरह, पूँजीवादी प्रणाली को सर्वसम्मति वाली प्रणाली भी कहा जाता है जबकि समाजवादी प्रणाली को संघर्ष तथा आमूल परिवर्तन वाली क्रांतिकारी प्रणाली माना जाता है।

कुछ शोधकर्ताओं के अनुसार, व्यवहार में अब ये दोनों प्रणालियाँ एक-सी बातें अपना रही है। उदाहरण के लिए, अमेरिका

में अब निजी आर्थिक उद्यमों पर सरकारी नियंत्रण बढ़ रहा है। उधर, साम्यवत संघ में निजी उद्यमया को कुछ छूट दी जा रही है। दोनों ही प्रकार की राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियों में परिवर्तन रोकने और आय की असमानता की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट होने लगी हैं।

3) तीसरी दुनिया का विकास

तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों की विकास-प्रणाली को स्पष्ट कर पाना कठिन है क्योंकि देशों की ऐतिहासिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों के अनुरूप, इनमें बड़ी विविधताएँ हैं। फिर भी, इनकी एक जैसी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

क) ये पहली और दूसरी दुनिया के देशों की तुलना में आर्थिक और तकनीकी दृष्टि से पिछड़े हैं।

ख) इनकी विकास प्रक्रिया की मुख्य विशेषता सामाजिक नियोजन है। इनकी विकास योजनाओं में आर्थिक पक्षों, खास तौर से गरीबी हटाने जैसे कार्यक्रमों को ही शामिल नहीं किया गया है, बल्कि राष्ट्र निर्माण, राष्ट्रीय संस्कृति और सामाजिक बदलाव जैसी बातों का भी ध्यान रखा गया है।

ग) ये देश विकसित देशों से तकनीकी और आर्थिक सहायता लेते रहे हैं। लेकिन विकसित देश आर्थिक सहायता देने के साथ-साथ तीसरी दुनिया के देशों में अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने का भी प्रयास करते रहते हैं। ऐसा देखा गया है कि तीसरी दुनिया के देशों को आर्थिक सहायता देने और अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाते हुए पहली और दूसरी दुनिया के देश अपनी अंतर्राष्ट्रीय सैन्य प्रतिरक्षा नीति पर ज्यादा ध्यान देते हैं।

वास्तव में तीसरी दुनिया की धारणा के पीछे विकासशील देशों में इस बात के प्रति पैदा हो रही जागरूकता है कि विकसित देश आर्थिक सहायता और विशेषज्ञों की सलाह के बहाने उनका शोषण कर रहे हैं। कुछ देशों को तो इस शोषण का बहुत पहले एहसास हो गया था जबकि अन्य देशों ने बड़े देशों की विकासशील देशों में विनाशक भूमिका (जैसे अमरीका की वियतनाम में भूमिका) के बाद इस बात को समझा। समाजशास्त्रीय विश्लेषकों ने तीसरी दुनिया के देशों को दी जा रही सहायता के सही चरित्र और महाशक्तियों की "चालों" को उजागर करने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

पहली, दूसरी और तीसरी दुनिया की इस पृष्ठभूमि में अब हम विश्व भर में विकास से संबंधित प्रमुख धारणाओं की चर्चा करेंगे।

34.3.2 विकास के सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम

पिछले कुछ वर्षों में विकास की धारणा में अनेक नये आयाम जुड़ गए हैं। आर्थिक प्रगति, समाज के सभी क्षेत्रों में प्रगति को बढ़ावा देने की अनिवार्य और पर्याप्त शर्त है, यह लोकप्रिय धारणा अब गलत साबित हो गयी है। किसी एक वर्ग के आर्थिक विकास के सभी लोगों तक विकास के लाभ नहीं पहुँचते। इसी तरह, कुछ देशों में तेज आर्थिक प्रगति के बावजूद उनकी गंभीर समस्याएँ बनी हुई हैं। वास्तव में, समृद्धि से अनेक नयी सामाजिक समस्याएँ पैदा हो गयी हैं। यह स्पष्ट हो गया है कि अगर विकास का मुख्य उद्देश्य समाज के हर व्यक्ति के जीवन को बेहतर बनाना है तो ऐसा केवल पूँजी जमा करके या आर्थिक प्रगति से ही नहीं हो सकता।

समाजशास्त्री अब मानते हैं कि विकास के सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों पर ध्यान देना जरूरी है। अगर विस्तार से कहें तो सामाजिक विकास में निम्नलिखित बातें शामिल हैं :

क) भोजन, वस्त्र और आवास की बुनियादी जरूरतों का सही तरीके से पूरा होना।

ख) बिजली, पानी, परिवहन और संचार जैसी बुनियादी सुविधाओं का उपलब्ध होना।

ग) अच्छा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य। इसे आँकने के तरीके हैं—ज्यादा वर्षों तक जीने की संभावना, पर्यावरण प्रदूषण का न होना, पोषक आहार, चिकित्सा सुविधाएँ आदि।

घ) आर्थिक कल्याण, इसका अर्थ है आर्थिक गतिविधियों में रोजगार के अवसर और रहन-सहन का ऊँचा स्तर।

ङ) व्यक्ति का विकास, अर्थात्-साक्षरता, पेशेवर तथा नैतिक शिक्षा, सर्जनात्मक क्षमता का विकास आदि।

च) सामाजिक समन्वय, अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कार्यकलापों से लोगों का लगाव और भागीदारी तथा सामाजिक संस्थाओं का सुचारु रूप से चलना।

छ) विभिन्न आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संसाधनों तथा अवसरों तक पहुँच में कम से कम विषमताएँ।

कुछ समाजशास्त्रियों की राय में तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्रीय विकास में निम्नलिखित बातें शामिल होनी चाहिएँ :

1 राष्ट्रीय उत्पादन में निरंतर वृद्धि करते हुए आर्थिक बदलाव तथा आत्मनिर्भरता की प्राप्ति और उत्पादन के मामले में निर्णय क्षमता अपने हाथ में लेना ताकि आगे वृद्धि के उपायों को लागू करने में देश मुक्त तथा स्वायत्त रह सके।

2 समानता और आय के समान वितरण तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, समुचित आवास, मनोरंजन सुविधाओं जैसे सामाजिक कल्याण के उपायों तथा राजनीतिक निर्णय लेने में भागीदारी जैसे मामलों में समता लाते हुए सामाजिक बदलाव।

3 निश्चित राष्ट्रीय पहचान और परंपरा बनाने की दिशा में व्यक्ति और राष्ट्र की छवि में सुधार लाते हुए सांस्कृतिक बदलाव। सामान्य जनों और संभ्रांतों—सभी लोगों के मन में ऐसी आत्म-छवि बनाना, जिससे अपनी राष्ट्रीयता को दूसरे दर्जे का मानने और विदेशी गुलामी की भावना समाप्त हो सके। (पांडे, 1985, पृष्ठ 128)।

कुछ समाजशास्त्रियों ने विकास के प्रति समग्र दृष्टिकोण की बात करते हुए मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और नैतिक आयामों पर ज्यादा जोर दिया है। वे जीवन के सभी आयामों के बेहतर होने को ही विकास मानते हैं। इनमें भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयाम भी शामिल हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि ये आयाम परस्पर संबद्ध हैं। उदाहरण के लिए जीवन के मनोवैज्ञानिक पक्ष के सुधार में मन की संतुष्टि और स्वस्थ मानसिक स्थिति शामिल है। इसके लिए जरूरी है कि लोगों के भौतिक और अभौतिक लक्ष्यों तथा समाज के यांत्रिक तथा अंतर्भूत मूल्यों में उचित और कारगर संतुलन हो।

जीवन का यह व्यक्तिपरक (व्यक्ति के मन, इच्छाओं, आदर्शों से जुड़ा) आयाम सामाजिक बेहतरी से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है। जीवन की सामाजिक स्थिति में सुधार का मतलब है कि परिवार का स्थायित्व, आपसी स्नेह-संबंध और समाज में एक-दूसरे के काम आने की भावनाएँ मजबूत हों। जीवन के सांस्कृतिक पक्ष में सुधार से नैतिक उत्थान जुड़ा हुआ है। दूसरे की भलाई की बात सोचना ही सामाजिक नैतिकता का मूल आधार है। जीवन के समग्र विकास के पक्षधर समाजवैज्ञानिकों की राय में अनेक विकसित देश सही अर्थों में विकसित नहीं हैं, क्योंकि वहाँ लोग दूसरे के हित की बात कम, अपने स्वार्थ की बात ज्यादा सोचते हैं।

इस प्रकार जीवन के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार विकास-प्रक्रिया पूरे सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचे पर असर डालने वाली बदलाव की प्रक्रिया है। आधुनिक दृष्टि से, विकास का मतलब किसी समाज की पूरी व्यवस्था को सुनियोजित तरीके से प्रेरित कर सर्वांगीण अपेक्षित लक्ष्यों की ओर ले जाना है। अब "विकास के समाजशास्त्र" की दो दिशाएँ हैं—आंतरिक ढाँचे का विश्लेषण और ऐतिहासिक परंपरा की पहचान। इस अध्ययन से हम सामाजिक विकास के निम्नलिखित तरीकों तक पहुँचते है।

34.3.3 सामाजिक विकास के विभिन्न तरीके

विकास के तरीकों को निम्नलिखित आधारों पर अलग-अलग किया जा सकता है :
1) विकास योजनाओं और संसाधनों का केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण 2) विकास की इकाई अर्थात् विकास का केन्द्र-बिन्दु—व्यक्ति, समूह, गाँव आदि। पहले आधार-से दो तरीके जुड़े हैं— क) शिखर से विकास और सबसे निचले स्तर से विकास। दूसरे आधार से तीन तरीके जुड़े हैं—कार्यक्षेत्र के आधार पर विकास, इलाके के आधार पर विकास और लक्ष्य—समूह का विकास। अब हम इन पाँच तरीकों की संक्षिप्त चर्चा करते हैं।

1) शिखर से विकास

शिखर से विकास का मतलब है कि प्रशासन की सर्वोच्च या केन्द्रीय सत्ता विकास योजना बनाये और उसे कार्यान्वित करे। अर्थात्, केन्द्रीय संगठन विकास की प्रकृति और दिशा निर्धारित करे, परियोजनाएँ बनाए और उन्हें जनता पर लागू करे। उदाहरण के लिए, राजधानी में बैठे मंत्री और अधिकारी गाँव के लोगों की समस्याओं को पूरी तरह समझे बिना उनके लिए विकास योजनाएँ बनाते हैं।

इस तरीके में यह मान्यता निहित है कि जिन लोगों का विकास किया जाना है, वे अपनी जरूरतें समझने, स्वयं विकास योजनाएँ बना पाने और उन्हें लागू कर पाने में अक्षम हैं। इसलिए उनके विकास के लिए बाहरी एजेंसियों और विशेषज्ञों की जरूरत है। वास्तव में यह मान्यता बेबुनियाद है। सत्ता के शिखर पर बैठे संभ्रात जनों की इस मान्यता की पीछे उनके निहित स्वार्थ हैं। उनका मुख्य स्वार्थ संसाधनों पर अपना नियंत्रण बनाये रखना और उन्हें अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करना है। जनता के पास इन विकास योजनाओं को स्वीकार करने के सिवाय कोई चारा नहीं होता क्योंकि उनके पास न तो पर्याप्त निजी संसाधन होते हैं, न विकास के लिए जरूरी सामाजिक संसाधन पर उनका नियंत्रण होता है। परिणाम यह होता है कि सत्ता के शिखर से लागू की गई अधिकांश योजनाओं के अपेक्षित परिणाम नहीं मिलते।

अंतर्देशीय और अंतर्राष्ट्रीय सभी मामलों में यही बात होती है। विकास योजनाओं की बड़ी राशि योजना चलाने वालों द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ और कर्मचारी किसी न किसी तरह हड़प लेते हैं। इस तरीके की मुख्य कमी यही है कि इसमें उन लोगों को विकास प्रक्रिया में शामिल नहीं किया जाता, जिन्हें विकास का लाभ मिलना चाहिए। इससे उन लोगों में अलगाव की भावना पैदा होती है। इसीलिए इस तरीके को अपनाने से केन्द्रीकरण और नौकरशाही का असर काफी बढ़ जाता है।

2) सबसे निचले स्तर से विकास

निचले स्तर से विकास के हिमायती विद्वान ये मानते हैं कि जिन लोगों का विकास किया जाना है, उनमें सही-गलत की पर्याप्त समझ और क्षमता होती है। इस तरीके में लोगों का विकास प्रक्रिया से जुड़ाव और उनकी क्षमताओं का उपयोग जरूरी माना जाता है। लोगों को मौका दिया जाता है कि वे अपनी समस्याओं को समझाएँ और समाधान का रास्ता बताएँ। उन्हें प्रशिक्षित, समर्थ और अपनी मदद खुद करने लायक बनाया जाता है। सरकारी या स्वयंसेवी संगठनों से प्राप्त अथवा स्थानीय तौर पर

जुटाए गए संसाधनों का उपयोग कैसे हो, यह भी जनसामान्य या स्थानीय स्तर पर उनके प्रतिनिधियों द्वारा ही निर्धारित होता है। इस तरह, बड़े पैमाने पर विकेन्द्रीकरण और लोगों की ज्यादा भागीदारी होती है।

हालाँकि योजनाकार निचले स्तर से विकास की बात स्वीकार करते हैं और दावा भी करते हैं कि वे इस तरीके को अपनाते हैं लेकिन व्यवहार में वे शिखर से विकास के तरीके को ही अपनाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विकास योजनाओं का कोई फायदा नहीं होता।

3) **कार्यक्षेत्र के आधार पर विकास** (Sectoral Development)
जैसा पहले कहा जा चुका है, इकाई के आधार पर विकास के तीन तरीके हैं—कार्यक्षेत्र के आधार पर, इलाके के आधार पर और लक्ष्य-समूह के आधार पर। कार्यक्षेत्र के विकास के तरीके में अर्थव्यवस्था के किसी खास क्षेत्र, जैसे कृषि या उद्योग, को लेकर विकास योजनाएँ बनायी या लागू की जाती हैं। उदाहरण के लिए, भारत में योजनाकारों ने आजादी के तुरंत बाद उद्योगों के विकास की बात सोची। इसलिए उन्होंने देशी तकनीक के विकास और विदेशों से तकनीक आयात करने की योजनाएँ बनायीं। तकनीकी शिक्षा पर जोर दिया गया। स्वतंत्र रूप से और अमरीका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन आदि देशों के सहयोग से अनेक संस्थान और कॉलेज खोले गये।

दूसरी ओर, कपड़ा, इस्पात और सीमेंट जैसे बड़े उद्योगों के लिए धन की व्यवस्था की गयी। बाद में, जब साठ के दशक के प्रारंभ में देश में खाद्य-समस्या पैदा हुई तो योजनाकारों ने कृषि क्षेत्र के विकास की बात सोची। अनेक कृषि विश्वविद्यालय बनाये गये, जिनमें शोध करके ज्यादा उपज वाली किस्मों, कीटनाशकों और खेती के थ्रेशर आदि उपकरणों का विकास हुआ। किसानों को नयी कृषि तकनीक की जानकारी देने और उन्हें इसे अपनाने को राजी करने के लिए विस्तार सेवाएँ चलाई गयीं। किसानों को उदारता से ऋण दिये गये। हरित क्रांति के रूप में आप इन उपायों के परिणाम देख चुके हैं। देश अब खाद्यान्नों के मामले में आत्म-निर्भर है।

1) **इलाके के आधार पर विकास** (Area Development)
सभी इलाकों में एक समान विकास नहीं होता। कुछ इलाके ज्यादा समृद्ध होते हैं। कुछ इलाकों में उचित विकास न होने का कारण या तो सड़कें, रेलवे, बिजली जैसी बुनियादी सुविधाओं का अभाव हो सकता है या बाढ़ और सूखे जैसी समस्याएँ हो सकती हैं। इलाके के विकास के तरीके में किसी खास इलाके में विकास की मूलभूत सुविधाएँ जुटाई जाती हैं। भारत में 1974 में शुरू की गई कमांड क्षेत्र विकास योजना ऐसा ही एक उदाहरण है। इस योजना में कुछ क्षेत्रों में सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गयी थी।

5) **लक्ष्य-समूह का विकास** (Target-group Development)
इस तरीके में किसी खास वर्ग के लोगों पर, जैसे छोटे किसानों, महिलाओं और कृषि-मजदूरों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। छोटे किसानों के विकास की एजेंसी (S.F.D.A.) और स्कूल-कॉलेजों तथा रोजगार में अनुसूचित जाति के लोगों के लिए स्थानों का आरक्षण ऐसे तरीके के उदाहरण हैं। किसी खास गाँव या कस्बे का समग्र विकास भी इसी तरीके का हिस्सा है। इसे सामुदायिक विकास का तरीका कहते हैं। इस तरीके में शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक-सामाजिक गतिविधियों और अन्य आधारभूत सुविधाओं के विकास पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है।

34.4 स्वतंत्रता के बाद भारत में विकास

सामाजिक-आर्थिक जीवन के सभी पक्षों के लिए विकास योजनाएँ बनायी गयी हैं। इन पक्षों में स्वास्थ्य, शिक्षा, जनसंख्या नियंत्रण, उद्योग, परिवहन, सिंचाई, संचार और कृषि आदि शामिल हैं। यहाँ सभी विकास योजनाओं की सूची देना न संभव है न आवश्यक। हमारा मुख्य उद्देश्य स्वतंत्रता के बाद भारत में चलायी गयीं विभिन्न योजनाओं का सार-संक्षेप प्रस्तुत करना है ताकि पिछले भाग में बताये गये विकास के तरीकों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकें।

आजादी के बाद भारत में पहली बार दुनिया में से किसी तरह की विकास योजनाएँ पूरी तरह से लागू नहीं की गयीं। अर्थात् न तो अमरीका की पूँजीवादी नीतियाँ, न ही सोवियत संघ की समाजवादी नीतियाँ अपनायी गयीं। बल्कि इन दोनों नीतियों के बीच की नीति अपनायी गयी। इसे 'मिश्रित' अर्थव्यवस्था कहते हैं। एक ओर भारत में बिरला-टाटा जैसे बड़े औद्योगिक घरानों और अन्य मंझोले और छोटे उद्यमियों को मौका देकर निजी व्यापार और उद्यमों को बढ़ावा दिया गया, दूसरी ओर, कम से कम सिद्धांतः, सभी उद्यमों तथा व्यापारिक गतिविधियों पर करीब-करीब पूरा नियंत्रण रखा गया।

34.4.1 समाजवादी रास्ता और मिश्रित अर्थव्यवस्था

शासन इस्पात और बिजली तैयार करने के भारी उद्योग लगाकर स्वयं एक उद्यमी की भूमिका निभाता है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया है। रेल और डाक विभाग पर शासन का पूर्ण नियंत्रण है। इन उपायों से विकास का समाजवादी रास्ता अपनाए जाने का पता चलता है। दूसरी ओर, अनेक उद्योग छोटे-बड़े निजी उद्यमियों के लिए आरक्षित हैं। कपड़ा और सीमेंट जैसे क्षेत्रों में शासन और निजी उद्यमी—दोनों सक्रिय हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और परिवहन जैसे कई क्षेत्रों में शासन और निजी एजेंसियाँ स्वतंत्र रूप से या आपसी सहयोग से काम कर रहे हैं।

यह सच है कि भारत ने विकास का "मिश्रित" रास्ता अपनाया है पर इसकी असली कार्यप्रणाली के बारे में विद्वानों की राय अलग-अलग है। कुछ की राय में हमारा विकास पूँजीवादी प्रणाली के अनुरूप हो रहा है। शासन द्वारा बड़े उद्योग, वास्तव में, निजी उद्यमियों को मदद देने के लिए ही लगाए गए क्योंकि शासनों ने ऐसे उद्योग चलाए जिनमें मुनाफा कम था, उत्पादन लंबे समय बाद शुरू होता था और पूँजी बहुत लगती थी। इसलिए निजी उद्यमियों में इनके लिए कोई आकर्षण नहीं था। साथ ही, इस बुनियादी उद्योगों के बिना औद्योगिक विकास संभव ही नहीं था। साथ ही, यह भी तर्क दिया जाता है कि अभी भी बड़े उद्योगों का छोटे उद्योगों पर तथा औद्योगिक क्षेत्र का कृषि क्षेत्र पर दबदबा बना हुआ है। कुछ बड़े व्यापारिक घरानों में आर्थिक सत्ता सिमट कर रह गयी है। कुछ अन्य विद्वानों की राय में समाजवादी रास्ते की ओर हमारा रूझान बढ़ता जा रहा है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से यह बात साबित होती है। इन विवादास्पद तर्कों का अंतिम निपटारा यहाँ संभव नहीं है। वास्तविकता यही है कि भारत ने विकास का "मिश्रित" रास्ता अपनाया है।

34.4.2 कार्यक्षेत्र के आधार पर विकास

भारत ने औद्योगिक और कृषि क्षेत्रों में काफी प्रगति की है लेकिन कृषि क्षेत्र में अपेक्षा कृत कम प्रगति हुई है। अनेक नीतियाँ और योजनाएँ बनायी गयीं। लेकिन इनके परिणाम आशानुरूप नहीं रहे। स्वतंत्रता के बाद कृषि के विकास के लिए अपनायी गयी प्रमुख नीतियाँ थीं : जमींदारी प्रथा की समाप्ति, जोतों की चकबंदी और भूमि की अधिकतम सीमा का निर्धारण। पहली दो नीतियाँ तो सफल रहीं पर तीसरी नीति बड़े किसानों के निहित स्वार्थों के कारण असफल हो गयी। लेकिन जनसंख्या के बढ़ने से जोतों का आकार स्वाभाविक रूप से छोटा हो गया और यह महसूस किया गया कि अब भूमि की अधिकतम सीमा के निर्धारण से उत्पादकता में वृद्धि नहीं होगी। ये सारी नीतियाँ कार्यक्षेत्र के आधार पर विकास के तरीके के अनुरूप हैं।

"हरित" और "श्वेत" क्रांतियों, यानि नकदी फसलों और डेयरी उत्पादों के विकास के पीछे भी विकास का यही तरीका जोर-शोर से अपनाया गया। ये क्रांतियाँ ज्यादा व्यापक क्षेत्र में नहीं फैलीं। ये पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, गुजरात तथा महाराष्ट्र तक सीमित रहीं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन राज्यों में भी कृषि उत्पादों की बिक्री से किसानों को अच्छा लाभ नहीं मिला क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में बनायी जाने वाली खेती की मशीनों, उर्वरकों और कीटनाशकों की कीमतों पर नियंत्रण की कोई व्यवस्था नहीं थी जबकि कृषि उत्पादों के मूल्यों पर कड़ा नियंत्रण था। इसके पीछे यह तर्क दिया गया कि खाद्यान्नों के मूल्य में वृद्धि से आम जनता को कष्ट होगा। इससे कृषि क्षेत्र के साथ किये जा रहे भेदभाव का पता चलता है। देश के ज्यादातर लोग आज भी कृषि पर निर्भर हैं और किसानों को अपने उत्पादों का उचित मूल्य नहीं मिलने से उन लोगों की गरीबी ज्यों की त्यों है।

विकास की क्षेत्रपरक विधा के दो उदाहरण

34.4.3 सामुदायिक विकास और सहकारिता आंदोलन

कार्यक्षेत्र के आधार पर विकास के अलावा, 1952 में गाँवों के समग्र विकास के लिए सामुदायिक विकास योजना शुरू की गयी। इस कार्यक्रम के पीछे लोगों को अपने ही प्रयासों और संसाधनों से शिक्षित और प्रोत्साहित करने और उन्हें सक्षम बनाने की भावना थी। लेकिन यह कार्यक्रम ज्यादा सफल नहीं रहा। यह महसूस किया गया कि विकास योजनाओं को बनाने और लागू करने में गाँवों के लोगों की ज्यादा भागीदारी जरूरी है। अर्थात्, ज्यादा प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। इसीलिए 1957 में पंचायती राज प्रणाली शुरू की गयी। इसमें तीन स्तरों वाली प्रणाली की व्यवस्था थी—ग्राम पंचायत (गाँव के स्तर पर), पचायत समिति (विकास-खण्ड स्तर पर) और जिला परिषद (जिला स्तर पर)। इस प्रणाली में स्थानीय लोगों को विकास योजनाएँ बनाने और लागू करने में शामिल किया गया। यह विकास के नीचे से शुरू करने का एक प्रयास था पर दुर्भाग्य से गाँवों के संभ्रांत लोगों (धनी किसानों) और विकास-खण्ड और जिला स्तर पर प्रशासनिक और राजनीतिक प्रभुता वाले लोगों ने इस प्रणाली को निष्फल बना दिया।

सहकारिता आंदोलन भी इसी तरह असफल हो गया। भारत में चीन के तरीके की सहकारी खेती की योजना थी, जिसमें भूमि, समुदाय (गाँव) के स्वामित्व में हो और किसानों को उनका हिस्सा मिले। लेकिन हमारी राजनीतिक प्रणाली में भूमि पर निजी स्वामित्व समाप्त करने की अनुमति नहीं थी और विनोबा भावे की भूदान की अपील के बावजूद किसानों ने स्वेच्छा से अपनी भूमि नहीं दी, इसलिए यह योजना सफल नहीं हुई। हालाँकि, कम अवधि के कृषि ऋण देने वाली समितियाँ ज्यादा लोकप्रिय हुईं। लेकिन इस समय अनेक ऋण समितियों का दीवाला निकल गया है या वे ढंग से काम नहीं कर रही हैं। ऋण लेने वाले सदस्य समय पर किस्तें नहीं चुकाते। चिंता की बात यह है कि स्थानीय लोगों में सहयोग की भावना भी नहीं है क्योंकि इन सहकारी समितियों का ज्यादातर काम-काज सरकारी या अर्द्ध-सरकारी लोग करते हैं, जैसे रजिस्ट्रार, प्रबंध निदेशक, प्रशासक आदि।

ग्रामीण ऋण समितियाँ महाराष्ट्र में अपेक्षाकृत अधिक सफल रही हैं—खास तौर से गन्ना-उत्पादकों की समितियाँ जिनकी अपनी सहकारी चीनी मिलें भी हैं। अन्य क्षेत्रों में, कुछ सहकारी समितियों को असाधारण सफलता मिली है, जैसे गुजरात में आनंद में दूध उत्पादकों की सहकारी समिति आनंद दुग्ध उत्पादक संघ लिमिटेड (अमूल–AMUL)। आनंद गाँव के किसानों के सफल सहकारी प्रयासों का ऐसा उदाहरण है, जिसका अब एशिया की ग्रामीण सहकारी समितियों में महत्वपूर्ण स्थान है।

34.4.4 लक्ष्य-समूह नियोजन

बीस-सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के अंतर्गत कुछ विशिष्ट लक्ष्य-समूहों के लिए अनेक ग्रामीण विकास योजनाएँ चलायी गयी हैं। समेकित ग्रामीण विकास योजना (I.R.D.P.) ऐसी ही एक योजना है जिसमें इलाके के विकास और लक्ष्य-समूह के विकास, दोनों तरीके अपनाये गये हैं। इसमें कमांड क्षेत्र विकास योजना, सूखे की आशंका वाले क्षेत्रों के लिए योजना और छोटे किसानों के विकास से संबंधित एजेंसी को शामिल किया गया है। लक्ष्य-समूह योजना के रूप में इसका लक्ष्य सबसे ज्यादा गरीब लोगों को सहायता देना है। इसमें, सहायता पहुँचाने के लिए व्यक्ति को नहीं, बल्कि "परिवार" को इकाई माना गया है। पाँच वर्षों में प्रत्येक विकास-खण्ड में 3,000 परिवारों को सहायता पहुँचाने की योजना बनायी गयी है। इस योजना के अंतर्गत रोजगार देने के अनेक कार्यक्रम चलाये गये हैं, जैसे ग्रामीण युवकों को स्व-रोजगार के लिए प्रशिक्षण (TRYSEM),राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) जैसे अन्य कार्यक्रम भी हैं। लेकिन कार्यक्रमों के आकलन से पता चला है कि ये कार्यक्रम उन लोगों की मदद करने में विफल रहे हैं, जिनका आर्थिक स्तर सुधारना इनका लक्ष्य रखा गया था। इसके लिए प्रशासनिक कर्मचारी और गाँवों के संभ्रांत लोग जिम्मेदार हैं जो इन कार्यक्रमों के लिए निर्धारित संसाधनों का बड़ा हिस्सा, खुद हड़प लेते हैं। अन्य क्षेत्रों में भी, देश ने काफी प्रगति की है। हमारे देश में बड़े-बड़े अस्पताल और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र हैं। जीवन की संभावना बढ़ी है और मलेरिया तथा चेचक जैसी बीमारियों पर काबू पा लिया गया है। बच्चों की मृत्यु दर भी काफी कम हो गयी है। अब देश में परिवहन और संचार की व्यापक व्यवस्था है। लेकिन विकास का फायदा मुख्य रूप से शहरी लोगों को ही मिल पाया है। गाँवों में आज भी अच्छे स्कूल और अस्पताल नहीं हैं। कई स्कूलों में न अच्छे अध्यापक हैं, न ब्लैक बोर्ड और न ही फर्नीचर जैसी सुविधाएँ। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में डाक्टरों, नर्सों और दवाओं का अभाव है। साथ ही बेरोजगारी में वृद्धि हो रही है, कानूनों का पालन नहीं हो रहा है, सामाजिक-सांप्रदायिक तनाव बढ़ रहे हैं और लोगों को समाज और देश की चिंता नहीं है। इससे लगता है कि देश में सिर्फ वस्तुओं और सुविधाओं की मात्रा में वृद्धि हुई है, जीवन-स्तर और गुणवत्ता में नहीं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : क) प्रश्नों के उत्तर नीचे दिये गये खाली स्थानों में लिखें।

ख) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों की जाँच करें।

1) दो देशों के नाम बताएँ जहाँ विकास की पूँजीवादी प्रणाली अपनायी गयी है।

.....

.....

2 रिक्त स्थानों की पूर्ति करें—

क) पहली दुनिया के देशों में विकास की ..... प्रणाली अपनायी गयी है।

ख) दूसरी दुनिया के देशों में विकास की .....प्रणाली अपनायी गयी है।

3 तीसरी दुनिया के देश कहे जाने वाले कुछ देशों के नाम लिखें। तीन पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

4 तीसरी दुनिया के देशों की तीन समान विशेषाएँ बताएँ। आठ पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5 भारत ने आजादी के बाद विकास का कौन-सा रास्ता चुना है? तीन पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

34.5 सारांश

इस इकाई में बताया गया कि विकास आर्थिक प्रगति से कहीं ज्यादा व्यापक धारणा है। इसमें लोगों का सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, शैक्षणिक, शारीरिक और मानसिक विकास शामिल है। सामाजिक विकास से संबंधित प्रमुख धारणाओं की चर्चा की गयी। फिर सामाजिक विकास के पाँच तरीकों पर विचार किया गया। अंत में, भारत द्वारा चुने गये विकास के "मिश्रित" रास्ते के बारे में बताया गया, जिसमें पूँजीवादी और समाजवादी तत्वों का मिश्रण है।

शब्दावली

सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP): निश्चित अवधि (सामान्यतः एक वर्ष) में किसी अर्थव्यवस्था में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का कुल मूल्य, इसमें विदेश से प्राप्त आय को शामिल किया जाता है, जबकि विदेश को जाने वाली आय घटायी जाती है।

मूल्य-परक : किसी तथ्य को अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित के नैतिक मूल्यों के आधार पर परखना।

मूल्य-निरपेक्ष : किसी तथ्य को, मन में बिना कोई अच्छी-बुरी धारणा बनाए, निरपेक्ष होकर परखना।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

Gore, M.S. 1973. *Some Aspect of Social Development Tata* Institute of Social Sciences : Bombay.

Pandey, R. 1985. *Sociology of Development : Concepts, Theories and Issues.* Mittal Publishers : New Delhi.

Sharma, S.L. (ed.) 1986. Development : Socio-Cultural Dimensions. Rawat Publications : Jaipur.

बोध प्रश्न 1

1 परिवर्तन मूल्य-निरपेक्ष धारणा है जबकि विकास मूल्य-परक धारणा है। सभी परिवर्तन विकास नहीं कहे जा सकते। केवल नियोजित और अपेक्षित परिवर्तनों को ही विकास कहा जाता है।

2 विकासशील देश तकनीकी और वित्तीय सहायता के लिए विकसित देशों पर निर्भर रहते हैं। सहायता देते समय, विकसित देश विकासशील देशों का शोषण करने का प्रयास करते हैं। यही विकास की निर्भरता का सिद्धांत है।

बोध प्रश्न 2

1 संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन

2 क) पूँजीवादी
ख) समाजवादी

3 भारत, पाकिस्तान, थाइलैंड, वियतनाम, वेनेजुएला, निकारागुआ। इन्हें आम तौर पर तीसरी दुनिया के देश कहा जाता है।

4 तीसरी दुनिया के देशों की समान विशेषताएँ हैं :
i) अल्पविकसित अर्थव्यवस्था और तकनीक।
ii) सामाजिक बदलाव सहित विकास का व्यापक अर्थ।
iii) पहली और दूसरी दुनिया के देश तीसरी दुनिया के देशों पर अपनी राजनीतिक विचारधारा मान लेने के लिए दबाव डालते हैं।

5 भारत ने विकास का ऐसा रास्ता चुना है जिसमें पूँजीवादी और समाजवादी प्रणाली का मिश्रण है। इसे विकास का मिश्रित मार्ग कहा जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(उन विद्यार्थियों के लिए जो अतिरिक्त अध्ययन करना चाहते हैं)

Berger, Peter, 1963. *Invitation to Sociology.* Danble Day & Co. : New Delhi

Bottomore, T., 1987. *Sociology : A Guide to Problems and Literature.* Allen and Unwin : London

Brearley, H.C., 1965. *The Nature of Social Control.* In Joseph S. Rauceketal (ed.) *Social Control.* Affitated East West Press : New Delhi

Coser, Lewis, 1956. *The Function of Social Conflict.* Free Press, New York

Dahrendorf, Ralph, 1959. *Class and Class Conflict in Industrial Society.* Stanford University Press : Stanford

Eshleman, J.R. and Cashion, B.C., 1983. *Sociology : An Introduction.* Little Brown & Co. : Boston

Horton, P.B. and Hunt, C.L., 1981. *Sociology.* McGraw Hill : London

IESS, 1972.*International Encyclopaedia of Social Sciences.* David I. Sills (ed.) Macmillan : New York

Johnson, H., 1986. *Sociology : Systematic Introduction.* Allied Publishers : Bombay

MacIver, R.M. and Page C.H., 1985 *Society.* Macmillan : New Delhi

Merton, R., 1968. *Social Theory and Social Structure.* Amering Publication Company, New Delhi

Ogburn, W.F. and Nimcoff, M., 1979. *A Handbook of Sociology.* Eurasia Publishing House : New Delhi

Pareto, V., 1935. *The Mind and Society.* Jonathan Cape : London

Quinney, Richard, 1970. *The Social Reality of Crime.* Little Brown Boston.

Sharma, S.L. (ed.); 1986. *Development : Socio-Cultural Dimensions.* Rawat Publications : Jaipur

Sorokin, P.A., 1937. *Social and Cultural Dynamics.* Free Press : New York

Spengler, Oswald, 1945. *The Decline of the West.* (2 volumes) Knopf : New York

Sutherland, E.H., 1937. *The Professional Thief.* University of Chicago Press : Chicago

Notes